ज्ञानेश्वरी
भगवद्गीता



अनुवादक :

श्री "भारतीय योगी"

रचयिता : हस्तरेखा महाविज्ञान, हस्तरेखायें, भाग्य-
रेखायें, प्रश्न ज्योतिष विज्ञान, राशि ज्योतिष
विज्ञान, फलित ज्योतिष विज्ञान, स्वप्न
ज्योतिष, आकस्मिक धन लाभ के
योग, ज्योतिष और आर्थिक
समस्यायें, सरल अंक
ज्योतिष आदि ।



प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब, (वेदनगर) बरेली–२४३००३ (उ०प्र०)

फोन : ४७४२४२

प्रकाशक :

डॉ० चमनलाल गौतम

संस्कृति संस्थान
ख्वाजा कुतुब (वेद नगर)
बरेली—२४३००३ (उ० प्र०)
फोन : ४७४२४२

●

अनुवादक :

श्री 'भारतीय योगी'

●

संशोधित संस्करण :
सन् १९९५

●

●

मुद्रक :

शैलेन्द्र बी० माहेश्वरी

नव ज्योति प्रेस
सेठ भीक चन्द मार्ग,
मथुरा (उ० प्र०)

●

मूल्य :
चालीस रुपये मात्र

निवेदन

भारतीय धर्मशास्त्रों में 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' का स्थान सर्वोच्च है। यद्यपि वह सात सौ श्लोकों का एक छोटा निबन्ध ही कहा जा सकता, पर उसकी मान्यता पच्चीस-पचास हजार श्लोकों वाले ग्रन्थों से कहीं अधिक है। कारण यही है कि उसमें भारतीय अध्यात्मवाद और उसके व्यवहार का विवेचन बहुत युक्तियुक्त, स्पष्ट और संक्षिप्त तथा सरल रूप में किया गया है। हमारी सम्मति में सैकड़ों प्रसिद्ध धर्म ग्रन्थों में से जिनमें प्रायः आंतरिक मतभेद पाया जाता है, एकमात्र 'गीता' ही ऐसी है, जिसे पढ़कर कोई भी देशी अथवा विदेशी पाठक कुछ सार और निर्णयात्मक निष्कर्ष ग्रहण कर सकता है।

गीता के ऊपर टीका और भाष्यों की कमी नहीं। प्राचीन भाष्यों की संख्या सौ से अधिक होगी और पिछले सौ वर्षों में तो उनसे भी दुगुने भाष्य और टीकायें रच दी गई होंगी। इन प्राचीन और अर्वाचीन भाष्यों में शङ्कराचार्य और लोकमान्य तिलक के जैसे विद्वत्तापूर्ण भाष्य भी पाये जाते हैं, पर फिर भी इस ज्ञानेश्वरी भगवद्‌गीता का दर्जा निराला ही है। भारतीय दार्शनिक और अध्यात्मवेत्ताओं ने ज्ञान और भक्ति को प्रायः पृथक् ही बतलाया है और कितनों ही ने तो उनको परस्पर विपरीत भी कहा है। पर यह गौरव ज्ञानेश्वर को ही प्राप्त है कि पूर्ण ज्ञानी, अद्वैतवादी और महान् योगी होते हुए भी उन्होंने भक्ति का जी-जान से समर्थन किया है और उसे बहुत ऊँचे पद पर विराजमान किया है। जिस प्रकार 'रामायण' द्वारा गोस्वामी तुलसीदासजी ने शैव और वैष्णवों के भेद को मिटाने का स्तुत्य प्रयत्न किया है, उसी प्रकार ज्ञानेश्वर ने भी आदि से अन्त तक ज्ञान (वेदान्त) तथा भक्तिके समन्वय पर जोर दिया है और दोनों विचारधाराओं के मतभेद को जहाँ तक

सम्भव था, कम करने का प्रयत्न किया है। इस कारण 'ज्ञानेश्वरी' हमारी दृष्टि में केवल एक धर्मग्रन्थ ही नहीं रह गई, वरन् वह 'धर्म रक्षा' का एक साधन भी बन गई है।

ज्ञानेश्वरकी यह रचना एक साहित्यिक कृति के रूप में ही नहीं है, परन्तु उनका समस्त जीवन इसी उद्देश्य के लिए समर्पित था। उनके पिता श्री विट्ठल पन्त के साथ उस जमाने के कट्टर ब्राह्मणों ने बहुत निर्मम व्यवहार किया था, जिससे उनको सपत्नीक गङ्गा में डूब जाना पड़ा। फलस्वरूप उनके चारों बालक जिनमें से शायद कोई दस वर्ष से अधिक का न होगा, अनाथ बन गये। स्वार्थी रिश्तेदारों ने 'धर्म' की दुहाई देकर उनकी जमीन-जायदाद भी हड़प ली, जिससे उनके सामने भीख माँखकर खाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रहा। फिर भी उन्होंने धैर्य धारण किया, साहस बनाये रखा और समाज तथा संस्कृति की रक्षा तथा उत्थान के लिए अपनी सब शक्तियों को अर्पित कर दिया। उनके जीवन से सम्बन्धित जितने चमत्कार प्रसिद्ध हैं अगर उनमें दस प्रतिशत भी ठीक माने जाएँ, तो उनसे यही प्रतीत होता है कि वे दैवी शक्ति सम्पन्न बालक थे। पर उन्होंने आजन्म त्याग, तपस्या, परहित चिंतन का जीवन ही व्यतीत किया। उनका सबसे बड़ा चमत्कार तो यही है कि उन्होंने पन्द्रह वर्ष की अवस्था में 'ज्ञानेश्वरी' जैसा विश्व साहित्य में गणना करने योग्य ग्रन्थ रचा और २१ वर्ष की आयु में स्वेच्छा से जीवित समाधि लेकर संसार को त्याग दिया। इन्हीं विशेषताओं के कारण महाराष्ट्र में उनको दैवी अवतार की भाँति पूजा जाता है और लाखों व्यक्ति 'ज्ञानेश्वरी' का नियमित रूप से पाठ करते हैं। चालीस वर्ष पूर्व नवासां गाँव में, जहाँ ज्ञानेश्वरी लिखी गई थी 'ज्ञानेश्वर महोत्सव' मनाया गया था, जिसमें बड़े-बड़े विद्वानों ने 'ज्ञानेश्वरी' की महानता को स्वीकार किया था और सन्त ज्ञानेश्वर की अद्भुत प्रतिभा के सम्मुख नतमस्तक हुए थे।

'ज्ञानेश्वरी की रचना ओवीं छन्द में की गई है जो चार छोटे चरणों से बना है। इनमें से प्रथम तीन चरणों का तुक मिलता है और चौथा भिन्न होता है। वैदिक छन्दों में गायत्री छन्द भी कुछ ऐसा ही है। इससे पहले उस समय की भाषा प्राचीन मराठी में कोई साहित्य नहीं था। इसलिए ज्ञानेश्वर महाराज को मराठी का आदि कवि भी माना जाता है। इस ग्रन्थमें उन्होंने हिन्दू संस्कृति तथा वर्णाश्रम धर्म के प्रति पूर्ण आस्था प्रकट करते हुए भी इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है कि जन्म से कोई नीच नहीं होता और प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान भक्ति के मार्ग पर चलकर इसी जन्म में ईश्वर को प्राप्त करके मोक्षका अधिकारी बन सकता हैं। विद्वान् और त्यागी ब्राह्मणों की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए भी उन्होंने इस बात पर जगह-जगह खेद का भाव ही प्रकट किया है कि वे समाज के एक भाग (शूद्र और स्त्रियों) को धर्माचार की दृष्टि से नीच मानते हैं। शूद्र और स्त्रियाँ वेदों का अध्ययन और उच्चारण नहीं कर सकते इसके लिए उन्होंने वेदों को 'कृपण' बतलाया है और इस दृष्टि से 'गीता' की सर्व श्रेष्ठता की स्पष्ट रूप से घोषणा की है। इस सम्बन्ध में स्वयं 'गीताकार' का मत भी उनसे मिलता जुलता है और उसने भी निःसंकोच भाव से यह लिखा हैं कि—

"त्रैगुण्यविषया वेदा निःस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।"

वेदों में लौकिक विषयों को अधिक महत्व दिया है, आध्यात्मिक विषय उनमें बहुत गौण रूप से पाया जाता है, 'गीता' के इस प्रतिपादन से अनेक वेदानुयायी बहुत असन्तुष्ट होते हैं और कुछ तो खुल्लम खुल्ला 'गीता' की आलोचना और विरोध करते हैं। पर 'ज्ञानेश्वर महाराज' ने अपनी योग दृष्टि से वास्तविक तथ्य को समझकर 'गीता' की सर्वोपरिता का डङ्का की चोट पर प्रचार किया है।

ज्ञानेश्वर की शैली भी अद्‌भुत है। वह हर जगह एक तथ्य को समझाने के लिए इतनी अधिक उपमाओं की भरमार कर देते हैं कि अनेक बार पाठक उनको पढ़ते-पढ़ते मूल तथ्य को भूल जाते हैं।

सर्वत्र वेदान्त तथा मायावादके सिद्धान्तों का निरूपण करने के और उन्हीं से सम्बन्धित विशेष शब्दावली का प्रयोग करने के कारण उनकी रचना अनेक स्थानों पर दुरूह भी हो गई हैं। एक बात यह भी है कि 'ज्ञानेश्वरी' की रचना एक 'धार्मिक सम्मेलन' मे प्रवचन के रूप में की गई है। कथा को कहते हुए तो वक्ता अपने विषय का चारों तरफ विस्तार करते हुए, चाहे जब श्रोताओं को पुनः मूल विषय पर ले जाता है, पर पुस्तक रूप में यह शैली विषय को समझने की दृष्टि से सुबोध न रहकर कठिन बन जाती है और पाठक चाहे उपमाओं और अलङ्कारों का आनंद पाते रहें, पर मूल विषय से भटक जाते हैं।

'ज्ञानेश्वरी' का भाषान्तर करते हुए हमने इस शैली को सुगम बनाने की यथाशक्ति चेष्टा की है। ज्ञानेश्वर महाराज ने कुछ वेदान्त शास्त्र की उपमाओं का इसमें बहुत अधिक प्रयोग किया जाता है, क्योंकि मायावाद और अद्वैतवाद के अत्यन्त सूक्ष्म का प्रतिपादन उनसे ही हो सकता है। इसलिए इस पुस्तक में सर्प और रज्जु, काष्ठ और अग्नि, आकाश और बादल, घटाकाश-महादाकाश, जल और तरङ्ग, सुवर्ण और उसके आभूषण और प्रतिबिम्ब, दर्पण और आकृति, सीप में चाँदी का भ्रम, नमक और पानी का मिलन, भुने अन्न का न उग सकना, दीपक और प्रकाश, चन्दन और उसकी सुगन्ध, गङ्गा और नाले आदि की उपमाओं का प्रयोग सैकड़ों स्थानों पर बार-बार किया है जिससे कभी-कभी तो समझने में कठिनाई होने लगती है और पाठक ऊबने लगता है। हमने ऐसे स्थलों को सरल बनाने की चेष्टा की है और बहुत अधिक उपमाओं को विभाजित कर दिया है या घटा दिया है। इसकी एक बात हमको और भी खटकी। इसमें जगह-जगह कामोपभोग और स्त्री-पुरुषों सम्बन्धी शृङ्गारिक उपमायें दी गई हैं। हम जानते हैं कि उस युग में मुख्यतः शृङ्गार वर्णन को ही साहित्य और काव्य का प्रधान लक्षण माना जाता था, संस्कृत और प्राचीन हिन्दी साहित्य ऐसी रचनाओं से भरा पड़ा है,

वर्तमान विज्ञान युग में यह प्रणाली न उपयोगी मानी जा सकती है न प्रशंसनीय। अतः हमने इसमें भी संशोधन किया है और जिन शब्दों से अश्लीलता का कुछ भी आभास हो सके उनको छोड़ दिया है।

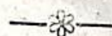
अन्त में इस रचना को पाठकों के सामने उपस्थित करते हुए हमारी यही प्रार्थना है कि इसकी त्रुटियों पर ध्यान न देते हुए इसकी विशेषताओं से लाभ उठावें। 'ज्ञानेश्वरी' की एक बहुत बड़ी खूबी यह है कि इसमें श्रीकृष्ण-अर्जुन का सम्भाषण ऐसे स्वाभाविक ढङ्ग से वर्णित है कि पाठक और श्रोता को प्रत्यक्ष-सा प्रतीत होने लगता है। इस कारण वेदान्त के अन्य अनेक ग्रन्थों की तरह यह शुष्क नहीं जान पड़ता वरन् सरसता और रोचकता का पुट लग जाने के कारण इसके पढ़ने में मन लगता है। आशा है पाठक 'ज्ञानेश्वरी' का पारायण करते हुए स्वयं इस तथ्य का अनुभव करेंगे।

विजयादशमी
संवत् २०२६

—'भारतीय योगी'

अध्याय-सूची





ज्ञानेश्वरी गीता

ॐ प्रथमोऽध्यायः ॐ

ॐ नमोजी आद्या । वेद प्रतिपाद्या ।
जय जय स्वयं वेद्या । आत्म रूप ।।१

देवा तूँचि गणेशु । सकल मति प्रकाशु ।
म्हणे निवृत्तिदासु । अवधारिजो जो ।।२

ॐकार ही परमात्मा है ऐसा ही निश्चय करके ज्ञानेश्वर महाराज अपने ग्रन्थ का मंगलाचरण करते हुए कहते हैं—जो ॐकार सृष्टि का आदि है जो वेदों का प्रतिपाद्य विषय है उसको नमस्कार है। वह स्वयं ही अपने को जान सकने में समर्थ हैं और आत्मा के स्वरूप वाला है, उसकी जय-जयकार हो। हे देव! सबकी बुद्धि को आलोकित करने वाले गणेश तुम्हीं हो। यह अखिल वेद आपकी मूर्ति है, और वेद के अक्षर आपके शरीर की शोभा बढ़ाने वाले हैं। स्मृतियाँ आपके अवयव हैं, जो सौन्दर्य की खान हैं। अठारह पुराण आपके मणि-आभूषण हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित तथ्य ही रत्न हैं और छन्दबद्ध शब्द-रचना कुन्दन है। उत्तम शब्दों का चयन ही उन गणेश का रंगीन वस्त्र है और उसमें पाये जाने वाले अलंकार ही मानों उन वस्त्रों में लगे चमकीले गोटा

किनारी हैं। ये काव्य और नाटक आदि जिनको देखते ही प्रसन्नता और आश्चर्य होता है, आपके (गणेशजी के) रुन-झुन करने वाले छोटे-छोटे घुंघरू हैं और उनमें जो अर्थ भरा है वही मानों उसकी मंजुल ध्वनि हैं। अनेक प्रकार के तत्वार्थ और उनकी कुशलता को यदि अच्छी तरह समझा जाय तो वे इन काव्यादि रूपी घुंघरूओं के बीच में चमकते हुए रत्न हैं। उसमें व्यासादिक ऋषियों का बुद्धि-प्रभाव ही गणेशजी की कमर में बंधी करधनी है, जिसके पल्लव (टिकरियाँ) निर्मलता पूर्वक झलक रहे हैं। षट्-दर्शन-शास्त्र इस ॐकार रूपी गणेश के छः हाथों की तरह है और उनमें प्रदर्शित पृथक्-पृथक् नत हाथों में ग्रहण किये विभिन्न आयुधों की तरह है। कणाद का तर्कशास्त्र फरसा हैं, न्यान दर्शन अंकुश है—वेदांत दर्शन ब्रह्मज्ञान से भरा तोदक है। वार्तिकार के शारीरिक सूत्र द्वारा खंडित चार्वाक और बौद्धमत एक हाथ में टूटे हुए दांत की तरह शोभा दे रहा है। जो वरदायक हाथ है वह सत्कारवाद अथवा ब्रह्मवाद जैसा शोभित है। धर्म और प्रतिष्ठा की स्थापना होती है वह इसमूर्ति का अभय हाथ है। जिसमें केवल महासुख रूप परमानन्द भरा हैं, ऐसा जो अति निर्मल विवेक है वही सीधी सूँड़ के तुल्य हैं। वैसे ही 'गुरु-शिष्य संवाद' यह समारूप शुभ्र दन्त है। ज्ञान दृष्टि सूक्ष्म नेत्र रूप है और पूर्व तथा उत्तर मीमांसा कान के स्थान पर शोभायमान हैं। बोधामृत गंडस्थल में से निकला मद है और उनका सेवन करने वाले मुनिगण भ्रमर रूप हैं। द्वैत तथा अद्वैत सिद्धांत प्रबाल (मूँगा) रूप में शोभित हैं और ज्ञान-मकरन्द से परिपूर्ण उपनिषद् रूपी सुगन्धित पुष्प मुकुट पर सुन्दरता की वृद्धि कर रहे हैं। ॐकार का 'आकार' दोनों चरणों के समतुल्य हैं, 'उकार' विशाल पेट है और 'मकार' समस्त अवयवों में श्रेष्ठ मस्तक रूप है। इन तीनों के एकत्रित होकर उसमें शब्द ब्रह्म का समावेश होने से ॐकार का स्वरूप बन गया, उस आदि बीज को मैं गुरु कृपा से नमस्कार करता हूँ। ३/२१

अब अपूर्व वाणी में विहार करने वाली, चातुर्य, अर्थ और कला स्वामिनी तथा विश्व मोहिनी सरस्वती देवी को नमस्कार करता हूँ। हृदय में सदा निवास करने वाले सद्गुरु की कृपा से ही मैं संसार-सागर से बाहर निकल सका हूँ और विवेक से प्रेम करने लगा हूं। जिस प्रकार ममीरे का दैवी अंजन लगाने से दृष्टि को विशेष शक्ति प्राप्त हो जाती है और भूमि में गड़े खजाने दिखाई पड़ने लगते हैं, अथवा चिन्तामणि मिल जाने से समस्त मनोरथ पूरे होने लगते हैं, उसी प्रकार गुरु निवृत्तिदास की कृपा से मेरी सभी इच्छायें सदा सफल होती रहती हैं। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति को गुरु की सेवा करनी ही उचित है जिससे सब मनोकामनायें पूरी होती रहें। जैसे वृक्ष की जड़ को सींचने से शाखा और पत्ते अपने आप बढ़ते हैं अथवा समस्त तीर्थों के स्नान का फल एकमात्र समुद्र के स्नान में मिल जाता है इसी प्रकार सर्व कामनओं की पूर्ति करने वाले श्री गुरुदेव को मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ। (२७)

अब उस गहन कथा को श्रवण कीजिए जो सब कथाओं का मूल और विचार रूपी वृक्षों का अपूर्व उपवन है। यह कथा सर्व सुखदायक तथा सर्वार्थसिद्धिदायक महान् भण्डार अथवा नवरस पूर्ण अमृत सिंधु ही है। वह मोक्ष का स्थान है, सब विद्याओं का सार है, सब शास्त्रों का आश्रय है, सब धर्मों का मूल है, सज्जनों का आत्मा और सरस्वती का लावण्य-भण्डार है, अगर अन्य प्रकार से कहा जाय तो साक्षात् सरस्वती श्री व्यासजी के मस्तिष्क में प्रवेश करके इस कथा के रूप में त्रिभुवनमें प्रकट हुई हैं। इसलिए वह कथा सब कथाओं की राजा और सब ग्रन्थों का मुकुट है। इस कथा से शब्द रूपी लक्ष्मी को शास्त्र-पद प्राप्त हुआ है और आत्मज्ञान की विशेष शोभा मिली है। इस कथा से चातुर्य में बुद्धि की, तत्वार्थ में आस्वाद की, सुख में सौभाग्य की, माधुर्य में मधुरता की वृद्धि हुई है। शृङ्गारकी सुन्दरता और उत्तम वस्तुकी श्रेष्ठता

इस कथामें अच्छी तरह दिखाई पड़ती है। जैसे सूर्योदय होते ही त्रिलोक प्रकाशित हो जाता है, उसी प्रकार व्यास जी के मुख से कथा के निकलते ही सब जगत जगमगाने लगा है। अथवा जैसे उत्तम खेत मे बोया हुआ बीज सहज में विस्तार पाता है उसी प्रकार 'महाभारत' की यह कथा सब विषयों में विस्तारपूर्वक शोभित हो रही है। जिस प्रकार नगर में निवास करने से मनुष्य चतुर बनता है, उसी प्रकार व्यास जी की बाणी के प्रकाश से सब जगत् ज्ञानमय बन गया है। जिस प्रकार बसन्त ऋतु का आगमन होने पर वनश्री की शोभा कुछ और ही हो जाती है, जैसे सुवर्ण की डली देखने में साधारण लगती है, पर अलङ्कार बनने पर उसकी सुन्दरता बहुत बढ़ जाती है, उसी प्रकार व्यास जी की प्रतिभा का प्रसाद प्राप्त कर यह कथा और सुन्दर हो गई है। इसी से इतिहास ने भी इस कथा का आश्रय लिया है और सब पुराण भी नम्र भाव से 'महाभारत' में सम्मिलित होकर सम्मानित हो गये हैं, इसलिए कहा जाता है कि जो 'महाभारत' में नहीं है वह त्रिलोक में नहीं है। जगत् में ऐसी सरस कथा, जो परमार्थ का महान साधन रूप है, वैशम्पायन मुनि ने राजा जनमेजय से कही है, वह अद्वितीय, उत्तम, पवित्र, अनुपम और अति कल्याणकारी कथा मुझसे सुनिये। (४६)

'भारत' एक कमल है और उसमें गीता पुष्परेणु हैं अथवा व्यासजी ने वेदरूप समुद्र को बुद्धि रूपी रई (मथनी) से मथ कर गीतारूपी नवनीत निकाला है और फिर ज्ञान रूपी मन्द अग्नि पर तपा कर उसका नित्य सेवन करते हैं, जो भक्तों के श्रवण करने योग्य है और सब जगत् की परम पूज्या है, उस कथाका भीष्म-पर्व में निर्देश किया गया है और उसे 'भगवद् गीता' कहा जाता है। ब्रह्मा और शङ्कर भी उसकी स्तुति करते हैं और सनकादि बड़े आदर से उसका सेवन करते हैं। जिस प्रकार चकोर-शावक शरद् ऋतु में चाँदनी के कोमल अमृत कणों का सेवन करते हैं, वैसे ही श्रोताओं को निष्काम बुद्धि से चित्त को एकाग्र

करके 'भगवद् गीता' श्रवण करना उचित है। इस गीता-ज्ञान का मौन पूर्वक विचार करना, इन्द्रियों को वश में करके रहस्य समझ लेना चाहिए। जिस प्रकार भ्रमर कमल दल को मालूम पड़ने न देकर पुष्प-रेणु का सेवन कर लेता है, उसी प्रकार इस ग्रन्थ का तात्पर्य ग्रहण करना चाहिए। जिस प्रकार चन्द्रमा का प्रकाश होते ही कमलिनी विकसित होकर अपना स्थान छोड़े बिना उसका सुख प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार शम-दम से जिसका चित्त स्थिर हो चुका है, वह मनुष्य सहज ही में इस कथा के रहस्य का अनुभव कर लेता है। अहो! जो श्रोता अर्जुन के समतुल्य है, वह मेरे कथन की तरफ लक्ष्य दे। मैं जो इस प्रकार निर्भय होकर विनती कर रहा हूँ उसका कारण यही है कि हे प्रभु! आपका हृदय बड़ा गम्भीर है। जिस प्रकार माता-पिता स्वभावतः बालक के तोतले शब्दों को सुनकर भी प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार आप सन्तों ने मुझे अङ्गीकार करके अपना मान लिया है इसलिए अब मुझे यह प्रार्थना करने की भी आवश्यकता नहीं कि "मेरी गलतियों को क्षमा करें।"
(६५)

पर मेरा अपराध तो कुछ और ही है। वह यह है कि मैं 'गीता' का अर्थ करने को उद्यत हुआ और उसे सुनने के लिए आपसे कह रहा हूँ। यह कार्य कितना कठिन है, यह सोचे बिना ही मैंने यह साहस किया है। सूर्य के प्रकाश के सम्मुख खद्योत की क्या गिनती? जिस प्रकार टिटहरी अपनी चोंच में पानी भरकर समुद्र को खाली करने को तैयार हो गई थी, उसी प्रकार मैं भी अधिकारी न होते हुए भी 'गीता' जैसे ग्रन्थ का भाष्य करने को तैयार हुआ हूँ। सुनिये! आकाश को ढक देना हो तो उससे बड़ा पदार्थ होना चाहिए, इसी प्रकार गीता पर भाषण करने के लिए मुझसे बहुत अधिक योग्य पुरुष की आवश्यकता है। गीता की महत्ता का वर्णन करते हुए स्वयं भगवान् शिव ने पार्वती-जी से कहा था-'हे देवी! जिस प्रकार तुम्हारा शरीर नित्य नवीन होने

से कोई उसका पार नहीं पा सकता, उसी प्रकार गीता-तत्व भी नित्य नूतन होने से समझने वाले के लिए अत्यन्त गहन है।' जिनकी योग निद्रा में से वेद प्रकट हुए हैं, उन्हीं सर्वेश्वर ने स्वरूप से अर्जुन को 'गीता' का उपदेश दिया था। ऐसी 'गीता' के आगे वेद भी स्तब्ध हो जाते हैं, फिर मैं तो क्षुद्र, मतिमन्द एक तिनका की तरह हूँ। इस अपार गीतार्थ का पार किस तरह पाया जा सकता है? सूर्य के तेज को कौन उज्ज्वल बना सकता है? मच्छर की मुट्ठी में आकाश किस प्रकार समा सकता है? परन्तु इस सम्बन्ध में एक आधार मिल जाने से ही में बोलनेकी हिम्मत कर रहा हूँ। मेरे ऊपर गुरु की कृपा हैं अन्यथा मैं तो मूर्ख ही हूँ। यद्यपि मेरा यह कार्य अविवेक पूर्ण है, पर आप सन्तों की कृपा ज्योति जो मेरा मार्ग दर्शन करती ही रहेगी। पारस में लोहे को सोना बनाने की सामर्थ्य रहती है और सरस्वती की कृपा हो जाय तो गूँगा भी बोलने लगता है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। अथवा जिसकी माता कामधेनु हो, उसको जगत् में कौन-सी चीज दुर्लभ है? इसी बात के भरोसे मैं इस ग्रन्थ की व्याख्या करने लगा हूँ। इसमें जो कुछ न्यूनता हो उसें आप पूर्ण कर लें और जो अधिक जान पड़े उसे त्याग दें, यही मेरी विनय है। आप मुझे जैसे शक्ति देंगे वैसा ही मैं बोलूँगा। जैसे काठ की पुतली को सूत्रधार इच्छानुसार नचाता है, उसी प्रकार मैं आप साधुजनों की अनुमति से इस कार्य में प्रवृत्त होता हूँ, इसलिए आप ही मुझे इस कार्य में अग्रसर कीजिए। (८२)

यह सुनकर भी गुरु निवृत्तिनाथ ने कहा—'इतना सब कहने की क्या आवश्यकता हैं? अब तुम ग्रन्थ की तरफ ही ध्यान दो।' ऐसा वचन सुनकर निवृत्तिनाथ के शिष्य ज्ञानदेव अत्यन्त आनन्दित होकर बोले—तो अब मैं आरम्भ करता हूँ, आप शांत चित्त से उसे सुनिये।

धृतराष्ट्र उवाच–

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ।।१

पुत्र प्रेम से मोहित होकर धृतराष्ट्र ने संजय से कहा—हे संजय कुरुक्षेत्र के क्या समाचार हैं, वह मुझे सुनाओ। जिस कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र कहा जाता है, वहाँ मेरे और पांडुके पुत्र युद्ध करने गये हैं, उन्होंने वहाँ अभी क्या किया, यह जल्दी बतलाओ। (८७)

संजय उवाच–

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ।।२
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ।।३

संजय बोला कि जिस प्रकार महा प्रलय के अवसर पर महाकाल अपने विशाल मुख को फैलाकर सब वस्तुओं को निगल जाने को तत्पर होता है, उसी प्रकार पांडवों की यह सेना खलबला रही है। इस समय पांडवों की समस्त सेना तैयार होकर खड़ी हो गई है। उसे रोकने वाला कौन है ? जिस प्रकार समुद्र मंथन के अवसर पर उछल कर निकलने वाला कालकूट विष का शमन कोई नहीं कर सकता, अथवा प्रलय काल की वायु से भड़का हुआ वड़वानल, समुद्र के पानी को सोखकर आकाश पर्यन्त पहुँच जाता है, उसी प्रकार पाण्डवों की सेना भाँति भाँति की व्यूह रचना के कारण बड़ी भयङ्कर लग रही है। पर जिस प्रकार गज समूह को देखकर सिंह उसे तुच्छ समझता है, वैसे ही दुर्योधन ने पाण्डव-सेना को देखकर तुच्छ समझा। वह द्रोणाचार्य के

मन को पांडवों की तरफ से कलुषित करने की भावना से उनके पास जाकर कहने लगा कि देखिये, वह पांडवों की सेना कैसी उछल रही है। द्रुपद के बुद्धिमान पुत्र धृष्टद्युम्न ने इसकी ऐसी अद्भुत रचना की है। कि वह पहाड़ पर बने एक किले की तरह जान पड़ता है। जिस धृष्ट-द्युम्न को आपने शिक्षा प्रदान करके विद्या का भण्डार बनाया है उसी ने इस समुद्र रूपी सैन्य का विस्तार किया है। (६५)

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४

इसमें अस्त्र-शस्त्र संचालन में प्रवीण और क्षात्र धर्म में दृढ़ ऐसे अनेक योद्धा हैं, जो बल योग्यता एवं पुरुषार्थ में भीम तथा अर्जुन के समकक्ष हैं। मैं उनका प्रसंगानुसार वर्णन करता हूँ। इस अवसर पर एकत्रित महारथियों में युयुधान, विराट तथा द्रुपद आदि राजा भी हैं। (६८)

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५

युधामन्युश्च विक्रांत उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ।६

देखिये ये चेकितान, धृष्टकेतु पराक्रमी काशीराज, उत्तमौजा, शैब्य भी आये हैं। इस कुन्तीभोज को देखो उधर युधामन्यु दिखाई पड़ रहा है तथा ये पुरुजित आदि सब राजा आये हैं, इनको भी देखो। दुर्योधन कहता है कि हे द्रोणाचार्यजी, सुभद्रा के चित्त को आह्लादित करने वाले इस अभिमन्यु को देखो, मानो दूसरा अर्जुन ही हो। इसके अतिरिक्त द्रौपदी के पुत्र भी सभी महारथी हैं। इस प्रकार अगणित वीर योद्धा यहाँ एकत्रित हुए हैं। (१०२)

अस्माकं तु विशिष्टाये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तस्तथैव च ॥८॥

अब अपनी सेना में आप और अन्य कौन-कौन महावीर हैं, उनमें मुख्य-मुख्य के नाम कहता हूं वह सुनिये। शौर्य और बल में प्रत्यक्ष सूर्य समान गङ्गानन्दन भीष्म, शत्रु रूपी हाथी को सिंहवत् जान पड़ने वाला पराक्रमी कर्ण। ऐसे ही एकाध योद्धा के मन में यह विचार आये कि इस समग्र विश्व का ही संहार कर डाला जाय, तो दूर क्यों जायँ केवल कृपाचार्य जी को देखिये क्या वह अकेले इस कार्य को नहीं कर सकते ? उधर खड़ा हुआ वीर विकर्ण और उससे थोड़ी दूर पर अश्वत्थामा को देखो, क्या स्वयं काल को भी उनसे भय नहीं लगता ? युद्ध में सदैव विजय प्राप्त करने वाला सोमदत्त (भूरिश्रवा) तथा उसी प्रकार—॥६०८॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

और बहुसंख्यक वीर ऐसे हैं जिनके शौर्य का पार ब्रह्मदेव भी नहीं पा सकते। ये योद्धागण शस्त्र-विद्या में निपुण और अस्त्र-विद्या के तो साक्षात् अवतार ही हैं। अधिक क्या कहूँ ? इनके कारण ही अस्त्र-विद्या जगत् में इतनी प्रसिद्ध हो गई है। समस्त संसार में इनकी बराबरी कर सके ऐसा कोई दूसरा योद्धा नहीं है। तो भी उन्होंने मेरा पक्ष ही स्वीकार किया है। जैसे पतिव्रता स्त्री का मन अपने पति के अतिरिक्त और किसी तरफ नहीं जाता, उसी प्रकार इन सभी योद्धाओं का ध्यान मेरी विजय में ही संलग्न है। वे इतने स्वामिभक्त हैं कि मेरे कार्य के लिए अपने प्राणों को तुच्छ समझते हैं। वे युद्ध कला में पूर्ण निष्णात और यशस्वी योद्धा हैं। ज्यादा क्या कहा जाय, क्षत्रिय धर्म ने इनके कारण ही प्रतिष्ठा प्राप्त की है। इस प्रकार अपनी सेना में

सर्वश्रेष्ठ पराक्रमी इतने योद्धा हैं कि उनकी गणना की जा सकनी कठिन है।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

समस्त क्षत्रियों में श्रेष्ठ और योद्धाओं में अग्रगण्य भीष्म पितामह ने हमारी सेना की व्यूह रचना ऐसी सुदृढ़ बनायी है मानो एक किला ही बना दिया गया है। इनके शौर्य के सम्मुख त्रिभुवन भी तुच्छ है। समुद्र को तैरकर पार करना किसको कठिन नहीं लगता? इस पर फिर यदि उसमें बडवानल का संयोग हो जाय अथवा प्रलयकाल की महावायु की सहायता मिल जाय, तो फिर शेष क्या रह गया? इसी प्रकार जब अपनी अपार सेना को भीष्मजी की सहायता है तो उसके सम्मुख युद्ध में कौन ठहर सकेगा? उसके सामने पाण्डवों की सेना तो तुच्छ है। सिर्फ देखने में ही वह विशाल लगती है। इतने पर भी उसका अधिपति भीमसेन जैसा उद्धत व्यक्ति नियुक्त किया गया है। इतना सब कहने के बाद भी जब दुर्योधन ने द्रोणाचार्य के मन पर अपनी बातों का कुछ असर होते नहीं देखा, तो वह स्तब्ध हो गया। (१२३)

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

तत्पश्चात् दुर्योधन अपने सेनापतियों के प्रति कहने लगा, आप सब अपनी-अपनी सेना को तैयार कर लें। जिसके आधीन सेना की जो अक्षौहिणी हो वह उसके आगे जाकर स्थित हो जाय। उसे उस अक्षौहिणी को संभाल कर भीष्म पितामह के आदेशानुसार कार्य करना चाहिए। फिर वह द्रोणाचार्य से बोला समस्त सेना की देख-रेख करते रहिये। आप भीष्मजी को मेरे ही समान मानकर उनकी रक्षा में तत्पर रहिए, क्योंकि समस्त सेना का आधार उन्हीं पर हैं।

संजय उवाच

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

राजा दुर्योधन के वचन सुनकर भीष्मजी को बहुत सन्तोष हुआ और उन्होंने सिंहनाद किया। इस नाद की प्रतिध्वनि दोनों सेनाओं में हुई और उससे नभोमण्डल गूँज उठा। इससे भीष्मजी का वीर-भाव और भी उत्तेजित हो उठा और उन्होंने अपना दिव्य शंख बजाया। इन दोनों शब्दों के मिल जाने से ऐसा जान पड़ा मानो आकाश ही पृथ्वी पर टूट पड़ा हो। तीनों लोकों केप्राणियों के कान बहरे होगये, गगन-मंडल में प्रचण्ड गर्जना होने लगी, समुद्र उछलने लगा और समस्त जगत् घबराकर थर-थर काँपने लगा। इस महानाद की प्रतिध्वनि पर्वतों की गुफाओं में होने लगी और सेना में रण-वाद्य बजने शुरू हो गये। (१३०)

ततः शंखश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

नाना प्रकार के वाद्यों की ध्वनि ऐसी कर्कश और भयंकर थी कि महान शक्तिशाली व्यक्तियों को भी प्रलय का सा आभास होने लगा। नौबत, भेरी, निशान, मृदङ्ग, शंख, झाँझ, चुरही इत्यादि अनेक रण वाद्यों की आवाज और योद्धाओं की रण-गर्जना शुरू हो गई। कोई आवेश से भुजा ठोंकने लगा, कोई एक-दूसरे का नाम लेकर जोरों से हाँक मारने लगा और मदोन्मत हाथी की तरह इधर-उधर दौड़ने लगा, जिससे उस पर अंकुश रखना कठिन हो गया। वहाँ कायरों की तो बात ही क्या पूछनी, वे तो क्षुद्र तिनकों की तरह उड़ गये। यमराज को भी इस दृश्य को देखकर भय लगने लगा, इसलिए वह मानो उस तरफ से मुख फेर रहा है ऐसा जान पड़ने लगा। कितनों के तो खड़े-खड़े ही प्राण निकल गये। बड़े-बड़ों के दाँत बैठ गये और प्रसिद्ध

योद्धाओं को भी कँप-कँपी छूटने लगी। इस प्रचण्ड वाद्य ध्वनि को सुनकर ब्रह्माजी भी व्याकुल हो गये और इन्द्रादि देव तो कहने लग गये कि क्या आज ही प्रलय काल आ गया।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥१४॥
पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

इस प्रकार स्वर्गलोक में भी घबराहट पैदा हो गई। अब दूसरी तरफ पाण्डव सेना का क्या हुआ वह सुनो। जो विजय का प्रत्यक्ष स्तम्भ और तेज का महान् भण्डार है, जिसमें गरुड़ के समान वेग वाले चार अश्व जोड़े गये हैं और जो मानो मेरु पर्वत को पंख ही लग गये हों ऐसी शोभा दे रहा है, ऐसे श्रेष्ठ रथ की प्रभा से दशों दिशायें चमक रही थीं। जिस रथ पर साक्षात् वैकुण्ठाधिपति सारथी थे उस रथ की शोभा का वर्णन कहाँ तक करना। साक्षात् भगवान् शंकर का अवतार जो हनुमानजी थे वे उसकी ध्वजा पर विराजते थे और भगवान् कृष्ण अर्जुन के सारथी के रूप में विराजमान हैं। सेवक को पीछे की तरफ रखकर स्वयं सम्मुख बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने अपना पांचजन्य शंख सहज लीला से बजाया। सूर्य के उदय होते तारागण न जाने कहाँ लोप हो जाते हैं, उसी प्रकार पांचजन्य के महाघोष से कौरवों की वाद्य ध्वनि न जाने कहाँ लुप्त हो गई। फिर अर्जुन ने भी अपना 'देवदत्त' नामक शंख जोर से बजा दिया। इन शंखों की अद्भुत ध्वनि एकत्र होने से ब्रह्माण्ड के शतशः टुकड़े हो जायेंगे, ऐसा भय लगने लगा। इतने में भीमसेन ने अपना 'पौण्ड्र' नाम का महाशंख बजाया

उस शंख की भयंकर ध्वनि महा प्रलय की मेघ गर्जना के समान जान पड़ी। तब धर्मराज युधिष्ठिर ने अपना 'अनन्त विजय' नामक शंख बजाया। नकुल ने 'सुघोष' और सहदेव ने 'मणि पुष्पक' नामक शंख बजाया। इन महानादों से यमराज तक घबड़ा गये।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चोपराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

राजा द्रुपद, महावीर काशीराज, द्रौपदी पुत्र आदि जो अनेक राजा और योद्धा वहाँ एकत्र हुए थे, साथ ही अजेय, सात्यकि, नृपश्रेष्ठ धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा विराट् [एवं अन्य जो-जो सेना नायक थे सबने ही अपने-अपने शंख बजाये। शंखों के उस महाघोष से शेषनाग और कूर्म पृथ्वी के भार को न डाल दें। तीनों लोक डगमगाने लगे, मेरु ओर मन्दराचल डोलने लगे समुद्र का जल कैलाश तक उछलने लगा। क्या पृथ्वी उलट जायेगी, आकाश टूट पड़ेगा, अथवा नक्षत्र-अस्त-व्यस्त हो जायेंगे ऐसा भय लगने लगा। सत्यलोक से पुकार होने लगी—'अरे पृथ्वी डूबी-डूबी, अब देवगण निराधार हुये।' सूर्य मानो स्तम्भित हो गया और त्रैलोक्य में प्रलयकाल जैसा हा-हा कार मच गया। वह दृश्य देखकर भगवान् श्रीकृष्ण भी चकित हो गये और कहीं सृष्टि का विनाश. न हो जाय यह विचार कर उन्होंने उस अद्भुत शंखनाद को बन्द कर दिया। इसी से जगत् की रक्षा हो गई, नहीं तो श्रीकृष्ण आदि ने जब शंख बजाना आरम्भ किया था, उसी समय उसका अन्त हो जाने वाला था। अब शंखनाद बन्द हो गया तथापि उसकी प्रतिध्वनि गूँज रही थी उसके कारण ही कौरव सेना में घबराहट फैलती रही। जिस

प्रकार सिंह के सामान्य खिलवाड से गज समुदाय का विदारण हो जाता है उसी प्रकार शंख ध्वनि से कौरवों के हृदय छिद गये। उस ध्वनि को सुनकर खड़े-खड़े ही सबके छक्के छूट गये और एक दूसरे से 'सावधान ! सावधान !' कहने लगे। (१६३)

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

उस स्थान पर जो बलवान और पुरुषार्थी महारथी थे, उन्होंने सेना को फिर से हिम्मत बँधाई। फिर वे दुगुनी तैयारी करके आगे बढ़े और बड़े आवेश के साथ कुछ करने लगे। इससे तीनों लोक भय से काँपने लगे। उस समय समस्त वीरगण प्रलय काल के मेघों के समान दुर्निवार बाण वर्षा करने को प्रस्तुत हो गए। यह देखकर अर्जुन को संतोष हुआ और उसने उत्सुकतापूर्ण सेना पर दृष्टिपात किया। जब सब कौरवों को अर्जुन ने युद्ध के लिए तैयार देखा तो उसने भी सहज भाव से अपना धनुष उठाया। (१८६)

अर्जुन उवाच–

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

फिर अर्जुन बोला—हे देव ! अब जल्दी मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में ले चलो, जिससे मैं यहाँ पर एकत्रित समस्त योद्धाओं पर एकबार दृष्टिपात कर लूँ और यह जान लूँ कि इन समस्त योद्धाओं में से मुझे किन के साथ युद्ध करना है। ये उतावले और दुष्ट बुद्धि कौरव शक्ति न होने पर भी युद्ध का आडम्बर करते हैं। इनको युद्ध का शौक

तो बहुत है पर रण-भूमि में टिकने का धैर्य इनमें नहीं।' इसके पश्चात् संजय ने फिर कहा।

संजय उवाच–

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥२६॥
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥२७॥

संजय ने कहा—'हे राजन्! अर्जुन की बात सुनकर भगवान् कृष्ण रथ को युद्ध क्षेत्र के मध्य में ले गये और उस जगह खड़ा कर दिया जहाँ सामने ही भीष्म, द्रोण एवं अन्य सम्बन्धी उपस्थित थे। अर्जुन ने उस सैन्य दल की गम्भीरतापूर्वक देखा और फिर श्रीकृष्ण जी से कहने लगा—"देवाधिदेव! देखो, देखो, ये तो सब हमारे सम्बन्धी और गुरुजन हैं" यह सुनकर भगवान् कृष्ण को एकबार तो आश्चर्य हुआ और वे विचार करने लगे कि अर्जुन को ऐसी बात कहाँ से और क्यों सूझी? उसके इस कथन में कोई रहस्य होना ही चाहिए। अन्य के मन की बात को सहज में जान लेने वाले अन्तर्यामी श्रीकृष्ण ने उसी समय आगे बाली बात को समझ लिया, पर उस समय वे कुछ न कहकर चुप ही रहे। उस समय अर्जुन ने अपने समस्त गुरुजनों को मामा, नाना, गुरु और बान्धवों को देखा तथा अपने प्राण प्रिय मित्रों तथा पुत्र-पौत्रों को भी देखा। अपने ससुर आदि सम्बन्धियों को भी उस जगह लड़ने के लिए इकट्ठे हुए देखा। जिनके प्रति उसने

उपकार किया था और संकट के समय जिनकी रक्षा की थी, ऐसे छोटे-बड़े सभी को तथा अपने सगोत्र मनुष्यों को दोनों सेनाओं में युद्ध के लिये तैयार खड़े हुए देखा। यह सब देखकर उसका हृदय भर आया अपने आप ही अन्तर में करुणा का उद्भव हुआ और ग्लानि की भावना पैदा हो जाने में वीर वृत्ति को उसने छोड़ दिया। जो स्त्रियाँ उत्तम कुल में उत्पन्न तथा लावण्यवती होती हैं, उनसे अपनी तेजस्विता के सम्मुख अन्य स्त्रियों का महत्व सहन नहीं होता। जिस प्रकार योगाभ्यास द्वारा ऋषि-सिद्धि की प्राप्ति हो जाने पर वैराग्यशील व्यक्ति की बुद्धि भ्रमित हो जाती है और वैराग्य की स्मृति जाती रहती हैं, उसी प्रकार अर्जुन के मन में करुणा का प्रादुर्भाव हो जाने से वह भ्रमित हो गया और उसका धैर्य जाता रहा। जिस प्रकार कोई मन्त्र ज्ञाता मन्त्रोच्चार में भूल करने से भ्रमित हो जाता है, उसी प्रकार अर्जुन महा-मोह से व्याकुल हो गया और उसके हृदय में स्वभावतः रहने वाले धैर्य का नाश होकर उसके स्थान पर दया की धारायें फूट निकलीं। चन्द्र किरण का स्पर्श होने से जिस प्रकार चन्द्रकान्त मणि द्रवित हो जाती है उसी प्रकार अर्जुन करुणा से बड़ा आर्द्र हो उठा और खिन्न मन होकर श्रीकृष्ण से कहने लगा।

अर्जुन उवाच–

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

अर्जुन कहने लगा—हे देव ! देखो, मैंने यह समस्त सैन्य समुदाय देखा तो उसमें मुझे सभी व्यक्ति अपने गोत्र के ही जान पड़े। वे सब

तो युद्ध के लिये तैयार होकर खड़े हैं, परन्तु क्या इनके साथ युद्ध करना उचित है? ऐसा विचार मन में आने से अब मुझे कुछ सुनाई नहीं पड़ता। देखो मेरा समस्त शरीर काँप रहा है, मुख सूख रहा है तथा सब अंग शिथिल पड़ गये हैं। ऐसा जान पड़ता है कि सारे शरीर में काँटे चुभ रहे हैं और मन अति सन्तप्त होने से गांडीव को उठाने वाला हाथ भी ढीला पड़ गया है। वह मेरे हाथ से कब छूट गया इसकी भी मुझे कुछ खबर नहीं। सम्बन्धियों के मोह के कारण मेरा हृदय इतना अधिक व्याकुल हो गया है कि मैं उसे सम्भाल नहीं सका। (ज्ञानेश्वर कहते हैं) अर्जुन का हृदय वज्र से भी कठोर किसी की चिन्ता न करने वाला, बड़ा भयंकर है, पर इस समय यह मोह उससे भी बढ़कर बलवान् हो गया। यह एक बहुत बड़ा आश्चर्य है। जिसने युद्ध में शिवजी को भी जीत लिया हो और जिसने निवात तथा कवच राक्षसों को जड़ मूल से उखाड़ फेंका हो, वह अर्जुन इस तरह क्षण भर में मोह के वश में हो गया। (२००) भौंरा चाहे कठोर काष्ठ को छेद डालता है पर कमल की सुकोमल कली में वह कैदी बन कर पड़ा रहता है। उसमें बन्द-रहकर भले ही उसे प्राण त्यागना पड़े, पर उस नाजुक-सी कली को छेदकर बाहर निकलने की कल्पना भी उसके मन में नहीं आती। इसी प्रकार स्वजनों की मोह-ममता छोड़ सकना भी कठिन है। संजय ने कहा—'हे महाराज धृतराष्ट्र! यह मोह परमेश्वर की माया है। ब्रह्माजी भी इस माया को मिटा सकने में समर्थ नहीं होते, तो फिर अर्जुन उससे व्याकुल हो जाय तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?' इस प्रकार हे राजन्! अपने सगे-सम्बन्धियों को देखकर अर्जुन के मन से युद्ध विषयक अभिमान निकल गया और उसके स्थान पर करुणा का भाव किस प्रकार समा गया यह बात समझ में नहीं आती। फिर वह श्रीकृष्ण से कहने लगा—हे देव! मुझे ऐसा लगता है कि अब यहाँ खड़ा नहीं रह सकता। इन सबको मारने का विचार आते ही मेरा मन अत्यन्त व्याकुल हो

जाता है और मुख से बोल निकलना भी रुक जाता है।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

यदि मैं इन कौरवों को मारने के लिए तैयार हुआ हूँ तो फिर धर्मराज आदि का विध्वंस भी क्यों नहीं कर सकता हूँ? क्योंकि ये सभी मेरे बन्धु-बान्धव ही हैं। इसलिए हे देव! यह युद्ध भाड़ में जाय, मुझे तो यह तनिक भी ठीक नहीं जान पड़ता। ऐसा महापातक करके हमको क्या करना है? हे देवि! सब प्रकार से विचार करके देखने पर मुझे तो ऐसा ही लगता है कि इस युद्ध का परिणाम हानिकारक होगा इसको रोकने से ही कुछ भलाई हो सकेगी। (२०९)

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥

इस प्रकार विजय प्राप्त करने की मुझे किंचित् मात्र इच्छा नहीं है, और ऐसा राज्य प्राप्त करके करना भी क्या है? इन सबके वध से प्राप्त होने वाले भोगों में आग लगे! ऐसे सुख की अपेक्षा तो हम चाहे जैसे संकट सहन करते रहेंगे और आवश्यकता पड़ी तो इनके लिए अपने प्राण भी अर्पण कर देंगे, पर इनको मारकर राज्य सुख भोगने की इच्छा मुझे स्वप्न में भी नहीं है। अगर हमने अपने गुरुजनों का अहित साधन किया तो फिर हमारे जन्म और जीवन का क्या प्रयोजन? कुल में पुत्र उत्पन्न होने की इच्छा लोग किया करते हैं, पर क्या उसका यही परिणाम होना चाहिए? पुत्र अपने कुल का संहार करे क्या यही उसका फल है? इस कार्य के लिए हम अपने हृदय को वज्र जैसा कठोर क्यों बनावें? अरे

ऐसा विचार मन में ही किस प्रकार प्रविष्ट हो सकता है ? उल्टा, हमको तो जितना बने उनकी भलाई करनी चाहिए। हम जो कुछ प्राप्त करें उस सबका वे उपभोग करें इतना ही नहीं उनके कार्य के लिए तो हमको जीवन तक अर्पण कर देना चाहिए। पर इसके बदले कर्म की कैसी विपरीत गति है कि हम एक ही गोत्र के मनुष्य परस्पर युद्ध करने को तैयार हुये हैं ! ये लोग स्त्री, सन्तान और धन सब कुछ छोड़कर तलवार की धार पर अपना प्राण देने को तत्पर हुये हैं। इनको किस प्रकार मारूँ ? किस पर शस्त्र उठाऊँ ? और अपने ही बन्धु—बान्धवों का घात कैसे करूँ ? क्या आप नहीं जानते कि ये कौन हैं ? उधर जो भीष्म और द्रोण खड़े हैं, जिन्होंने हम पर महान उपकार किये है। हमारे साले, मामा, श्वसुर, बन्धुगण, पुत्र-पौत्र आदि और अन्य अति निकट के सम्बन्धी भी खड़े हैं। इनका वध करने की बात मुख से निकालना भी पाप है। (२२४)

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।।३५।।
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।।३६।।

हमारे सामने खड़े ये कौरव मेरा चाहे जो करें, चाहे मुझे सचमुच मार ही डालें, तो भी इनको मारने का विचार हमारे लिये अनुचित ही हैं। तीनों लोकों का निष्कण्टक राज्य मिलता हो तो भी ऐसे अपकर्म को मैं नहीं कर सकता। हे कृष्ण ! जो आज इस जगह हम इनका वध करें, तो फिर संसार में किसके मन में हमारे लिए सम्मान रहेगा ! और आप ही कहो कि फिर अपना मुख भी हम किस तरह दिखा सकेंगे। (२२७)

यदि मैं इन कुटुम्बियों का वध करूँ तो महापापी कहलाऊँगा,

और फिर आप जो मुझे प्राप्त हुए हैं, वह भी हाथ से जाते रहेंगे। कुल क्षय होने से बहुत अधिक पाप लगता है और फिर ऐसे संकट के समय में आपको कहाँ ढूँढते फिरेंगे ? जिस प्रकार बगीचों में आग की ज्वाला भड़कने पर कोकिल पक्षी एक क्षण भी वहाँ नहीं रहता, अथवा जिस प्रकार तालाब में कीचड़ हुई देखकर चकोर इसे त्याग देता है, इसी प्रकार हे कृपा निधि देवाधिदेव ! इन आततायी कुटुम्बियों को मार डालने से मेरा पुण्य समाप्त हो जायगा और आप मुझको अपनी माया में फँसा कर चले जाओगे। (२३२)

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

इसलिए यह कार्य मैं कभी नहीं करूँगा और न इस समर में शस्त्र उठाऊँगा। यह कार्य कई प्रकार से निन्दनीय जान पड़ता है। हे कृष्ण ! गोत्र-वध करने से हमारे और आपके बीच में भी अन्तर पड़ जायगा,तब आप ही कहो कि हमारा कौन रह गया ? इस दुःख से तो हमारा हृदय ही फट जायगा। इसलिए हे देव ! कौरवों का वध करके राज्य का उपभोग करना मेरे लिए कभी सम्भव न होगा। (२५)

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

ये कौरव यद्यपि अभिमान से उन्मत होकर युद्ध करने आये हैं, तो भी हमको तो अपना हित समझना ही चाहिए। अपने स्वजनों को स्वयं ही मारना यह बात कैसे हो सकती है ? देखिये, मार्ग में जाते हुए यदि अकस्मात् सिंह सामने आ जाय, तो हम दूसरी तरफ बचकर निकल जाते हैं, क्योंकि उसी में हमारी भलाई होती है। तो फिर खुले हुए प्रकाश को छोड़कर अन्धकारमय कुँए में जाकर गिर जाने

से क्या लाभ? सामने अग्नि को देखकर भी यदि हम उससे दूर नहीं चले जायेंगे तो वह हमको एक क्षण में भस्म कर देगी। इसी प्रकार यह स्पष्ट पाप हमको लगेगा, यह जान लेने पर इसमें क्यों प्रवृत्त हों? तत्पश्चात् अर्जुन श्रीकृष्ण से बोला हे देव! इस पातक का अनर्थ कितना अधिक है, इसे देखिये।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

जिस प्रकार काष्ठ के साथ काष्ठ रखने से अग्नि जल उठती है और समस्त लकड़ियां भस्म हो जाती हैं, इसी प्रकार यदि गोत्र के ही व्यक्ति मत्सर से एक दूसरे का वध करें तो उस महाघोर पाप के परिणाम स्वरूप समस्त कुल का क्षय हो जाता है। इस कुल क्षय के पाप से कुल धर्म का लोप होता है और फिर समस्त कुल में अधर्म ही फैल जाता है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

ऐसा होने पर सरासर विचार, योग्यायोग्य आचरण, कर्तव्याकर्तव्य विवेक सब मिट जाते हैं, प्रज्वलित दीप को बुझाकर अँधेरे में चलने से जिस प्रकार मनुष्य सरल मार्ग में भी सहज ही ठोकर खाता है, उसी प्रकार कुलक्षय से कुल धर्म नष्ट हो जाने पर उस कुल में फिर पाप के सिवाय अन्य कोई वस्तु मिल नहीं सकती। मन और इन्द्रियों का संयम नष्ट होने से इन्द्रियाँ जैसा चाहें उसी प्रकार व्यवहार करने लगती हैं। वे उत्तम अथवा अधम चाहे जिसके साथ समागम करती है, जिससे ब्राह्मण-शूद्र आदि वर्णों की मिलावट होने लगती है और जाति धर्म नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार चौक में रखी बलि पर कौआ टूट पड़ते हैं, उसी प्रकार ऐसे कुल में चारों तरफ से महापातकों का प्रवेश होता है। (२५१)

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

फिर उस कुल तथा उसका नाश करने वाले दोनों को नरक-प्राप्ति होती है। इस प्रकार समस्त वंश की बृद्धि दूषित हो जाने से उसके पूर्वजों का अपने आप ही पतन हो जाता है। जिस कुल में नित्य नैमित्तिक कर्म नहीं होते उस कुल में पितरों को तिलकोदक कौन अर्पण करेगा ? ऐसी स्थिति आ जाने पर पितृगण क्या करें और स्वर्ग में किस प्रकार रहें ? इस कारण वे भी अपने कुल के पास ही चले आते हैं। जिस प्रकार सर्प यदि पैर के अँगूठे को डस ले तो भी इसका असर शिखा पर्यन्त समस्त अंगों पर व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार आप्तवर्ग का वध करने से जो दोष उत्पन्न होता है वह कुल के वर्तमान जीवित व्यक्तियों से लेकर पूर्वजों तक सबको डुबाता है। (२४६)

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

हे कृष्ण ! इसमें एक और भी बहुत बड़ा पाप होता है। इस दोष से लोकाचार भी नष्ट होता है। जिस प्रकार घर में यदि अकस्मात् आग लग जाय तो वह बढ़कर पड़ोस के अन्य घरों को भी जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार ऐसे कुल के सम्पर्क में जो लोग आते हैं उनको भी उस संसर्ग के कारण पाप लगता है। हे देव ! इस प्रकार समस्त कुल में तरह-तरह के दोष उत्पन्न हो जाने से उसे भयंकर नरकवास भोगना पड़ता है और एक बार नरक में पड़ने पर फिर युगों तक उससे छुटकारा

नहीं होता । कुलक्षय के कारण इतना महान पतन होता है । हे देव ! इतनी देर तक मेरी बक-बक सुनते रहने पर भी आपके मन में कुछ दुःख नहीं होता । यह आपने अपना मन इतना कठोर क्यों कर लिया है ? देखिये, कुलक्षय करके हम अपने निज शरीर के लिए राज्य सुख की इच्छा करते हैं, वह शरीर भी तो क्षण भंगुर है । इस बात को समझ लेने पर भी हम इस पाप कर्म का त्याग क्यों न करदें ? इन सब गुरुजनों को मारने के उद्देश्य में मैंने उनकी तरफ दृष्टि डाली, यही क्या कोई कम पाप है ? (२६४)

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।।४६।।

इस प्रकार जीवित रहने की अपेक्षा हाथ से शस्त्र को फेंक कर कौरवों के बाण सहन करना अधिक अच्छा है । ऐसा करने से यदि मृत्यु हो जायगी तो वह और भी ठीक है । पर इनको मारकर पाप इकट्ठा कर लेने की इच्छा नहीं है । समस्त कुल का नाश करके राज्य प्राप्त करना यह ,तो साक्षात् नरक के लिए तैयारी करने के समान ही है ।

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ।।४७।।

संजय ने कहा—हे राजन् ! रणक्षेत्र में स्थित अर्जुन इस प्रकार कहकर अत्यन्त शोकग्रस्त हो गया और उसके हृदय में जो भावावेग उठा उसे सहन न कर सकने पर वह रथ के नीचे कूद पड़ा । जिस प्रकार किसी राजकुमार के पदच्युत हो जाने पर कोई उसका सम्मान नहीं करता अथवा जब राहु सूर्य को घेरता है तो सूर्य निस्तेज हो जाता है, अथवा महासिद्धि की प्राप्ति के भ्रम में पड़ा तपस्वी तप को त्याग कर कामनाओं के फेर में पड़कर निन्दा पात्र बन जाता है, उसी प्रकार अर्जुन रथ से उतरने के पश्चात् दुःख से अत्यन्त व्याकुल जान पड़ने लगा ।

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा—हे राजन्! तब अर्जुन ने धनुष-बाण को पृथ्वी पर डाल दिया और उसकी आँखों से लगातार अश्रुधारा बहने लगी। अब अर्जुन को अत्यन्त दुःखी देखकर बैकुण्ठनाथ श्रीकृष्ण उस प्रकार तत्व ज्ञान का उपदेश करते हैं, वह आगे आने वाली सविस्तार कथा उत्सुकतापूर्ण सुनो। इस प्रकार श्री निवृत्तिनाथ के दास श्री ज्ञानेश्वरदास महाराज बोले। (२७५)

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां
प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

———

॥ अथ द्वितीयोऽध्याय: ॥

संजय उवाच–

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदन: ॥१॥

फिर संजय महाराज धृतराष्ट्र से कहने लगा हे राजन् ! सुनिये, अर्जुन इस प्रकार शोक से व्याकुल होकर रुदन करने लगा। अपने समस्त कुल वालों को देखकर उसके मन में विलक्षण मोह उत्पन्न हुआ और इससे उसका मन इस तरह द्रवित हो गया जैसे पानी में नमक गल जाता है अथवा वायु से बादल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। यद्यपि वह स्वभाव से धैर्यवान था तो भी उसका हृदय खेद से भर गया और जैसे राजहंस कीचड़ में पड़ने से म्लान हो जाता है वैसे ही अर्जुन को माया-मोह में ग्रस्त देखकर भगवान् कृष्ण कहने लगे। (२)

श्री भगवान् उवाच–

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

श्रीकृष्ण बोले—हे अर्जुन ! थोड़ा विचार कर कि इस स्थान पर ऐसा कार्य तुझे शोभा देता है। तू कौन है और यह क्या करने लगा है, इस पर अच्छी तरह विचार कर। तुझे क्या हो गया है ? किस बात को तू नहीं समझ पाया अथवा क्या करने को शेष रह गया ? तू इस प्रकार दु:खी क्यों हो रहा है ? तू तो अनुचित घटना को देखकर कभी धैर्यच्युत नहीं होता और तेरा नाम सुनते ही अपयश कोशों दूर भाग जाता है। तू शौर्य की खान, क्षत्रियों का मुकुटमणि है और तेरी वीरता का डंका तीनों लोकों में बज रहा है। तूने शंकर को जीता, अजेय निवात-कवच दैत्य का वध किया। तेरी कीर्ति को गन्धर्वगण भी गाते रहते हैं। हे अर्जुन ! जिसके पराक्रम की तुलना तीनों लोकों में

नहीं हो सकती, ऐसा तू वीर भाव का परित्याग करके नीचा मुँह करके रोने को बैठा है। हे अर्जुन ! कुछ विचार तो कर कि क्या करुणा भाव-तुझको ऐसा दीन बना सकता है ? अरे, अन्धकार कभी सूर्य को निगल सकता है ? पवन को कभी मेघ से भय लग सकता है ? अमृत के पास कभी मृत्यु आई है ? काष्ठ ने कभी अग्नि को ग्रसा है ? कभी नमक ने पानी को गलाया ? कालकूट विष किसी अन्य वस्तु के संसर्ग से मृत्यु को प्राप्त हुआ है ? प्रचण्ड भुजंग को कभी मेंढक ने निगला है ? स्यार ने कभी सिंह का मुकाबला किया है ? क्या ऐसी विलक्षण घटनायें कभी देखने-सुनने में आई हैं ? पर वे घटनायें आज तूने प्रत्यक्ष करके दिखला दीं। हे अर्जुन ! ऐसे अनिष्ट विचारों को त्याग कर, धैर्य धर कर सावधान हो जा। मूर्खता को छोड़ कर खड़ा हो जा और धनुष बाण ग्रहण कर। संग्राम के समय तेरी इस करुणा का क्या उपयोग ? श्रीकृष्ण जी कहते हैं कि हे अर्जुन ! तू इतना समझदार होने पर भी विचार क्यों नहीं करता। यह तो बता कि क्या संग्राम में इस प्रकार दया प्रदर्शित करनी उचित है ? हे अर्जुन तेरा यह व्यवहार आज तक प्राप्त की हुई तेरी कीर्ति का नाश करने वाला और स्वर्ग प्राप्ति में बाधा स्वरूप ही है। (२०)

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।।३

इसलिए हे अर्जुन ! तू व्यर्थ शोक न करके धैर्य से काम ले। ऐसा शोक तेरे जैसे वीर पुरुष को उचित नहीं है। तुमने आज तक, जो कुछ करा-धरा है उस सबका इससे नाश हो जायगा। तेरा वास्तविक हित किस बात में है, इस पर अब भी विचार कर। संग्राम का समय आ पहुँचा है इसलिए अब दयाभाव दिखलाना अनुचित है। ये कौरव क्या इसी समय तेरे स्वजन बन गये हैं ? क्या पहले तुझे इस बात की खबर न थी कि ये मेरे कुछ हैं, इस बात को तू पहले नहीं जानता था ? तो

फिर यह व्यर्थ का झंझट किस लिये ? यह युद्ध क्या तेरे जीवन में सर्वप्रथम ही है ? अरे, तुम्हारे बीच तो आपस का कलह सदा से चला आया है, तब इस समय तुझे यह कौन-सा भूत लग गया ? क्या जाने यह मोह तुझे किस प्रकार उत्पन्न हो गया ? ये तो बड़ी खराब बातें हैं। ऐसा मोह रखेगा तो आज तक प्राप्त की हुई कीर्ति का नाश होगा और इस लोक तथा परलोक का सुख नष्ट होगा। तेरे अन्तःकरण को ऐसी निर्बलता कभी तेरे कल्याण का कारण नहीं हो सकती। युद्ध के अवसर पर ऐसी निर्बलता प्रकट करने से क्षत्रिय दुर्गति का पात्र ही बनता है। इस प्रकार उन दयालु महाप्रभु श्रीकृष्ण द्वारा कही गई अनेक बोधप्रद बातों को सुनकर अर्जुन ने कहा। (२१)

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ।।४

हे देव ! सुनिये, आपको इतनी बातें कहने की आवश्यकता नहीं है। आप ही विचार करें कि क्या यह कोई युद्ध है; यह तो हमारे हाथों एक अनर्थ हो रहा है। यह तो हम पूज्य जनों का उच्छेद करने को तत्पर हुये हैं। यह केवल पाप ही नहीं, वरन् जिन गुरुजनों की सेवा करके उनको सब प्रकार से सन्तुष्ट रखना चाहिए, इसके बदले हमारे हाथ से उनका वध हो, तो क्या यह अनर्थ नहीं है ? देव ! साधु-सन्तों को नमस्कार और उनकी पूजा करने के स्थल पर उनका बुरा किस प्रकार किया जा सकता है ? फिर ये तो हमारे कुलगुरु होने से सदैव पूज्य है। भीष्म और द्रोण का तो मैं अत्यन्त ऋणी हूँ। हे देव ! जिनके प्रति हम स्वप्न में भी वैर-भावना नहीं रख सकते, उनका प्रत्यक्ष घात किस प्रकार किया जा सकता है ? आज हम सब लोगों की बुद्धि को क्या हो गया है ? जिनसे शस्त्र-विद्या की शिक्षा प्राप्त की क्या ऐसे किसी गुरु का वध विद्यार्थी करे ? और ऐसा करने से ही जो

प्रतिष्ठा मिलती हो तो ऐसा प्रतिष्ठा युक्त जीवन आग में पड़े। मैं, अर्जुन' द्रोणाचार्य का शिष्य हूँ, उन्होंने मुझे धनुर्विद्या सिखाई, तो अब क्या मैं उनकी हत्या करके ही उनके उपकार का बदला चुकाऊँ? जिनकी कृपा से हमने वरदान प्राप्त किया है, उन्हीं के साथ कृतघ्नता करके क्या मुझे भस्मासुर बनना है? (३८)

गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

हे देव! समुद्र की गम्भीरता को चाहे हम ऊपर से दिखाई पड़ने वाली कह दें पर ये द्रोणाचार्य जी तो वैर का नाम भी नहीं जानते हैं। अनन्त आकाश को चाहे नापा जा सके परन्तु द्रोणाचार्य का हृदय तो ऐसा अगाध और गहन है कि उसको कभी नापा ही नहीं जा सकता। कदाचित् अमृत खट्टा हो जाये और वज्र भी टूट जाय पर द्रोणाचार्यके हृदय में वैर-भाव का आविर्भाव नहीं हो सकता। माता का स्नेह सर्वोपरि होता है, पर द्रोणाचार्य के हृदय में मूर्तिमान स्नेह निवास करता है। द्रोणाचार्य दया के स्रोत, गुणों के भण्डार, और विद्या के महोदधि ही हैं। इस प्रकार वे सर्वश्रेष्ठ होते हुये हमारे ऊपर सदैव कृपाशील रहते हैं। तब इनका घात करने की कल्पना भी मन में कैसे आ सकती है। ऐसे श्रेष्ठ गुरुजनों को मारने की कल्पना, मुझसे मृत्यु का अवसर आ जाने पर भी न हो सकेगी। कदाचित् इन गुरुजनों की अपेक्षा राज्य का उपभोग अधिक ऊँचा हो तो मुझे तो उस भोग की अपेक्षा भिक्षा से निर्वाह अधिक ठीक जान पड़ता है, ऐसा न हो सके तो देश त्यागकर दिया जाय, या किसी पहाड़ की गुफा में जाकर रहा जाय इन पर मैं शस्त्र तो उठा ही नहीं सकता। हे देव! नई धार वाले बाण से इनके मर्म स्थान पर प्रहार करके इनके रक्त से भरे हुए भोगों को प्राप्त करने की चेष्टा मैं कैसे कर सकता हूँ। उनको प्राप्त करके मुझे क्या करना है? रक्त से सने ऐसे भोगों को कैसे भोगा जा सकता है? इस कारण

इस युद्ध के करने का विचार मेरे मन में समाता ही नहीं। इतना कहने के पश्चात् अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा—'हे देव ! आप मेरी बात सुनो !' परन्तु अर्जुन के ये शब्द भगवान् कृष्ण को पसन्द नहीं आये। यह बात देखकर अर्जुन के मन में भय का कुछ संचार हुआ और वह पुनः कहने लगा—'हे देव ! आप मेरे कथन पर ध्यान क्यों नहीं देते ?'

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६

मेरे मन में जो विचार था वह आपको बतला दिया, पर इसमें अच्छा या बुरा क्या है यह तो आप ही जानते हो। हमारा इनके साथ वैर है, ऐसी गर्हित बात सुनकर ही हमको प्राण त्याग देना उचित था। वे ही कौरव जब रणभूमि में हमारे सामने युद्ध करने को खड़े हैं, तो उनको मारना अथवा युद्ध को त्याग कर चला जाना, इन दोनों बातों में से हमारे लिए क्या अच्छा है यह मेरी समझ में आता ही नहीं। (५४)

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयःस्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मेशिष्यस्तेऽहंशाधि मांत्वां प्रपन्नम्

मुझे इस समय क्या करना उचित है वह विचार करने पर भी समझ में नहीं आता क्योंकि मोह से मेरा चित्त व्याकुल हो गया है। जिस प्रकार अन्धकार में नेत्रों की शक्ति जाती रहने पर निकट के पदार्थ भी दिखाई नहीं देते उसी प्रकार हे देव ! मेरी भी स्थिति हो गई है। मेरा चित्त भ्रांतिग्रस्त हो गया है, इसीलिए हमारा हित किसमें है यह भी मेरी समझ में नहीं आता। अतएव हे कृष्ण ! आप विचार करके मुझे सत्य मार्ग दर्शन कराओ, क्योंकि हमारे इष्ट-मित्र, गुरु, बन्धु, पिता, कुलदेवता तथा संकट के समय सदा रक्षा करने वाले आप ही हो। जिस प्रकार गुरु शिष्य को छोड़ता नहीं और समुद्र नदियों का परित्याग नहीं करता, उसी प्रकार हे देव ! आप ही विचार करो कि जब माता ही अपने पुत्रों को छोड़कर चली जाय, तो पुत्र की रक्षा

किस प्रकार हो सकती है ? हे देव ! हमारे सर्वोपरि आप ही हो, और अब तक मैंने जो कुछ कहा वह यदि आपको पसन्द न आया हो तो हे पुरुषोत्तम ! हमारे लिए जो उचित और धर्म समस्त हो उसे करने का उपदेश शीघ्र दीजिए । (६०)

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ।।८

इन सब सगोत्र बान्धवों को देखकर मेरे मन में शोक उत्पन्न हुआ है वह आपके बिना और किसी उपाय से नष्ट नहीं हो सकता । सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य मिल जाय अथवा चक्रवर्ती पद मिल जाय, तो भी मेरे अन्तःकरण में उत्पन्न यह मोह दूर होने वाला नहीं है । जिस प्रकार भुने हुए बीज चाहे जैसी उत्तम जमीन में बोये जायें और उनको भरपूर पानी से सींचा जाय तो भी उगते नहीं अथवा आयुष्य की डोरी टूट गई हो तो वहाँ हरिनाम के सिवाय कोई अन्य औषधि काम नहीं दे सकती, उसी प्रकार मुझे समस्त राज्य, भोग और सम्पत्ति प्राप्त हो जाय तो भी इस मोह से मुक्त होने में उसका कुछ भी उपयोग नहीं हो सकता । हे कृपानिधि ऐसी स्थिति में तो आपकी कृपा से ही काम चल सकता है । क्षण भर के लिए भ्रान्ति दूर हो जाने पर अर्जुन ने इस प्रकार कहा, परन्तु उसको पुनः मोहने घेर लिया । (ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं) इससे सामान्य मोह की लहर नहीं आई थी, किन्तु महामोह रूपी काल सर्प ने ही उसे डस लिया था । उसके हृदय कमल में करुणा का प्रवेश हुआ है, यह देखकर उसने मर्म स्थान में इस प्रकार दांत गड़ाया था कि लहर पर लहर आ रही थी और उससे अर्जुन की व्याकुलता बढ़ती जाती थी । ऐसी कठिन स्थिति देखकर, जिनकी कृपा दृष्टि से विष का नाश होता है, ऐसे श्रीकृष्ण भगवान् रूपी गारुड़ी (सर्प विष को झाड़ने वाले) उसकी रक्षा करने को दौड़ आये । अब वे मोह से व्याप्त हुए और अपने निकट बैठे हुए अर्जुन की रक्षा करेंगे । इसीलिए मैंने महामोह रूपी

काल सर्प द्वारा अर्जुन के ग्रसित होने का रूपक बांधा है। जिस प्रकार बादलों से सूर्य आच्छादित हो जाता है उसी प्रकार अर्जुन इस समय भ्रान्ति से आच्छाति हो रहा था। जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में पहाड़ी जङ्गल में दावाग्नि भड़क उठती है उसी प्रकार दुःख से अर्जुन बिल्कुल जर्जर हो गया था। ऐसे अवसर पर जिस प्रकार पर्वत पर नील वर्ण का जल पूर्ण मेघ समुदाय टूट पड़ता है और तपन को शांत करता है, उसी प्रकार पहले से ही नील वर्ण और कृपामृत रूपी जल से भरे हुए महामेघ रूपी श्रीगोपाल उस पर कृपा मेघ के समान वृष्टि करने लगे। उनकी दन्तप्रभा से बीच-बीच में मानों विद्युत् ही चमकती हो इस प्रकार प्रकाशित हो रही थी। उनका गम्भीर भाषण मानों मेघ गर्जन हो, इस प्रकार शोभा दे रहा था। ऐसा भगवान् श्रीकृष्ण रूपी मेघ जैसी वृष्टि करता है और उस वर्षा से अर्जुन रूपी पर्वत किस प्रकार शान्त होता है और उसमें ज्ञान के नये अंकुर फूटते हैं, इसकी कथा सावधान होकर सुनो। निवृत्ति नाथ के शिष्य ज्ञानेश्वर महाराज इस प्रकार बोले— (८०)

संजय उवाच–

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९

संजय ने धृतराष्ट्र को बतलाया–हे राजन् ! अर्जुन फिर शोकयुक्त अन्तःकरण से कहने लगा–हे देव ! अब आप मुझसे युद्ध के लिए तनिक भी आग्रह मत करना, मैं निश्चित ही युद्ध नहीं करूँगा। इस तरह एक साथ बोलकर वह स्तब्ध हो गया। अर्जुन की ऐसी अवस्था देखकर श्रीकृष्ण भगवान् को बड़ा आश्चर्य हुआ। (८३)

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनायोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०

भगवान् अपने मन में कहने लगे—इस अवसर पर अर्जुन को न मालूम क्या हो गया है ? इसका क्या किया जाय ? किस उपाय से

इसे समझाया जाय ? क्या करने से इसके हृदय में धैर्य उत्पन्न हो सकेगा? वे इस प्रकार विचार करने लगे। जिस प्रकार मन्त्रज्ञाता भूत के निवारण के सम्बन्ध में विचार करता हैं, अथवा रोग को असाध्य देखकर वैद्य अमृत तुल्य दिव्य औषधि की तत्काल योजना करता है, उसी प्रकार कृष्ण भगवान् शोक मोह उत्पन्न होने के कारण रूप अज्ञान को दूर करने का मन में निश्चय करके रोषयुक्त भाषण करने लगे। जिस प्रकार माता के क्रोध में गुप्त रूप में स्नेह ही होता है अथवा औषधि के कड़वेपन में अमृत रहता है, परन्तु वह बाहर दिखाई नहीं देता, गुण रूप में ही प्रकट होता है। उसी प्रकार ऊपर से रोष युक्त परन्तु भीतर अति स्नेह से भरा हुआ उपदेश भगवान् कृष्ण अर्जुन को कहने लगे। (६०)

श्री भगवान् उवाच–

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

श्रीकृष्ण कहने लगे—हे अर्जुन इस युद्धारम्भ के अवसर पर तुमने यह क्या झगड़ा पैदा किया है। इसे देखकर मुझे आश्चर्य हो रहा है। तू अपने को ज्ञानी समझता है, पर तो भी अज्ञानपन को नहीं छोड़ता। तुझे कुछ समझाने का विचार करूँ उससे पहले तू ही बड़ी-बड़ी 'ज्ञान' की बातें बना रहा है। जन्म का अन्धा हो और फिर उस पर पागलपन सवार हो जाय, तो वह जिस प्रकार चाहे जिधर भाग-दौड़ करने लगता है, उस मनुष्य के समान ही तेरी समझ मुझे लगती है। तू अपनी दशा तो जानता नहीं और कौरवों के लिए शोक करता है, इससे मुझे बार-बार आश्चर्य लगता है। हे अर्जुन ! इस विश्व की जो अनादि रचना है वह क्या असत्य है ? इस त्रिलोक का पालनकर्ता क्या तू ही है ? इस जगत् में कोई एक ईश्वर है और वही प्राणीमात्र को उत्पन्न करता है, ऐसा जो कहा जाता है, क्या वह झूँठ है ? तब तो ऐसा समझना चाहिए

कि जन्म-मृत्यु को तूने ही उत्पन्न किया है और जब तू इच्छा, करेगा तभी उसका नाश हो जायेगा। यद्यपि भ्रम मूलक अहंकार से ग्रस्त होकर तू कौरवों को मारने का विचार मन में नहीं लाना चाहता, पर क्या वे इससे चिरंजीवी हो जायेंगे? तू इसका उत्तर दे तो सही। अथवा तू ही एक मारनें वाला है और ये सब मरने वाले हैं? अरे! ऐसी भ्रान्ति को कभी मन में स्थान मत देना। यह जगत् अनादि काल से चला आता है, अपने स्वाभाविक धर्म के अनुसार उत्पन्न होता है और नाश को प्राप्त होता है, सो तुझको इसमें शोक करने का कारण क्या है, यह तो मुझे बतला। (१००) मूर्खता के कारण इसे विवेक नहीं समझता और जो बात कभी सोचनी ही न चाहिए उसके विषय में व्यर्थकी चिंता करके, उल्टा मुझ को ही ज्ञान सिखाना चाहता है। पर जो विवेकी ज्ञानी है, उसके लिए उत्पत्ति और नाश ये दोनों बातें भ्रम हैं, इसलिये हर्ष शोक नहीं करता। (१०१)

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

हे अर्जुन! फिर तू मेरी बात सुन! तू और मैं तथा ये सब राजा जो इस जगह इकट्ठे हुए हैं, वे सदा ऐसे ही बने रहेंगे या सर्वथा नष्ट हो जायेंगे, ये दोनों बातें भ्रान्ति युक्त हैं। जब तू इन दोनों को छोड़ देगा, तो मेरी समझ में आ जायगा कि उत्पत्ति और नाश ये दोनों बातें सत्य नहीं हैं, वरन् माया के कारण ही ऐसा जान पड़ता है। केवल आत्मा ही इसमें अविनाशी है। देखो पवन से पानी में तरंग पैदा होती है, तब तुम किसे उत्पन्न हुआ बतलाओगे? फिर पवन के रुक जाने पर पानी स्थिर हो जाता है तब किस का नाश माना जायगा? इस बात पर विचार करो। (१०७)

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

फिर देह के एक ही रहने पर आयु के अनुसार उसमें भी परिवर्तन मालूम पड़ता है, यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इस शरीर में हम बालकपन देखते हैं, फिर युवावस्था आ जाती है और उसके बाद वृद्धावस्था पर ऐसे प्रत्येक परिवर्तन के साथ देह का नाश नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा के भी असंख्य शरीर बदलते रहते हैं इसको जानने वाला तेरी तरह दुःखी नहीं होता। (११०)

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४

इस तथ्य की तरफ लक्ष्य न जाने का कारण इन्द्रियाधीनता है। इन्द्रियों के कारण मनुष्य का अन्तःकरण विषयों की तरफ प्रेरित होता है, इसी से ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है। इन्द्रियाँ विषय का सेवन करती हैं, इससे सुख-दुःख उत्पन्न होता है, और हमारा अन्तःकरण उसमें लीन हो जाता है। क्योंकि विषय अस्थिर होते हैं इसलिए उनमें कभी दुःख तो कभी सुख मालूम पड़ता है। अब शब्द रूप विषय की व्यापकता को देखो। कानों द्वारा निन्दा सुनने से द्वेष उत्पन्न होता है और स्तुति सुन कर सन्तोष प्राप्त होता है। स्पर्श विषय के दो गुण कोमलता और कठोरता हैं, उनके त्वचा पर लगने से दुःख सुख की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार रूप-विषय के दो लक्षण—सुन्दरता और कुरूपता हैं। नयनों द्वारा देखने पर इनके कारण सुख-दुःख का अनुभव होता है। इसी प्रकार सुगंध और दुर्गन्ध दो गुण गन्ध विषय के हैं। घ्राणेन्द्रिय द्वारा वे सन्तोष या असन्तोष उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार जिह्वा के लिए दो प्रकार से प्रीति अथवा विरक्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार विषय की संलग्नता ही भ्रष्ट करने वाली है। इन्द्रियों के वश में हो जाने से शीतोष्ण की बाधा जान पड़ती है और मनुष्य स्वयं-मेव सुख-दुःख के अधीन हो जाता है। इन्द्रियों का स्वभाव तो ऐसा है कि उनको विषय-सुख के अतिरिक्त अन्य किसी में सुन्दरता जान ही नहीं पड़ती। परन्तु यह सुख मृगमरीचिका अथवा स्वप्न में खोये हुए ऐश्वर्य के तुल्य ही होता है। विषय अनित्य

होते हैं, इसलिए हे पार्थ ! उनमें संलग्न न रहकर उनका त्याग ही करो। (२२)

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।।१५

जो पुरुष उन विषयों के अधीन नही होता, उसे सुख और दुःख की प्राप्ति नहीं होती तथा उसका गर्भवास का क्रम समाप्त हो जाता है। हे अर्जुन ! जो इन विषयों का दास नहीं बनता उसे ही अविनाशी समझ। (२४)

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः ।।१६

हे अर्जुन ! अब मैं तुझे एक अन्य बात बतलाता हूँ जिसे ज्ञानीजन जानते हैं। इन पर विचार करने से परलोक की प्राप्ति होती है। इस जगत् में जो एक गूढ़ चैतन्य सत्ता है उसे तत्वज्ञानी सदैव स्वीकार करते हैं। दूध और पानी मिलाकर रखा हो तो भी जैसे राजहंस उसे अलग कर देता है, अथवा जैसे चतुर व्यक्ति मिश्रित धातु को तपाकर शुद्ध सुवर्णको पृथक् कर लेते हैं, अथवा बुद्धि से काम लेकर दही को मथकर मक्खनको अलग निकाल लिया जाता है, अथवा भूसा और अन्न इकट्ठा होने पर भी वायु द्वारा उसे पृथक कर लिया जाता है, उसी प्रकार विचार करने से प्रपंचजाल का सहज में नाश हो जाता है और फिर ज्ञानी के लिए एक यथार्थ तत्व ब्रह्म ही शेष रहता है। इसलिए ज्ञानी को अनित्य वस्तु में सत्यबुद्धि नहीं रहती, क्योंकि सत् और असत् दोनों का स्वरूप उनको ज्ञात रहता है। (१३०)

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ।।१७

सत् और असत् का विचार करने पर विदित होगा कि जो असार है वह भ्रान्तता, और जो सार है वह नित्य अविनाशी है। जिसमें से

इस त्रिलोकी की उत्पत्ति हुई है उसके नाम, रूप, रङ्ग आदि कोई लक्षण नहीं होते, वह सदैव सर्वव्यापक होकर जन्म मरण से अतीत है और उनका नाश करना चाहो तो भी कभी नाश नहीं होता। (१२५)

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

हे पाण्डुपुत्र ! प्रत्येक स्वभाव से ही नाशवान है, इसलिए तू युद्ध कर । (१३६)

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

तू देह को ही सब कुछ मानकर बाह्य शरीर पर दृष्टि रखकर कहता है कि मैं मारने वाला हूँ और कौरव मरने वाले हैं। परन्तु हे अर्जुन ! तू सच्ची बात को नहीं समझता। यथार्थ रीति से विचार करने पर तुझे विदित होगा कि तू मारने वाला नहीं है और वे मरने वाले भी नहीं है। (१०८)

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

जिस प्रकार स्वप्न की बातें स्वप्न में ही वास्तविक जान पड़ती है, परन्तु जग जाने पर उनका कुछ नहीं रहता, उसी प्रकार यह सब माया रूपी हैं और तू व्यर्थ भ्रम में पड़ा है। देखो, जिस प्रकार मनुष्य की छाया पर किया गया शस्त्र-प्रहार शरीर को नहीं लगता अथवा जिस प्रकार पानी से भरा बर्तन औंधा कर देने से उसमें झलकने वाला सूर्य बिम्ब नष्ट होता जान पड़ता है, पर इससे वास्तविक सूर्य का कुछ भी नाश नहीं होता, अथवा घढ़े का नाश होने से उसमें सन्निहित घटाकाश नाश को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार शरीर का नाश होने पर भी

आत्मा का नाश कभी नहीं हो सकता। इसलिए हे अर्जुन ! तू स्वयं की भ्रान्ति से भ्रमित मत हो। (१४३)

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२

मनुष्य जिस प्रकार जीर्ण वस्त्र को फेंक कर नया वस्त्र धारण कर लेता है, उसी प्रकार यह चैतन्य-आत्मा एक देह को त्याग कर अन्य को स्वीकार करती है। (१४४)

नैनछिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४

यह आत्मा जन्म-मरण रहित होने से नित्य है यह अपने आप सिद्ध हो जाता है। साथ ही वह उपाधि रहित होने से शुद्ध है, इसीलिए शस्त्रादिक से इसका नाश नहीं हो सकता। यह प्रलयकाल के, जल में डूबती नहीं, अग्नि से भस्म नहीं होती, तथा वायु में इसे सुखा सकने की शक्ति नहीं है। इसलिए हे अर्जुन ! यह नित्य क्रिया रहित तथा शाश्वत रूप में सर्वत्र व्याप्त है। (१४७)

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५

आत्मा तर्क शास्त्र की दृष्टि से दिखाई पड़ने वाला नहीं है। मन तो उससे भेंट करने को सदा तड़पता रहता है। हे अर्जुन ! यह आत्मा मन के लिए सदा दुर्लभ, साधन द्वारा असाध्य, अनन्त और श्रेष्ठ है। यह त्रिगुणातीत अनादि, विकार रहित स्वरूपातीत और वस्तु मात्र के स्वरूप में व्याप्त है। अर्जुन ! इस प्रकार आत्मा को सर्वव्यापी जान लेगा तो तुरन्त शोक रहित हो जायगा।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६

अथवा हे अर्जुन ! इस प्रकार न समझ कर तू इसको नाशवान ही माने, तो भी तुझे शोक करने का कोई कारण नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार गङ्गा के पानी का प्रवाह अखण्ड है उसी प्रकार प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और लय का क्रम समान चलता ही रहता है। जैसे गङ्गा का पानी उत्पन्न होता है और मध्य में धारा के रूप में बहकर समुद्र में मिल जाता है। प्राणीमात्र को ये तीनों अवस्थाएँ कभी नहीं छोड़तीं, ऐसा समझ ले। अतएव इस दृष्टि से भी तुझे इन सबके लिए शोक करने का कोई प्रयोजन नहीं। स्वभाव से ही इन सबका यही अनादि सृष्टि-क्रम चला आता है। जो अन्य बात तेरी समझ में न आती हो तो ऐसा समझ ले कि प्राणीमात्र जन्म-मरण के आधीन हैं और जन्म-मरण को मिटा सकना सम्भव नहीं है। इस कारण इस सम्बन्ध में शोक करना व्यर्थ ही है। (१५८)

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।।२७

जिसका जन्म हुआ उसकी मृत्यु होगी ही और जिसका मरण हुआ वह जन्म लेगा ही इस प्रकार यह घटमाला निरन्तर चालू रहती है। अथवा सूर्य का उदय और अस्त जिस प्रकार अपने आप नित्य हुआ करता है, कभी बन्द नहीं होता, उसी प्रकार इस संसार में मृत्यु को मिटाया जा सके, यह सम्भव नहीं। अन्त में महाप्रलयके अवसर पर इस त्रिलोकी का भी संहार हो जाता है, अतः उत्पत्ति और अन्त अपरिहार्य हैं। जो तू इस बात को समझता है तो हे अर्जुन ! शोक किसलिए करता है ? जान बूझकर नासमझ क्यों बनता है ? हे पार्थ ! फिर यदि एक अन्य दृष्टि से विचार किया जाय तो भी तुझे दुःख करने का कोई प्रयोजन नहीं है। (६३)

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।।२८

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९

ये सब प्राणी उत्पत्ति से पूर्व निराकार थे और जन्म लेने पर आकार को प्राप्त हुए। वे जब-फिर लय होते हैं तो निश्चय ही किसी अन्य स्थिति में न जाकर अपनी पूर्व स्थिति अर्थात् अव्यक्त अवस्था को ही प्राप्त होते हैं। अब मध्य में उनका जो स्वप्न दिखाई पड़ता है, वह निन्द्राग्रस्त मनुष्य के स्वप्न के समान माया के प्रभाव से सत्य प्रतीत होता है। जल को पवन का स्पर्श होने से जैसे वह तरङ्ग रूप दिखाई पड़ता है अथवा भिन्न-भिन्न लोगों की रुचि के अनुसार स्वर्ण भाँति-भाँति के अलंकार के रूप में होता है, उसी प्रकार समस्त प्राणी माया के योग से ही उत्पन्न हुए हैं ऐसा समझ लो। जिस प्रकार आकाश में बादलों से एक दिखावटी पर्दा उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार जो वास्तव में सत्य नहीं है ऐसे शरीरों के लिए तू क्यों रोता है? अविनाशी तो एक चैतन्य ब्रह्म ही है, उसी अक्षय ब्रह्म को तू अपना लक्ष्य बना। जिस ब्रह्म पर प्रेम उत्पन्न होने से साधुजन विषयों को त्याग देते हैं, जिस ब्रह्म के लिए वे विरक्त होकर बनवासी होते हैं, जिस ब्रह्म में दृष्टि रखकर मननशील मनुष्य ब्रह्मचर्यादि व्रत तथा तप का आचरण करते हैं, उस ब्रह्म को शुद्ध चित्त से देखते-देखते कितने ही लोग अन्तर में निश्चल होकर समस्त संसार को भूल जाते हैं। जिसका गुणानुवाद करते-करते कितनों के चित्त को वैराग्य हो जाता है और अन्त में वे उसी के हो जाते हैं। जिसके स्वरूप का वर्णन सुनकर कोई तो शान्त होकर देहाभिमान से निवृत्त हो जाता है और कोई अनुभव प्राप्त करके तद्रूप बन जाता है। जिस प्रकार नदियों का समस्त जल-प्रवाह समुद्र में ही जाकर मिलता है, पर उसमें स्थान नहीं है यह कहकर पीछे वापस नहीं आता, उसी प्रकार श्रेष्ठ योगियों की बुद्धि जब एक बार उस तरफ मुड़ जाती है तो

वह ब्रह्म साक्षात्कार करके तद्रूप ही हो जाती है। तद्रूप हुए योगी पुनः संसार में नहीं आते।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०

'हे अर्जुन ! जो आत्मा समस्त शरीर में विद्यमान है उसका कभी वध नहीं किया जा सकता। इसलिए इन सब प्राणियों के लिए शोक करना तेरे लिए उचित नहीं है।'

हे अर्जुन ! सर्वत्र सबके अन्तर में व्याप्त और चेष्टा करने से भी जिसका घात नहीं किया जा सकता ऐसा जो चैतन्य है, वही जगत् के रूप में बना हुआ है, इस तथ्य को अच्छी तरह समझ लें। समस्त घटनायें स्वभावतः ही उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं, तो अब तू ही कह कि शोक किसके लिए करना ? हे पार्थ ! यह स्पष्ट बात तेरे मन में क्यों न आई ? इस प्रकार शोक करना तेरे लिए किसी प्रकार उचित नहीं है। (१७)

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१

हे अर्जुन ! तू विचार क्यों नहीं करता ? यह तू क्या ले बैठा है ? जिस स्वधर्म के पालन से मनुष्य भवसागर से पार होता है उसे तो तू बिल्कुल भुला ही बैठा है। कदाचित् कौरवों का कुछ अनिष्ट हो, अथवा तेरा ही कल्याण हो जाय, या इस समस्त जगत् का ही नाश हो जाय, तो भी स्वधर्म को तो कभी त्यागना ही नहीं चाहिए। उसको त्यागकर तेरे मन में जो दया उत्पन्न हुई है, क्या उसके द्वारा तेरा भला हो सकता है ? हे अर्जुन ! यद्यपि तेरा हृदय दया से पिघल गया है, पर दया इस युद्ध की दृष्टि से तो अनुचित ही है। गाय का दूध उत्तम होता है, पर कितनी ही बीमारियों में उसे वर्जित माना गया है। अगर नवीन ज्वर के रोगी को वह दूध दिया जाय तो वह विष तुल्य हो जाता। इसी प्रकार जो कोई मनुष्य दूसरे के धर्म का आचरण करता है तो उसके

हित का नाश होता हैं, तू सावधान हो जा ! व्यर्थ में शोक से व्याकुल मत हो, और जिस क्षात्र-धर्म के आचरण में किसी समय दोष नहीं हो सकता, अपने उसी स्वधर्म की ओर ध्यान दे। जिस प्रकार उचित मार्ग पर चलने से कभी अनिष्ट उत्पन्न नहीं होता, दिव्य प्रकाश में चलने से ठोकर नहीं लगती, उसी प्रकार हे अर्जुन ! जो स्वधर्म के मार्ग पर चलता हे उसकी सब मनोकामनायें पूर्ण होती हैं। इसलिए क्षत्रिय की हैसियत से इस अवसर पर तुम्हारे लिए संग्राम करने के अतिरिक्त और कोई बात उचित नहीं है। मन में कपट न रखते हुए आमने—सामने खड़े होकर एक दूसरे पर प्रहार करते हुए युद्ध करना ही इस समय तेरा धर्म है, ज्यादा क्या कहा जाय। (१९०)

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२

हे अर्जुन ! यह युद्ध तुझे पूर्व-पुण्य से ही प्राप्त हुआ है, मानो धर्म का समस्त भण्डार ही खुल गया है। अरे इसको युद्ध न कहकर साक्षात् स्वर्ग का उदय ही कहना चाहिए ! ऐसा जान पड़ता है कि तेरे गुणों और कीर्ति को सुनकर साक्षात् कीर्तिदेवी ही तुझ पर अत्यन्त मोहित होकर तुझे वरमाला पहिनाने आई हो। क्षत्रिय ने जब अत्यन्त पुण्य किया हो तभी ऐसा युद्ध का अवसर मिलता है। जिस प्रकार किसी उठाईगीर को चिन्तामणि मिल जाय अथवा जंभाई लेने के लिए मुख खोलने पर अकस्मात् उसमें अमृत की बूँद पड़ जाय, उसी प्रकार तुझे यह युद्ध-प्रसंग प्राप्त हुआ है। (१९५)

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३

अगर तू ऐसे संग्राम को त्याग करके व्यर्थ वस्तु का शोक करता ही बैठा रहेगा, तो यह अपने हाथ से ही अपनी हानि करने के तुल्य

होगा। यदि आज इस संग्राम में तुमने शस्त्र का त्याग कर दिया तो, यही समझना कि अपने पूर्वजों की कीर्ति को ही नष्ट कर डाला। इस प्रकार अब तक प्राप्त कीर्ति का नाश होगा, इतनाही नहीं तमाम दुनिया तेरी निन्दा करेगी और बड़े-बड़े दोष तुझको लग जायेंगे। जिस प्रकार पति रहित स्त्री कहीं सम्मान नहीं पाती उसी प्रकार स्वधर्म का त्याग करने वाला भी अपमान का पात्र बनता है। अथवा जिस प्रकार रणभूमि में पड़े शव को गिद्ध चारों तरफ से घेर कर खाने लग जाते हैं उसी प्रकार स्वधर्महीन के भीतर महादोष व्याप्त होकर उनका नाश करते हैं। (२००)

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४

इसलिये यदि तू इस समय प्राप्त क्षात्र-धर्म का त्याग करेगा तो तुझे पाप लगेगा और कल्पान्त तक भी अपयश का कलंक न मिटा सकेगा। जब तक अकीर्ति नहीं होती तभी तक जीवित रहना सज्जन पुरुष उचित समझते हैं। इस प्रकार विचार करने पर अब तू ही बता कि संग्रामभूमि से किस प्रकार पीछे हटा जाय ? मान ले कि तू दया के कारण युद्ध से पीछे हटेगा, पर ये सब लोग इस बात को नहीं मानेंगे। ये कौरव तुझे चारों तरफ से घेरकर बाण बरसायेंगे, और हे अर्जुन ! तब तेरे दयालु मन से कैसे काम चल सकेगा ? ऐसा करने पर यदि महान् कष्ट सहकर तेरा छुटकारा भी हो जाय, तो इस प्रकार जीवित रहना मरने से भी खराब होगा। (२०५)

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५

फिर इस बात का भी विचार कर कि तू यहाँ खूब तैयार होकरयुद्ध करने आया है, पर जब दयार्द्र होकर पीछे लौट जायगा, तब हे! अर्जुन

तू ही बतला कि तेरे शत्रु कौरव क्या इस बात को मानेंगे, कि तुझे उन पर दया आगई। (२०७)

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६

ये सब कहेंगे—'भाग गया! भाग गया!! 'अर्जुन हम से डर कर भाग गया! तेरे ऊपर ऐसा कलंक लगाया जाय क्या यह अच्छी बात है? हे धनुर्धारी! मनुष्य अनेक प्रयत्न करके या प्राण देकर जिस कीर्ति का सम्पादन करते हैं, उस आकाशके समान अनन्त कीर्तिको प्राप्त करने का अनुपम अवसर तुझे अनायास ही मिल गया है। तेरी असीम कीर्ति और उपमा रहित गुण तीनों लोकों में विख्यात हैं। देशदेशान्तरके राजा महाराजा तेरी स्तुति करते हैं और तेरी कीर्ति को गाते हैं, उसे सुनकर यमराज भी तुझसे डरते हैं। तेरी कीर्ति की महिमा गङ्गाजल की तरह निर्मल और गहन है, और उस कीर्ति को सुनकर जगत्के महान योद्धाओं को उसे प्राप्त करने का लोभ हुआ है। तेरे शौर्यकी ऐसी अद्भुत महिमा सुनकर ही समस्त कौरव अपनी जानपर खेलने को तैयार हुए हैं, जैसे सिंह की गर्जना सुनकर मदोन्मत्त हाथी को भी प्रलयकाल आगया, ऐसा भय होने लगता है, उसी प्रकार सब कौरवों को तेरा भय लगता है। पर्वत जिस प्रकार वज्र को और सर्प गरुड़ को झुकते हैं, उसी प्रकार ये कौरव तेरे सम्मुख नीचा मस्तक करके चलते हैं। इससे अब यदि युद्ध न करके तू पीछे लौट जायगा तो तेरी वह महत्ता नष्ट होकर हीनता आ जायगी। फिर अगर तू भागने को तैयार होगा तो भी क्या ये तुझे चला जाने देंगे? नहीं, ये तुझे पकड़ खायेंगे, तेरा बड़ा फजीता करेंगे और तेरे मुँह पर ही तेरी खूब निन्दा करेंगे। आगे चलकर ऐसे मर्मभेदक शब्द सुन कर अन्तःकरण विदीर्ण होने का अवसर आवे तो उसकी अपेक्षा अभी वीरता पूर्वक युद्ध क्यों न किया जाय? यदि तू इन लोगों को जीत लेगा तो पृथ्वी का राज्य तेरा ही होगा। (२१९)

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।:३७

अथवा इस युद्ध में जो तू मारा जायगा तो सहज में स्वर्ग-सुख का उपभोग करेगा । इसलिए हे अर्जुन ! इस प्रकार सोच-विचार करता हुआ तू बैठा न रह, वरन् उठकर शस्त्र धारण करके युद्ध आरम्भ कर । स्वधर्म के आचरण से पुराने दोष भी दूर हो जाते हैं,इसके बजाय उससे पाप लगने का भ्रम तुझे कहाँ से पैदा हो गया ? तू ही बता कि नाव में बैठने वाला मनुष्य क्या डूबता है ? अथवा अच्छे रास्ते पर चलने वाला ठोकर खाकर गिरता है ? पर जिस प्रकार चलना न आता हो तो ठोकर खाकर गिरना पड़ता है, जैसे दूध पीने से कोई नहीं मरता पर विषमिश्रित दूध पी लिया जाय तो मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार फल की आशा रखकर स्वधर्म का आचरण करने से दोष लगता है। इसलिए हे अर्जुन ! तू निष्काम होकर क्षत्रिय धर्मके अनुसार युद्ध करेगा तो तुझको लेशमात्र पाप नहीं लगेगा । (२२५)

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।३८

सुख प्राप्त होने पर फूल जाना नहीं और दुःख मिलनेपर खेद करना नहीं । इस संग्राम में जय मिलेगी या मृत्यु प्राप्त होगी—इस प्रकार का विचार करते हुए बैठा रहना उचित नहीं । स्वधर्मानुसार व्यवहार करते हुए जो कुछ इष्ट अनिष्ट हो जाय उसे शान्त वृत्ति से सहन करना।फिर अब इस प्रकार मन एक जगह जम जाय तो स्वभावतः ही दोषोत्पत्ति नहीं होती । इसलिए हे अर्जुन ! अब तू मन में निश्चय करके युद्ध का आरम्भ कर । (२२८)

एपा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।।३९

अब तक तुझे ज्ञान योग के विषय में संक्षिप्त रूप से समझाया, अब बुद्धि से युक्त कर्मयोग के विषय में कहता हूं, उसे सुन। हे अर्जुन ! जो पुरुष कर्मयोग को प्राप्त कर लेता है उसे कर्म-बन्धन की बाधा ऐसे ही नहीं आती, जैसे शरीर पर वज्र कवच धारण करने से शस्त्रों की वृष्टि के बीच भी मनुष्य बाधाओं से सुरक्षित रहकर विजय पाता है।

(२३)

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०

इस प्रकार इस योग का आचरण करते हुए इस लोक के सुख नष्ट नहीं होते और मोक्ष प्राप्ति में बाधा नहीं पड़ती। इस योग में आरम्भ किये कार्य रुक जायँ, तो भी किये हुए कर्म का नाश नहीं होता। मनुष्य को ये कर्म निष्काम बुद्धि से करना चाहिए, और फल की इच्छा नहीं रखनी चाहिए। जिस प्रकार भूत, मन्त्र ज्ञाता को पीड़ा नहीं दे सकता, वैसे ही जिसे सद्बुद्धि प्राप्त हो गई है, संसार की उपाधियाँ उसके लिए बाधक नहीं हो सकतीं। इस बुद्धि में पाप-पुण्य से बाधा नहीं पड़ती। जो अति सूक्ष्म और निश्चल हैं और सत्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों का जिसमें प्रवेश नहीं होता, ऐसी सुबुद्धि हे अर्जुन ! पुण्य प्रभाव से जिसे थोड़ी सी भी मिल जाती है, उसके लिए संसार के समस्त भय का नाश हो जाता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१

जैसे दीपक की ज्योति छोटी-सी होने पर भी बहुत सा प्रकाश देती है उसी प्रकार यह सद्बुद्धि अल्प हो तो भी उसे नगण्य नहीं समझना। हे अर्जुन ! विवेकशील सदा इस सद्बुद्धि की ही इच्छा करते हैं, क्योंकि सद्बुद्धि जगत् में अति दुर्लभ है। जिस प्रकार पारस-मणि अन्य पत्थरों की तरह अधिक संख्या में नहीं मिलती, अथवा अमृत का एक बिन्दु भी महा सद्भाग्य से मिलता है, उसी प्रकार ईश्वर की

प्राप्तिमें पर्यवसान (अन्त) पाने वाली सद्‌बुद्धि अत्यन्त दुर्लभ है। जिस प्रकार गंगाजल का पर्यवसान निरन्तर समुद्र में ही होता है, उसी प्रकार हे अर्जुन! जिसका लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, ऐसी तो इस जगत् में एक निष्काम बुद्धि ही है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार की बुद्धि तो दुर्बुद्धि ही है। दुर्बुद्धि से विकार ही उत्पन्न होते हैं और अविचारी मनुष्य ऐसी दुर्बुद्धि तथा विकारों में ही सदा रत रहते हैं। इसलिए हे अर्जुन! उन लोगों को स्वर्ग, संसार अथवा नरक की गति ही प्राप्ति होती रहती है, उनको आत्म सुख नहीं मिलता।(२४४)

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाबिशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४

ऐसे लोग वेदको आधार बतलाकर कर्मकाण्डकी श्रेष्ठता सिद्धकरते हैं पर वे कर्म-फल में ही आसक्ति रखते हैं। वे कहते हैं कि मृत्यु लोकमें जन्म लेकर यज्ञादिक कर्म करना और उनके फलस्वरूप आह्लाद कारक स्वर्ग सुख का उपभोग करना ही सार है। हे अर्जुन! ऐसे दुर्बुद्धि युक्त मनुष्य सदैव यही कहते हैं कि स्वर्ग-सुख के सिवाय अन्य सुख कुछ भी नहीं हैं। ऐसे मनुष्य भोगासक्त होकर फल पर दृष्टि रखकर सकाम कर्म करते हैं।वे अनेक प्रकारके विधि युक्त अनुष्ठान करके अत्यन्त दक्षता पूर्वक धर्माचरण करते हैं, पर हे अर्जुन! वे एक ही बात बहुत खराब करते हैं अर्थात् वे मन में स्वर्ग की इच्छा ही रखते हैं और यज्ञ भोक्ता जो ईश्वर है उसे भुला देते हैं। जिस प्रकार कपूर में अग्नि रखकर उसे व्यर्थ में जला दिया जाय, अथवा मिष्ठान्न में हलाहल विष मिला दिया जाय, अथवा दैवयोग से प्राप्त अमृत कुम्भ को लात मार कर लुढ़का

दिया जाय, उसी प्रकार ये लोग जो धर्म प्राप्त करते हैं उसे सकाम भाव से नष्ट कर डालते हैं। अत्यन्त श्रम से पुण्य प्राप्त करके संसारकी इच्छा किस लिये करनी? परन्तु इन लोगों के लक्ष्य में यह बात आती ही नहीं। जिस प्रकार कोई उत्तम भोजन बनाने वाला भाँति-भाँतिके पकवान बना कर द्रव्य के लालच से उनको बाजार में बेचता हैं, उसी प्रकार ऐसे अविचारी लोग सुखोपभोग के लिए धर्म को गँवाते हैं। इसलिए हे पार्थ! वेदों के अर्थवाद अथवा कर्मकाण्ड में संलग्न लोगों के मनमें विषयासक्ति की दुर्बुद्धि का ही निवास रहता है, इस तथ्य को तू अच्छी तरह समझ ले। (२५५)

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५

तू निश्चय समझ ले कि वेद तीन गुणों (सत्-रज-तम) से परिपूर्ण हैं। उनका उपनिषद् भाग सात्विक है और हे धनुर्धर! शेष भाग में कर्म उपासना आदि का निरूपण किया गया है, वह सत्व रज और तम गुणों से युक्त होकर केवल स्वर्ग परायण ही है। तू निश्चय पूर्वक समझ ले कि वे सुख-दुःख का कारण ही हैं। इसलिए तू उनको कभी अपने मन में स्थान मत देना। इस गुणत्रय की त्रिपुटी को त्याग कर अहंता ममता को छोड़ दे एवं अन्तर के आत्म-सुख को कभी मत विसरा। (२१६)

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६

यद्यपि वेद में बहुत सी बातों का निर्देश किया गया है, पर अपने को तो जो मार्ग हितकारी हो उतना ही स्वीकार करना चाहिए। जिस प्रकार सूर्योदय होने पर अनेक मार्ग दृष्टिगोचर होते हैं, पर उन सब मार्गों पर मनुष्य एक साथ तो चल नहीं सकता। अथवा समस्त नदी पानी से भरी हो तो हम तो अपनी आवश्यकता के लायक ही पानी ले सकते हैं। इसी प्रकार जो ज्ञानी हैं, वे पदार्थ का विचार

करके उसमें से शाश्वत ब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान को ही स्वीकार करते हैं। (२६३)

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।४७

इसलिए हे पार्थ ? मेरी इस बात को गाँठ में बाँधले, कि तुझे अपना कर्तव्य करना उचित है। अपने धर्म-कर्तव्य को कभी नहीं छोड़ना चाहिए इसलिए कर्मफल की इच्छा त्याग कर निषिद्ध कर्मों से पृथक् रहकर तुझे निष्काम भाव से सत्कर्मों का ही आचरण करना उचित है। (२६६)

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।४८

हे अर्जुन ! तू योगयुक्त होकर फल की इच्छा को त्यागकर मनसे कर्म कर। आरम्भ किया हुआ कार्य सफल हो गया तो उससे फूल नहीं जाना और जो सिद्धि न हुआ, अपूर्ण ही रह गया तो उसके लिए शोक भी नहीं करना। काम करते हुए जो वह पूरा हो गया तो ठीक ही है, परन्तु यदि विघ्न पड़ने से अधूरा रह गया, तोभी ईश्वरेच्छा को बलवान समझकर उसे अच्छा ही मानना। जितना काम हो सके उसे ईश्वरार्पण करना। इस प्रकार करने पर फिर पूर्णता या अपूर्णता मानने का कुछ प्रयोजन ही नहीं रहता। कर्तव्य पालन करते हुए जो अच्छा या खराब परिणाम निकले उसके प्रति मनोवृत्ति को समान रखना, इसी को ज्ञानीजन योग की स्थिति कहते हैं। (२७२)

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।।४९
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।।५०

हे अर्जुन ! जिसमें मन (क्रिया) और बुद्धि (ज्ञान) का ऐक्य होता है और जहाँ चित्त की समता होती है वही योग का सार है। हे पार्थ !

विचार पूर्वक बुद्धियोग और कर्मकाण्ड की तुलना करने से जान पड़ताहै कि अहंकार युक्त और फलासक्ति वाले कर्मकाण्ड का महत्व बहुत कम है। पर कर्म का आवरण करते-करते ही बुद्धियोग साध्य होता है। और इस प्रकार जो कर्म-सिद्धि होती है वही योग स्थिति कहलाती है। इसलिए हे अर्जुन ! बुद्धियोग ही शुद्ध आधार है, उसी में तू अपने चित्त को स्थिर कर और मन से फल की आशा को दूर कर दे। बुद्धि योग में प्रवृत्त होने वाले की ही मनोकामना सिद्ध होती है और वह पाप-पुण्य के बन्धन से भी पृथक् रहता है। (२०७)

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिण:
जन्मबन्धविनिर्मुक्ता: पदं गच्छन्त्यनामयम् ।।५१

हे अर्जुन ! बुद्धियोग वाले पुरुष कर्म करते हुए भी फल की इच्छा नहीं रखते। इसलिए वे जन्म-मरण के चक्र से छूट जाते हैं। हे धनुर्धर! फिर वे ब्रह्मानन्द से परिपूर्ण अविनाशी पद को पाते हैं। (२३८)

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्त श्रुतस्य च ।।५२

जब तू इस मोह को तज देगा और तेरे मन में वैराग्य प्रवेश करेगा, तभी तुझको निर्दोष और गहन तत्व-ज्ञान प्राप्त होगा। हे अर्जुन ! इस प्रकार उस पद की प्राप्ति होने पर भविष्य के विचार और भूतकाल के संस्मरण सब अपनी-अपनी जगह चले जायेंगे।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला वुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ।।५३

इन्द्रियों के संसर्ग से जो बुद्धि चंचल होती है वह आत्म स्वरूप की प्राप्ति होने पर सहज में स्थिर हो जाती है। इस प्रकार समाधि-सुख में जब तेरी बुद्धि स्थिर होगी, तभी तुझको योग स्थिति साध्य हो सकेगी। (२८४)

अर्जुन उवाच–

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।।५४

फिर अर्जुन बोला-हे श्रीकृष्ण हे दयानिधे ! जो बात पूछता हूँ उसका स्पष्टीकरण कृपया करिए । यह सुनकर भगवान, कृष्ण ने कहा 'हे अर्जुन ! जो तू चाहे वह आनन्द पूर्वक पूछ ।' यह सुनकर अर्जुन ने पूछा—स्थितप्रज्ञ किसको कहते हैं ? उसको किस प्रकार पहचाना जाता है ? यह मुझे स्पष्टः समझाओ । जिसको स्थिर बुद्धि वाला कहा जाता है और जो निरन्तर समाधि सुख भोगता है उसको किस प्रकारके लक्षण से जान सकते हैं ? हे लक्ष्मीपते ! वह कैसी स्थिति में रहता है और किस प्रकार व्यवहार करता है ? यह कृपा करके बतलाओ ।' यह सुनकर षड्गुणैश्वर्य सम्पन्न परब्रह्मावतार भगवान् कहने लगे ।

श्री भगवान् उवाच–

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।।५५

श्री भगवान् ने कहा—हे अर्जुन ! मनही उत्कृष्ट आत्मसुखमें विघ्न उत्पन्न करता है । जो सदा तृप्त है, जिसका अन्तःकरण आत्मज्ञान से परिपूर्ण होता है, जिसके मन की विषयों में फँसाने वाली कामनाओं से पूर्ण निवृत्ति हो और जिसका मन आत्म-सन्तोष अर्थात् स्वानन्द में संलग्न हो, उसे ही स्थितप्रज्ञ समझना चाहिए ।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।।५६

नाना प्रकार के दुःखों की प्राप्ति होने पर भी जिनके मन में विषय उत्पन्न नहीं होता और जिन्हें विषय-सुखकी इच्छा नहीं है, उन सत्पुरुषों के अन्तःकरण में से काम और क्रोध अपने आप दूर हो जाते हैं । फिर वे पूर्ण पुरुष भय का तो नाम तक नहीं जानते । इस प्रकार जो संसार

से उदासीन तथा भेद बुद्धि से मुक्त हो जाता है, उसी को स्थिर बुद्धि समझना चाहिए। (२९९)

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७

जिस प्रकार पूर्णिमा का चन्द्रमा अच्छे और बुरे लोगों को एक-सा प्रकाश देता है,वैसे ही जो सबके प्रति समान दृष्टि रखता है और प्राणि-मात्र के प्रतिदयालु होकर बुद्धि-भेद को त्याग देता है, जिसे अच्छा हो जाने पर किसी तरह का गर्व नहीं होता और बुरा हो जाने पर जो दुःख भी नहीं करता, ऐसा हर्ष विषाद-रहित पुरुष सदा आत्म-विचार में निमग्न रहता है, हे अर्जुन! उसी को स्थिर बुद्धि वाला जान। (३००)

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८

कछुआ जब अधिक आनन्द में होता है तब अपने हाथ-पैर फैलाता है और जब चाहे तब उनको संकोच कर भीतर कर लेता है। इसी प्रकार जिसकी बुद्धि इन्द्रियों के प्रभाव से छूट कर स्ववश हो गई है, उसकी बुद्धि को स्थिर समझना चाहिए। (३०२)

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९

हे अर्जुन! एक अन्य रहस्य की बात कहता हूँ उसे सुन ले। कितने ही योग साधक इन्द्रियों का दमन करके विषयों का त्याग करते हैं वे कान, नाक आदि इन्द्रियों का दमन करते हैं, परन्तु जिह्वा का दमन नहीं करते जिससे अनेक अन्य विषयों में फँस जाते हैं। किसी वृक्ष के पत्ते और कोपलें तो तोड़कर फेंक दी जाय, पर उसकी जड़ को सींचते रहा जाय, तो उस वृक्ष का नाश कैसे हो सकता है? जिस प्रकार जल के असर से अन्य स्थानों पर डालियाँ निकल आती हैं, उसी प्रकार रसना (जिह्वा) द्वारा अन्तःकरण में विषय अधिकाधिक पुष्ट होते रहते हैं। बाह्य विषय न्यून हो सकते हैं, पर हठ द्वारा जिह्वा के

विषय कम नहीं हो सकते क्योंकि उसके बिना यह शरीर चल नहीं सकता। परन्तु हे अर्जुन ! योगसाधक जब ब्रह्म साक्षात्कार का अनुभव कर लेता है तो जिह्वा का नियन्त्रण सहज में हो जाता है। जब मनुष्य को स्वयं ब्रह्म का अनुभव होता है तब 'मैं शरीर हूँ'—यह भाव नष्ट हो जाता है। फिर इन्द्रियों द्वारा विषयों के भोगने की वासना अपने आप लुप्त हो जाती है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०

हे अर्जुन ! जो मनुष्य इन्द्रियों के वश करने को रात-दिन प्रयत्न करते हैं, ये उनके नियन्त्रण में नहीं आती। जो अपने आस-पास अभ्यास का पहरा लगाकर यम-नियम का किला बना लेते हैं और मन को मुट्ठी में रखते हैं, उनकी भी इन्द्रियाँ व्याकुल कर डालती हैं, ऐसा इनका पराक्रम है जिस प्रकार मन्त्र ज्ञाता को यक्षिणी भुलावे में डाल देती है उसी प्रकार ये विषय ऋद्धि सिद्धि के रूप में प्राप्त होकर इन्द्रियों द्वारा योगियों का मन भी भ्रष्ट करते रहते हैं। ऐसे अवसर पर मन यदि विषयों में लग जाता है तो अभ्यास जहाँ का तहाँ रखा रह जाता है, ऐसी इन इन्द्रियों की प्रबल शक्ति है। (३१४)

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१

इसलिए हे अर्जुन ! जो सब विषयों की इच्छा छोड़कर इन्द्रियों को वश में करता है और जिसका अन्तःकरण विषय सुख के भ्रम में नहीं पड़ता, वही योगनिष्ठा का पात्र होता है। वह सदा आत्मज्ञान युक्त रहता है और अन्तःकरणमें मुझे कभी नहीं भुलाता। पर जो केवल बाह्य विषयों को छोड़कर कर्मेन्द्रियोंका निग्रह करता है,पर उसकी विषयेच्छा ज्योंकी त्यों बनी रहती है तो वह जन्म-मरण के चक्रसे छुटकारा नहीं पाता। थोड़ा-सा भी विष खा लिया जाय तो उससे प्राण-नाश हो

जाता है, उसी प्रकार मन में थोड़ी-भी विषयेच्छा रह जाने से, वह समस्त शुभ विचारों का नाश कर डालती है। (३२०)

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३

अन्तःकरण में विषयों का थोड़ा भी स्मरण होता है तो विरक्त पुरुष को भी उनकी प्राप्ति का आकर्षण होने लगता है और उसमें इच्छा अर्थात् काम उत्पन्न होता है। काम उत्पन्न हुआ कि क्रोध तो मूर्तिमन्त खड़ा ही है और क्रोध के साथ अविचार रहता ही है। जिस प्रकार दीपक की ज्योति पवन से बुझ जाती है, उसी तरह अविचार के कारण स्मृति अर्थात् आत्मज्ञान का नाश होता है। सन्ध्या को समय होते ही अन्धकार सूर्य प्रभा को ग्रस्त कर लेता है, वैसी ही दशा स्मृति नाश होने पर मनुष्य की होती है। फिर अज्ञान के कारण उसकी बुद्धि अन्धी हो जाती है वह सब तरफ से विमुख हो जाता है, और कोई भी मार्ग नहीं सूझता। जन्माध को भागने का अवसर मिल जाने पर भी वह इधर-उधर दौड़ने लगता है, उसी प्रकार हे अर्जुन ! अज्ञान के कारण बुद्धि उल्टे मार्ग पर चलने लगती है। इस तरह बुद्धि का नाश होने से वह घोर भ्रम में पड़ जाता है और उसका समस्त ज्ञान नष्ट हो जाता है। शरीर में से प्राण निकल जाने पर जैसे देह मुर्दा हो जाती है वही स्थिति बुद्धि नष्ट होने पर मनुष्य की होती है। इसलिए हे अर्जुन ! जिस प्रकार ईंधन में अग्नि की एक चिनगारी पड़ जाने पर वह भयंकर अग्निकाण्ड का रूप धारण करके त्रिलोकी का नाश करने में समर्थ होती है, उसी प्रकार अन्तःकरण में यत्किंचित् विषय का स्मरण होने से ही वह महा अनर्थ को उत्पन्न कर देता है। (३३०)

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।।६४

इसलिए जब मन में से समस्त विषयों को दूर कर दिया जाय तो राग-द्वेष अपने आप नष्ट हो जाते हैं और राग-द्वेषके मिटने के पश्चात् यदि इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त हों तो भी वे बाधक नहीं बन सकती। आकाश में से सूर्य अपने किरण रूपी हाथ से संसार की सभी वस्तुओं को स्पर्श करता है तो भी उनके संसर्ग दोष में लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार जो विषयों के प्रति उदासीन है, आत्म स्वरूप में निमग्न है, काम क्रोध से दूर रहता है, तथा जो विषयों में भी अपने स्वरूप के सिवाय अन्य वस्तु का दर्शन नहीं करता उसके लिए फिर विषय कुछ भी महत्व नहीं रखते और उसके मार्ग में बाधक सिद्ध नहीं हो सकते ? और कदाचित् बाधा उपस्थितभी करें तो किसके लिए?यदि कभी पानीमें पानी डूब सकता हो अथवा अग्नि में अग्नि जल सकती हो तभी पूर्णता को पहुँचा हुआ पुरुष विषय संसर्ग में डूब सकता है। इस प्रकार जो स्वयं ही सर्वरूप बन गया है उसी की बुद्धि स्थिर है ऐसा तू निश्चय समझ ले। (३३७)

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।६५

जहाँ चित्त में सदा प्रसन्नता रहती है, वहाँ सांसारिक दुःखों का प्रवेश नहीं होता। जिसके पेट में ही अमृत स्रोत उत्पन्न हो गया हो उसे भूख प्यास की पीड़ा कभी नहीं हो सकती, उसी प्रकार जिसका हृदय प्रसन्न हो उसे दुःख कैसा और कहाँ से होगा ? ऐसे मनुष्य की बुद्धि स्वयमेव परमात्मा के स्वरूप में संलग्न रहती है। जैसे वायु रहित स्थान में दीपक की ज्योति तनिक भी नहीं हिलती, वैसे ही जिसकी बुद्धि स्थिर होती है, वह आत्म-स्वरूप की समाधि में ही निश्चल होकर रत रहता है।

नास्ति बुद्धि रयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्ति शान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६

इस योग युक्ति का विचार जिसके अन्तःकरण में नहीं होता उसे शब्दादिक विषय अपने पाश में जकड़ लेते हैं । हे पार्थ ! ऐसे मनुष्य की बुद्धि कभी स्थिर नहीं होती और बुद्धि को स्थिर करने की इच्छा भी उसके मनमें उत्पन्न नहीं होती । हे अर्जुन ! जब उसके मनमें स्थिरता की इच्छा ही नहीं होती तब उसे शान्ति कहां से प्राप्त हो सकती हैं ? जिस प्रकार योग-हीन प्राणियों की तरफ मोक्ष आंख उठाकर भी नहीं देखता, उसी प्रकार वहां शान्ति का लेशमात्र भी नहीं है, वहां सुख भूल कर भी नहीं जायगा । अग्नि में भूने हुए चनों का उगना अगर सम्भव हो तभी शान्ति हीन मनुष्य को सुख का प्राप्त होना सम्भव माना जा सकता है । इसलिए मनका अनियमित होना ही दुःख का हेतु है और इसके लिए इन्द्रिय निग्रह करना सर्वोत्तम मार्ग है । (३४७)

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७

जो मनुष्य इन्द्रियों की इच्छानुसार व्यवहार करता है, वह स्वयं चाहे ऐसा समझता रहे कि मैंने विषय रूप सागर को पारकर लिया है, वास्तव में वह पार नहीं होता । जैसे एक नाव किनारे पर लगने से पहले ही अचानक तूफान में फँस जाती है, इसी प्रकार सिद्ध पुरुष यदि कौतुक के भाव से भी इन्द्रियों का पालन करें तो फिर से संसार के दुःखों में फँस जाते हैं, यह तू समझ ले । (३४०)

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८

इसलिए हे धनंजय ! अपनी इन्द्रियां अपने वश में हो जायें तो इसके अधिक सार्थकता इस जीवन में क्या हो सकती है ? जिस प्रकार कछुआ अपने फैलाये अङ्गों को स्वेच्छा से स्वयं ही भीतर खींच लेता

है, इसी प्रकार जिसकी इन्द्रियाँ स्ववश तथा आज्ञापालक होती है, उसकी ही बुद्धि स्थिरता को प्राप्त होती है ऐसा समझ ले। हे अर्जुन! अब ज्ञानी को पहिचानने का एक सूक्ष्म चिह्न तुझे बताता हूँ,उसे ध्यान में रख।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।६९

समस्त प्राणियोंको अज्ञात रहने वाले आत्म स्वरूप का जिसको पूर्ण ज्ञान है, और जिस साँसारिक सुख की प्राप्तिकें लिए मनुष्य उद्यत होकर अत्यन्त परिश्रम करते हैं उस विषय सुख के प्रति जो निद्रित, उदासीन रहता है, वही मनुष्य हे अर्जुन! उपाधि रहित, स्थितप्रज्ञ गम्भीर और मुनियों (मनन करने वालों) में श्रेष्ठ हैं, ऐसा समझ। (३५६)

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।७०

फिर हे पार्थ! एक अन्य प्रकार से भी स्थितप्रज्ञ की पहिचान की जा सकती है। समुद्र में जैसे सदैव परिपूर्णता होती हैं उसी प्रकार ऐसे पुरुष के अन्तःकरण में भी परिपूर्णता का निवास होता है। यद्यपि वर्षा ऋतु में नदियों से भरपूर प्रवाह समुद्र में मिलते हैं पर वह जरा भी नहीं बढ़ता अथवा अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। उसी प्रकार जब गर्मियों में नदियों का पानी समाप्त हो जाता है, तब भी उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं आती। उसी प्रकार स्थितप्र पुरुष को, ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति से उल्लास नहीं होता और उनके न मिलने पर वह असन्तुष्ट नहीं होता। सूर्य के घर में क्या दीपक जलाने से ही प्रकाश होता है और उसके बिना अन्धेरा बना रहता है? इसी प्रकार स्थितप्रज्ञ के पास ऋद्धि-सिद्धि आई हों तो क्या और गई हों तो क्या!

इस प्रकार की भावना से कभी उनका स्मरण भी नहीं होता, क्योंकि उनका अन्तःकरण महासुख से परमात्म-सुख में निमग्न रहता है। जो अपने घर की सुन्दरता के सामने इन्द्र भवन को तुच्छ समझता हो, उस पर भीलों का झोंपड़ा देखने से क्या प्रभाव पड़ सकता है ? जो अमृत के लिए चेष्टा कर रहा हो वह कांजी नहीं पीता, उसी प्रकार जो ब्रह्मनन्द से तृप्त हो रहा है, वह ऋद्धि-सिद्धि की तरफ क्यों ध्यान देगा ? हे अर्जुन ? चमत्कार तो यह है कि जिस पुरुष को स्वर्ग-सुखों की भी आकांक्षा नहीं है, उसके सामने ऋद्धि-सिद्ध की क्या गिनती है ? ऐसा होने पर भी लोग कहते हैं कि स्थितप्रज्ञ के पास ऋद्धि-सिद्धि तो होनी ही चाहिए, यह कैसी आश्चर्यजनक बात है।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकार स शान्तिमधिगच्छति ।।७१।।

इस प्रकार जो पुरुष आत्म-बोध से सन्तुष्ट और परमानन्द में निमग्न होता है वही वास्तव में स्थिर बुद्धि है। ऐसा तू समझ ले। ऐसा मनुष्य अहम् और समस्त विषयों को त्यागकर जगत् में विचरण करता है। (१६७)

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वा स्यामन्तकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ।।७२।।

ऐसा निःसीम ब्रह्म-स्थिति का अनुभव जब निष्काम पुरुष को होने लगता है तो वह अनायास पर ब्रह्म में जा मिलता है। जब वे ज्ञान स्वरूप होकर ब्रह्म स्थिति को पहुँच जाते हैं तो देह का अवसान होते समय उनको किसी प्रकार की व्याकुलता का अनुभव नहीं होता। संजय धृतराष्ट्र से कहता है—हे राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी स्थिति का वर्णन अर्जुन को कह सुनाया। भगवान् का यह कथन सुन कर अर्जुन मन में कहने लगा—'यह युक्ति मेरे लिए बिल्कुल उपयोगी सिद्ध होगी। जब देव समस्त कर्मों के लिए निषेध करते हैं, और उसके

साथ ही मुझसे युद्ध करने का आग्रह करते हैं, तो उनका आग्रह अपने आप ही व्यर्थ सिद्ध होगा इसलिए भगवान् कृष्ण का कथन सुनकर अर्जुन बड़ा हर्षित हुआ। अब वह शंका प्रकट करके गम्भीर प्रश्न पूछेगा। यह सम्वाद अत्यन्त रसमय होने के साथ ही समस्त धर्म का उत्पत्ति स्थान अथवा विचारामृत का अथाह महासागर है। इस सम्वाद का निरूपण जगदीश्वर स्वयं ही करेंगे और निवृत्ति दास ज्ञानदेव उसे कहकर सुनायेगा। (३७५)

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां
द्वितीयोऽध्यायः ॥१॥

॥ अथ तृतीयाऽध्यायः ॥

अर्जुन उवाच–

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥

फिर अर्जुन बोला—हे देव ! हे कमलापति ! आपने जो कुछ कहा उसे मैंने बहुत अच्छी तरह सुना। हे अनन्त स्वरूप ! आत्म स्वरूप में कर्म और कर्त्ता का विचार करते हुए जब आप निश्चित रूप से यह मानते हैं कि 'कर्म और कर्त्ता' कोई है ही नहीं, तो फिर आप मुझे यह उपदेश क्यों देते हैं कि "हे पार्थ ! तू संग्राम कर।" इस भयंकर कर्म-जाल में मुझे फँसाते हुए आपको संकोच क्यों नहीं होता ? जब आप समस्त कर्मों का निषेध करते हैं तो मेरे हाथों से ऐसा हिंसात्मक कर्म क्यों कराते हो ? हृषीकेश ! जब आप कर्म मार्ग को इतना मान देते हो और मेरे हाथ से ऐसी भयंकर हिंसा कराना चाहते हो तो इस बात पर स्वयं ही विचार करके देखिये।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

हे देव ! जब आप ही इस प्रकार की बात कहेंगे तो हम क्या करें ? इससे तो यही जान पड़ता है कि सारासर विचार का अन्त ही आ गया है। यदि अज्ञान दूर करने को ऐसा संदिग्ध उपदेश दिया जाता है तो फिर 'भ्रम' किसे कहा जायगा ? अब तो यही मानना होगा कि आपके द्वारा आत्म बोध की मेरी इच्छा यों ही रह जायगी।

आपका यह उत्तर मुझे तो अन्धे को उल्टे रास्ते पर चला देना अथवा बन्दर को मद्य पिला देना जैसा ही लगा। हे भगवान् मैं तो पहले ही अज्ञानी था, फिर मोह ग्रस्त हो गया, इस कारण आपसे सद् विवेक का मार्ग पूछा। पर आपकी तो हर एक बात नई-नई और आश्चर्यजनक निकली। इस उपदेश में तो मुझे चारों तरफ भ्रम ही मालूम पड़ा। हे देव ! शरणागत के साथ ऐसा व्यवहार क्यों करते हो ? मैं तो मन, वचन और काया से आपके वचनों पर श्रद्धा रखता हूँ और आप मुझे भ्रमोत्पादक उपदेश दो। हद ही हो गई। जब आप स्वयं ऐसा उपदेश करने लगे तो हमारा तो कल्याण हो चुका। अब ज्ञान प्राप्त करने की तो आशा ही क्या रह गई। इतना ही नहीं मेरे मन से स्थिरता का नाश हुआ और मन विशेष भ्रम में पड़ गया। हे कृष्ण ! आपकी लीला को हम पामर मनुष्य कैसे जान सकते हैं ? इस उपदेश के बहाने आप मेरा मनोभाव जानना चाहते हों तो कौन जाने ! आप मुझे फँसाते हैं अथवा गूढ़ार्थ शब्दों में ब्रह्म का स्वरूप समझाते हैं, इसका मुझे कुछ पता नहीं चलता। इसलिये हे देव ! मुझको आप गूढ़ बातें मत सुनाइये, वरन् एक ग्रामीण भी समझ सके ऐसी स्पष्ट भाषा में बतलाइये। हे कृष्ण ! मैं अत्यन्त मन्द बुद्धि हूँ, इसलिए, मुझे अच्छी तरह समझ में आ जाय, इस प्रकार निश्चयात्मक बात कहो। रोग को मिटाना तो औषधि का काम होता ही है पर साथ ही वह स्वादिष्ट और रुचिकर होनी चाहिए। अतएव आप सर्व अर्थ से परिपूर्ण और आचरण के योग्य तत्व मुझे समझाओ।

साथ ही मैं यह भी निवेदन करता हूँ कि आप इस प्रकार समझावें जिससे मेरे मन को पूर्ण रूप से बोध हो सके। हे देव ! आपके समान गुरु मिल जाने पर भी मैं अपने मनकी अभिलाषा को तृप्त क्यों न कर लूँ ? इस अवसर पर किसी तरह का संकोच क्यों करूँ ? आप तो मेरी माता हो। दैव योग से यदि दुधारू कामधेनु मिल जाय तो फिर इच्छित वस्तु माँगने में कमी क्यों रखें ? चिन्तामणि के हाथ में

आ जाने पर अभिलषित पदार्थ प्राप्त करने में क्या कठिनाई रह गई ? अमृत समुद्र के किनारे खड़े होकर अमृत न पीकर प्यासा मरा जाय, तो अमृत-सिन्धु तक जाने का श्रम ही क्यों किया जाय ? इसी प्रकार हे कमलापते ! जन्म-जन्मान्तर तक आपकी उपासना करते-करते जब दैव योग से आज आप मिले हो तो फिर हे परमेश्वर ! हमारी जो कुछ इच्छा हो वह वस्तु आपसे क्यों न माँग ली जाय ? हे देव ! आज मनोकामना परिपूर्ण होने का दिवस उदय हुआ है। आज मेरी समस्त इच्छाएँ पूर्ण होकर, मेरे पूर्व पुण्यों के फल से सर्व मनोरथ सिद्ध हुए हैं, क्योंकि परम कल्याण-धाम और देवों के देव आप आज हमारे वशीभूत हुए हैं। जिस प्रकार माता का स्तन पान करने में बालक को समय कुसमय देखना नहीं पड़ता, उसी प्रकार हे देव ! हे कृपानिधि ! मैं आपसे अपनी इच्छानुसार प्रश्न पूछ रहा हूँ। इसलिए हे देव ! इस लोक में आचरण करने योग्य और परलोक में हितकारी जो हो सके ऐसी एक निश्चित बात मुझसे कहो।

श्री भगवान् उवाच–

लोकेऽस्मिन्द्विधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

अर्जुन के वचन सुनकर श्रीकृष्ण आश्चर्य से कहने लगे–हे अर्जुन ! मैंने तुझको जो कुछ कहा उसका एक विशेष हेतु था। ईश्वरार्पण कर्म मार्ग का निरूपण करते हुए प्रसङ्गानुसार मैंने ज्ञान मार्ग की जो महिमा वर्णन की, उसमें मेरे उद्देश्य को न समझकर तू व्यर्थ क्षोभ करता है। अब इस बात को अच्छी तरह समझ ले कि उक्त 'ज्ञान योग' और 'कर्म योग' ये दोनों मार्ग मेरे ही बतलाये हुए हैं। हे वीर श्रेष्ठ ! इस पृथ्वी पर ये दोनों सम्प्रदाय अनादि सिद्ध हैं और मुझ से ही उत्पन्न हुए हैं। जड़ और चेतन के विषय में विचार करने वाले लोग जिसका आचरण करते हैं और जिससे ब्रह्म स्वरूप की प्रतीति

होकर तत्क्षण ही तद्रूप बन जाता है उस सम्प्रदाय का नाम 'ज्ञान-योग' है। दूसरे को कर्म-योग कहा जाता है। इस योग में तत्पर मुमुक्षु जन क्रम-क्रम से मोक्ष को प्राप्त होते है। तैयार मिल जाने वाले तथा पकाकर तैयार किये गये भोज्य पदार्थों से जिस प्रकार एक सी ही तृप्ति होती है, उसी प्रकार इन दोनों मार्गों का परिणाम एक ही होता है। जिस प्रकार पूर्व और पश्चिम दिशा में बहने वाली नदियां भिन्न-भिन्न जान पड़ती है, पर समुद्र में मिलते समय अन्त में वे इकट्ठी हो जाती है, उसी प्रकार ये दोनों सम्प्रदाय एक ही लक्ष्य के सूचक है, इनके अव-लम्बन का आधार उपासक की पात्रता पर है। पक्षी एक बार उड़कर ही फल को प्राप्त कर लेता है परन्तु उस फल को मनुष्य उतनी जल्दी कैसे ग्रहण कर लेगा ? वह तो धीरे-धीरे एक डाली से दूसरी डाली पर इस प्रकार क्रम-क्रम से बढ़ता हुआ फल के पास पहुँचेगा। इसी तरह जो ज्ञान मार्ग पर चलते हैं वे ज्ञानी साधकगण विहंगम मार्ग-पिपीलिका मार्ग से चलकर विहित वर्णाश्रम धर्म का आचरण करके क्रम-क्रम से मोक्ष को प्राप्त करते हैं। (३४)

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरूषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धि समधिगच्छति ॥४॥

यदि कोई मनुष्य आरम्भ से ही विहित कर्मों का त्याग करके ज्ञानीजन की तरह कर्म शून्य बनने की इच्छा करे तो वह कदापि वैसा नहीं बन सकता। हे अर्जुन ! जो विहित कर्म आवश्यक है उनकी ज्ञानीजन की तरह कर्म शून्य बनने की इच्छा करे तो वह कदापि वैसा नहीं बन सकता। कृतार्थ हो सकता है, ऐसा कहना केवल मूर्खता है। नदी परिपूर्ण भरी हो और हमको दूसरे किनारे पर जाना हो तो नाव बिना कैसे जा सकते है ? अथवा भूख लगी हुई हो, तो क्षुधा तृप्ति भोजन बनाये बिना या तैयार हो तो उसे खाये बिना कैसे हो सकती है ? जब तक वासनाओं का क्षय नहीं होगा, तब तक तो व्याव-हारिक प्रवृत्ति पीछे लगी ही रहेगी। जब अपना मन इच्छा रहित हो

गया, तो उसके पश्चात् आत्म सन्तोष होकर सब लोक-धन्धे अपने-अपने बन्द हो जायेंगे। इसलिए हे पार्थ जिसे परमात्मा-प्राप्ति की इच्छा हो उस तरह के प्रत्येक व्यक्ति के लिए विहित कर्मों का पालन त्याज्य नहीं है। साथ ही यह भी समझना चाहिए कि क्या अपनी इच्छा से ही कर्म को स्वीकार करना या त्याग कर देना सम्भव है? इच्छानुसार कर्म को स्वीकार या त्याग करने की बात कहनी तो एक बकवास की तरह है। वास्तविक विचार करने से कर्म त्याग नहीं होता, इसे निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए। (५२)

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

जब तक यह समस्त सांसारिक प्रपंच माया के आश्रित है, तब तक सत्व, रज और तम इन गुणों के अधीन ही सब व्यवहार होता है, इसलिए हम कर्म को स्वीकार कर सकते हैं अथवा त्याग कर सकते हैं इस प्रकार बोलना अज्ञान सूचक है। विहित कर्मों का आरम्भ कर्ता की इच्छा पर अवलम्बित रहता है इस आधार पर हम अगर हठपूर्वक उनको छोड़ भी दें तो क्या उससे मन और इन्द्रियों के कर्म करने का स्वाभाविक धर्म नष्ट हो जायगा? विहित कर्मों का त्याग करने से क्या श्रवणेन्द्रियाँ अपना स्वाभाविक धर्म शब्द का सुनना बन्दकर देंगी। अथवा नेत्र अपनी दर्शन शक्ति खो बैठेंगे? अथवा घ्राणेन्द्रिय अपना प्रकृति सिद्ध धर्म सूँघना छोड़ देगी? अथवा प्राणायाम वायु की गति बन्द हो जायगी? मन संकल्प-विकल्प करना त्याग देगा? अथवा उससे स्वप्न और जागृत अवस्था का नाश हो जायगा? अथवा पैर चलने का काम भूल जायेंगे? और क्या उससे जन्म-मरण बन्द हो जायगा? अगर ये सब इन्द्रिय व्यापार बन्द नहीं होते तो फिर तुमने त्याग किस बात का किया? इस प्रकार देहाभिमानी स्वाभाविक कर्मों का त्याग कभी नहीं कर सकता। कर्म तो माया के गुणों के अधीन रहते हैं, इसलिए मैं कर्मों को स्वीकार करूँगा

या उनको त्याग दूँगा, इस प्रकार कहना ही है। हम रथ में जमकर बैठे हैं, तो भी रथ के साथ हम भी अग्रसर होते रहते हैं इसलिए जब तक प्रकृति का संसर्ग रहता हैं तब तक कर्मों का त्याग कदापि नहीं किया जा सकता। ऐसा होने पर भी जो कर्म त्याग की बात करते रहते हैं, वे केवल व्यर्थ में दुराग्रह करते हैं। (६३)

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

विहित कर्मों का त्याग करके और कर्मेन्द्रियों का निग्रह करके ही जो मनुष्य कर्म से मुक्त हो जाने की इच्छा रखता है, वह कर्मों को नहीं त्याग सकता। उसके मन में तो कर्म करने का स्वभाव शेष रहता है, और बाहर से वह ऐसा प्रकट करता है, मैं कर्मातीत (कर्म शून्य) हो गया हूँ। ऐसा मनुष्य स्पष्ट दम्भी है। हे पार्थ ! ऐसा मनुष्य अन्त में सदैव विषयासक्त होता है, यह पक्की बात है। हे अर्जुन ! अब प्रसंगानुसार मैं तुझे वास्तविक इच्छा रहित मनुष्य के लक्षण बतलाता हूँ। उन्हें ध्यान पूर्वक सुन। (६७)

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

जिसका अन्तर निश्चय युक्त और परमात्मा परायण रहता है, पर जो बाहर से लोकाचार के अनुसार व्यवहार करता है, जो इन्द्रियों का दमन नहीं करता पर साथ ही यह भय भी नहीं रखता कि विषय मेरे लिए बाधक होंगे, जिस-जिस प्रसङ्ग में जो-जो कार्य सामने आता है उनका त्याग नहीं करता, कर्मेन्द्रियों को स्वाभाविक कर्मों से नहीं रोकता पर उनके विकारों के वश नहीं होता। वह वासना से व्याकुल नहीं होता और उसका मन मोह की बाधा से नहीं रुकता। जिस प्रकार कमल पत्र रात दिन पानी में रहते हुए भीगता नहीं, उसी प्रकार वह संसार में रहकर अन्य लोगों जैसा ही जान पड़ता है। जिस प्रकार जल के सम्पर्क से सूर्य बिम्ब पानी में ही हो ऐसा लगता है, उसी प्रकार

ऊपर से देखने पर वह साधारण लगता है पर उसकी आत्मिक स्थिति को कोई सहज में जान नहीं सकता। जो व्यक्ति ऐसे लक्षणों से युक्त हो और निःस्पृह हो, उसी को तू मुक्त समझ। हे अर्जुन ! वही योगी है, और जगत् में स्फूर्ति का पात्र है। इसलिए मैं कहता हूँ कि तू ऐसा ही हो जा। तू अपने मन पर नियन्त्रण कर और अन्तर में स्थिर बना रह, फिर इन्द्रियाँ चाहे अपना कार्य करती रहें। (४६)

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्मज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

इस जगत् में जब कर्म रहित होना असम्भव है, तो फिर शास्त्र के विपरीत क्यों चलना ? इससे जो कर्म उचित हों और समयानुसार करने पड़ें, उनको तू निष्काम बुद्धि से कर। हे अर्जुन ! एक अन्य आश्चर्य यह है निष्काम बुद्धि से किये गये कर्म मनुष्य को सहज ही सांसारिक कर्म पाश से मुक्त कर देते हैं। जो मनुष्य अपने अधिकार के अनुसार स्वधर्माचरण करता है, वह उस आचरण के प्रभाव से ही निश्चित रूप से मोक्ष को प्राप्त करता है। (८०)

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

स्वधर्म अनुसार आचरण करना ही नित्य यज्ञ है, ऐसा समझो ! जो इस प्रकार आचरण करता है उसे पाप नहीं लग सकता। मनुष्य जब स्वधर्म को त्याग करके दुष्कर्म में प्रवृत्त होता है, तभी जन्म-मरण के चक्र में फँसता है, इसलिए जो स्वधर्मानुसार कर्म करने के रूप में अखंड यज्ञ करता है, उसको वह कर्म बन्धन रूप नहीं होता। यह समस्त जगत् कर्म द्वारा बाँधा जाकर माया के पाश में फँसा है, यह स्वकर्म से विमुख होने का ही परिणाम है। हे पार्थ ! तुझे इस सम्बन्ध में एक कथा कहता हूँ कि जिस समय ब्रह्माजी ने सृष्टि रचना की थी तो उसमें उन्होंने

प्राणियों तथा उनके द्वारा आचरण किये जाने वाले धर्मों को साथ-साथ उत्पन्न किया था। परन्तु धर्म के गूढ़ होने के कारण मनुष्य उसको समझ नहीं सके। इसलिये उन्होंने ब्रह्माजी से प्रार्थना की—"हे देव ! हमारे लिए इस संसार-सागर से पार हो सकने का उपाय क्या है ?" तब ब्रह्मा ने कहा—"तुम्हारे वर्णाश्रम के अनुसार जिस धर्म को मैंने आरम्भ में ही निश्चित किया है, तुम उसी के अनुसार आचरण करोगे तो तुम्हारे मनोरथ सहज में पूर्ण होंगे। तुम केवल बाहरी दिखावे के लिए व्रत नियमादि मत करना, उपवास करके शरीर को कष्ट मत देना और तीर्थ यात्रा आदि का श्रम भी मत करना। योगादि साधन और सकाम आराधना तथा मन्त्र-तन्त्र अनुष्ठान यदि करो भी तो अन्य किसी देव की उपासना कभी मत करना। तुमको अपने वर्णाश्रम नियमों के अनुसार जो धर्म बताया गया है उसी का तुम सहज भाव से आचरण करते रहो। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री निष्काम बुद्धि से अपने पति की सेवा करती है, उसी प्रकार अपने धर्म का तुम निष्काम भाव से आचरण करो। स्वधर्म का आचरण ही एक मात्र तुम्हारा यज्ञ है। इसलिए हे मनुष्य ! यदि तुम स्वधर्मानुसार चलोगे तो वह कामधेनु के समान फलदायक होकर तुम्हारा परित्याग कभी नहीं करेगा।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।।११।।

इस स्वधर्माचरण से सब देवता सन्तुष्ट होंगे और वे तुमको इच्छित फल प्रदान करेंगे। इस तरह स्वधर्माचरण की पूजा से तुम समस्त देवताओं का पूजन करोगे और वे तुमको अप्राप्य वस्तु की प्राप्ति करायेंगे और जो प्राप्त है उसका संरक्षण भी वे ही करेंगे। अगर तुम देवों को भजोगे तो वे भी तुमसे अवश्य सन्तुष्ट होंगे और इस प्रकार जब एक का दूसरे से परस्पर प्रेम सम्बन्ध हो जायगा, तब तुम जो कुछ करना चाहोगे वह सहज ही सिद्ध हो जायगा—तुम्हारी सब मनोवासनायें पूरी हो सकेंगी। तुम्हारी वाणी सिद्ध हो जायगी और तुममें अन्य

को आज्ञा देने की शक्ति आ जायगी। साथ ही महासिद्धि निरन्तर तुम्हारी सेवा में रहकर कहती रहेगी कि "हमारी सेवा स्वीकार करो।" यह इसी प्रकार होगा जैसे वन की शोभा अपने फल पुष्प युक्त सौन्दर्य को लेकर वसन्त ऋतु के द्वार पर निरन्तर निवास किया करती है।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविता।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

इस प्रकार तुम जहाँ कहीं रहोगे, वहीं समस्त सुखों के साथ मूर्तिमन्त भाग्य तुमको ढूँढ़ता हुआ आ पहुँचेगा। इस प्रकार निष्काम भाव और निष्ठा से तुम स्वधर्माचरण करोगे तो तुम ऐश्वर्यवान् बन जाओगे और फिर तुमको विषयों की इच्छा नहीं रहेगी। सब प्रकार की सम्पत्ति प्राप्त होने पर जो विषय सेवन के सुख में ही लिपट कर इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने में अपना समय व्यतीत करता है, जिन देवताओं ने सम्पत्ति प्रदान की है उनका स्वधर्मानुसार भजन नहीं करता, जो अग्नि में आहुति नहीं डालता, देवताओं का पूजन नहीं करता श्रेष्ठ ब्राह्मणों को भोजन नहीं कराता, जो गुरु भक्ति से विरक्त होता है, अतिथि का आदर सत्कार नहीं करता और जाति गोत्र वालों को भी सन्तुष्ट नहीं करता, जो धन से घमण्डी बनकर केवल विषयासक्ति में ही लगा रहता है, उसे बड़े-बड़े संकट आकर घेर लेते हैं। इससे उसका ऐश्वर्य कष्टमय हो जाता है और जो भोग बच रहते हैं उनको भी वह भोग नहीं सकता। जिसकी आयु पूरी हो चुकी है ऐसे शरीर में जिस प्रकार जीव निवास नहीं करता अथवा जिस प्रकार भाग्यहीन के घर में लक्ष्मी टिकती नहीं इसी प्रकार जब स्वधर्म का नाश हो जाय तो यही समझ लेना चाहिए कि समस्त सुखों का नाश हो गया। दीपक के बुझते ही जिस प्रकार प्रकाश का लोप हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्माजी कहते हैं, हे प्रजाजनो ! जो कोई स्वधर्म के आचरण का त्याग करता है उसकी स्वतन्त्रता सचमुच नष्ट हो जाती है। इसलिए जो कोई स्वधर्म का त्याग करेगा उसे काल दण्ड देगा और उसको चोर समझकर उसका सर्वस्व अपहरण कर

लेगा। फिर रात हो जाने पर जिस प्रकार श्मशान भूमि को भूत-पिशाच आदि प्रकट होकर घेर लेते हैं उसी प्रकार सब संकट आकर उसे भी घेर लेंगे। तीनों लोकों के समस्त दु:ख और हजारों प्रकार के पाप तथा समस्त दारिद्र्य आकर उसके पास रहने लगते हैं। उस उन्मत्त मनुष्य की ऐसी हालत हो जाने पर वह कितना ही रोना-पीटना करे पर संकट कल्प पर्यन्त उसका पीछा नहीं छोड़ते। इसलिए तुम स्वधर्म का त्याग मत करना और इन्द्रियों को मनमाना आचरण मत करने देना। जिस प्रकार मछली को जल से निकालते ही उसकी मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार स्वधर्म छोड़ने से तुम्हारी भी दशा होगी। इसलिए ब्रह्माजी कहते हैं कि 'तुम सबको अपने-अपने धर्म के अनुसार कर्म करने में सदा तत्पर रहना चाहिए।'

यज्ञशिष्टाशिन: सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषै: ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

जो मनुष्य निष्काम बुद्धि से विहित कर्मों का आचरण करने में अपनी सम्पत्ति का उपयोग करता है, जो अपने गुरु, पूज्य व्यक्ति और अग्नि की पूजा करता है, घर आने वाले श्रेष्ठ जनों की सेवा करता है अपने पितरों की श्राद्ध-तिथि का पालन करता है और इस प्रकार विहित कर्माचरण तथा पंचमहायज्ञादि करके जो यज्ञ शेष अवशिष्ट रहता है उसका अपने कुटुम्ब सहित आनन्दपूर्वक सेवन करता है, उसके सब पापों का नाश हो जाता है। अमृत के सेवन से जिस प्रकार महा-रोगों का निवारण होता है, उसी प्रकार यज्ञावशिष्ट अन्न का भोजन करने वाले मनुष्य के सब पाप दूर हो जाते हैं। जिस प्रकार ब्रह्मनिष्ठा पुरुष को तनिक भी भ्रांति नहीं होती, उसी प्रकार यज्ञ से बचे अन्न का भोजन करने वाले मनुष्य को दोषों से किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती। इसलिए स्वधर्म से प्राप्त किये हुए द्रव्य को विहित मार्ग से ही खर्च करना और जो शेष बचे उसका सुखपूर्वक उपभोग करना। भगवान् कृष्ण कहते हैं—हे अर्जुन ! यह जो सत्य मार्ग है, उसको

छोड़कर मनुष्य को किसी अन्य रास्ते पर नहीं चलना चाहिए। जो मनुष्य शरीर को ही आत्मा समझ लेता है और विषय-सेवन ही सब से बड़ी बात है, यह मानकर सच्चे तत्व से अनजान बना रहता है, वह यह नहीं समझ पाता कि ये समस्त वस्तुएँ यज्ञ के लिए ही हैं। अहंकार बुद्धि के कारण जिसकी दृष्टि विषय भोग पर ही लगी रहती है, जो इच्छानुसार पकवान तैयार करके स्वयं ही उनका सेवन करता है, वह पापी है और पाप का ही भक्षण करता है, ऐसा तू समझ ले। यह समस्त सम्पत्ति केवल स्वधर्म रूपी यज्ञ की हवन सामग्री है, ऐसा समझकर स्वधर्म यज्ञ द्वारा उसे भगवान् को अर्पण करना चाहिए। इसके बजाय मूर्ख लोग अपने लिए ही विविध पदार्थ तैयार करते हैं। जिसके द्वारा यज्ञ की पूर्ति होती हो और ईश्वर सन्तुष्ट होता हो ऐसा अन्न कोई सामान्य पदार्थ नहीं है। इसलिए इस अन्न को तू साधारण वस्तु न मानकर ब्रह्म रूप ही समझ क्योंकि यह समस्त संसार का जीवन है।

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसद्भवः ॥१४॥
कर्म ब्रह्मोदभवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

अन्न से प्राणी मात्र की उत्पत्ति होती है और वर्षा से सब जगह अन्न पैदा होता है। वर्षा की उत्पत्ति यज्ञ से और यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से होती है। कर्म की उत्पत्ति वेद रूपी ब्रह्म में से और वेद की उत्पत्ति परमात्मा में से होती है। परन्तु हे अर्जुन ! कर्मरूपी जो यज्ञ है, उसमें वेद रूपी ब्रह्म सदा निवास किया करता है। (१३७)

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

हे धनुर्धर ! इस प्रकार स्वधर्म रूपी यज्ञ का मूल आधार तुझे संक्षेप में सुना दिया। जो उन्मत्त पुरुष ऐसे उचित स्वधर्म रूपी

यज्ञ का इस लोक में आचरण नहीं करता, उसी प्रकार जो दुराचारी इन्द्रियों को विषयों से तृप्त करने में ही समय जीवन व्यतीत करता है, वह इस पृथ्वी पर पाप से भरा हुआ भार-स्वरूप ही है, ऐसा तू समझ ले। जिस प्रकार बिना ठीक अवसर के आया हुआ बरसाती बादल निरुपयोगी होता है, उसी प्रकार हे अर्जुन! उन्मुक्त पुरुष के समस्त जन्मों के कर्म निष्फल ही सिद्ध होते हैं। जिससे स्वधर्मानुष्ठान नहीं बन पड़ता, उसका जीवन बकरी के गले में लटकने वाले थन के समान व्यर्थ हैं। इसलिए हे पाण्डुपुत्र! स्वधर्म का त्याग किसी को नहीं करना, वरन् सब प्रकार से उसका पालन ही करना उचित है। शरीर के साथ ही कर्त्तव्य कर्म प्राप्त हुआ करते हैं, तो फिर उन उचित कर्मों का त्याग क्यों करना? हे सव्यसाचि! इस मनुष्य देह के प्राप्त होने पर भी जिसे विहित कर्म करने में कठिनाई जान पड़ती है, उसे मूर्ख ही समझना चाहिए। (१४५)

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

जो पुरुष आत्म-स्वरूप में ही निमग्न होता है, वह शारीरिक कर्म करते रहने पर भी उनमें लिप्त नहीं होता। वह आत्म-बोध द्वारा सन्तुष्ट रहने से कृत-कार्य हो जाता है और स्वभावतः कर्मासक्ति से छुटकारा पा जाता है। (११७)

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

जिस प्रकार तृप्ति हो जाने पर उसके साधन भी अपने आप समाप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार स्वरूपानन्द में निमग्न हो जाने पर कर्म भी शेष नहीं रहते। हे अर्जुन! जब तक आत्म-ज्ञान नहीं होता, तभी तक साधनों का आचरण करना पड़ता है। (१४६)

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः ॥१९॥

इसलिए फल की आशा त्याग कर तू अपने उचित धर्म का आच-रण कर। हे पार्थ ! इस जगत् में जिसने निष्काम बुद्धि से धर्म का आच-रण किया है, उसने वास्तव में मुक्ति-पद को प्राप्त कर लिया"। (१५१)

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

कर्म का लेश मात्र भी त्याग न करके राजा जनक आदि मोक्ष को प्राप्त हुए थे, इसलिए हे पार्थ ! तू कर्म में आस्था रख। इससे एक और लाभ होगा कि हमको कर्म करते देखकर सर्व साधारण को भी इसकी प्रेरणा मिलेगी और इससे अनायास ही उनके दुःख दूर होंगे। जो निष्काम भावना रखकर कृतार्थ हो चुके हैं उनके लिए भी लोगों पर उपकार करने का कर्तव्य तो शेष रहता ही है। अन्धों की कतार को चलाने वाला नेत्र युक्त मनुष्य जिधर चलता है सब अन्धे उसी तरफ चलते हैं, उसी प्रकार ज्ञानियों को स्वयं धर्माचरण करके अज्ञानी जनों को धर्म मार्ग बताना चाहिए। अगर ज्ञानी लोग इस प्रकार का व्यवहार न करेंगे तो अज्ञानी लोग स्वधर्माचरण की तरफ किस तरह प्रवृत्त होंगे ? और यह मार्ग उनको कैसे दिखाई देगा—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

इस जगत् में श्रेष्ठ व्यक्ति जिस प्रकार चलते हैं, अन्य लोग उसी को धर्म समझकर तदनुसार व्यवहार करते हैं। यह प्रवृत्ति सहज ही होती है जिसमें कर्म का त्याग नहीं किया जा सकता और सन्तों को तो विशेष रूप से कर्म का आचरण करना पड़ता है। (३५९)

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

हे अर्जुन ! अब मैं किसी अन्य की बात क्यों करूँ, मैं स्वयं ही

इस कर्म मार्ग में चलता रहता हूँ। क्या मेरे ऊपर कोई दुःख आ गया है? अथवा मुझे किसी बात की आवश्यकता है? अगर तू कहता हो कि मैं इन्हीं कारणों से कर्म करता हूँ तो तुझे मालूम ही है कि मेरे समान गुण और ऐश्वर्य से सम्पन्न कोई है नहीं। सांदीपनि गुरु के मृत पुत्र को मैंने वापस लाकर दे दिया, मेरा यह पराक्रम तो तू जानता ही है। यद्यपि मैं सर्वथा कामना रहित हूँ तो भी मैं चुपचाप कर्म करता हूँ। (१६३)

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

लोक कल्याण के उद्देश्य से मैं स्वधर्माचरण इसी प्रकार करता रहता हूँ जैसे कोई सकाम मनुष्य कर्म में लगा रहता है। सब प्राणियों का आधार मेरे ऊपर ही है, इसलिए मुझे उचित है कि उनको कर्म भ्रष्ट न होने दूँ।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

अगर मैं इच्छा रहित आनन्द में ही निमग्न रहूँ और धर्माचरण न करूँ तो सर्व साधारण का उद्धार किस प्रकार हो सकेगा? "मेरे व्यवहार को देखकर अन्य लोग भी अपना कर्म-मार्ग समझ सकेंगे" इस तथ्य को नष्ट न होने देने के लिए मुझे धर्माचरण करना ही चाहिए। यही कारण है कि चाहे कोई व्यक्ति सर्वज्ञ हो तो भी उसे कर्म का त्याग करना उचित नहीं। (१६८)

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

फल की इच्छा रखने से मनुष्य जिस प्रकार कर्माचरण करते हैं, उसी प्रकार इच्छा रहित ज्ञानी पुरुष को भी कर्म करने की लालसा रखनी चाहिए। हे पार्थ! जन-समुदाय का रक्षण आवश्यक है, इस कारण श्रेष्ठ पुरुषों को सत् मार्ग पर चल कर धर्माचरण में सामान्य

लोगों की प्रवृत्ति करनी चाहिए। धर्माचरण में लगे रहकर संसारी लोगों के मन को अपने आचरण की तरफ आकर्षित करते रहना चाहिए पर स्वयं स्वर्ग आदि प्राप्त करने की आसक्ति रखनी प्रशंसनीय नहीं।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ।।२६।।

हे धनुर्धर ! जो बालक स्तन पान भी बड़े प्रयत्न से कर सकता है, वह पकवान किस प्रकार खा सकता है ? उसे जैसे पकवान नहीं दिया जा सकता, उसी प्रकार कर्माचरण से जिसका मन शुद्ध न हुआ हो ऐसे लोगों को, और जो लोग कर्माचरण करने के अधिकारी हैं उनको, निष्कर्म ज्ञान-निष्ठा का सिद्धान्त भूलकर भी नहीं सुनाना चाहिए। उनको सत्कर्म करने के लिए ही समझाना, उसी की प्रशंसा करनी चाहिए और उनके सामने निष्कामता प्राप्त कर लेने वाले पुरुषों को भी सत्कर्मों का आचरण करते रहना चाहिए। वर्णाश्रम धर्म की रक्षा के लिए कर्म का आचरण करने वालों को कर्म बन्धन भोगना नहीं पड़ता। बहुरूपिया चाहे राजा-रानी का वेष धारण करले, पर उसके मनमें राजा-रानी होने की भावना तनिक भी नहीं होती। वह लोगों को वैसा दिखाने के लिये ही उस तरह का अभिनय करता हैं। (१७६)

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।२७।।

अब मैं बतलाता हूँ कि ये ही कर्म अज्ञानी लोगों को किस प्रकार बन्धन कारक होते हैं। हे अर्जुन ! अगर हम दूसरों का बोझा अपने सर पर लेंगे तो हमारी गर्दन टेढ़ी होगी कि नहीं ? इसी प्रकार प्रकृति के गुण ही अच्छे-बुरे कर्मों की उत्पत्ति करते है, तो भी मूर्ख मनुष्य 'यह सब कुछ मैं करता हूँ' ऐसा कहकर उसका भार स्वयं उठा लेता है। ऐसे देहाभिमानी लोगों के सामने नैष्कर्म्य स्थिति की बात नहीं करनी चाहिए। क्योंकि अनधिकारी होने से वह परमार्थ-तत्व को तो

समझ नहीं सकेगा, उल्टा कर्म से भी भ्रष्ट हो जायगा। अब तेरा हित किस में है, यह सब तू ध्यान देकर सुन। (१८२)

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयो: ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८

जिसमें सब कर्म उत्पन्न होते हैं उस प्रकृति की अहंता-ममता का भाव ज्ञानी में बिल्कुल नहीं रहता। वह ज्ञानी देहाभिमान को छोड़कर और गुण-कर्म से भिन्न होकर शरीर में केवल साक्षी भाव से रहता है। इस तरह जिस प्रकार सूर्य समस्त संसार पर प्रकाश डालता हुआ भी संसार के व्यवहारों में लिप्त नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी पुरुष चाहे देह धारण किए रहता है, तो भी देह के गुण कर्मों में बँधता नहीं। (८३)

प्रकृतेर्गुणसंमूढा: सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९

जो मनुष्य प्रकृति के अधीन होकर काम करता है और गुणों के फन्दे में फँस जाता है, वही कर्मों में लिप्त होता है। इन्द्रियाँ ही गुणों के अधीन होकर अपने-अपने व्यवहार में संलग्न रहती हैं पर अज्ञानी पुरुष अन्य के कर्मों को 'मैं ही करता हूँ' ऐसा मानकर जान बूझ कर उस भार को स्वयं उठा लेता है। (८५)

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वर: ॥३०

इसलिए तुझे चाहिए कि समस्त विहित कर्मों को करते हुए मुझको अर्पण करदे और अपनी चित्त-वृत्ति को सदैव आत्म-स्वरूप में लीन रख। 'मैं इस कर्म का कर्ता हूँ और अमुक फल के लिए मैं इसे करता हूँ' ऐसा अभिमान तू अपने मन में कभी मत आने देना। तू शरीर के अधीन न होकर, समस्त इच्छाओं का त्याग करके सब भोगों को यथा समय भोगते रहना। अब हाथ में धनुष लेकर रथ पर बैठ जा और समाधान वृत्ति को धारण करके तथा माया-मोह को त्यागकर आनन्द पूर्वक वीरों के

धर्म का पालन कर। जगत् में अपनी कीर्ति का विस्तार कर, स्वधर्म की महिमा की वृद्धि कर और दुर्योधन आदि दुष्टों के भार से पृथ्वी को मुक्त कर। हे पार्थ ! अब तू निःशंक होकर इस युद्ध की ओर लक्ष्य कर और कुछ भी बात न कर। (१९१)

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१

हे अर्जुन ! मेरे इस निश्चित मत को जो आदर से स्वीकार करके उसका श्रद्धा पूर्वक आचरण करेंगे, वे सब कर्मों में करते हुए भी कर्म-रहित ही बने रहेंगे ऐसा तू समझ ले। इसलिए मेरा मत निःसंशय आचरण करने के योग्य है। (१९२)

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२

इससे विरुद्ध जो देह बन्धन में लुब्ध होकर इन्द्रियों को सन्तुष्ट करते हुये मेरे मत का त्याग करते हैं, जो उसे सामान्य समझकर उसकी हँसी करते हैं, अथवा वाचालता से यह कहते हैं कि "यह तो केवल व्याज स्तुति है।" ऐसे लोग मोहरूपी मद्य को पीकर भ्रमित, विषय रूपी विष के प्रभाव के वशीभूत और अज्ञान रूपी कीचड़ में फँसे हुये हैं, यह तू निश्चित रूप से समझ ले। प्रेत के हाथ में परीक्षा के लिए दिया हुआ रत्न जिस प्रकार निरर्थक है, अथवा जन्मान्ध कहे कि दिन निकल आया तो कोई उसका कथन नहीं मानता, अथवा जैसे चन्द्रमा की चाँदनी कौआ के लिये निरुपयोगी होती है, उसी प्रकार हे पार्थ ! यह विचार मूर्ख मनुष्यों को रुचिकर नहीं लगता। जो मनुष्य इस परमार्थ तत्व से विमुख हों, उनके साथ तो बोलना भी न चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार पतङ्ग से दीपक की ज्योति सहन नहीं हो सकती उसी प्रकार वे मनुष्य इस विचार में विश्वास न रखकर उल्टी तुम्हारी निन्दा करने लगेंगे। पतङ्ग दीपक का आलिङ्गन करने जाय तो निश्चित

ही उसकी मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार विषयों का आलिङ्गन करना अपने नाश का कारण ही सिद्ध होता है। (२०१)

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।।३३।।

इसीलिये किसी विचारशील मनुष्य को इन्द्रियों की इच्छाओं को पूरी करने का साहस तो हँसी मजाक में भी नहीं करना चाहिए। अरे! क्या कोई सर्प के साथ खेल सकता है? अथवा सिंह के साथ रहने में कोई सफल हो सकता है? अथवा हलाहल विष को खाकर कोई उसे पचा सकता है? जिस प्रकार साधारण रीति से खेल करते-करते भी आग लग जाय तो वह भड़क उठती है और उसे काबू में नहीं लाया जा सकता, उसी प्रकार कौतुक के लिये भी इन्द्रियों का लालन करने से उनकी विषय लोलुपता बढ़ती है, और फिर उनको रोका नहीं जा सकता। इसलिए हे अर्जुन! जब वास्तविक रीति से विचार करने पर शरीर पराधीन (गुणों के आधीन) है, तब उसके लिये विषय भोग प्राप्त करने की विशेष चेष्टा क्यों करनी? फिर अत्यन्त परिश्रम करके बहुत सम्पत्ति प्राप्त करके तथा स्वधर्म का त्याग करके इस शरीर का दिन-रात लालन-पालन क्यों करना? यह पञ्च तत्व का बना शरीर अन्त में पञ्च तत्व में ही जाकर मिल जायगा, तब अपनी की हुई तमाम मेहनत को ढूँढ़ने हम कहाँ जायेंगे? इसलिए केवल शरीर के ही पोषण करते रहने में प्रत्यक्ष हानि है। इस विचार में ही तमाम उम्र बिता देना कभी ठीक नहीं कहा जा सकता। (२०२)

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थनौ ।।३४।।

विषयों के यथेच्छ सेवन से उस समय इन्द्रिय-सुख का अनुभव होता है यह बात ठीक है, पर वह सुख ऐसा ही है, जैसे किसी गुप्त लुटेरे का साथ मिल जाने से आरम्भ में सुख का ही आभास होता है,

(चाहे कुछ दूर जंगल में पहुँचकर यह सर्वनाश करदे)। वैसा ही वह सुख होता है। हे भाई! जिस प्रकार वच्छनाग (एक विष की कली) खाने में पहले मीठी लगती है, परन्तु उसका परिणाम नाश कारक ही होता है, उसी प्रकार इन्द्रियों में रहने वाला काम विषय-सुख की दुराशा उत्पन्न करता है। मछली कांटे में लगे मांस को बड़ी प्रसन्नता से खा जाती है परन्तु उस कांटे से अन्त में प्राण खोने पड़ेंगे इस बात को वह नहीं समझती उसी प्रकार जो विषय-सुख की अभिलाषा से बिषयों का सेवन करता है वह क्रोधाग्नि में पड़ जाता है। शिकारी जिस प्रकार हिरन को पकड़ने के लिए उसे चारों तरफ से घेर लेता है, उसी प्रकार यह विषय सुख की अभिलाषा मनुष्य को चारों तरफ से घेर लेती है। इसलिए हे पार्थ! काम-क्रोध को घातक समझकर उनमें कभी आसक्ति मत करो और उनके कारण रूप विषयों को हृदय में कभी स्थान न दो। मन को कभी उनकी याद भी न आने दो, साथ ही आत्मज्ञान की ज्योति को कभी बुझने मत दो। (२१८)

श्रेयान् स्वधर्मोविगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

देखो! अपना धर्म पालन करने में कदाचित् कठिन जान पड़े तो भी उसी का आचरण उत्तम है। दूसरे का धर्म चाहे अच्छा जान पड़ता हो, तो भी प्रत्येक मनुष्य को अपने ही धर्म का आचरण करना चाहिए। ब्राह्मण चाहे दरिद्र हो गया हो, पर वह नीच घर के पकवान कैसे ग्रहण कर सकता है? ऐसा अनुचित कर्म किस प्रकार किया जा सकता है? इसी प्रकार जो बात ग्रहण करने लायक है ही नहीं, उसकी इच्छा ही क्यों की जाय? फिर यदि इच्छित वस्तु प्राप्त हो सके, तो क्या उसे ग्रहण किया ही जाय? इस पर विचार करो। क्या लोगों की बड़ी-बड़ी हवेलियों को देखकर हम अपने घास फूँस के छप्परों को तोड़ डालें? अपनी विवाहित स्त्री चाहे जैसी कुरूप हो, पर अपने उपभोग के लिए जिस प्रकार वही योग्य है, उसी प्रकार अपना धर्म

कितना भी कठिन और आचरण की दृष्टि से दुर्गम हो तो भी अपना परलोक का मित्र तो वही है। दूध और खाँड—ये दोनों पदार्थ मीठे हैं, पर कृमि की व्याधि वाले के लिये वे अहितकर ही हैं। इस पर भी अगर उनका सेवन करे तो परिणाम में वे उसके लिए दुःखद ही सिद्ध होंगे, क्योंकि जो कार्य अन्य के लिये उचित पर अपने लिये अनुचित हो तो उसे कभी नहीं करना, स्वधर्म का आचरण करते हुये यदि कभी अपना प्राण भी देना पड़े, तो भी वह दोनों लोकों में श्रेष्ठ समझा जाता है। देवाधिदेव श्री शार्ङ्गपाणि का इस प्रकार कथन सुनकर अर्जुन ने कहा हे देव ! मेरी विनती है कि आपने अभी मुझसे जो कुछ कहा उसे मैंने अक्षरशः सुन लिया। अब मुझे जो कुछ आवश्यक जान पड़ता है, वही आपसे पूछ रहा हूँ।

श्री अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।। ३६

हे देव ! ज्ञानी जन भी स्थिति-भ्रष्ट होकर गलत रास्ते पर चले जाते हैं, इसका क्या कारण है ? वे सर्वज्ञ होने से अच्छी तरह जानते हैं कि क्या छोड़ देने योग्य है और क्या ग्रहण करना चाहिए तो भी वे परधर्म का आचरण क्यों करते हैं ? अन्धे मनुष्य से अन्न और भूसा अलग नहीं किया जा सकता यह ठीक है, पर देख सकने में समर्थ मनुष्य से यह काम क्यों नहीं हो सकता ? जो सब प्रकार की आसक्ति का त्याग कर चुके होते हैं, वे ही फिर आसक्ति में पड़कर तृप्त नहीं होते, जिन्होंने बनवास स्वीकार किया होता है ऐसे मनुष्य भी फिर सांसारिक लोगों के समान आचरण करते हैं। वे वास्तव में पाप से दूर रहने की इच्छा करते हैं परन्तु ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई उनको जबर्दस्ती पाप में प्रवृत्त कर रहा हो। वे जिन विषयों से डरते हैं, वे ही विषय उन के जीवन के साथ संलग्न होकर रहते हैं। इन विषयों से अलिप्त रहने का वे प्रयत्न करते हैं, तो भी उनमें फँस जाते हैं। इस प्रकार ज्ञानियों

के विषय सेवन में किसी का बलात्कार होता है, तो वह किसका होता है; यह कृपा करके मुझे बताइये । (२३८)

श्री भगवानुवाच–

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।।३७

इनके पश्चात् हृदय कमल में निवास करने वाले, जिनकी योगीजन निष्काम बुद्धि से इच्छा करते हैं, ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण बोले—मैं कहता हूँ, उन पर ध्यान दे । हृदय में रहने वाले ये काम और क्रोध ही मनुष्य को पाप में प्रवृत्त करने वाले हैं । उनमें दया का अंश लेश मात्र नहीं होता, ज्यादा क्या कहूँ ? अज्ञानी के लिए यह साक्षात् यम हैं । यह काम और क्रोध द्रव्य-भंडार पर बैठे हुए नाग, विषय-गुफा में रहने वाले वाघ और भजन-मार्ग पर आक्रमण करने वाले—चांडाल दस्यु हैं । फिर वे देहरूप किले के प्रचण्ड पाषाण और इन्द्रिय रूपी ग्राम के गढ़ रूप हैं । भ्रांति और अज्ञान आदि उत्पन्न करने में ये विशेष प्रबल होते हैं । इनका अनुभव तन में ही होता है, ये आसुरी सम्पत्ति का अंश होने के कारण रजोगुण सम्पन्न होते हैं और अविद्या के आधार पर ही उनका निर्वाह होता है इनका मूल यद्यपि रजोगुण में होता पर तमोगुण के ये अत्यधिक प्रिय हैं, इसलिए तमोगुण ने उनको अपना सर्वस्व (प्रमाद और मोह) अर्पण किया हैं । वे जीवन के शत्रु हैं, इस मृत्यु-नगर में उनका भरपूर आदर सत्कार किया जाता है । इनके चमत्कार का क्या वर्णन किया जाय । इनकी भूख के आगे यह समस्त विश्व तो एक ग्रास के बराबर भी नहीं है और आशा इनके इस व्यापार की वृद्धि करती है । इनकी मुट्ठी में चौदहों भुवन का पता न लगे ऐसी जो भ्रान्ति है वह आशा की छोटी बहिन है । यह भ्रांति खेल करते हुए कलेवा में तीनों लोकों को एक ही बार में निगल जाय, ऐसी है । इस भ्रान्ति की दासी

बनकर ही तृष्णा भी पुष्टि को प्राप्त हो रही है। (२४८)

फिर मोह रूपी महाराज भी काम क्रोध को पूज्य मानते है, और अहंकार, जो समस्त विश्व को नचा रहा है, वह भी इनके साथ सम्बन्ध रखता है। जो दम्भ सत्य के थैले को फाड़कर उसमें असत्य का कूड़ा-कर्कट भर देता है, उस दम्भ को इन्होंने जगत् में फैलाया है। इन्होंने पतिव्रता-स्त्री रूपी शांति को लूटकर और मायारूपी चाण्डालिनी का शृंगार करके साधु-समुदाय को भ्रष्ट कराया है। इन्होंने विवेक को पथ भ्रष्ट किया, वैराग्य की खाल खींचली, और उपशम का तो गला काट-कर हत्या कर दी। इन्होंने सन्तोष रूपी नन्दन वन का नाश किया, धैर्य रूपी किले को तोड़कर जमीन में मिला दिया और आनन्द रूपी पौधे को जड़ से उखाड़ कर फेंक दिया। साथ ही इन्होने ज्ञान रूपी बृक्ष की जड़ काट डाली, सुख का नाम निशान मिटा दिया। इन्हीं ने प्राणी मात्र के हृदय में त्रिविध ताप की अग्नि सुलगा दी। इनकी उत्पत्ति शरीर के साथ होने से ये जीवन में ओत प्रोत होकर मिले रहते हैं, पर ढूँढ़ने से ये मिलते नहीं। ये ब्रह्म स्वरूप के पड़ोसी हैं और ज्ञान की पंक्ति में ही बैठते हैं। इसलिये ये जगत् को लय करने में लगे रहते हैं तो भी कोई इनका प्रतिबन्ध नहीं कर सकता। ये प्राणियों को निर्जन स्थान में डुबोते हैं, बिना अग्नि उनको भस्म करते हैं, और मालूम भी न पड़े, इस तरह निगल जाते हैं। ये शस्त्र बिना प्रहार करते हैं, रस्सी के बिना बांधते हैं और तत्ववेत्ताओं को तो दावे के साथ मार गिराते हैं। ये बिना कीचड़ के ही प्राणियों को नीचे धँसा देते है, जाल के बिना ही पकड़ लेते हैं और देह के भीतर इतनी गहराई में पहुँच जाते हैं कि उनका सामना करने लायक कोई नहीं होता। (२५९)

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्वेनावृता गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

हे अर्जुन ! जिस प्रकार सर्प चन्दन के वृक्ष से लिपट जाता है अथवा

जैसे-जेर (गर्भ का आंवल) गर्भ को चारों तरफ से ढके रहता है वैसे ही ज्ञान काम क्रोध से सदैव आवृत रहता है। प्रभा के बिना सूर्य, धुँए के बिना अग्नि और मैल के बिना दर्पण जैसे नहीं मिलता उसी प्रकार काम क्रोध रहित शुद्ध ज्ञान हमारे देखने में कभी नहीं आया। (२६२)

आवृतं ज्ञानमेतेनं ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

यद्यपि ज्ञान स्वयं शुद्ध है, पर वह काम-क्रोध से प्रायः आच्छादित रहता है इसी से काम क्रोध महा बलवान् बैठे है। इसलिए मुमुक्षु व्यक्ति को पहले काम क्रोध को जीतकर तत्पश्चात ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। पर इन काम-क्रोध को जीतना यह सबसे पहली कठिनाई है, क्योंकि उन्हें जीतने के लिए जो साधन काम में लाये जाते हैं, उन्हीं को सहायता पहुँचाने लगते हैं। यह ऐसा ही होता है कि आग को बुझाने लकड़ी डाली जाय तो वह और अधिक भड़कती है। (२६५)

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इसी प्रकार उनको जीतने के जो-जो उपाय किये जाते हैं, उनके द्वारा उल्टा काम क्रोध को सहायता मिलती है। इसी से संसार में वे हठ योगियों को भी जीत लेते हैं तो भी हे अर्जुन! ऐसे संकट में से पार होने का भी एक अच्छा उपाय है जो तू उसे कर सके तो मैं तुझे उसको बतलाऊँगा। (२६५)

तस्मात्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इन काम क्रोध का मूल-स्थान इन्द्रियों में हैं और इन्द्रियों द्वारा ही काम की प्रवृत्ति होती है, इसलिए सबसे पहले तू इन्द्रियों को ही जीत। (२६८)

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२

ऐसा करने से मन की तीव्र प्रवृत्ति कुंठित हो जायगी, बुद्धि मुक्त हो जायगी और तत्पश्चात् इन पापियों का निवास स्थान समाप्त ही जायगा । (२६६)

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३

इस प्रकार अन्तःकरण में से काम क्रोध का निवास हटा कि वे मरे, ऐसा समझ ले । जिस प्रकार सूर्य की किरणों के बिना मृगमरीचिका दिखाई नहीं पड़ती, उसी प्रकार जब राग-द्वेष नष्ट हो जायेंगे तो ब्रह्म रूपी स्वराज तुरन्त ही हाथ में आ जायगा । फिर अपना सुख स्वयम् ही उपभोग करने में क्या बाधा है ? गुरु शिष्य की गुह्य बात यही है और जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य भी इसी को कहा गया है । तू इसमें स्थिर हो और कभी चलायमान मत होना । संजय ने धृतराष्ट्र से कहा—हे महाराज ! सकल सिद्ध मुकुटमणि, लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण ने इस प्रकार कहा । अब इसके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण एक प्राचीन कथा कहेंगे । उसे सुनकर अर्जुन प्रश्न करेगा । उस कथा की श्रेष्ठता तथा रसिकता को सुनकर श्रोताओं को बहुत सन्तोष होगा । निवृत्तिका दास जो ज्ञानदेव है वह कहता है कि भाइयो ! आत्मज्ञान प्राप्ति की उत्तम तैयारी करके तुम कृष्ण और अर्जुन का आगे का संवाद सुनो । (२६९)

॥ इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां ॥
तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

———

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

गीता शास्त्र के प्रथम तीन अध्यायों का प्रवचन करने के पश्चात् श्रवणेन्द्रिय के सौभाग्य का वर्णन किया आता है, जिससे मुमुक्षजनों में ग्रन्थ के प्रति रुचि जागृत हो। महाराज ज्ञान देव कहते हैं—

'आज कानों का भाग्य हुआ' क्योंकि गीता का यथार्थ श्रवण होगा। यह बात स्वप्नवत् लगती थी, वह आज प्रत्यक्ष सत्य हुई। सर्व प्रथम तो आत्म-विचार का विषय, फिर इसमें जगत्-पिता श्रीकृष्ण जैसे प्रतिपादक और भक्त शिरोमणि अर्जुन जैसे श्रोता, फिर पूछना ही क्या? जैसे कोयल का मीठा पंचम स्वर, उसमें उत्तम सुगन्ध और माधुरी एकत्र हो जाय तो जैसा आनन्द होता है वैसा ही आनन्द इस गीता रूपी कथामृत से होता है। श्रोताओं के सद्भाग्य की महिमा का कैसा वर्णन किया जाय? तुम्हारे अनन्त जन्मों के जप-तप का फल आज प्राप्त होकर अमृतमय गंगा मिल गई है। इसलिए सब इन्द्रियों को अपना-अपना स्थान त्यागकर केवल श्रवणेन्द्रिय के स्थान पर एकत्रित होकर कृष्ण-अर्जुन सम्वाद रूपी गीतामृत पान करना। तब सन्त मण्डली ने ज्ञानेश्वर से कहा—'अब अधिक वाग्जाल और विशेष वर्णन समाप्त करके कृष्ण और अर्जुन क्या कह रहे थे, वही बताओ।' सन्त-मण्डल के ऐसे आग्रह को देखकर ज्ञानदेव महाराज कहने लगे—संजय धृतराष्ट्र से कहने लगा कि दैवी सम्पत्ति युक्त अर्जुन के प्रति भगवान् कृष्ण ने अत्यन्त प्रेम पूर्वक यह वर्णन कहा। जो गुह्य बात भगवान् कृष्ण ने अपने पिता वसुदेवजी, माता देवकीजी और भाई बलरामजी

से भी नहीं कही थी, वह गुप्त बात अर्जुन से कही। निरन्तर समीप रहने वाली लक्ष्मी देवी को भी जिस प्रेम का लाभ नहीं मिला था; वह प्रेम आज कृष्ण जी ने अर्जुन पर खाली कर दिया। इस चमत्कार का क्या वर्णन किया जाए? सनकादिक भी ऐसे प्रेम के पात्र नहीं हुए थे, तब समझना चाहिए कि अर्जुन ने कितने सर्वोत्कृष्ट पुण्य किये होंगे। मुझे तो ऐसा लगता है कि दोनों की स्थिति भिन्न है, तो भी दोनों एक रूप हैं। यदि ऐसा न हो तो भगवान् योगियों को भी प्राप्त नहीं हैं, वेदों के जानने में भी नहीं आते हैं और ध्यान द्वारा भी जिनके दर्शन नहीं होते, जो भगवान् आत्म स्वरूप, अनादि और विकार रहित है, वे फिर अर्जुन पर ऐसे कृपालु क्यों हो गए? वे त्रैलोक्य रूपी वस्त्र के संकोच और विस्तार के अधिष्ठान हैं (त्रैलोक्य उनका ही स्वरूप है, उसी की घड़ी करके अवतार रूप में वे यहाँ आयें है) और आकार से परे हैं, पर वे ही इतने अधिक प्रेम से अर्जुन के अधीन कैसे हो गये यह समझा नहीं जा सकता।

श्री भगवानुवाच–

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।१।।

फिर श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुन से बोले यह कर्म योग पहले मैंने विवस्वान् (सूर्य) को कहा था, पर उस घटना को बहुत अधिक समय हो चुका है। फिर समस्त योग सूर्य ने वैवस्वत मनु से कहा और मनु ने उस पर आचरण करके अपने पुत्र इक्ष्वाकु को उसका उपदेश किया ऐसी परम्परा मूल से चली आई है।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ।।२।।

इसके पीछे कितने राजर्षियों को यह योग विदित था पर अब बहुत काल से इसे कोई नहीं जानता। इसका कारण यही है कि प्राणी

मात्र की रुचि विषय सेवन पर ही अधिक होने के कारण आत्मज्ञान पर किसी का ध्यान नहीं जाता। जब तक आत्मनिष्ठा की भावना दृढ़ नहीं होती तब तक मनुष्यों को विषय-सुख ही सबसे बड़ा काम जान पड़ता है और वे उसी को जीवन की तरह प्रेम करने लगते हैं। जिस गाँव में मनुष्य नंगे रहते हों वहाँ वस्त्रों का क्या महत्व हो सकता है ? जन्मान्ध के लिए सूर्य का क्या उपयोग ? बहरों की सभा में संगीत की कदर कौन करेगा ? स्यार को चाँदनी के दर्शन से क्या आनन्द मिल सकता है ? चन्द्रोदय के पहले ही जो अन्ध हो जाता है, वह कौआ चन्द्रमा को कैसे जान सकता है ? इसी प्रकार जिसको वैराग्य का स्पर्श भी नहीं हुआ और जिसे विचार का नाम भी मालूम नहीं है, वह मूर्ख प्राणी मुझ परमेश्वर का लाभ किस प्रकार पा सकता है, यह बताओ। यह व्यामोह किस तरह बढ़ता गया यह तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु तब से बहुत सा काल बीत जाने से इस योग का लोप अथवा नाश हो गया है यह हमको स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

हे कुन्ती सुत ! वास्तव में वही योग मैंने आज तुझे कह सुनाया है, इसलिए उसकी सत्यता पर तुझे कुछ भी शंका नहीं करनी चाहिए। यह योग मुझे ज़ीवन अथवा प्राण के समान लगता है, पर उसे तुझ से गुप्त कैसे रख सकता हूँ ? कारण कि तू मेरा अत्यन्त प्रिय भक्त है, केवल प्रेम की मूर्ति है, भक्ति का सागर है, सच्ची मित्रता का जीवन ही है, विश्वास का स्थल है, इसलिए तुझसे वंचकता कैसे की जा सकती है ? इस समय हम युद्ध के लिए तैयार होकर खड़े हैं, तो भी क्षण भर के लिये इस युद्ध कोलाहल को एक तरफ हटा कर, जरा भी घबराहट में न पड़कर मुझे तेरा अज्ञान तो दूर कर ही देना चाहिए। (३१)

अर्जुन उवाच–

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ।।४

अर्जुन ने कहा—हे कृपानिधे ! माता अपने बालक पर प्रेम रखे, इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? आप तो संसार में थके हुए लोगों के लिए छाया के समान हो, दीनजनों के लिये माता के समान हो । सचमुच हमारा जन्म आपकी कृपा से ही हुआ है । हे देव ! यदि माता का कोई बालक अपङ्ग हो जाता है तो उसके पालन में उसे जन्म काल से ही कष्ट उठाना पड़ता है । यह सब तो आप जानते ही हैं, तब आपके सामने हम आपकी महत्ता का वर्णन कैसे कर सकते हैं ? अब मैं जो कुछ पूछता हूँ उसका उचित समाधान करो और जरा भी गुस्सा मत हो । हे अनन्त स्वरूप ! अपने भूतकाल में सूर्य को इस योग का ज्ञान देने की जो बात कही है, वह मेरी समझ में नहीं आती सूर्य कौन था, इसकी खबर हमको तो क्या हमारे बाप-दादों को भी नहीं थी तो आपने उसे और कैसा उपदेश किया ? सूर्य तो बहुत पुराने समय से मौजूद है, और हम लोग तो अभी पैदा हुए हैं, इसलिए इस बात में मुझे विरोध जान पड़ता है । हे देव ! आपकी लीला में मुझे कुछ समझ नहीं पड़ता, और आप झूठ बात कहते हैं यह भी मैं कैसे कह सकता हूँ ? इसलिये आपने सूर्य को उपदेश देने की जो बात कही है वह मेरी समझ में आ सके, इस प्रकार स्पष्ट रूप से बताओ । (४०)

श्री भगवानुवाच–

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ।।५

भगवान् श्रीकृष्ण कहने लगे–हे अर्जुन ! जिस समय सूर्य हुआ था

उस समय हम नहीं थे यह शंका तेरे मन में हुई है पर तू यह नहीं जानता कि तेरे और मेरे अभी तक अनेक जन्म हो चुके हैं, पर तुझे उनकी याद नहीं है पर हे अर्जुन ! मैंने जिस-जिस समय जो अवतार धारण किये थे, मुझे तो उनका स्मरण है। (४३)

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।।६

अर्थात् मुझे भूत काल की सब बातें याद हैं। मैं जन्म रहित होने पर भी माया के योग से अवतार धारण करता हूँ और उससे मेरा अविनाशीपन नष्ट नहीं होता। पर अवतार धारण करना और उसका समाप्त हो जाना उस माया के प्रभाव से ही जान पड़ता है,तो कभी उसके कारण मेरी स्वतन्त्रता नष्ट नहीं हो जाती। पर भ्रांति में पड़े लोगों को ऐसा ही लगता है कि 'मैं कर्माधीन हूँ।' एक ही वस्तु दर्पण के द्वारा एक की दो दिखलाई पड़ती हैं, परन्तु इससे क्या वह एक की दो बन जाती हैं ? उसी प्रकार हे अर्जुन ! मैं निराकार होने पर भी माया की दृष्टि से जगत् के कार्य के लिए माया के द्वारा ही साकार बन जाता हूँ और नष्ट (अभिनेता) की तरह बाह्य आकार को धारण कर लेता हूँ। (४८)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।७

जितने भी धर्म हैं उन सबकी प्रत्येक युग में मुझे रक्षा करनी ही चाहिए, इस प्रकार का वह अनादिक्रम सदा चला आता है। इस कारण जब कभी अधर्म के कारण धर्म का क्षय होता है, उस समय मैं अपना जन्म रहितपन एक तरफ रख देता हूँ और निराकारिता को स्मरण भी नहीं करता।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।८

तब भक्तों की रक्षा के लिए मैं देह धारण करके अवतार लेता

हूँ तथा अज्ञान रूपी अन्धकार को निगल जाता हूँ। अधर्म की मर्यादा को तोड़ता हूँ दोष के दस्तावेजों को फाड़ डालता हूँ और जो साधुजन होते हैं उनके साथ सुख की ध्वजा फहराता हूँ। दैत्यकुल (अधर्मियों) का नाश करता हूँ, सज्जनों को सम्मान की प्राप्ति कराता हूँ। और धर्म तथा नीति का परस्पर मिलाप करा देता हूँ। अविवेक रूपी दीपक के काजल को हटाकर विवेक रूपी दीपक प्रज्वलित करता हूँ। ऐसा समय देखकर योगी जनों को तो सर्वथा आनन्द रूप दिवाली का ही आभास होने लगता है। इस सुख सें समस्त संसार भर जाता है, जगह-जगह लोक धर्माचरण करने लगते हैं और भक्तजन सत्वगुण से परिपूर्ण हो जाते हैं। हे अर्जुन ! जब मेरा अवतार होता है तो पाप का पर्वत लुप्त हो जाता है और सूर्योदय होता है। ऐसे कार्य के लिए मैं प्रत्येक युग में अवतार धारण करता हूँ। जो मुझे ऊपर बतलाये अनुसार पहचानते हैं, उनको ही ज्ञानी समझना चाहिए। (५७)

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वत: ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

मैं जन्म रहित होने पर भी जन्म लेता हूँ और सक्रिय होने पर भी कर्म करता हूँ, इस बात को वास्तविक रूप से समझते हैं, वे ही परम मुक्त है। ऐसा ज्ञान रखने वाले देह सम्बन्ध मे चलते फिरते दिखाई देते हैं पर वे वास्तव में चलते नहीं और देह होने पर भी विमुक्त होते हैं।

वीतरागभय क्रोधा मन्मया मामुपाश्रिता: ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागता ॥१०॥

फिर जो सामान्य रीति से भूत और भविष्य की घटनाओं के विषय में सोच नहीं करते, जो वासना रहित होते हैं, कभी क्रोध के मार्ग पर नहीं जाते, जो विषय प्रेम से रहित होते हैं, जो नित्य मेरे स्वरूप की प्राप्ति के लिये अपने को धन्य तथा कृतार्थ मानते हैं, जो मेरी सेवा करने के लिये ही जीते हैं, ज्ञान की प्राप्ति से ही सन्तुष्ट

होते हैं, जो तप-तेज के पुंज और ज्ञान के भंडार हैं, ऐसे व्यक्ति तीर्थ को भी पवित्र करने वाले तीर्थ रूप हैं और वे अनायास ही मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। मैं और वे एक ही हो जाते हैं, उनमें और मुझ में तनिक भी भिन्नता का भाव नहीं रहता। यदि पीतल का मैला और कालापन बिल्कुल दूर हो जाय तो फिर सुवर्ण के लिये इधर-उधर दौड़ने की क्या आवश्यकता है ? इसी प्रकार जो यम-नियमादि अष्टाङ्ग योग करके तप और ज्ञान से शुद्ध हो चुके हैं, वे मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जायें इसमें कुछ भी शंका नहीं है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११

जो लोग जिस-जिस भावना से मेरा भजन करते हैं उसी-उसी भावना से मैं उनको फल देता हूँ। मनुष्य मात्र की प्रवृत्ति स्वभावतः ही मेरा भजन करने की होती है, परन्तु ज्ञान के अभाव से बुद्धि भेद उत्पन्न हो जाता है और तब लोग मेरे एक मात्र स्वरूप में अनेकत्व की कल्पना करने लगते हैं। इस प्रकार मैं सब प्राणियों से अभिन्न हूँ फिर भी वे मुझमें भेद की कल्पना करते हैं। मैं नाम रहित हूँ, पर वे मेरा नाम रख लेते हैं। मैं शब्दातीत हूँ, तो भी मुझे किसी देवता के नाम से पहचानते हैं। मैं सब कालों और सब स्थानों में एक समान हूँ, पर वे माया के अधीन होकर भ्रान्ति से, ऊँचे का भेद मानने लगते हैं। (७०)

कांङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं भजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२

फिर मन में अनेक प्रकार के उद्देश्य लेकर, जिसको जो पसन्द पड़े उसी विधि से, मुझे अनेक देव मान कर, पूजा-उपासना करते हैं। इस प्रकार जिसकी जो इच्छा होती है, उसकी पूर्ति हो जाती है, पर वह उनके कर्मों के फल स्वरूप ही होती है, यह निश्चय समझ लो। वास्तव में इसमें कर्म के सिवाय देने और लेने वाला कोई नहीं होता।

इस लोक में कर्म द्वारा ही फल की प्राप्ति होती है। जैसे जमीन में जिस धान्य को बोया जायेगा, उससे भिन्न जाति का धान्य पैदा नहीं होता, अथवा दर्पण में जैसी वस्तु होती है वैसी ही दिखलाई देती है, अथवा हे अर्जुन ! पहाड़ की कन्दरा में हम जिस प्रकार बोलते है इन शब्दों की वैसी ही प्रतिध्वनि सुनाई देती है, उसी प्रकार प्रत्येक प्रकार की उपासना का मैं ही आधार भूत होने से सब को अपनी भावना के अनुकूल ही फल मिलता है। (७६)

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३

अब इसी तरह तू इस बात को भी ध्यान में रख कि चारों वर्णों को गुण और कर्म के विभागानुसार मैंने ही उत्पन्न किया है, और उन चारों वर्णों की प्रकृति, कार्यों और गुणों के अनुसार व्यवस्था भी मैंने ही की है। हे धनुर्धर अर्जुन ! यद्यपि ये सब लोग मूल रूप में एक ही हैं, पर गुण और कर्मों के हिसाब से वे चार भागों में बँट गये है। इस कारण इस वर्णभेद की स्थापना का कर्त्ता मैं किसी प्रकार नहीं हूँ। (८०)

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४

यह वर्णभेद यद्यपि मेरी सत्ता से हुआ है, तो भी वह मेरा किया हुआ नहीं है। मुझे जो इस प्रकार जानता है, वह कर्मातीत कहा जा सकता है। (८१)

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५

हे अर्जुन ! पहले जो मुमुक्ष हुए हैं उन्होंने मुझे ऐसा जानकर ही कर्म किये थे, और जिस प्रकार भूना हुआ बीज हर्गिज नहीं उगता, उसी प्रकार उनके निष्काम कर्म उनको मोक्ष प्राप्ति के साधन हुए थे। हे अर्जुन ! फिर एक बात यह भी है कि 'यह कर्म है और यह

अकर्म है' इस विषय का निश्चय अपनी समझ से कर सकना बुद्धिमान मनुष्य के लिए भी कठिन है। (८४)

कि कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६

कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इसका विचार करने पर बड़े-बड़े विद्वान भी भ्रम में पड़ जाते हैं। जिस प्रकार खोटा सिक्का असली की तरह लगने पर सराफ की आंख भी धोखा खा जाती हैं, उसी तरह केवल संकल्प बल से नई सृष्टि कर देने की जिनमें सामर्थ्य है, वे लोग भी किसी कार्य को भ्रम से "निष्कर्म" समझ लेते हैं और कर्म बन्धन में फँस जाते हैं। कर्माकर्म का विचार करते हुए बड़े-बड़े ज्ञानियों के होश उड जाते हैं, फिर अज्ञानियों की तो बात ही क्या ? ज्ञानी जन भी मोह में किस तरह फँसते हैं, उस सम्बन्ध में ही बतलाता हूँ, ध्यान से सुन ! (८८)

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७

जीवों के कर्म के अनुसार विश्व की रचना करने का जो संकल्प ईश्वर ने किया उसका नाम कर्म है। इसका यथार्थ रूप समझ लेना चाहिए। फिर जो कर्म वर्णाश्रम के योग्य और वेदोक्त हो, उसकी अनुष्ठान विधि और उसका फल निश्चित रूप से जान लेना आवश्यक है। फिर जिनको निषिद्ध कर्म कहा गया है उनका स्वरूप भी जान लेना चाहिए। इन सब को समझकर जो मनुष्य कर्म करेगा वह कर्म चक्र में नहीं फँसेगा ऐसे तो यह समस्त जगत कर्माधीन है और उसका विस्तार बहुत अधिक है। पर हे अर्जुन ! उसमें ज्यादा न पड़ कर मैं तुझे यथार्थ ज्ञान प्राप्त किये हुए पुरुष का लक्षण बतलाता हूँ उसे सुन। (९२)

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८

फल की आशा न रख कर जो मनुष्य शरीर, मन और इन्द्रियों से कर्म का आचरण करते हुए भी अपने को अकर्ता मानता है, उसने कर्मातीतपन के सिद्धान्त को बहुत अच्छी तरह समझ लिया है। उसके लिए आत्म-स्वरूप के अतिरिक्त जगत में अन्य कुछ भी शेष नहीं रहता अर्थात् कोई कर्तव्य नहीं बचता। तो भी यह सांसारिक दृष्टि से कर्म उत्तम रीति से करता रहता है, ऐसा जान पड़ता है। इस प्रकार के लक्षण वाले मनुष्य को ज्ञानी समझना चाहिए। जिस प्रकार कोई मनुष्य नदी के किनारे पर जल में अपनी परछांही देखते हुए जानता है कि मैं इससे भिन्न हूँ अथवा नाव में बैठकर यात्रा करने वाले मनुष्य को किनारे पर लगे वृक्ष चलते जान पड़ते हैं, पर वास्तविक दृष्टि से विचार करने पर वह जानता है कि वृक्ष अचल हैं, इसी प्रकार सब कर्मों को करते हुए भी वे मिथ्या हैं और कर्म रहित परमात्मा ही मेरा स्वरूप है, यह वह खूब समझता है। सूर्य अचल है पर उदय-अस्त होने से वह हम को चलता जान पड़ता है, उसी प्रकार शरीर धारी होने के कारण वह कर्म करता रहता है पर परमार्थ दृष्टि से वह अपने को कर्म न करने वाला ही मानता है। वह चाहे देखने में अन्य मनुष्यों के समान ही लगता है, पर वह मनुष्य नहीं है प्रत्यक्ष परमेश्वर ही है, ऐसा समझना चाहिए। जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब पानी में पड़ा हो तो भी उसमें सूर्य होता नहीं, उसी प्रकार ऐसा मनुष्य-मनुष्य रूप में पड़ने पर भी उनमें सांसारिकता का स्पर्श नहीं होता ऐसा मनुष्य समस्त संसार को देखे हुए भी कुछ नहीं देखता। सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करता और सब वस्तुओं का उपयोग करता हुआ भी किसी वस्तु का उपयोग नहीं करता। वह एक जगह बैठा रहता है, तो भी सर्वत्र गमन करने वाले के समान होता है। अधिक क्या कहें वह समस्त विश्वरूप ही बन जाता है। (१०२)

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितंबुधाः ॥१९

जिस मनुष्य को कर्माचरण करने में खेद नहीं होता (अर्थात् कर्म करता ही रहता है) और कर्म फल की इच्छा उत्पन्न नहीं होती उसी प्रकार मैं अमुक काम को करूँगा अथवा अमुक आरम्भ किये काम को पूरा करना है ऐसा संकल्प जिसके मन को स्पर्श भी नहीं करता और ज्ञान रूपी अग्नि के मुख में अपने समस्त कर्मों को डालकर जिसने भस्म कर दिया है ऐसे पुरुष को मनुष्य रूप में प्रकट होने वाला परब्रह्म का अवतार ही समझना चाहिए। (१०५)

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०

जो शरीर के प्रति उदासीन रहता है और फल की प्राप्ति के विषय में निष्काम भावना रखता है, साथ ही जो निरन्तर आनन्द स्वरूप में निमग्न होता है, जो सन्तोष के घर में बैठा हुआ आत्म ज्ञान का पकवान खाते हुए कभी अघाता नहीं, उसे तुम सब प्रकार से मुक्त ही जानो। (१०७)

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥२१
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२

जो अहंकार सहित आशा का परित्याग करके अधिकाधिक प्रेम से ब्रह्म-सुख की मधुरता का स्वाद लेता हैं, जिस समय जो मिल जाता है उसी में सुख मान लेता है और जिसको 'यह मेरा है और यह दूसरे का" ऐसा भेद नहीं जान पड़ता, वह जो कुछ देखता है या सुनता है उन सबको अपना ही स्वरूप समझता है। वह पैरों से चलता, मुख से बोलता है और शरीर के सब प्रकार के कार्य करते हुए भी वह सर्व स्वरूप बन जाता है, ज्यादा क्या कहूँ जिसको जगत में आत्म स्वरूप के सिवाय और कुछ भी दिखाई नहीं देता, उसको किसी भी कर्म द्वारा कोई भी बाधा कैसे हो सकती है। मत्सर उत्पन्न करने लायक द्वैत-भाव जिसमें है ही

नहीं, उसको क्या वाणी से निर्मत्सर कहने की जरूरत है ? वह सब प्रकार से मुक्त है। वह सब कर्म करते हुए भी कर्म रहित है। वह सगुण दिखाई पड़ता है तो भी गुणातीत है इसमें कुछ भी संशय नहीं। (११४)

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३

वह देहधारी होने पर भी निर्गुण के समान दिखाई देता है ! उसे ब्रह्म की कसोटी पर चढ़ाने से वह उसी के समान शुद्ध मालूम होता है। यद्यपि वह मुक्त होता है, तो भी कभी-कभी कौतूहल के रूप में यथा विधि यज्ञादिक कर्मों का आचरण करता है। परन्तु उसके कर्म उसी में लय हो जाते हैं जिस प्रकार आकाश में असमय में इकट्ठा हो जाने वाले व्यर्थ बादल बिना जल बरसाये अपने आप विलय हो जाते हैं, उसी प्रकार यदि वह वेद विहित कर्म यथाविधि करने लगे तो भी कर्मों में द्वैतभाव न होने से कर्म उसी में लय हो जाते हैं। (११८)

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४

इस हवन का कर्ता हूँ मैं अथवा इस यज्ञ का भोक्ता अमुक है ऐसा भिन्न भाव उसकी बुद्धि में नहीं होता, इसलिए वह जो इष्ट-यज्ञ करता है उसकी हवन सामग्री और मन्त्र आदि सब को आत्म स्वरूप या बुद्धि स्वरूप ही समझता है। इसलिये हे अर्जुन ! जिसकी सम बुद्धि में— अन्तःकरण में यह बात समा गई है कि ब्रह्म ही कर्म है, वह चाहे कर्म करता रहे, पर उसकी निष्कर्मता बराबर बनी रहती है। ऐसा व्यक्ति मानो अविचार रूपी बाल्यावस्था से निकलकर युवावस्था में विरक्ति के साथ परिणय करता है और फिर जीव-ब्रह्म की एकता रूप उपासना ही आरम्भ करता है। (१२२)

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५

जो रात्रि दिवस यज्ञ करने वाले हैं, उन्होंने गुरुवाक्य रूपी अग्नि में मन सहित अज्ञान का हवन किया। हे अर्जुन ! जिसको आत्म-सुख की इच्छा हो उसी को यह योगाग्नि का हवन करना चाहिये और इसी को दैव-यज्ञ कहा जाता है। उसका भरण-पोषण प्रारब्ध के अनुसार होता है। जो शरीर के निर्वाह की चिन्ता नहीं करता उस को दैव-योग वाला महायोगी समझना। अब जो स्वकर्म द्वारा ईश्वराधीन हो जाते हैं, उनका वर्णन सुनो। (१२६)

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६

कुछ आत्म संयम रूप अग्नि में हवन करने वाले मनुष्य कायिक, वाचिक और मानसिक—इन तीन युक्ति मन्त्रों (मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध और जालन्धर बन्ध) द्वारा पवित्र इन्द्रिय रूपी सामग्री से हवन करते हैं। कुछ वैराग्य रूपी सूर्य के उदय होने पर संयम रूपी कुण्ड की रचना करते हैं। फिर उस कुण्ड से इन्द्रिय रूप अग्नि प्रकट होता है जिससे वैराग्य की ज्वाला निकलती हैं। उससे विषय विकार की लकड़ियाँ तेजी से जलने लगती हैं। तब ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय रूपी कुण्ड का आशा रूपी धुँआ तत्काल लुप्त हो जाता है। फिर इन्द्रिय रूपी अग्नि जिसमें प्रज्वलित हो रहा है उस कुण्ड में वेदान्त के विधि वाक्यों के अनुसार विषयों की अनेक आहुतियां देते हैं। (१३०)

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७

हे पार्थ ! इस प्रकार कोई तो समस्त दोषों को दूर करता है और कोई हृदय रूपी अरणी पर विवेक को मन्था (ऊपर का काष्ठ) बनाते हैं। उसे धैर्य रूपी भार से दाब कर शांति रूपी डोरी से बांधते हैं और गुरुवाक्य रूपी मन्त्र से मन्थन करते हैं। इस प्रकार सब वृत्तियों की एकता करने से तत्काल ज्ञानाग्नि प्रकट होता है। प्रथम ऋद्धि-

सिद्धि के मोह रूप धुँये का लोप होता है और फिर ज्ञानाग्नि की सूक्ष्म चिनगारी उत्पन्न होती है। तब यम-नियम द्वारा तैयार मन रूप कोयला से उस अग्नि को सुलगाया जाता है जब अग्नि अच्छी तरह जलने लगती है तो वासना रूपी लकड़ियों को ममता रूपी घी में डुबाकर उसमें भस्म कर दिया जाता है। फिर जीवात्मा रूपी दीक्षित (यज्ञकर्ता) सोहं मन्त्र से ज्ञानाग्नि में इन्द्रिय कर्मों की आहुति देकर प्राणकर्म रूप स्रुवा से पूर्णाहुति देता है। तब वह ऐक्य बोध रूप अवभृथ स्नान (यज्ञ के अन्त में किया जाने वाला स्नान) का लाभ करता है और संयमाग्नि में इन्द्रियादिक का हवन करके शेष बचे आत्म सुख को यज्ञ के पुरोडाश (प्रसाद) के रूप में स्वीकार करता है। इस प्रकार का यज्ञ करके कितने ही संसार से मुक्त हो चुके हैं। यज्ञ-क्रिया अनेक प्रकार की होती है, पर उसके द्वारा जो फल मिलता है वह एक ही प्रकार का होता है। (१४०)

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८

यह जो योग बतलाये गये उनमें से एक को 'द्रव्य-यज्ञ' कहते हैं, एक को 'तपो यज्ञ' कहा जाता है, तीसरा 'योग-यज्ञ' होता है। ये सब यज्ञ मैं तुझे पहले बतला चुका हूँ। कोई शब्द में शब्द का ही हवन करता है उसे 'वाग्यज्ञ' कहा जाता है। हे अर्जुन! ये सब यज्ञ महा विकट होने से उनका आचरण बड़ा कठिन होता है। पर जो इन्द्रियों को वश में कर लेता है उसके लिए वे सम्भव होते हैं। योग समृद्धि द्वारा सुसम्पन्न पुरुष इन यज्ञों को साध्य करने की कला में कुशल और पारंगत होते हैं, क्योंकि वे अपनी जीव बुद्धि का आत्म स्वरूप में हवन कर देते हैं। (१४४)

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९

कितने ही अभ्यास-योग द्वारा अपान वायु रूप अग्नि में प्राण

वायु रूपी सामग्री का हवन करते हैं और अपान वायु को प्राण वायु के साथ मिलाते हैं। कुछ लोग दोनों प्रकार की वायु का निरोध करते हैं। ऐसे लोगों को 'प्राणायामी-यज्ञ' करने वाला कहा जाता है। (१४६)

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ।।३०

कुछ साधक हठयोग की विधि से सब तरह के आहार को जीतकर प्राण वायु रूपी अग्नि में सत्वर प्राणों का हवन करते हैं। इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखने वाले सब मनुष्य ऊपर वर्णन किये गये यज्ञों के कर्त्ता होते हैं। वे अपने यज्ञ द्वारा काम क्रोधादिक विकारों को नष्ट करते हैं। इस प्रकार समस्त अज्ञान का नाश हो जाने पर स्वभावतः उनका शुद्ध स्वरूप ही शेष बच रहता है। फिर अग्नि तथा यज्ञ-कर्ता का द्वैत-भाव भी उनके मन में नहीं रहता। यज्ञ करने वाले की इच्छा के परिपूर्ण हो जाने पर यज्ञ क्रिया की भी समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार जहाँ समस्त कर्म और कर्तव्यों का निराकरण होकर चित्त में अज्ञान तथा कामनाओं का प्रवेश नहीं होता और द्वैत भाव रूपी दोष का भी संसर्ग नहीं होता वे ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाते हैं। (१५१)

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्तिब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ।।३१

ऐसा जो अनादि सिद्ध तथा शुद्ध यज्ञ के परिणाम स्वरूप शेष बचने वाला ज्ञान स्वरूप ब्रह्म है, उसका ब्रह्मनिष्ठ जन 'अहम् ब्रह्मास्मि' के मन्त्र से सेवन करते हैं। इस तरह यज्ञ से शेष बचा हुआ ज्ञान रूपी अमृत पीकर वे तृप्त हो और अमर बनते हैं तथा सहज ही ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेते हैं। जिनसे यह- यज्ञाचरण नहीं होता उनको विरक्ति वरमाला नहीं पहिनाती। जिनसे आत्म संयम नहीं हो सकता, जो जन्म लेकर योग-याग नहीं करते, हे अर्जुन ! उनका इसी लोक में कहीं

ठिकाना नहीं लगता, परलोक की बात तो उनके सम्बन्ध में करना ही व्यर्थ है। (१५५)

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।।३२

इस प्रकार के बहुत (बारह) प्रकार के यज्ञ तुमको बतलाये। वेदों में उनका बहुत सुन्दर और विस्तृत वर्णन किया गया है। पर उस वर्णन को सुनाने की हमको क्या आवश्यकता है? उस सबका सारांश यही है कि ये सब यज्ञ कर्म से ही उत्पन्न होते हैं। इस तथ्य को समझ लेने पर कर्म की बाधा नहीं हो सकती।' (१५७)

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञ: परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।।३३

हे अर्जुन! जिन यज्ञों का मूल वेद है उनमें बाह्य क्रियाओं की खटपट अधिक होती है और उनका अपूर्व फल स्वर्ग प्राप्ति होता है, उनको 'कर्म यज्ञ' कहा जाता है। यद्यपि वे सत्य हैं, परन्तु सूर्य के समक्ष जैसे तारागण का तेज लुप्त हो जाता है उसी प्रकार वे यज्ञ ज्ञान-यज्ञ की बराबरी नहीं कर सकते। आत्म-सुख का भंडार प्राप्त करने के लिए जिस ज्ञान का अंजन लगा कर योगीजन रात दिन जाग्रत रहते हैं, जो ज्ञान समस्त आरम्भ किये कर्मों का प्राप्य स्थान है, जो ज्ञान ब्रह्मनिष्ठा की खान है, जो आत्म प्राप्ति की भूख से क्षुधातुर साधकों की तृप्ति का ठिकाना है, जहाँ कर्म की इच्छा मिट जाती है और तर्क का लोप हो जाता है, जिसके सम्पर्क से इन्द्रियाँ विषय भोग को भूल जाती हैं, जहाँ मन का मनपना छूट जाता है, जहाँ शब्दों की गति रुक जाती है और जहाँ अन्तर में रहने वाले परब्रह्म का साक्षात्कार होता है, जहाँ वैराग्य की हीनता का नाश होता है, जहाँ विचार की उत्कण्ठा पूरी होती है और जहाँ अनायास ही आत्म ज्ञान की प्राप्ति होती है वही ज्ञान सर्व श्रेष्ठ है। (१६४)

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः ॥३४

यदि तुझको ऐसा उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा हो तो ब्रह्मज्ञ सम्पन्न सन्तों की सेवा कर, ज्ञानी सन्त-महात्मागण ज्ञान के घर होते हैं और सेवा धर्म की देहरी होता है, इसलिये हे अर्जुन ! तू सेवा करके इस ज्ञान को प्राप्त करले। शरीर, मन और प्राण से सब प्रकार गर्व रहित होकर उनकी सेवा करनी चाहिये। सेवा से प्रसन्न होने के पश्चात् उन साधुओं से अपने इच्छित प्रश्न पूछने पर वे उनका उत्तर देंगे। इस प्रकार उपदेश पाये हुए अन्तःकरण में फिर सांसारिकता की कल्पना भी नहीं आती। (१६८)

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५

जब उन सत्पुरुषों के उपदेश रूप प्रकाश से तेरा चित्त ब्रह्म के समान ही निःसंशय और निर्भय हो जायगा तब तू अपने को तथा समस्त प्राणियों को भी मेरे अखण्ड रूप में देखने लगेगा। हे पार्थ ! जब इस प्रकार सत्पुरुषों की कृपा होगी, तब तेरे अन्तःकरण में ज्ञान का प्रकाश व्याप्त हो जायगा और उससे मोह रूपी अन्धकार सर्वथा मिट जायगा। (१७१)

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६

यदि तू पापों का घर, भ्रांति का सागर अथवा भ्रम का पर्वत हो तो भी ज्ञान की शक्ति के आगे ये सब पदार्थ तुच्छ हैं। इस ज्ञान में इतनी श्रेष्ठ सामर्थ्य है कि परमात्म-ज्ञान का उदय होते ही 'यह जगत सत्य है' इस प्रकार का भ्रम नष्ट हो जाता है। उस ज्ञान के सम्मुख मनके अज्ञान की कौन गिनती ? इसलिये तेरे मन में जो शंका आई, वह यथार्थ और उचित नहीं है, क्योंकि ज्ञान की बराबरी कर सके ऐसी कोई और वस्तु संसार में नहीं हैं। (१७५)

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।।३७

त्रिलोकी में आग लगने पर आकाश में फैले हुए धुँए को जो वायु का तूफान क्षण-भर में दूर हटा देता है उसे एक बादल के हटाने में क्या लगता है ! अथवा पवन की सहायता से प्रज्वलित जो अग्नि पानी को भी जला देती है, ऐसी प्रलय काल की अग्नि क्या घास और लकड़ियों को नहीं जला पायेगी ?

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।।३८

अस्तु, इस प्रकार की घटना कभी नहीं हो सकती, इसलिये इस पर अधिक ऊहापोह करना निरर्थक है। हम ज्ञान के सम्बन्ध में ज्यों-ज्यों विचारते हैं, वैसे-वैसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उससे बढ़कर पवित्र वस्तु संसार में और कोई नहीं है। जिस प्रकार चैतन्य का अन्य कोई पर्याय नहीं है, उसी प्रकार संसार में एक अत्यंन्त उत्तम वस्तु होने से, ज्ञान की बराबरी कर सकें ऐसी दूसरी वस्तु कहाँ मिल सकती है ? जो सूर्य के तेज की बराबरी, उसके प्रतिबिम्ब का तेज कर सके, अथवा पृथ्वी के बराबर बोझ वाली और कोई चीज मिल सकना संभव हो, तभी हे पाण्डु कुमार ! ज्ञान की किसी अन्य वस्तु की उपमा दी जा सकती है। इसलिए बहुत तरह से बारम्बार विचार करने पर यही जान पड़ता है कि ज्ञान के बराबर पवित्रता केवल इसी में पाई जा सकती है, और किसी वस्तु में नहीं मिल सकती। जैसे अमृत के स्वाद के विषय में कोई पूछे तो यही कहना पड़ता है कि वह "अमृत जैसा है।" इसी प्रकार ज्ञान को ज्ञान की ही उपमा दी जा सकती है। अब यदि अर्जुन यह पूछे कि आप कहते हो वह बिल्कुल सत्य है, पर उस ज्ञान को किस प्रकार प्राप्त किया जाय ? तो भगवान कृष्ण पहले से ही इस बात को समझ कर कहने लगे—हे किरीटि !

ज्ञान प्राप्ति का जो उपाय है, यह अब मैं तुमको बतलाता हूँ, उसे तू ध्यान से सुनले। (१८६)

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानंलब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।३९

आत्म सुख की मधुरता का स्वाद लेने के पश्चात् जिसका मन सब विषयों से विरक्त हो जाता है और जिसमें इन्द्रियों का कुछ भी महत्व नहीं रहता, जो अपनी इच्छा अपने मन को भी जानने नहीं देता, प्रकृति की अधीनता के कारण शरीर द्वारा किये गये कर्मों को जो अपने शिर पर नहीं लेता जो ज्ञान-प्राप्त की श्रद्धा को प्राप्त करके सन्तुष्ट रहता है, उसी पुरुष को शांति से भरा ज्ञान ढूँढ़ता हुआ आता है और अपने आप उसे प्राप्त हो जाता है। यह ज्ञान मन में अच्छी तरह स्थिर हुआ नहीं कि शांति का अंकुर उगकर आत्मज्ञान का प्रकाश होने लगता है। इस प्रकार की शांति में अपने और पराये का तो विचार भी नहीं आता इस प्रकार ज्ञान की महिमा का जितना वर्णन किया जाय उतना ही कम है। (१९२)

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।।४०
योगसन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्त न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।।४१

जिस मनुष्य को ऐसे ज्ञान से प्रेम नहीं है, उसका जीवन किस काम का? ऐसे जीवन से तो मृत्यु ही कहीं अच्छी है। जैसे कोई उजाड़ घर अथवा प्राण रहित शरीर हो वैसे ही ज्ञान हीन मनुष्य का जीवन मोह युक्त होता है। सत्य ज्ञान प्राप्त न हुआ हो, तो भी जो उसे प्राप्त करने की इच्छा रखता है, उसे ज्ञान का प्राप्त होना कुछ सम्भव होता है। पर ज्ञान होने की बात तो दूर रही, जिसमें उसे प्राप्त करने की इच्छा भी नहीं होती, वह मनुष्य तो संशय रूपी अग्नि

में पड़ गया, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि जिसको अमृत के ऊपर अरुचि उत्पन्न हो जाय उसकी मृत्यु बिल्कुल निकट आ पहुँची है यही समझना चाहिए। उसी प्रकार जो विषय सुख में ही आनन्द मानता है और ज्ञान प्राप्ति के प्रति उपेक्षा का भाव रखता है, अथवा जो संशय ग्रस्त होता है, वह निःसन्देह भ्रष्ट होकर परलोक सुख से वंचित रहता है। जिसको सन्निपात ज्वर हो गया हो वह जिस प्रकार शीतलता और उष्णता का अन्तर नहीं समझ सकता और सूर्य तथा चन्द्रमा के प्रकार को एक ही तरह का देखता है, उसी प्रकार शंकाशील मनुष्य सत्य और असत्य, अनुकूल, और प्रतिकूल हित और अनहित आदि का भेद समझ नहीं सकता। जिस प्रकार जन्मान्ध व्यक्ति रात्रि और दिवस को नहीं समझता, उसी प्रकार संशयग्रस्त को किसी वस्तु की सच्ची पहचान नहीं होती हैं। इसलिये संशय के समान दूसरा कोई भी पाप नहीं है। यह प्राणियों का नाश करने वाला एक जाल है, इसलिए तू पहले उसकी संगति त्याग कर उस पर विजय प्राप्त कर। ज्ञान का अभाव होने से ही इसको स्थान मिलता है। जब अज्ञान का गहरा अन्धकार होता है, तब यह संशय मन में विशेष वृद्धि को प्राप्त होता है। वह श्रद्धा की कल्पना को भी मन में प्रविष्ट नहीं होने देता। वह केवल मन में ही स्थित रहे यह बात नहीं वरन् बुद्धि को भी जकड़ लेता है और ऐसा होने पर मनुष्य को तीनों लोक संशय युक्त दिखाई पड़ने लगते हैं। पर इतनी वृद्धि को प्राप्त हुए संशय को भी निरस्त कर लेने का एक उपाय है। यदि ज्ञान रूपी तलवार हमारे हाथ में हो तो उसका जड़मूल से नाश किया जा सकता है। फिर मन में उसका चिन्ह भी शेष नहीं रहता। (२०८)

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२

इसलिए हे पार्थ ! तू मन में रहने वाले संशय को निर्मूल करने को जल्दी तैयार हो। सञ्जय धृतराष्ट्र से कहता है कि हे महाराज !

ज्ञानियों में शिरोमणि, ज्ञानदीप भगवान् श्रीकृष्ण ! महाकृपा करके अर्जुन से इस प्रकार बोले। अब अर्जुन इस विषय में पूर्वा पर विचार करके समयोचित प्रश्न करेगा। अब उस कथा की उत्कृष्ट शैली, अभिप्राय की शोभा और रस की मधुरता का वर्णन सुनाया जायगा, जिसके शब्द माधुर्य पर आठों रसों को निछावर किया जा सकता है। जो सज्जनों की बुद्धि का विश्रान्ति स्थान है, जिसके शब्दों में से शान्त-रस का झरना प्रकट हो रहा है, और जो समुद्र से भी अधिक गम्भीर होने के साथ ही अर्थ पूर्ण है, उस कथा को अब श्रवण करो। जैसे सूर्य का गोला छोटा-सा दिखाई देता है, पर उसके प्रकाश के लिये तीनों भुवन भी पूरे नहीं पड़ते, उसी प्रकार इन शब्दों के अर्थ की व्याप्ति बहुत विस्तृत है। जिस प्रकार कल्पवृक्ष लोगों की कामना पूर्ण करता है, वैसे ही यह वाणी मुमुक्ष जनों की समस्त इच्छाओं को पूरा करने में समर्थ है, इसलिए इस पर ध्यान दो। हे श्रोतागण ! तुमसे इसके सिवाय विशेष क्या कहा जाय ? तुम सब जानते ही हो. इसलिए एकाग्र चित्त से उचित ध्यान देना, यही मेरी विनती है। जिस प्रकार कोई स्त्री सुन्दर, गुणवान और कुलशील से युक्त हो और साथ ही पतिव्रता भी हो, उसी प्रकार इस वाणी मे समस्त अलंकार और शांति स्पष्ट दिखाई पड़ती है। किसी व्यक्ति को खाँड बहुत पसन्द हो और उसी को दवा के रूप में दिया जाय, तो फिर उसे बारम्बार क्यों न खाया जाय ? मलयगिरी का सुगन्धित और मन्द पवन बह रहा हो, उसमें फिर अमृत का मीठापन मिल जाय और सौभाग्यवश उसमें से पंचम स्वर के समान मधुरनाद निकलने लगे, तो उस वायु के स्पर्श से जिस प्रकार समस्त अंग शीतल हो जाते हैं, उसकी मिष्टता से जिह्वा को सन्तोष होता है, और उसका मधुर स्वर सुनने से कानों की तृप्ति होती है, उसी प्रकार इस कथा को सुनने से श्रवणेन्द्रिय को परम सन्तोष होगा और सांसारिक दुःखों से कोई विकार न होकर वे अपने आप नष्ट हो जायेगे। जो मन्त्र से ही शत्रु का नाश हो जाय तो

फिर कमर से कटार क्यों बाँधनी ? इसी प्रकार जो दूध-खाँड से रोग का नाश होता हो तो फिर कड़वे नाम का सेवन क्यों करना ? उसी तरह मन को जीते बिना और इन्द्रियों को दुःख दिये बिना इस कथा के श्रणव में ही मोक्ष समाया हुआ है। इसलिये निवृत्तिदास ज्ञानदेव कहते हैं कि—'तुम्हारे मन में जितनी उत्कण्ठा हो उतनी उत्कण्ठा से इस गीतार्थ को श्रवण करो।" (२२४)

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदोपिकायां
चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

फिर अर्जुन भगवान् कृष्ण से कहने लगे—ओहो ! आप कैसी द्वि-अर्थी बात करते हैं ? जो आप एक ही बात कहो तो उसका अन्तःकरण से कुछ विचार भी किया जाय । समस्त कर्मों का त्याग करना, ऐसा आपने पहली बार कहा है, तो अब कर्म करने का आग्रह किस लिए करते हो ? हे अनन्त-स्वरूप ! आपका ऐसा द्विअर्थी कथन मेरे जैसे अज्ञानी मनुष्य से जैसा चाहिए वैसा नहीं समझा जा सकता । इसलिए हे देव ! अगर एक सिद्धान्त को समझाना है तो उसी मार्ग को बताना चाहिए, अन्य मार्ग की चर्चा करने की क्या आवश्यकता है ? मैंने आपसे पहिले ही विनती की थी कि परमार्थ का ज्ञान गूढ़ भाषा में मत देना । अब आप पुरानी बातों को जाने दें, अब इन दोनों में से उत्तम मार्ग कौन-सा है यह मुझे स्पष्ट समझाओ ? जो मार्ग अन्त तक साथ देने वाला हो, अचूक फल दे सके, ऐसा हो और आचरण की दृष्टि से सुलभ हो, वहीं मुझे बताइये । जिस प्रकार सुविधा-जनक और सुखदायक सवारी (पालकी आदि) में निद्रा का भंग न होने से बहुत-सा मार्ग सरलता से निकल जाता है, वैसा ही मार्ग आप मुझे बतलाइये । जब अर्जुन ने यह बात कही तो भगवान् बहुत प्रसन्न होकर बोले—'तू चाहता है वैसा ही मार्ग तुझे बताता हूँ, उसे सुन ।' ज्ञानेश्वर कहते हैं कि जिस सौभाग्यवान् व्यक्ति को कामधेनु जैसी माता मिल जाय तो वह चाहे खेलने के लिए चन्द्रमा को भी पा सकता है ।

उपमन्यु पर शंकरजी प्रसन्न हो गये तो उसे एक कटोरा खीर के बजाय पूरा क्षीर सागर ही दे दिया, उसी प्रकार अर्जुन को उदारता के भण्डार रूप भगवान् श्रीकृष्ण मिल गए तो वह क्यों न सुख के केन्द्र स्थान को प्राप्त कर ले ? अथवा जब उसका स्वामी लक्ष्मीकान्त हो वह अपनी मनमानी वस्तु पा जाय तो इसमें क्या आश्चर्य ? इसलिये अर्जुन ने जो कुछ माँगा, भगवान् कृष्ण ने प्रसन्नतापूर्वक उसे वही दिया, इसके सम्बन्ध में अब कहा जाता है । (१४)

श्री भगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२

भगवान् बोले—हे कुन्तीसुत ! कर्म-योग और कर्म—त्याग, ये दोनों मोक्ष देने वाले हैं । तो भी स्त्रियों और लड़कों को नदी पार करने के लिए नाव में सुविधा प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी सबके लिए संसार रूपी समुद्र को पार करने के लिए कर्मयोग वास्तवमें एक सुलभ साधन सिद्ध होता है । इस पर आचरण करने से कर्म योग और कर्म संन्यास ये दोनों एक ही हैं । (१५)

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३

जो बीती हुई बातों का स्मरण नहीं करता और अप्राप्त वस्तु की इच्छा नहीं करता, जो हृदय में मेरु पर्वत के समान स्थिर होता है, और हे पार्थ ! जिसके अन्तःकरण में 'मैं और मेरा' का विचार भी कभी नहीं उठता, वह नित्य संन्यासी है ऐसा समझ लो । जिसके मनकी वृत्ति इस प्रकार की हो जाती है, उसकी विषय सम्बन्धी इच्छायें भी लोप हो जाती हैं और तभी उसको आनन्द पूर्वक अखण्ड आत्म सुखकी प्राप्ति हो

जाती है । ऐसे मनुष्य को घर छोड़ने की कुछ जरूरत नहीं होती क्योंकि उनके मनमें यह भावना पूरी तरह रहती है कि इन सब वस्तुओं के साथ मेरा लेश मात्र भी सम्बन्ध नहीं है । अग्नि बुझ जाने पर जिस प्रकार उसकी राख धुनी हुई रुई में रखी जाती हैं. उसी प्रकार जिसकी बुद्धि में अहंता-ममता का विकार नहीं है, वह संसार में रहते हुए भी कर्म बन्धन में नहीं पड़ता । तात्पर्य यह कि जब मन से समस्त कल्पनाएँ लुप्त हो जाती हैं, तभी संन्यास सम्भव हो सकता है । इस प्रकार कर्म त्याग तथा कर्म योग दोनों एक ही हैं । (२५)

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४

हे पार्थ ! अज्ञानी मनुष्य ज्ञान-योग और कर्मयोग की व्यवस्था किस प्रकार समझ सकता है ? स्वाभाविक अज्ञान के कारण वे कहते हैं कि ये दोनों योग भिन्न हैं, पर क्या प्रकाश वास्तव में पृथक्-पृथक् होता है ? जिन्होंने सम्यक ज्ञान द्वारा अर्थात् अच्छी तरह अनुभव करके परब्रह्म के स्वरूप को समझ लिया है, वे इन दोनों योगों को एक ही मानते हैं । (२८)

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५

ज्ञान-योग द्वारा जो वस्तु प्राप्त होती है, वही कर्मयोग द्वारा भी मिलती है । इस प्रकार इन दोनों में स्वाभाविक एकता है । आकाश और पोलापन में जिस प्रकार भेद नहीं हैं, वैसे ही ज्ञान-योग और कर्म योग में भेद नहीं देखता वही इस जगत् में ज्ञान के प्रकाश को देखता है, उसी को ज्ञान प्राप्ति हुई और वही आत्म-स्वरूप को जानने वाला है । (३१)

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥६

हे पार्थ ! जो कर्मयोगी के मार्ग से मोक्षरूपी पर्वत पर चढ़ता है, वह शिखर पर बिना कष्ट सहे पहुँच जाता है। इसके विपरीत जो कर्म-योग पर आचरण नहीं करता, वह ज्ञान-प्राप्ति के लिए व्यर्थ में हाय तौबा करता है, पर उसे सच्चा संन्यास नहीं मिलता। (३३)

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।।७

जिसने अपना मन भ्रान्ति से पृथक् करके गुरु वाक्य से शुद्ध कर लिया वह आत्म स्वरूप में स्थिर हो जाता है। जब तक नमक समुद्र में नहीं पड़ता, तब तक पृथक् दिखाई पड़ता है, परन्तु समुद्र में पड़ने के साथ ही, वह समुद्र में मिल जाता है। उसी प्रकार संकल्प-विकल्प में से निकलकर जो मन ब्रह्म-स्वरूप में मिल गया वह चाहे अलग जान पड़ता हो, पर वास्तव में वह त्रिभुवन से व्याप्त होता है। फिर उनमें 'मैं कर्त्ता,' 'वह कर्म' तथा 'मुझे यह कार्य करना है' ऐसे विचारों का स्वाभवतः अभाव हो जाता है। ऐसा मनुष्य सब काम करने पर भी अकर्त्ता बना रहता है। (३७)

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ।८।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।९।

हे पार्थ ! इसका कारण यह है कि उसे 'मैं पन' (अहं) का अभिमान तो रहता ही नहीं। इस प्रकार शरीर का त्याग न करने पर भी उसको निराकार ब्रह्म के गुण प्राप्त हो जाते हैं। वैसे वह भी अन्य लोगों की तरह शरीरधारी होता है और सब तरह के लौकिक व्यवहार करता दिखाई पड़ता है। वह नेत्रों से देखता है,कानों से सुनता है,तो भी शरीर भाव में लिप्त नहीं होता। यह चमत्कार तो देख ! वह स्पर्श होने पर उसे अनुभव करता है, वह नाक द्वारा गन्ध ग्रहण करता है, समयोचित बातचीत भी करता है,वह भोजन करता है तथा त्याग करने वाली वस्तु

का त्याग भी करता है, नींद आने पर सुखपूर्वक सोता है, अपनी इच्छानुसार चलता है। इसी तरह जिस-जिस समय जिन कामों को करने की आवश्यकता होती है, वह सब करता है। उन कामों को एक-एक करके क्या गिनाऊँ? श्वासोच्छ्वास की क्रिया करनी, आँख बन्द करना और खोलना इत्यादि सभी क्रियाएँ उसमें दिखाई पड़ती हैं। परन्तु हे पार्थ ! वह सदैव कृतकृत्य आत्मा में अपनापन अनुभव कर लेने के कारण किस शुभाशुभ क्रिया में लिप्त नहीं होता। आत्मानुभव कर लेने के कारण किसी शुभाशुभ क्रिया में लिप्त नहीं होता। आत्मानुभव के प्रभाव से वह इन कर्मोंका कर्त्ता नहीं होता जब वह भ्रांति रूप शैय्या में सोता था तब स्वप्नावस्था के समान अपने व्यक्तित्व को भूला हुआ था, परन्तु अब उसे ब्रह्म-ज्ञान रूपी जागृति प्राप्त हो जाने से वह कर्त्ता नहीं रहा है,ऐसा मानने लगता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०

उसकी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त तो होती हैं,परन्तु जिस प्रकार दीपक के प्रकाश की सहायता से कितने ही कार्य किये जाते हैं, पर वे दीपक के लिए बन्धन कारक नहीं होते, अथवा जिस प्रकार कमल जल में रहता हुआ भी उससे भीगता नहीं, उसी प्रकार ज्ञानी सब कर्मों को करता हुआ भी कर्म बन्धनों से बँधता नहीं। (५०)

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।११।

जिस कर्म में बुद्धि का चिह्न भी दिखाई न पड़ता हो और जिस काम में मन का अंकुर भी उत्पन्न न होता ऐसा कार्य केवल 'देह–व्यापार' होता है। इस बात को और खुलासा करके समझाता हूँ कि जिस प्रकार छोटे शिशु के व्यवहार मन अथवा बुद्धि के बिना स्वभावतः होते हैं उसी प्रकार योगियों के कार्य भी होते हैं। इसी प्रकार पञ्च तत्वों का बना यह शरीर निद्रा ग्रस्त होता है, तब केवल

मन ही स्वप्न-व्यापार करता है। हे अर्जुन ! फिर एक अन्य चमत्कार देख कि वासना की शक्ति इतनी अधिक है कि वह शरीर को मालुम भी न होने देकर सुख-दुःख का भोग कराती है। इसी प्रकार इन्द्रियों के बिना जाने हुए जो कार्य होता है वह केवल मन का ही होता है। योगी लोग इस मनो व्यापार को भी करते हैं, पर वे उस कर्म से बँधते नहीं, क्योंकि उन्होंने अहंकार को त्यागा होता है। जब किसी मनुष्य का मन अव्यवस्थित हो जाता है अथवा किसी को 'भूत' लग जाता है तब उस की सब इन्द्रियों का व्यवहार अव्यवस्थित होता है। उसके साथ मन बुद्धि का सम्बन्ध होने से, जब भ्रमका नाश होता है, तब उन बातों की याद भी नहीं रहती। वह सामने वाले मनुष्य को देख सकता है, कोई बुलावे तो उसे सुन सकता है तथा बोल सकता है, परन्तु इन बातों में ज्ञान का तो अभाव होता ही है (उस व्यक्ति का चित्त अपनी जगह नहीं होता है।) ऐसे जितने कर्म अकारण होते हैं, उनको केवल इन्द्रियों के ही व्यापार समझो। (५९)

जो कर्म ज्ञानपूर्वक किये जाते है, वे सब बुद्धि के कर्म हैं ऐसा समझो। योगीजन अकर्तापन की बुद्धि को सामने रखकर कर्म का आचरण करते हैं, इससे वे मुक्त होते हैं। बुद्धि से लेकर देह पर्यन्त उनकी बुद्धि में अहंकारकी स्मृति भी नहीं रहती, इसलिए वे कर्म करते हुए भी शुद्ध होते हैं। "मैं कर्म करने वाला हूँ" इस भावना को त्याग कर जो कर्म किया जाता है वही निष्कर्म है, इस गुरु द्वारा प्राप्त तत्व को वे जानते हैं। जो शब्दों द्वारा प्रतिपादित नहीं हो सकता, वह तत्व मैंने तुमको बतलाया। उससे शान्त रस इतना अधिक बढ़ गया। इस शान्त रस को सुनने का अधिकारी कौन है? इसका अधिकारी वही वैराग्य युक्त पुरुष है जिसकी विनाशशील विषय सुख के प्रति आसक्ति रूपी दरिद्रता नष्ट हो चुकी है। (फिर श्रोतागण ज्ञानेश्वर से कहते हैं) "अरे इस

विषय को तो पूरा करो, कथा की शृंखला को तोड़ मत डालो। जिसे मन से समझना कठिन है और प्रयत्न करने पर भी जो बुद्धि को प्राप्त नहीं होता, वह तत्व दैव की अनुकूलता से तुमने हमको सुना दिया। जिसको जिह्वा से कहा नहीं जा सकता, वह सुनने योग्य शब्दों द्वारा प्रकट कर दिया, तो अब इससे अधिक क्या चाहिए ? पर अब इस बात को समाप्त करके आगे की कथा सुनाओ।" श्रोताओं की ऐसी उत्कट इच्छा देखकर निवृत्तिदास ज्ञानेश्वर बोले—"जिन दो जनों का सम्वाद तुमने इतनी देर तक सुना उस पर मनन करके पुनः उसी को सुनो।" फिर भगवान् कृष्ण पार्थसे बोले—"पूर्ण ब्रह्म-निष्ठा के चिह्न कैसे होते हैं वह मैं बतलाता हूँ ध्यान देकर सुनो।" (७०)

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२

जो आत्म-ज्ञान से परिपूर्ण होता है और कर्म से जिसकी आसक्ति दूर हो जाती हैं, उसीं को शान्ति वर-माला पहनाती है। हे अर्जुन ! अन्य व्यक्ति जो संसारी होते हैं, वे कर्म-बन्धन में पड़कर फलासक्ति रूपी गाँठ देकर फलोपभोग के खूँटे पर मजबूती से बाँध दिए जाते हैं। (७२)

सर्वकर्माणि मनसा सन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३

जो पुरुष कर्म फल की इच्छा रखने वाले की ही तरह सब कर्म करता है, परन्तु "इन कर्मों का कर्त्ता मैं नहीं हूँ", यह मानकर फल की इच्छा का त्याग कर देता है, उस पुरुष की योग्यता का वर्णन क्या किया जाय ? वह मनुष्य जहाँ-जहाँ दृष्टि डालता है वहाँ-वहाँ सृष्टि सुखमय बन जाती है और वह जो कुछ कहता है वही ज्ञान-कथा बन जाती है। केवल फल की इच्छा का त्याग कर देने से नव द्वार युक्त देह में रहते हुए भी वह उसमें न रहने के समान होता है। इसलिए

वह सब काम करता रहता है, पर वे न करने के समान ही होते हैं ।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४

ईश्वर भी वास्तव में अकर्त्ता है, पर जब उसमें माया का आरोप कर दिया जाता है, तो वह कर्त्ता माना जाने लगता है । परन्तु ऐसा कहने पर भी वह किसी कर्म में लिप्त नहीं होता, क्योंकि उसकी वृत्ति उदासीन होने से कर्म उसका स्पर्श नहीं कर सकते । उसकी योग-निद्रा में बिना किसी प्रकार का विघ्न पड़े और उसके अकर्तापन में जरा भी कमी आये विना, वह महाभूतों का प्रचण्ड समुदाय उत्पन्न कर देता है । प्राणी मात्र में रहता हुआ भी वह किसी का नहीं होता और यह जगत् उत्पन्न होता है तथा फिर लय को प्राप्त हो जाता है, इसका उसे ख्याल भी नहीं आता ।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।१५।

पाप और पुण्य सब उसके पास होते हुए भी वह किसी को नहीं देखता । इतना ही नहीं वरन् वह पाप और पुण्य का साक्षी भी नहीं होता । ऐसी दशा में अन्य विषयों के सम्बन्ध में प्रश्न करने की गुंजा-यश ही कहाँ से हो सकती है ? यद्यपि वह आकार ग्रहण करके देह के साथ खेल करता है । (अर्थात् अवतार धारण करके संसार में विचरण करता है) तो भी उसका निराकारपन खण्डित नहीं होता । वह उत्पत्ति, पालन और संहार करता है,ऐसी बात जो कहते हैं उसका कारण उनका अज्ञान ही होता है । (८२)

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६

जब उस अज्ञान का सम्पूर्ण लोप हो जाता है, तभी भ्रांति रूपी अन्धकार भी दूर होता है । ऐसा होने से ईश्वर का अकर्तापन स्पष्टता से

विदित हो जाता है। जब मन में यह निश्चय हो जाता है और "मैं भी ईश्वर हूं, यह भावना पहिले से ही मौजूद होती है, तब यह समझते देर नहीं लगती कि 'मैं भी स्वभाव से और मूल से ही कर्त्ता हूं।' इसप्रकार चित्त में जब विवेक का प्रकाश होता हैं तब उनसे तीनों लोकों में भेद-भाव की कोई बात दिखाई ही नहीं देती और वह स्वानुभव द्वारा समस्त जगत् को मुक्त ही समझता है। पूर्व दिशा से सूर्योदय होने पर अन्य दिशाओं में भी अन्धकार मिट जाता है, वैसे ही चित्त में विवेक का उदय होने पर ज्ञानी के हृदय का अन्धकार ज्ञान के प्रकाश से सब स्थानों से नष्ट हो जाता है। (८६)

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७

आत्म-ज्ञान में जिनकी बुद्धि स्थिर हो चुकी है और जो अपने को ब्रह्म-स्वरूप ही मानते हैं वे ही रात-दिन ब्रह्म परायण रहकर अपनी ब्रह्म-स्थिति को पूर्ण रूप से स्थिर रखते हैं। जिनका अन्तःकरण इस प्रकार के सर्व व्यापक ज्ञान से भर जाता है, उन्हीं को समदृष्टि कहा जाता है। इस विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, पर जिस प्रकार दैव में विनोद के भाव से भी भ्रांति ग्रस्त होने की सम्भावना नहीं होती, जैसे सूर्य को भूलकर भी अन्धकार नहीं देख सकता, जैसे अमृत कभी मृत्यु की चर्चा नहीं सुनता, जैसे चन्द्रमा उष्णता को जानता तक नहीं, उसी प्रकार ज्ञानीजनों को प्राणीमात्र में तनिक भी भेद दिखाई नहीं देता। (९२)

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८

इसके पश्चात् (अर्थात् ऊपर के श्लोक में कही गई स्थिति प्राप्त

हो जाने पर) यह मच्छर है और यह गजराज है, यह ब्राह्मण है और यह अन्त्यज है, इसी प्रकार यह मेरा पुत्र है और यह दूसरे का पुत्र है, ऐसा भेद-भाव उसमें कैसे रह सकता है अथवा यह गाय है और यह कुत्ता, यह महान है और यह लघुहै ऐसा द्वैत-भाव अद्वैत ज्ञान से प्रवुद्ध व्यक्ति में कहां ठहर सकता है ? जहां शरीर में अहम् शेष रहता है वहीं भेद-भाव दिखाई देता है, परन्तु जहां भेद-भाव पूर्णतया नष्ट हो गया हो वहां भिन्नत्व की भावना कैसे रह सकती है ? (६५)

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९

जिसकी दृष्टि सर्वत्र समान है, वह स्वयं ही अद्वितीय ब्रह्म है और यही समदृष्टि का पूर्ण रहस्य है। जिसने विषयों का त्याग नहीं किया है और इन्द्रियों का शमन भी नहीं किया है, पर वासना रहित होकर अकर्तापन का अनुभव कर लिया है, जिसने समस्त सांसारिक व्यवहार करते हुये लौकिक अज्ञान का परित्याग कर दिया है, जो भूत की तरह सब लोगों में रहता और शरीरधारी होता हुआ भी किसी की जानकारी में नहीं आता, और जैसे पवन पानी मेंसे ही पानी को उछालती है पर लोग उसे पानी से भिन्न 'तरंग या लहर' के नाम से जानते हैं, उसी तरह जिसका मन सर्वत्र सम-भाव को प्राप्त हो गया है, उसके शरीर और नाम चाहे अन्य लोगों के समान ही हों पर वह साक्षात् ब्रह्म ही है। उसका मन सब स्थानोंमें समता युक्त बना रहता है। भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! जिस मनुष्य की ऐसी समदृष्टि हो गई हो, उसके लक्षण संक्षेप में कहता हूँ, उनको ध्यान से सुनो। (१२०)

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०

जिस प्रकार मृग-जल से पर्वत नहीं वह सकता, उसी प्रकार प्रिय अथवा अप्रिय वस्तु की प्राप्ति होने से जिसमें विकार उत्पन्न नहीं होता

वह वास्तविक समदृष्टि वाला है । भगवान् कहते हैं–हे अर्जुन ! ऐसा समदृष्टि के तत्व को जानने वाला स्वयं ही ब्रह्म-स्वरूप होता है ।' (१०४)

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ।।२१

जो आत्म-स्वरूप को त्याग कर कभी इन्द्रियों के अधीन नहीं होता, वह यदि विषयों का सेवन न करे तो इसमें क्या आश्चर्य है ? आत्म-सुख को पूर्णता के प्रभाव से उनका अन्तःकरण स्वभावतः सन्तुष्ट रहने लगता है, इसलिए बाहर कदम रखता ही नहीं । जिस चकोर पक्षी ने चन्द्रमा द्वारा विकसित कमल पत्रपर उत्तम चन्द्रमाकी किरणों का भोजन किया है,वह क्या बालूको खायेगा ? आत्म-सुख की उत्पत्ति होकर जिसे आत्म स्वरूप की स्वयंमेव प्राप्ति हो चुकी है वह यदि विषयों का स्वभावतः त्याग करदें तो उसमें विशेषता की क्या बात है ? अब विषय सुख में कौन फँस जाता है, इसका भी कुछ वर्णन सुन लो । (१०६)

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।।२२

जिस प्रकार दरिद्र मनुष्य भूख से व्याकुल होकर अनाज के छिलके को भी खाता है, उसी प्रकार जिसने आत्म-स्वरूप का अनुभव प्राप्त नहीं किया है वही इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वाले सुख में आसक्त होता है । अथवा जिस प्रकार प्यासे हिरन भ्रम में पड़कर वास्तविक पानी को भूलकर मृग-मरीचिका को ही जल समझकर उसकी तरफ दौड़े चले जाते हैं, उसी प्रकार जिसने आत्म-सुख का अनुभव प्राप्त नहीं किया उसी को विषय-सुख अच्छा लगता है । विषयों में सुख कुछ भी नहीं है, पर क्षण भर के लिये मान लें कि विषयों में सुख मिलता है, तो फिर बिजली चमकने से जो प्रकाश होता है उससे

दुनिया का काम-काज क्यों नहीं किया जाता ? अगर आँधी, वर्षा और गर्मी का निवारण बादलों की छाया से ही हो जाय, तो फिर तीन मंजिल के मकान बनाने की क्या आवश्यकता ? इसलिए जिस प्रकार बछनाद (मीठा तेलिया) को मीठा समझना अज्ञान सूचक है उसी प्रकार विषयों में सुख है, इस कथन को झूँठी बकवाद ही मानना चाहिए और भौमग्रह का नाम 'मंगल' कहने पर भी वह मङ्गल कारक नहीं हैं या "मृग-जल" को जल कहने पर भी वह वास्तविक जल नहीं होता उसी प्रकार विषय भोग में सुख है यह कहना व्यर्थ है। नाग के फल की छाया चूहे के लिए किस प्रकार सुखदायक हो सकती है ? हे अर्जुन ! काँटे के साथ लगे हुए माँस में मछली जब तक मुँह नहीं लगाती तभी तक ठीक है। इसी प्रकार जब तक विषयों का अनुभव न किया जाय तभी तक कुशल समझनी चाहिए। हे किरीटी ! अगर विरक्त की दृष्टि से विषय-सुख पर विचार किया जाय, तो वह पाण्डु रोग से उत्पन्न मुटाई के समान ही व्यर्थ है। इसलिए विषयोपभोग में जिसे सुख कहा जाता है, वह आदि से लेकर अन्त तक दुःख, दुःख और दुःख ही है यह तू अच्छी तरह समझ ले। (११९)

बिचारे मूर्ख लोगों को उनका सेवन करने के सिवाय और कोई रास्ता दिखाई ही नहीं देता वे विषय सुख को न जानने के कारण उनके भोगने में फँस जाते हैं। पीव में रहने वाले कीड़ा को भी कभी पीव से घृणा हो सकती हैं ? वैसीं ही हालत इनकी भी समझ लेनी चाहिए। इन दुखियों को दुःख ही अच्छा लगता है, क्योंकि वे विषय रूपी कीचड़ के मेंढक अथवा विषयोपभोग रूपी मछली की तरह सुख का त्यागकर सकने में असमर्थ होते हैं। यदि सब कोई विषयों से विरक्त हो जायें तो फिर जितनी भी दुःख-योनियाँ हैं, वे क्या निरर्थक न हो जायेंगी ? उसी प्रकार गर्भवास के संकट और जन्म-मरण के कष्ट से भरे मार्ग पर कौन चलेगा ? अगर बिषयासक्त पुरुष विषयों को त्याग दें तो फिर महापातक कहाँ रहेंगे ? और फिर ऐसा होने से तो 'संसार' शब्द ही

असत्य हो जायगा ? इसलिए जो विषय-भोग से उत्पन्न होने वाले दुःखों को ही सुख मानते हैं, वे लोगों को यही समझाते हैं कि यह अज्ञान ही 'सत्य मार्ग' है । इसलिए हे अर्जुन ! अच्छी तरह से विचार करने पर यही मालूम होता है कि विषय सुख अनिष्ट का मूल है ! इसलिए तू भूल कर भी इस मार्ग पर न जाना । विरक्त पुरुष विषय-सुख को विष के समान समझकर दूर से ही उसका त्याग कर देते हैं । वे स्वभाव से निःस्पृह होते हैं, इसलिए विषयों के सुख रूपी दुःख उनको प्रिय नहीं जान पड़ते । (१२८)

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ।२३।

आत्मज्ञानी के सम्बन्ध में विचार करने पर तो इन विषयों का कोई प्रसङ्ग उठता ही नहीं । क्योंकि देहधारी होने पर भी वे अपनी इन्द्रियों को वशीभूत रखते हैं । जिनके अन्दर आत्मसुख की स्थिति हो चुकी है वे तो इन विषयों को नाम-मात्र के लिए भी नहीं जानते । परन्तु इस आत्मसुख का उपयोग करने की उनकी प्रणाली अलग ही होती है । जैसे कोई पक्षी जब फल में चोंच मारता है तो वहाँ भोक्ता, भोग्य वस्तु और भोग यह त्रिपुटी आत्म सुख से उपभोग में नहीं होती । आत्म-सुख प्राप्त करने वाले ज्ञानी तो भोगने की बात को ही भूल जाते हैं । आत्म-सुख का उपयोग करने की जो एक प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती है वह अहंकार का नाश करती है और फिर दृढ़ता से सुख का आलिङ्गन करती है (स्वयं ही सुख का रूप बन जाती है) । उस आलिङ्गन के उल्लास में अपने आप ही एकरूपता हो जाती है । जिस प्रकार पानी में पानी मिल जाने से उसमें भिन्नता नहीं जान पड़ती अथवा आकाश से वायु के लोप हो जाने पर फिर आकाश और वायु इस भेद का भी लोप हो जाता है । उसी प्रकार आत्म-सुख का अनुभव लेने वाले की वृत्ति और आत्मा एक रूप होकर उसमें केवल सुखही रह जाता है । तब इस एकत्व को जानने वाला साक्षी क्यों और कोई हो सकता है । (१३०)

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।।२४
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ।।२५

इस कारण इन सब बातों को रहने ही दो, क्योंकि इस सम्बन्ध में बोलना न आता हो तो चाहे जैसी बात कह डालने से क्या फायदा ? जो स्वयं आत्म-स्वरूप बन चुका होगा वह सहज में ही उसके लक्षण जान लेगा । आत्म-सुख से जो परिपूर्ण हो गये हैं, अपने स्वरूप में निमग्न हो रहे हैं, वे मेरे (भगवान् के) स्वरूप को पा चुके हैं और ब्रह्मानन्द के साक्षात् अवतार ही हैं, ऐसी मेरी मान्यता है । वे आनन्द के अंकुर अथवा आत्म-बोध के विश्राम-स्थल ही हैं । वे विचारों में निवास स्थान और परब्रह्म का ठिकाना ही हैं । इतना ही नहीं, वे ब्रह्म विद्या के अलंकार स्वरूप हैं । वे सत्व के भी सत्व है और चैतन्य स्वरूप है ।

ज्ञानदेव महाराज ऐसे पुरुषों का वर्णन करने के लिए पूर्ण उत्साह में थे कि इतने में गुरु निवृत्तिनाथ बोले कि–'अब इस बात को रहने दे, ऐसे पुरुषों का तू कहाँ तक वर्णन करेगा । तू जब साधु पुरुषों की स्तुति करने लगता है, तब तुझको मुख्य कथा का स्मरण नहीं रहता और अन्य प्रसङ्गों की चर्चा करने लग जाता है, परन्तु अब इस वर्णन को रहने दे और गीतार्थ रूपी दीपक को प्रकाशित करके साधुजनों के हृदय मन्दिर में मङ्गलकारी ज्ञान का प्रकाश कर ।' इस प्रकार गुरु निवृत्तिनाथ का संकेत पाकर ज्ञानदेव बोले–श्री कृष्ण जी ने क्या कहा अब उसी का वर्णन सुनो–हे अर्जुन ! जिन्होंने आत्म-सुख के जलाशय में तले तक डुबकी मारी है वे स्थिरतापूर्वक आत्म-स्वरूप बने हैं । अथवा जो आत्मा के निर्मल प्रकाश द्वारा अपने में ही विश्व को देखते हैं, वे देहधारी होने पर भी परब्रह्म हैं । जो विषयों की इच्छा से रहित होते हैं, वे ही वास्तविक अत्युत्तम, अविनाशी और असीम ब्रह्म सुख के अधि-

कारी होते हैं। यह सुख महर्षियों के लिये ही विशेष रूप से रखा गया है। विरक्त के भाग्य में ही वह सुख आता है और संशय रहित जीवों के लिए वह सदैव परिपक्व रहता है। (१४७)

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६

जिन्होंने अपने मन को विषयों से पीछे लौटाकर जीत लिया है वे जहाँ सो जाते हैं वहाँ से निश्चय ही फिर जाग्रत नहीं होते (अर्थात् वे ब्रह्माकार होने के पश्चात् फिर देह ज्ञान में नहीं आते। हे पाण्डुपुत्र ! वे ही पुरुष आत्म-ज्ञानियों के लिए कारण रूप ध्येय-कैवल्य परब्रह्म ही है। वे ऐसे किस प्रकार बन गये और देह में रहने पर भी ब्रह्मतत्व किस प्रकार प्राप्त कर सके, ऐसा प्रश्न तू कदाचित करने लगे, तो उस सम्बन्ध में मैं संक्षेप में जो बतलाता हूँ वह सुन ले। (१५०)

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणपानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८

वैराग्य की सहायता से विषयों को बाहर निकालकर जो अपना मन एकनिष्ठ करते हैं, इड़ा-पिंगला को छोड़कर सुषुम्नामें प्राण लाकर ललाट चक्रमें स्वरूप की ओर दृष्टि करके उसे स्थिर करतेहैं। दाँये-बाँये नासिका छिद्रों में श्वास-प्रश्वास को बन्द करके प्राण और अपान वायुको इकट्ठा करके चित्त को चिदाकाश में ले जाते हैं। फिर गंगा जिस प्रकार मार्गके अच्छे-बुरे सब प्रकार के जलको खींच ले जाती है और समुद्र तक पहुँचा देती हैं, जहाँ उस पानी को अलग नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार हे अर्जुन ! जब चिदाकाश में प्राण के निरोध से मनका लय होता है,तब वासना का विचार तक अपने आप लुप्त हो जाता है। फिर मनरूपी तट (वस्त्र)पर खींचा हुआ संसाररूपी चित्र अपनेआप फट जाताहै जिसप्रकार

सरोवर का जल सूख जाने पर फिर उसमें प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं पड़ता उसी प्रकार जहाँ अन्तःकरण का ही लोप हो जाताहै वहाँ अहङ्कार आदि ठहर ही कैसे सकते हैं ? इस प्रकार आष्म-स्वरूप का अनुभव कर लेने वाले शरीर सहित ब्रह्म ही हो जाते हैं। (१५१)

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।२९।

कितने ही व्यक्ति अपनी जीवित अवस्था में ही ब्रह्म बन गये, यह मैंने तुमको पहले बताया था। वे योग मार्ग पर चलते रहकर ही इस पद को प्राप्त हुए। ऐसे मनुष्य यम-नियम रूपी योग मार्ग के पर्वत को लांघ जाते हैं और योगाभ्यास रूपी सागर को तैर जाते हैं (ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेते हैं) ऐसे लोग ही अपनी आत्मा को उपाधि रहित करके प्रपंच के वास्तविक रूप को समझकर स्वयं सत्य ब्रह्म-स्वरूप बन गयेहैं। जब भगवान् कृष्ण ने इस प्रकार योग-युक्ति का आशय समझाया, तब अर्जुन को मार्मिक ज्ञाता होनेके कारण बड़ा चमत्कार जान पड़ने लगा। अर्जुन की ऐसी स्थिति देखकर और उसके मन के उद्देश्य को जानकर श्रीकृष्ण हास्ययुक्त मुख मुद्रासे अर्जुन से कहने लगे-मैंने तुझको जो कुछ कहा है उससे तेरा चित्त प्रसन्न हुआ या नहीं ? जब अर्जुन बोला–हे देव ! सामने वालों के मन के भावों को समझ लेने वालों में आप शिरोमणि हो, इसलिए आपने मेरे मन का विचार अच्छी तरह समझ लिया है। हे देव ! मैं विचार पूर्वक आपसे जो पूछने वाला था उसे आप पहले ही जान चुके हैं। इसलिए आप जो कुछ कहो वह विशेष स्पष्ट रूपमें कहना। योग-शास्त्रका जो मार्ग आपने बतलाया है,वह गहरे पानी में तैरकर जाने की अपेक्षा छिछले पानी में चलने की तरह विशेष सुलभ है। इसी प्रकार ज्ञान-योग की अपेक्षा अष्टांग-योग हमारे जैसे निर्बलोंके लिए अधिक सुगमहै। वहयोग अधिक समयमें सिद्धहो सके तो ठीकही है। हे देव! उस योगका वर्णन एकबार फिर कर दीजिये। इससे

कुछ विस्तार तो अवश्य बढ़ जायगा तो भी आप इस योग को आदि से अन्त तक सुना दें ।

श्रीकृष्ण ने कहा—'तुझको यह योग अच्छा लगता हो तो उसके करने में मुझे क्या लगता है ? अर्जुन ! तू जो कुछ सुनता है, उसी प्रकार आचरण करता है इसलिए मैं बतलाने में न्यूनता क्यों रखने लगा ?' (ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं)—–प्रथम तो माता का दयालु चित्त और वह भी अपने बालक के लिए ही करना हो, तो फिर उस स्नेह के अद्भुत स्वरूप का वर्णन कैसे किया जा सकता है ? उस स्नेह को करुणा रस की दृष्टि, अथवा अपूर्व स्नेह की सृष्टि कहें तो भी ठीक ही है। भगवान की कृपादृष्टि का वर्णन करने में कौन समर्थ है ? वह दृष्टि अमृत रस पीकर परिपूर्ण हुई अथवा प्रेमरस पीकर उन्मत्त हो गई, इसे कौन समझ सकता है ? वह अर्जुन के प्रेमपाश में ऐसी फँस गई कि फिर उसमें बाहर निकल सकने की शक्ति ही नहीं रही। इस सम्बन्ध में मैं विस्तार पूर्वक जो कुछ कहूँ वह विषयान्तर समझा जायगा और फिर भी श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच जो स्नेह सम्बन्ध है उसका पूरा वर्णन शब्दों द्वारा न हो सकेगा। वे अर्जुन पर अत्यन्त मोहित होकर कहते हैं 'हे अर्जुन ! जिस प्रकार तेरे मन को बोध प्राप्त हो उसी प्रकार सहज तरीके से मैं तुझे योग मार्ग समझाऊँ। योग के नाम कौन-कौन हैं, उनका क्या-क्या उपयोग है, और उनका आचरण करने का कौन-कौन अधिकारी है, ऐसे जितने विषय आवश्यक होंगे, वे सब मैं तुझे कह सुनाता हूँ। ऐसा कहने के पश्चात, श्री हरि ने जो कुछ बतलाया उसका वर्णन अगले अध्याय में है। निवृत्तिदास के शिष्य ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि सांसारिकता का ध्यान रखते हुए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो योग बतलाया उसका वर्णन अब मैं स्पष्ट रूप से करता हूँ। (१८०)

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां

पंचमऽध्यायः ।।५।।

॥ अथ षष्ठोऽध्याय: ॥

फिर संजय धृतराष्ट्र से कहने लगा—राजन् ! अब योग के सम्बन्ध में भगवान् जो उपदेश देते हैं उसे सुनो। नारायण ने अर्जुन को ब्रह्मरस की जो पारणा करायी, उस समय हम भी अतिथि के रूप में वहाँ पहुँच गये। इस सौभाग्य का महत्व किस प्रकार वर्णन किया जा सकता है? जिस प्रकार प्यासा मनुष्य जल से भरे पात्र को ओठों से लगावे और मुँह में लेते ही उसे अमृत के समान बतलावे, ऐसी ही स्थिति आज हमारी हो गई और हम दोनों को आज सहज ही में यह परमात्म—तत्व प्राप्त हो गया। परन्तु धृतराष्ट्र ने कहा—'मैंने तुझसे ब्रह्म-रस के लिए तो पूछा नहीं था।' इससे संजय समझ गया कि धृतराष्ट्र का मन तो केवल अपने पुत्रों का समाचार जानने के लिये उत्कंण्ठित है। इससे विस्मित होकर वह मन में कहने लगा 'अरे ! मैंने अब तक कृष्ण-अर्जुन का जो अपूर्व सम्वाद सुना उसकी मधुरता इसको किस प्रकार पसन्द आ सकती है? जो जन्म से ही अन्धा है, वह उसके सौन्दर्य को किस प्रकार जान सकता है? पर जो यह बात इसे स्पष्ट कह दी जाय तो इसके हृदय में क्रोध पैदा हो जायगा।'' ऐसा विचार कर संजय ने अपनी सम्मति स्पष्ट प्रकट नहीं की, पर अपने मन में वह श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद से बहुत सन्तुष्ट हुआ। इस आनन्द से तृप्त और प्रफुल्लित अन्तःकरण होकर मर्यादापूर्वक अपना कथन धृतराष्ट्र को सुनायेगा। (७)

क्षीर सागर का मन्थन करते समय जिस प्रकार अमृत की प्राप्ति हुई थी, उसी प्रकार गीता का छठा अध्याय अति श्रेष्ठ है और

बुद्धि के विकास के लिये ज्ञान के योग्य है। यह अध्याय गीता का सार रूप है, आत्मा तथा अनात्मा के विवेक रूपी समुद्र के उस पार का किनारा है। अथवा मानो बहुमूल्य सम्पत्ति का भण्डार ही खुल गया हो ऐसा लगता है। जो आदि माया का विश्राम स्थल है, जिसके सम्बन्ध में वेदों को भी मौन धारण करना पड़ता है और जिसकी सहायता से गीता रूपी बेल में अंकुर निकले हैं, वह छठा अध्याय समस्त अलंकार आदि सामग्री से भरपूर है। इस अध्याय का जो वर्णन मैं करता हूँ उसे मन लगा कर सुनो, यह प्रार्थना ज्ञानेश्वर महाराज सन्तों से करते हैं। मेरी भाषा पूर्णत: प्राकृत (लोक भाषा) है पर मैं ऐसे मीठे शब्दों का प्रयोग करूँगा कि जो अमृत की मधुरता को भी भुला देंगे। इन शब्दों की मृदुता के आगे सप्त स्वरों से उत्पन्न होने वाला आनन्द भी न्यून लगेगा अथवा उनके छन्दों के आगे सुगन्ध भी नीरस और हतवीर्य हो जायगी। इनके माधुर्य का आस्वाद करने की आशा से कानों को जिह्वा निकल आयेगी और इन्द्रियों में परस्पर कलह होने लगेगा। कलह किस लिये होगा? उसका उत्तर यह है कि शब्द कान का विषय होने पर भी जिह्वा कहेगी कि यह मेरा रस है, और नाक को भी भ्रम होगा कि शब्द-विषय नहीं है; किन्तु गन्ध विषय है, इसलिए वह कहेगी कि यह गन्ध-विषय मेरा ही है इससे बढ़कर अन्य आश्चर्य क्या हो सकता है? इनकी बातचीत हाव-भाव देखकर आँख को भी ऐसा लगने लगेगा कि यह शब्द नहीं रूप की खान ही है। जब शब्दों का संकलन हो गया और वाक्यों की रचना प्रकट हुई तो मन ही सबसे आगे बढ़कर और भुजायें फैलाकर आलिंगन करने दौड़ेगा। (१४)

इस प्रकार समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने स्वभाव के अनुसार उस शब्द को अपना बनाने के लिए खटपट करेंगी, पर शब्द सब को समान रूप से शान्त कर देगा। जिस प्रकार अकेला सूर्य समस्त जगत् को व्यवहार में प्रवृत्त करता है, उसी प्रकार शब्द की व्यापकता को अति

विशाल और अलौकिक जानना। इस सम्बन्ध में सूक्ष्मता से विचार करने पर यह भी विदित होता है कि जो शब्द का अर्थ समझते हैं, उनको तो उसमें चिन्तामणि के गुण ही मिल जाते हैं। इन शब्दों के बड़े-बड़े थाल बनाकर उनमें मोक्ष-रस परस कर निष्काम भाव वालों का इस ग्रन्थ के रूप में आतिथ्य किया गया है। इस आतिथ्य में प्रकाश के लिए नित्य नई आत्म ज्योति मशाल प्रदीप्त की जाय। उनके प्रकाश में जो, इन्द्रियों को बिना खबर पड़े ही, परोसे हुए पकवानों का सेवन करेंगे, वास्तविक लाभ उन्हीं को होगा, इस प्रकार श्रवण का साधन जो कान हैं उनको त्याग कर श्रोतागण मन के द्वारा ही उपभोग करेंगे। पहले शब्द रूपी छिलके को अलग करके भीतर जो ब्रह्मरूप सत्व है उसके माधुर्य को सुख पूर्वक आस्वादन किया जाय। जब मन इतना सूक्ष्म हो जायगा तभी इसको पूरी तरह समझा जा सकेगा। नहीं तो वही मसल होगी कि गूँगा ने कहा और बहरे ने सुना। पर अब यह चर्चा बन्द होनी चाहिये। श्रोताओं को सुधारने का यह समय नहीं। जिनमें स्वभाव से ही विषय वासना नहीं है वही यहाँ सुनने के अधिकारी हैं। जिन्होंने ब्रह्मज्ञान के प्रेम के लिए स्वर्ग और संसार को न्यौछावर कर दिया है, उनके अतिरिक्त अन्य लोग इन शब्दों का स्वाद नहीं जान सकेंगे। जैसे कौआ चन्द्रमा की शांत किरणों का उपभोग नहीं कर सकता, वैसे ही संसारी मनुष्य को इस गीता-ग्रन्थ के स्वाद की जानकारी नहीं हो सकती। पर वहीं चन्द्रमा जिस प्रकार चकोर द्वारा सेवन किया जाता है, उसी प्रकार वही इस गीता, ग्रन्थ के स्वाद को जान पायेंगे जिनको कर्ण-फल का मोह नहीं हैं। जो लोग ज्ञानी हैं उनके लिए ही ग्रन्थ एक विश्राम स्थल के समान है अज्ञानियों को तो यह एक अनजान ग्राम के समान प्रतीत होता है। इस विषय पर प्रसंगानुसार मैंने जो कुछ कहा है, उसके लिए सज्जन मुझे क्षमा करेंगे। (३१)

अब भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया, उसी का

मैं वर्णन करूँगा। पर इस उपदेश को बुद्धि कदाचित् हो समझ पाती है, इसलिए उसका वर्णन मेरे द्वारा बड़ी कठिनता से हो सके तो हो जाय। पर श्रीगुरु निवृत्ति महाराज के कृपा रूपी दीपक के प्रकाश की सहायता से वह जान और समझ के ही बोलूँगा। गुरु कृपा का ऐश्वर्य किस प्रकार वर्णन करूँ ? इन्द्रियातीत ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ, इसलिए दिखाई न पड़ने वाली इन्द्रियातीत वस्तुएँ इसकी सहायता से ही देखी जा सकती हैं। यदि दैव योग से पारसमणि प्राप्त हो जाय तो जो सुवर्ण कीमियागरों को भी नहीं मिलता वह लोहे में से प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार यदि गुरु कृपा हो जाय तो फिर प्रयत्न करने से क्या चीज नहीं मिल सकती। ज्ञानदेव कहते हैं कि सद्गुरु की ऐसी कृपा मेरे ऊपर है। उसी की शक्ति से बोलूँगा और अपने बोलने से ही निराकार वस्तु को सबके लिये सुलभ करके बता दूँगा और जो वस्तु इन्द्रियातीत है उसे इन्द्रियों से जानने योग्य बना दूँगा। यश, लक्ष्मी उदारता, ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य ये छः गुण जो श्रीकृष्ण में निवास करते हैं और जिनके होने से उन्हें भगवान कहा जाता है, तथा जिन्होंने समस्त कामनाओं का त्याग कर दिया है, वे अपने मित्र पार्थ से बोले कि—'अब मैं जो कुछ कहता हूँ उसे ध्यान देकर सुन—'

श्री भगवानुवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१

भगवान् कृष्ण कहते हैं-हे पार्थ ! योगी और संन्यासी का आशय एक ही है, उनको एक दूसरे से भिन्न मानना ठीक नहीं। यदि उनके विषय में विचार किया जाय तो वे दोनों एक ही विदित होते हैं। उनको जो दो नामों से पुकारा जाता है वह निरर्थक हैं। अध्यात्म की दृष्टि से देखने पर उनमें जरा भी भेद नहीं है, क्योंकि योग और संन्यास

एक ही बात है। जिस प्रकार एक ही मनुष्य को अनेक ही नामों से बुलाते हैं, अथवा अलग-अलग रास्तों से एक ही स्थान पर पहुँचते हैं, अथवा एक ही पानी को विभिन्न पात्रों में भरने से उसमें कोई भेद नहीं होता, उसी तरह संन्यास और योग में कोई अन्तर नहीं है। हे अर्जुन ! जो पुरुष कर्म करके फल की इच्छा नहीं रखता उसे सब लोग योगी ही मानते हैं पृथ्वी वृक्षादि उत्पन्न करने के लिए कुछ अहंकार नहीं करती, उनमें उत्पन्न होने वाले फलों की इच्छा भी नहीं रखती, उसी प्रकार अपनी स्थिति और प्रवृत्ति के अनुरूप जो-जो कर्म करने पर अपने मन में कर्तापन का भाव नहीं आने देता साथ ही अपने मन में फल की आशा को पैदा नहीं होने देता। हे पार्थ ! जो मनुष्य ऐसा हो वही संन्यासी और निस्सन्देह वही योगी है। जिसमें इस प्रकार की भावना तो उत्पन्न होती नहीं और शास्त्र विहित कर्मों को प्रतिबन्धक समझकर त्याग देता है और फिर प्रकृति के वश होकर अन्य कर्म करने लगता है, तो उसे ऐसा ही समझना चाहिए कि शरीर पर लगे एक मैल को धोकर छुड़ावे और फिर दूसरा मैल लगा ले ! ऐसा करना व्यर्थ के झंझट में पड़ना और अनावश्यक पीड़ा सहन करना ही होगा। गृहस्थाश्रम का बोझा पहले से ही हर किसी के शिर पर आ पड़ता है। पर जो गृहस्थ धर्म का ठीक तरह पालन न करके संन्यास ग्रहण कर लेता है, वह एक भार को हटाकर तुरन्त दूसरा भार विवश होकर अपने शिर पर उठा लेता है। इसलिये श्रोत स्मार्त हवन आदि कर्मों का यथा विधि आचरण न त्यागकर कर्म मर्यादा को स्थिर रखा जाय तो योगफल स्वाभाविक रूप में ही हमें प्राप्त हो रहा है, ऐसा समझ लेना चाहिए। (५१)

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२

सुनो, जो संन्यासी है वहो योगी है इस वाक्य की ध्वजा अनेक

शास्त्रों ने इस जगत् में फहराई है। जिस पुरुष में से त्याग वृत्ति द्वारा संकल्प का लोप हो जाता है, उसी को योग का सार जो ब्रह्म है वह प्राप्त होता है, ऐसा अनुभव से सिद्ध हुआ है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।।३

इस प्रकार जिसे योगरूपी पर्वत के शिखर पर जाने की इच्छा हो उसे सरल सोपानरूप कर्म मार्ग को कभी त्यागना नहीं चाहिए। इस कर्म मार्ग से यात्रा आरम्भ करने पर प्रथम यम-नियम रूपी मंजिल आती है। फिर आसनों की पगडण्डी पर चलकर प्राणायाम रूपी टेकरी पर से आगे बढ़ना होता है। उसके पश्चात् प्रत्याहार रूपी आधी टूटी हुई टेकरी आती है वहाँ तो निराधार ही चलना होता है। इस जगह बुद्धि के पैर भी फिसलने लगते हैं। इस कठिन मार्ग पर तो हठयोगी भी अपनी प्रतिज्ञा अन्त तक निभा नहीं सकते। तथापि केवल अभ्यास से ही इस निराधार आकाश मार्ग पर केवल वैराग्य का टेका लगाकर मनुष्य धीरे-धीरे चढ़ सकता है। इस प्रकार वायु रूपी अश्व की पीठ पर बैठकर भी मार्ग पूरा करना पड़ता है और चित्त को स्थिर करने की विस्तृत जगह पर पहुँचकर जब तक ध्यान का ध्येय प्राप्त न हो तब तक किसी प्रकार मार्ग पर अग्रसर होना ही पड़ता है। फिर जिस स्थान पर साध्य और साधक एक बन जाते हैं, जहाँ पर मार्ग की दौड़ादौड़ और प्रकृति की अस्वस्थता समाप्त हो जाती है वहाँ पहुँच कर ब्रह्म के साथ ऐक्य हो जाने से आगे बढ़ने की प्रवृत्ति बन्द हो जाती है और पीछे की बातों का कुछ स्मरण नहीं रहता। ऐसी समान-अधिकार भूमि में समाधि का लाभ होता है। इस उपाय से योगारूढ़ होता है उसे अखण्ड परिपूर्ण समझना चाहिए। अब मैं ऐसे पुरुष के चिह्न तुझको बतलाता हूँ उनको सुन।(६१)

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषंज्जते ।
सर्वसंकल्प संन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।।४

जिसको आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है, उनके इन्द्रिय रूपी घरों में विषय का आना-जाना बन्द हो जाता है (उन पर इन्द्रियों का वश नहीं चलता)। सुख और दुःख की टक्करों से उसका मन चलायमान नहीं होता। विषय चाहे मूर्तिमान होकर उसके सम्मुख खड़े रहें तो भी उस पर उन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा पुरुष चाहे कर्म में प्रवृत रहे, तो भी उसके हृदय में किसी प्रकार के फल की इच्छा उत्पन्न नहीं होती। शरीर का व्यापार चलते रहने पर भी—अर्थात् जाग्रतावस्था में रहने पर भी वह सोये हुए की तरह उदासीन दिखाई देता है। उसी को वास्तविक योग की प्राप्ति हुई है ऐसा समझ ले। योगियों की ऐसी स्थिति सुनकर अर्जुन श्रीकृष्ण से कहता है—हे अनन्त स्वरूप ! आप जो कहते हो उस से मुझे बड़ा आश्चर्य होता है परन्तु योगियों को इतनी सामर्थ्य कौन देता है, यह मुझे समझाओ।

उद्धरेदात्मनात्मानं—नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५

तब श्रीकृष्ण हँसकर बोले—तेरे इस कथन से मुझे आश्चर्य होता है। ऐसी अद्वैत स्थिति में कौन किसको दे या ले सकता है ? मनुष्य जब भ्रांति रूपी शैया पर प्रबल अज्ञान में निद्रित होता है, तभी जन्म-मृत्यु के बुरे स्वप्न देखता रहता है। फिर अकस्मात् जाग्रत होने पर उसके जन्म-मरण रूपी सब स्वप्न व्यर्थ हो जाते हैं और "मैं नित्य चेतन हूँ", ऐसा निश्चय उसे हो जाता है। यह निश्चय भी अपने आप ही होता है। इसलिए हे धनंजय ! देह का वृथा अभिमान धारण करके अर्थात् असत्य देह को सत्य समझकर मनुष्य अपना घात आप ही करने में प्रवृत होता है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६

इस प्रकार विचार करके अहंकार का त्याग कर देना चाहिए, जिस से अपना मूल्य ब्रह्मस्वरूप अनुभव में आ जाता हैं, और ऐसा होने पर यह सिद्ध हो जाता है कि हमने अपना कल्याण साधन किया। जो सुशोभित शरीर में लुब्ध होकर आत्म स्वरूप को भूल जाता है और अहंभाव में ग्रस्त हो जाता है, वह रेशम के कोये में रहने वाले कीड़ा की तरह आप ही अपना शत्रु बन जाता है। उस हतभाग्य को जब लाभ का अवसर आया तो वह आँख बन्द करके चलने लगा और इस प्रकार लाभ से वंचित रह गया। अथवा कोई मनुष्य 'मैं खो गया हूँ' इस तरह के भ्रम में पड़कर दुःखी होता है, इसी प्रकार मनुष्य अपने ब्रह्मस्वरूप से अनजान रहने के कारण दुःखी होते हैं, यद्यपि उनका ब्रह्म स्वरूप उस समय भी उपस्थित रहता है। स्वप्न में लगने वाले तलवार के घाव से कोई मरता है क्या ? तोता को पकड़ने के लिए वृक्ष पर टाँगी हुई नली जिस प्रकार उसी से बोझ में घूम जाती है, तो तोता उड़कर चले जाने के बजाय यह शंका करने लगता है कि मैं स्वयं ही उलटा हो गया हूँ, और इससे नली को छोड़ता नहीं। वह निरर्थक सर हिलाता रहता है और गिर जाने के डर से चोंच तथा पंजों से नली को और भी मजबूती से पकड़ लेता है और बन्धन से छूटने को पुकार मचाता है। 'मैं सचमुच पकड़ लिया गया हूँ' ऐसी भ्रांति में पड़कर वह स्वयं ही पकड़ जाता है। क्या उसको किसी और ने पकड़ा होता है ? उस समय उस तोते को भले ही काट डालो तो भी वह नली को नहीं छोड़ता। इस प्रकार भगवान् कृष्ण ने समझाया कि जिसने मन में बहुत संकल्प भर रखे हैं वह आप ही अपना शत्रु हैं और जो मिथ्या धारणा में न पड़कर यह अनुभव करता है कि 'मैं आत्मा हूँ' वह आत्म ज्ञानी और अपना मित्र है। (८०)

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ।।७

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।।८

जिसने अपने मन को जीता हुआ है और जिसकी समस्त वासनाएं शान्त हो गई हैं उसे अन्य लोगों के समान यह नहीं जान पड़ता कि परमात्मा मुझ से दूर है। सोने को तपाकर उसका मैल निकाल देने से जिस प्रकार वह शुद्ध और उत्तम बन जाता है, उसी प्रकार मन से संकल्पों के मिट जाने पर जीव को तुरन्त ही ब्रह्मत्व प्राप्त हो जाता है। 'घटाकाश' को घट का नाश होने के पश्चात् 'महाकाश' में मिलने के लिये अन्यत्र नहीं जाना पड़ता। उसी प्रकार शरीर के मिथ्या अहंकार का नाश होने पर मनुष्य परब्रह्म बन जाता है। ऐसी स्थिति में शीतलता अथवा उष्णता, सुख अथवा दुःख, मान–अपमान का योगारूढ़ मनुष्य को कुछ भी पता नहीं रहता। सूर्य जहाँ कहीं जाता है, वहीं पर प्रकाश दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार ऐसा मनुष्य ब्रह्मस्वरूप होने से, उसे जो-जो वस्तुएं दिखाई पड़ती हैं वे ब्रह्मरूप ही जान पड़ती हैं। मेघवृष्टि की धारा जिस प्रकार समुद्र के लिए बाधाजनक नहीं होती उसी प्रकार जो ब्रह्मरूप बन गया है, उसको शुभाशुभ कर्म अपने स्वरूप से भिन्न नहीं जान पड़ते। प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाले संस्कार पर विचार करने से वह उसको मिथ्या प्रतीत होता है पर जिस ज्ञान से मिथ्यात्व सिद्ध हुआ वह ज्ञान भी उसको अपना स्वरूप ही विदित होता है। इतना निश्चय हो जाने पर कि मैं व्यापक हूँ अथवा अव्यापक उपयुक्त विचार अपने आप मिट जाते हैं, क्योंकि उसका द्वैतभाव पूर्णतया नष्ट हो चुका होता है। इस प्रकार शरीर में रहते हुए भी, जिसने अपनी इन्द्रियाँ जीत ली हैं, उसमें सहज ही ब्रह्मत्व का भाव उत्पन्न हो जाता है। ऐसा मनुष्य स्वभावतः ही जितेन्द्रिय और योगी है क्योंकि उसमें अल्प और महान् जैसा कोई भेद नहीं रहता। वह शुद्ध सुवर्ण के मेरु जैसे पर्वत और मिट्टी

के एक ढेला को समान ही मानता है; और पृथ्वी से भी अधिक मूल्यवान रत्न को केवल पत्थर मानने वाला इच्छा रहित होता है। (९३)

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।।९

ऐसे योगी के अन्तःकरण में यह मित्र और यह शत्रु अथवा यह उदासीन और यह स्वजन ऐसी कल्पना कहाँ से आ सकती है ? मैं ही जगत् स्वरूप हूँ' इस प्रकार का ज्ञान जिसके अन्तर में उत्पन्न हो चुका है उस का फिर कौन बन्धु और कौन द्वेषी ? फिर हे अर्जुन ! उसकी दृष्टि में बड़े और छोटे का भेद कहाँ से हो सकता है ? जो सोना पारसमणि के स्पर्श से बना हो उसकी परीक्षा क्या कसौटी द्वारा की जाती है ? उससे जो सोना बनेगा वह तो सर्वोत्तम ही होगा। इस प्रकार उस योगी की बुद्धि चराचर में निरन्तर एकत्व के भाव का ही अनुभव करती है। सांसारिक पदार्थ रूपी अलंकारों की बनावट यद्यपि अनेक प्रकार की होती है, तो भी वे एक परब्रह्म रूपी सुवर्ण के ही बने हैं, इस शुद्ध तथा यथार्थ तत्व को जिसने समझ लिया है, वह चित्र-विचित्र रचनाओं को देखकर भ्रम में नहीं पड़ता। वस्त्र का निरीक्षण करने पर वह जिस प्रकार सदैव सूत का बना ही दिखाई देता है उसी प्रकार आत्मज्ञानी को जगत् में ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं पड़ सकता। इस प्रकार जो समस्त विश्व को ब्रह्म से भरा हुआ देखता है, वही समबुद्धि वाला है। उसी का नाम तीर्थराज है। जिसका दर्शन करने से अन्तःकरण में शांति उत्पन्न होती है, जिसकी सङ्गति से अहंकार ग्रस्त व्यक्ति का भ्रम दूर हो जाता है और ब्रह्मरूप बनता है, जिसका वचन धर्म का बोध कराने वाला है, जिसकी दृष्टि महासिद्धियों को उत्पन्न करने वाली है और स्वर्गादि सुख तो जिसके लिये खेल की तरह हैं। ऐसे ब्रह्मवेत्ता पुरुष का सहज रूप में स्मरण करने पर भी वह हमको अपना सामर्थ्य प्रदान करता है। अधिक क्या कहूँ उसकी स्तुति करने से भी अपना कल्याण होता है। (१०४)

ागी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
काकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०

जो कभी अस्त न हो ऐसा ज्ञान—सूर्य जिसके हृदय में उदय हुआ , वह स्वयं हमेशा ब्रह्मानन्द में ही विहार, किया करता है । हे पार्थ ! सी ब्रह्माकार वृत्ति वाला पुरुष ही अद्वितीय है और वही तीनों लोकों में संग्रही है, ऐसा समझो । इस प्रकार श्रीकृष्ण ने योगियों के लक्षण अपने भी बढ़कर बतलाये । जो सब ज्ञानियों में श्रेष्ठ है, जो समस्त द्रष्टाओं ी दृष्टि का प्रकाशक है, जिसके संकल्प मात्र से विश्व की रचना होती , ॐकार के बाजार में तैयार किया हुआ वस्त्र भी उसके यश को पूरी रह आच्छादित नहीं कर सकता, अर्थात् वेद भी जिसके यश को पूरी रह वर्णन नहीं कर सकते जिसके स्वरूप तेज से सूर्य और चन्द्र जगत् ो प्रकाशित करते हैं, जिसके केवल नाम के प्रभाव से आकाश भी तुच्छ ान पड़ता है, उसके कितने गुणों को तू जान सकेगा । (ज्ञानेश्वर महा- ाज कहते हैं कि) इसलिए अब मैं उसकी प्रशंसा पूरी करता हूँ । ऐसे क्षणों से युक्त भगवान श्रीकृष्ण भी जिन साधुओं के लक्षण वर्णन करते , मैं उनका वर्णन कैसे कर सकता हूं ? पर जब बोलने को तैयार हुआ ो कुछ कहना ही चाहिए । जो ब्रह्म विद्या द्वैत-भाव का नाश करती है से यदि मैं बहुत खोलकर बतला दूंगा तो अर्जुन और मेरे बीच जो म सम्बन्ध है वह जाता रहेगा, यह सोचकर मैंने ब्रह्मज्ञान बहुत खोल- र कहने के बजाय उस पर एक पर्दा डाल दिया है जिससे तुम्हारे प्रेम ा उपभोग करने के लिये मन कुछ अलग रह सके । जो लोग 'अहं ह्मास्मि' के द्वार तक आ पहुँचे हैं और मोक्ष प्राप्ति के लिये आतुर हो हे हैं, उनकी दृष्टि अर्जुन के और मेरे प्रेम पर न लगे । क्योंकि यदि र्जुन अहंवृत्ति को भूलकर 'जो मैं हूँ वही यह है, जो यह है वही मैं हूं ।' स अभेद को समझकर समरस होकर वैसा ही व्यवहार करने लगा तो ं फिर किसको देखकर अपना हृदय शीतल करूंगा ? किसके आगे मन

की बातें कहूँगा और किसको आनन्द पूर्वक आलिंगन करूँगा। जो मेरा और अर्जुन का ऐक्य हो गया तो जो मेरे मन में समा सके उस बात को मैं किसके आगे कह सुनाऊँगा ? इस प्रकार के संकल्प-विकल्प करते-करते भगवान् कृष्ण ने ब्रह्मज्ञान (अद्वैत) का उपदेश देते-देते द्वैत का भी कुछ संकेत देकर अर्जुन के मन को अपने मन की तरफ कर लिया। (११६)

श्रोताओं को यह बात कुछ वेढव—सी जान पड़ेगी पर उनको यह समझ लेना चाहिए कि अर्जुन भगवान् कृष्ण के सुख की जीवित प्रतिमा है। किसी बन्ध्या स्त्री के बहुत समय बीतने पर एक बच्चा हो जाय, तो वह जिस प्रेम की प्रत्यक्ष पुतली बनकर नाचने लगती है, वैसी ही स्थिति इस समय भगवान् कृष्ण की हुई। यदि अर्जुन पर उनका अतिशय प्रेम मुझे दृष्टिगोचर न हुआ होता तो मैं ऐसी बात नहीं कहता। जरा विचार तो करो कि यह कैसे आश्चर्य की और कैसे आनन्द की बात है ? कैसा तो भयंकर युद्ध का समय है और वे कैसा ब्रह्मज्ञान का उपदेश दे रहे हैं ? इस स्थान पर भगवान् कृष्ण अपने प्रेम की प्रतिमा अर्जुन के सामने मानों नृत्य ही कर रहे है। प्रेम के साथ लज्जा, व्यसन के साथ तिरस्कार, पिशाच के साथ शुद्धि का संयोग कैसे हो सकता है ?'' यह सब कहने का तात्पर्य यही है कि यह अर्जुन श्रीकृष्ण की मैत्री का साक्षात् निवास स्थान हैं, अथवा शृङ्गार किये हुए मन को देखने का दर्पण ही है। भक्ति रूपी बीज बोने के लिए अर्जुन उतम क्षेत्र रूप होने से भगवान् कृष्ण की कृपा का पात्र बना था। 'श्रवण' से 'आत्म निवेदन' तक जो नौ प्रकार की भक्ति बतलाई गई हैं उसमें 'सख्य" नाम की जो आठवीं भक्ति है उसका मुख्य देवता अर्जुन ही है। भगवान् के समीप होने पर भी मैं इसका वर्णन न करके उनके 'सेवक' का वर्णन करता हूँ, तो इसका क्या कारण है ? कारण यही है कि वह ऐसी योग्यता प्राप्त कर चुका है जिसमें अपने स्वामी को बहुत अधिक पसन्द आता है। जो पतिव्रता स्त्री

पति की प्रेम पूर्वक सेवा करती है और पति की प्रीति सम्पादन करती हैं, क्या उस पतिव्रता की प्रशंसा पति से भी अधिक नहीं की जाती। इसी से मुझे अर्जुन की प्रशंसा करना उचित लगा, क्योंकि वह त्रिभुवन में समस्त सौभाग्य का पात्र बना है। जिस अर्जुन की प्राप्ति के वश होकर निराकार और इच्छा रहित ब्रह्म को साकार होकर उसके साथ मित्रता करने की उत्कण्ठा हुई उसकी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी कम है। (१३१)

यह सुनकर श्रोता बोले—"कैसी सुन्दर वाणी है ! मानो नाद—ब्रह्म और सौन्दर्य पर विजय प्राप्त करके ही आई हो। अहो, देशी भाषा रूपी आकाश में भाँति-भाँति के अलंकार रूपी रङ्ग फैल रहे हैं। ऐसी सुन्दर देशी भाषा न बोलना क्या आश्चर्य का विषय नहीं है। ज्ञान रूपी चाँदनी कैसी स्वच्छ खिली हुई हैं और कैसी भावार्थ रूपी शीतलता प्रसारित हो रही है। लोकार्थ रूपी कमलिनी कैसा स्वाभाविक विकास प्राप्त कर रही है। यह बोलने की योग्यता है कि ब्रह्म विद्या को सुनने की इच्छा इसके सुनने से तृप्त हो जाती है।" इस प्रकार के कथन के प्रभाव से श्रोता आनन्द से झूमने लगे। उनके हृदय के ऐसे भावों को जानकर निवृत्तिदास ज्ञानदेव बोले कि श्रोताजनो ! इस बात पर ध्यान दो। श्रीकृष्ण रूपी जिस सूर्य ने पाण्डव कुल को प्रकाशित किया वे श्रीकृष्ण कौन हैं कैसे हैं ? देवकी ने अपने उदर में नौ महीने तक रखा, यशोदा ने अति परिश्रम से लालन-पालन किया, वे अन्त में पाण्डवों के लिए ही उपयोगी हुये। इसलिए अर्जुन के पुण्य का बल ही अपार था। उसे न अधिक सेवा करनी पड़ी और न विनती करनी पड़ी।

अब इस बात को ज्यादा न बढ़ाकर कथा भाग कहता हूँ। उस अवसर पर अर्जुन ने दुलार से कहा—"हे देव ! आपने सन्तों के जो लक्षण बतलाये वे मेरे भीतर तो दिखाई नहीं पड़ते। इस दृष्टि से

मैं तो अयोग्य और अपूर्ण ही हूँ। तो भी आपका उपदेश सुनकर मुझ में यह योग्यता उत्पन्न हो सके तो दूसरी बात है। आप जो मन में लाओगे तब तो मैं स्वयं भी ब्रह्म बन सकूँगा। आप मुझे जो कुछ करने का उपदेश करेंगे मैं उस पर आचरण करूँगा। अब तक आपने जिनकी बात मुझे सुनाई उसे मैं समझ तो नहीं पाया तो भी, उसे सुनकर उनकी स्तुति करने का मन होता है। निस्सन्देह ऐसी योग्यता जिसमें हो जायगी उसके आनन्द का तो पारावार ही नहीं रहेगा। हे प्रभो! मुझे भी वह योग्यता प्राप्त हो सकती है क्या? तब भगवान् कृष्ण ने हँसकर कहा—"हाँ, तुझे मैं ब्रह्मस्वरूप ही बना दूँगा। जब तक सन्तोष की प्राप्ति नहीं होती तभी तक चारों तरफ सुख की न्यूनता दिखाई पड़ती है, पर उसके प्राप्त हो जाने पर सुख की कमी कैसे रहेगी? उसी प्रकार जो सर्वेश्वर का पूर्णतः सेवक बन जाता है, वह सहज ही ब्रह्मरूप हो जाता है। "अब देखो अर्जुन अपने सुदैव रूपी फलों के भार से कैसा झुक गया है। जो ईश्वर हजारों जन्म तक इन्द्र को भी मिलना दुर्लभ है। वह अर्जुन के इतने वश में हो गया है कि उसकी एक भी बात को नीची नहीं होने देता। अर्थात् अर्जुन ने स्वयं ब्रह्म हो जाने के विषय में जो कहा उसको भगवान् ने सुना। तब कृष्ण मन में विचारने लगे कि अर्जुन को ब्रह्म होने की जो आतुरता उत्पन्न हुई है, उसका कारण यह है कि इसकी बुद्धि के उदर में वैराग्य का गर्भ मौजूद है। यद्यपि अर्जुन एक नया वृक्ष है तो भी वैराग्य रूपी बसन्त के प्रभाव से वह, अहं ब्रह्मास्मि रूपी बौर से लद कर झुका जा रहा है। इसलिए इसको मोक्ष रूपी फल की प्राप्ति भी तुरन्त होगी, क्योंकि यह विरक्त हो चुका है। अब अर्जुन जो कुछ अनुष्ठान करेगा उसका फल उसे अविलम्ब मिलेगा क्योंकि उसे अभ्यास करने का उपदेश दिया जायगा वह व्यर्थ नहीं जायगा। (१४१)

ऐसा विचार कर भगवान् कृष्ण ने कहा—'हे अर्जुन! अब मैं तुझे यह योग-मार्ग बतलाता हूँ जो सब मार्गों का दाता है। यह योग

ऐसा है कि जिसके प्रवृति रूपी वृक्ष के नीचे करोड़ों मोक्ष रूपी फल लगे हैं। अर्थात् जिसके कारण मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसी कारण श्री शंकरजी अभी तक इसी मार्ग पर चलते हैं। अन्य योगीजन आरम्भ में आड़े–टेढ़े मार्ग पर चलने लगे, पर अन्त में उनको भी अनुभव से यही मार्ग सर्वोत्तम मालूम पड़ने से वे अज्ञान जनित अन्य मार्गों को छोड़ कर आत्मज्ञान के इसी मार्ग पर चलने लगे। पूर्वकाल में महर्षिगण इसी मार्ग पर चलने से अपनी साधना में, सफल हुए थे। तत्वज्ञानियों ने भी इसी पर चलकर श्रेष्ठता प्राप्त की है। इस मार्ग पर चलने का विचार करते ही भूख-प्यास जाती रहती है और दिन रात का भेद भी नहीं टिकता। इस मार्ग पर चलता हुआ मनुष्य जहाँ पैर रखता है वहीं मानों रत्नों की खान पैदा हो जाती है अगर कोई बाधा सामने आ जाय तो भी स्वर्ग सुख की प्राप्ति में तो कुछ सन्देह ही नहीं है। वह पूर्व दिशा के स्थान अर्थात् प्रवृत्ति-मार्ग से चलकर पश्चिम के स्थान (निवृत्ति-मार्ग) पर पहुँच जाता है। परन्तु हे धनुर्धर ! इस मार्ग पर निश्चिन्त भाव से चलते जाना चाहिए। इस पर चलते हुए मनुष्य जिस किसी स्थान पर पहुँचता है, वह स्वयं उसी रूप बन जाता है। यह सब बात तुझे अपने अनुभव से ही विदित हो जायगी।' तब अर्जुन ने कहा—हे देव ! तो आप मुझे वह योग-मार्ग कब बतलायेंगे ? मैं तो उत्कण्ठा के समुद्र में डूबा जा रहा हूँ, मुझे आप कब बाहर निकालेंगे ? अर्जुन के ऐसे वचन सुनकर भगवान् कहने लगे-'मैं तो स्वयं अपनी इच्छा से तुझे उसका ज्ञान देने को तैयार हूँ, तू बार-बार कहकर इतनी जल्दी क्यों मचाता है ? (१६२)

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११

अब मैं तुझको योग—मार्ग को स्पष्टता पूर्वक समझाता हूँ, पर जब उसका अभ्यास किया जायगा तभी वह उपयोगी होगा। ऐसा

अभ्यास करने के लिए एक ऐसा स्थान ढूँढना चाहिए जहाँ चित्त लगने से फिर उठने की इच्छा ही न हो और जिसे देखते ही वैराग्य की दुगुनी वृद्धि हो। ऐसी जगह पर पहले भी सत्पुरुषों का निवास रहना चाहिए। इस स्थान से सन्तोष की सहायता मिलनी चाहिए और धैर्य की वृद्धि होनी चाहिए, साथ ही उस स्थान में योगाभ्यास को उत्तेजना मिलना चाहिये और मन को अनुभव की पुष्पमाला पहिनानी चाहिए। वह स्थान इस प्रकार का उत्कृष्ट होना आवश्यक है। हे पार्थ ! वह स्थान ऐसा होना चाहिए कि कोई पाखण्डी मनुष्य भी उसके पास होकर निकले तो उनका मन तपश्चर्या करने का हो जाय। यदि कोई मनुष्य अपने मार्ग पर चलता हुआ अचानक वहाँ आ पहुँचे और वह घर आने की कामना रखता हो, तो भी उसका मन वहाँ से जाने का न हो, तभी उस स्थान का गौरव है। अर्थात् जिस मनुष्य का वहाँ ठहरने का विचार न हो वह भी वहाँ जाकर बैठ जाय और उसकी वैराग्य वृत्ति जागृत हो उठे। किसी राजा या विलासी पुरुष को भी उस स्थान को देखते ही ऐसा लगे कि अपना राज-पाट अथवा भोगविलास त्यागकर हम यहीं पर रहते तो कितना अच्छा होता ! इस प्रकार जो स्थान उत्तम और अति शुद्ध हो, वहाँ पर ब्रह्मानन्द का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त होता है। फिर इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि वहाँ योग के अभ्यासियों का ही निवास हो, अन्य मनुष्यों का रहना-सहना अथवा आना-जाना न होगा उस स्थान में अमृत के समान मीठे कन्दमूल और फलों के वृक्ष अवश्य होने चाहिए। वहाँ कदम-कदम पर पानी के झरने होने चाहिऐ जिनका जल वर्षा ऋतु में भी निर्मल रहे। उनमें पानी की विपुलता होने के साथ ही पार उतरने अथवा पानी भरने में कोई कठिनाई न हो। वहाँ सूर्य की उष्णता सौम्य हो और किरणें प्रकाश-मय हों। पर इतनी गर्मी न हो कि वह कष्टदायक प्रतीत होने लगे। वहाँ का वायु मन्द और शीतल हो। वहाँ हल्ला-गुल्ला न होना चाहिए और जंगली जन्तुओं की भी अधिकता न हो, पर थोड़ी संख्या में तोते

और भ्रमरों का होना अच्छा है। कभी-कभी बतख, हंस, चक्रवाक, कोकिल आदि पक्षी आ जायें तो कोई हानि नहीं। मोर वहाँ हमेशा न बने रहें, किसी समय आते-जाते रहें तो कोई दोष नहीं। पर हे अर्जुन! योग-साधन के लिए ऐसा स्थान अवश्य ढूंढ़ रखना चाहिए। उस जगह एक गुप्त गुफा और एकाध शिवालय होना चाहिए। इन दोनों में से जो अनुकूल हो उस जगह एकान्त देखकर बैठना चाहिए। इस प्रकार सब सुविधायें देखकर स्थान पसन्द करना और फिर यह पता लगानाकि वहाँ चित्त स्थिर होता है या नहीं? चित्त स्थिर होने पर वहाँ आसन बनाना। ऊपर घड़ी किया हुआ स्वच्छ वस्त्र हो उसके नीचे कृष्णमृग चर्म और फिर पूरे कुशाओं का आसन होना चाहिए। वे कुशा कोमल, एक बराबर और अपने आप एक जगह ठहर सकें इस प्रकार गूँथे हुए हों। यह आसन अगर अधिक ऊँचा हो जाय तो उससे शरीर का हिल जाना सम्भव है और जो बहुत नीचा हो तो भूमि दोष से पीड़ा होने की आशंका रहती है। इसलिए उसे बहुत ऊँचा या नीचा न रखकर एक समान तैयार करना उचित है।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२

इसके पश्चात् उस स्थान पर मन को एकाग्र करके, सद्गुरु का स्मरण करके आत्म शुद्ध का अनुभव लेना। उस समय अहंभाव लोप हो जाय और अष्ट सात्विक-भाव अन्तर्बाह्य उत्पन्न होंतब तक आदर पूर्वक सद्गुरु का स्मरण करना चाहिए। जब तक विषयों का स्मरण मात्र न रहे, इन्द्रियों की विषयेच्छा सर्वांश में मिट जाय और मन की चंचलता दूर होकर वह हृदय में प्रतिबिम्बित होने लग जाय, जब तक सहज ऐक्य की स्थिति प्राप्त न हो जाय तब तक स्मरण करते रहना चाहिए। इस प्रकार का अनुभव होने के पश्चात् ही आसन पर बैठना चाहिए। तब अंग का संकोच करना और प्राणयाम द्वारा प्राणापान का निरोध करना। इस प्रकार अनुभव होने के पश्चात् प्रकृति स्वयं पीछे

हटने लग जाती है, समाधि सहज साध्य होने लगती है और आसन पर बैठते ही योगाभ्यास होने लगता है ।

अब मैं मुद्रा की महत्ता का वर्णन करता हूँ,उसे सुनो । पैर के नीचे का भाग जंघा से सटाकर आसन जमाना एक पैर ऊपर और दूसरा पैर आड़ा रखकर पैर के तलुवे को गुदा स्थान में लगाकर स्थित और दृढ़ रखना । दाहिना पैर नीचे रखकर उससे अण्डकोशों से गुदास्थान तक सन्धि रेखा को दबाना । तत्पश्चात् बाँये पैरको दाँये पैर पर स्वाभाविक रीति से चढ़ाना । गुदा और लिंगेन्द्रिय केबीच जो चार अंगुल का अन्तर है उसके आगे-पीछे डेढ़-डेढ़ अंगुल जगह छोड़कर मध्य में बची एक अंगुल जगह को, शरीर को समतल रखते हुए पैर के तलुए से अच्छी तरह दबाना चाहिए । तब पीठके नीचे,वाले अन्तिम भाग को इस प्रकार थोड़ा उठाया जाय जिससे यह ज्ञात भी नहो कि शरीर को ऊँचा उठाया गया है और तब दोनों घुटनों को भी बराबर कर लेना । हे पार्थ ! ऐसा करने पर शरीर का भार घुटनों के अग्रभाग पर पड़ेगा और वह बिना आधार के स्वयमेव सधा रहेगा । यह 'मूलबन्ध, नामक आसन के लक्षण हैं । इसी का एक अन्य नाम 'वज्रासन' है । इस प्रकार मूलाधर (मूल बन्ध) की मुद्रा साध्य हो जाने पर शरीर के निचले भाग में वायु का रास्ता बन्द हो जाता है और भीतर का अपान वायु अन्दर का अन्दर ही रहकर ऊपर चढ़ने लगता है ।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरम् ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।।१३

फिर कर-संपुट (हथेली)द्रोणाकर होकर बाँये पैर पर टिक जाता है और कन्धे कुछ ऊपर उठे से लगते हैं । फिर शरीर के स्थिर और तना रहने से शिर कुछ भीतर घुसा-सा लगता है और आँखों के पलक झपकने लगते हैं । ऊपर का पलक नीचे की ओर आता है और नीचे का भाग प्रफुल्लित होने से कुछ मोटा हो जाता है । इससे आँखे

आधी खुली और आधी बन्द रहने लगती हैं। दृष्टि भीतर की ओर रहती है और कुछ बाहर आती भी है तो नासिकाग्र पर आकर जम जाती है। इससे अन्य दिशा की तरफ देखने या किसी आकार, स्वरूप को देखने की इच्छा अपने आप मिट जाती है। तब गले की नस भीतर की तरफ आती है और ठोड़ी गले के गड्ढे (कंठ कूप) में बैठ जाती है और छाती को दृढ़ता पूर्वक दाब लेती है। इससे कंठ मणि अदृश्य हो जाती है। इस तरह जो मुद्रा बनती है उसे 'जालन्धर बन्ध, कहते हैं। नाभि कुछ ऊपर हो जाती है, पेट सपाट हो जाता है और हृदय कोष भीतर की तरफ फैलता है। हे अर्जुन ! गुदा द्वार के ऊपर और नाभि के नीचे के भाग में जो मुद्रा बनती है उसे 'उड्डियान बन्ध' कहते हैं। (२१०)

228-242 ओवी तक कुण्डलिनी विश्लेषण।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तोयुक्त आसीत मत्परः ।१४।

ऊपर बतलाये के अनुसार शरीर के बाह्य अंगों का अभ्यास क्रम जब शुरू हो जाता है तो मन का धर्म मिटने लगता है (मन का धर्म क्या है ? वह यह कि कल्पना अशक्त हो जाती है और मन की दौड़ कम पड़ जाती है।) इनसे मनोविकार स्वयमेव निर्मूल होने लगते हैं। भूख कहाँ चली गई और निद्रा का क्या हुआ इसका स्मरण भी नहीं रहता और कहीं भी उसका पता नहीं लगता। मूलबन्ध से रोका गया अपान वायु जब पीछे फिरता है तो ऊपरकी तरफ धक्का मार कर फूलने लगता है। वह क्षुभित होकर मत्त हो जाता है और जहाँ रुका होता है वहीं गड़-गड़ाहट करने लगता है और ठहर-ठहर कर मणिपूर चक्र (नाभिकमल में स्थिर चक्र) में टकराता है। इस प्रकार रुका हुआ वायु आंधी की तरह पेट में चारों तरफ दौड़ धूप कर खलबली पैदा कर देता है और बाल्या-वस्था से लेकर अब तक के मल को बाहर निकालने का प्रयत्न करता है। जब वह नीचे के भाग में नहीं समाता तो कोठों में घुसकर कफ और पित्त का नाश करता है। वह सप्त धातुओं को लौटा देता है, चर्बी

(मेद) के पर्वत को चूर्ण कर डालता है, हड्डियों के रस को भी बाहर निकाल देता है। फिर वह नाड़ियों को खाली करता और सब अवयवों को शिथिल कर देता है। इस प्रकार वह योग-साधक को भयभीत कर देता है। परन्तु इससे डरना नहीं चाहिए। वह व्याधि उत्पन्न करता है और तुरन्त ही उसे मिटा भी देता है। वह कफ इत्यादि जलीय अंश और मांस आदि जड़ (पृथ्वी तत्व वाले) पदार्थों को मिलाकर एकत्र कर देता है।

पर हे अर्जुन ! इतने मे दूसरी तरफ क्या होता है उसे भी सुन लो प्रथम तो आसन की गर्मी से 'कुण्डलिनी नामक शक्ति जाग्रत होती है। जिस तरह नागिन का लाल रंग का बच्चा कुण्डली मारे सो रहा होता है वैसे ही यह कुण्डलिनी साढ़े तीन फेरे मार कर नीचे की तरफ मुँह करके सोती रहती है। वह, विद्युत् के कंकण अथवा अग्नि ज्वाला की रेखा या खूब घिस कर बनाये सोने के चमकदार पांसे (मूल बन्ध) का चिमटा लगाता है, तो एक दम जाग्रत हो जाती है। मानो कोई तारा टूटकर गिर गया हो अथवा सूर्य स्थान भ्रष्ट हो गया हो, या प्रकाश रूपी बीज में से अंकुर ही निकल आया हो। इस प्रकार चमचमाती हुई कुण्डलिनी अपने घेरे को छोड़कर सीधी हो जाती है। उस समय वह नाभिकमल पर बेल की तरह खड़ी दिखाई देती है। वह स्वभावतः ही बहुत दिनों की भूखी होती है और फिर सोती हुई को छेड़कर जगाने के कारण भी, बड़े आवेश के साथ मुँह खोलकर खड़ी हो जाती है। हे किरीटि ! फिर वह हृदय-कमल के नीचे भरे वायु को जोर से खा जाती है। फिर मुख की ज्वाला द्वारा ऊपर नीचे के मांस आदि को खाने लगती है। जहाँ कहीं मांस होता है उसे वह सहज में ही ग्रस लेती है और फिर बचे हुए भागों को भी भक्षण करने लगती है। ऊपर के भागों के मल का शोधन करती है, पैरों के तलुवे और हाथ की हथेली का शोधन करती है और शरीर के प्रत्यक सन्धि

स्थान की तलाशी लेती है। अपनी मूल जगह को न छोड़ते हुए वह नाखून तक का सत्व खींच लेती है और त्वचा तक को साफ कर देती है अस्थि और नसों को मिलाकर एक कर देती हैं। तत्पश्चात् वह अस्थियों के पीले स्थान के रस को निकाल लेती है और नसों के भीतरी भाग को भी सुखा डालती है। इससे शरीर के रोम कूप भी रुक जाते हैं फिर वह सप्त-साधु के सागर से अपनी प्यास बुझाती है और शरीर के प्रत्येक अवयव को बिल्कुल सुखा डालती हैं। नासिका के छिद्रों में से जो वायु बारह अंगुल तक बाहर निकलती रहती है उसे भी मजबूती से पकड़ कर भीतर खींच लेती है। (२३६)

इस समय प्राण और अपान ये दो प्रकार के वायु ही बचते हैं प्राण अपान को नीचे की तरफ दबाये रहता है और यदि उनके आलिंगन के समय बीच में चकों का पर्दा न होतो वे बिल्कुल एक दूसरे में मिल जायं पर 'कुण्डलिनी' कुछ व्यग्रतापूर्वक इनसे कहती है–"तुम पीछे लौट जाओ यहाँ तुम्हारा क्या काम है ? हे अर्जुन! इस प्रकार वह कुण्डलिनी शरीर के पंचतत्वों में से पृथ्वीमय(जड़)तत्व को स्वाहा कर डालती है, उसका नाम मात्र भी शेष नहीं रहने देती। उसी तरह जलमय अंश को पूरी तरह चाट-पोंछ कर साफ कर डालती है। इस प्रकार दोनों तत्वों को खाकर तृप्त हो जाने पर वह सुषुम्ना के पास शान्त होकर रहने लगती है। वहाँ तृप्त और सन्तुष्ट होकर वह जो गरल (विष) उगलती है,उसी गरल रूपी अमृत के प्रभाव से प्राणों की रक्षा होती है। उसकी गरल रूपी अग्नि बाहर निकल आती है और शरीरका सब दाह शान्त होजाता है। इससे शरीर में से निकल गया सामर्थ्य फिर प्राप्त होने लगता है। पर उस समय नाड़ियों का प्रवाह बन्द हो चुका होता है और धनंजय कृकर आदि नौ वायु भी समाप्त हो गई होती हैं, इडा-पिंगला एक हो जाती हैं, तीनों गाठें खुल जाती हैं और छैहों चक्रों का सम्बन्ध लुप्त हो जाता है। तब सूर्य और चन्द्र नाम के वायु तो ढूँढ़ने से भी नहीं मिलते

बुद्धि की ज्ञान-कला (चंचलता) अपने स्थान में ही समाप्त हो जाती है, और नासिका में शेष बचा गंध वाला वायु कुण्डलिनी में स्थित चन्द्रामृत का पात्र हलका आघात लगने से टेढ़ा होता है और उसमें का अमृत कुण्डलिनी के मुख में पड़ने लगता है। उससे वह अमृतरस से परिपूर्ण होकर समस्त शरीर में अमृत को सींचने लगती है और वह प्राण वायु की सहायता से समस्त शरीर में फैल जाता है। जिस प्रकार साँचे को तपाने से मोम उड़ जाता और साँचा लगी धातु से भर जाता है, उसी तरह चन्द्रामृत से शरीर इतना तेजस्वी बन जाता है मानो तेज का अवतार ही हो। (२५०)

अनेक बार ऐसा होता है कि सूर्य बादलों से ढक जाता है, पर जब बादल हट कर सूर्य पुनः निकलता है तो वह पहले की अपेक्षा भी अधिक चमकने लगता है। उसी तरह शरीर पर त्वचा का जो निरर्थक ढकना रहता है, जब वह छाल की तरह हट जाता है, तब वह शुद्ध स्फटिक के समान अथवा रत्न रूप बीज में से निकले हुए अंकुर के समान तेजस्वी दिखाई पड़ता है। उनके प्रत्येक अवयव की कांति अपूर्व तेज धारण कर लेती है। वह ऐसा लगता है मानो संध्याकाल के आकाश के रङ्ग से ही शरीर को बनाया हो! अथवा कुंकुम से भरी मूर्ति अथवा आत्मरस से परिपूर्ण मूर्तिमन्त शान्ति ही हो! ऐसी शोभा वह शरीर धारण कर लेता है। ऐसा लगता है कि वह आनन्द रूपी चित्र का रंग, अथवा परब्रह्म रूपी सुख स्वरूप, अथवा सन्तोष रूपी सुदृढ़ वृक्षही है। वह शरीर स्वर्ण-चम्पक की पूर्ण विकसित कली हो, या अमृत का पुतला हो,अथवा मृदुता का भण्डार ही हो ऐसा लगता है। जिस प्रकार शरत्-पूर्णिमा की आर्द्रता से चन्द्रबिम्ब शोभा देता है, अथवा मानो मूर्तिमन्त तेज ही आसन पर विराजमान हो गया हो, उसी प्रकार जब कुण्डलिनी अमृत पीती है, तब योगी का शरीर अत्यन्त तेजस्वी दिखाई देने लगता है ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाने से उस शरीर से यम भी डरने लगता है, उसकी वृद्धावस्था पीछे लौट जाती है,

तरुणाई की मस्ती भी अलग हट जाती है और फिर से बाल्यावस्था के दर्शन होने लगते हैं। वह देखने में एक लड़के की तरह मा म देता है, पर उसके पराक्रम और धैर्य का ओर-छोर नहीं रहता। मानो सुवर्ण वृक्ष में नये बौर आकर नित्य नई-नई रत्न-कलियां ही खिलती हों। उसी तरह साधक को नये नाखून निकलते हैं जो बड़े चमकदार होते हैं। उसको नये दांत भी निकलते हैं और हीरों की पंक्ति के समान शोभा देते हैं। समस्त शरीर में रोगों के सूक्ष्म अंकुर माणिक्य पंखुड़ियों के समान सतेज दिखाई देते हैं। हाथों की हथेलियाँ और पैरों के तलुवे कमल के समान लालिमा युक्त दिखाई पड़ते हैं और आंख स्वच्छ और तेजस्वी जान पड़ती है। ज्यादा क्या वर्णन किया जाय, जिस प्रकार मोती परिपक्व अवस्था में आजाने पर सीप में समाता नहीं जिससे उसकी संधि खुल जाती है, उसी प्रकार साधक की दृष्टि पलकों में न समा सकने से दूर तक पहुँचती है। यद्यपि वे पूरी खुली नहीं होतीं तो भी उनसे समस्त गगन मण्डल व्याप्त हो जाता है। हे अर्जुन! सुनो उसके शरीर की कांति सुवर्ण जैसी हो जाती है और वह वायु की तरह हलका हो जाता है क्योंकि उसमें पृथ्वी और जल का अंश नहीं रहता। फिर वह समुद्र पार की वस्तुओं को भी देख सकता है, स्वर्ण में होने वाली बात-चीत को भी समझ सकता है, गूंगे के मन भाव को भी जान सकता है। वह वायु रूपी अश्व पर सवार हो सकता है, पानी पर चल सकता है और इस तरह प्रसंगानुसार उसे अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। (२७०)

प्राण वायु का हाथ पकड़ कर, हृदयाकाश की सीढ़ियाँ बनाकर सुषुम्ना पर चढ़कर हृदय में पहुँचने वाली जीवात्मा को शोभा देने वाली जो जगदम्बा कुण्डलिनी है, वही जगत् बीज के गर्भ जीव पर छाया करती है। वह निराकार ब्रह्म की साकार मूर्ति, परमात्मा शिव की सम्पुट और ॐकार की तो साक्षात् जन्मभूमि ही है। अधिक क्या कहा जाय? वह कुण्डलिनी जब हृदय में जाग्रत होती है, तब वहाँ अखंड ॐकार ध्वनि

होने लगती है बुद्धि उस कुण्डलिनी के पास ही रहती है। उसके कान में वह ॐकार ध्वनि कुछ-कुछ जाती है। यह ध्वनि ऐसी होती है, मानो नादरूपी कुण्ड में ॐकार में आकार की ध्वनि के रूप चित्रित किये जा रहे हैं। वे बातें कल्पना से ही जानी जा सकती है, पर कल्पना करने वाला भी उस समय कहाँ होता है ? क्योंकि उसका जीवात्मा के साथ ऐक्य हो गया होता है। इसलिए हृदयाकाश में कैसी गर्जना होती है यह समझ में नहीं आता। हे अजुन ! मैं तुझसे एक बात यह कहना भूल गया कि जब तक वायु-तत्व का लय नहीं होता तब तक हृदयाकाश में नाद होता रहता हैं। उस अखंड ॐकार की मेघ गर्जना जैसी ध्वनि से हृदयाकाश गूँजता रहता हैं, उससे ब्रह्मरन्ध्र का द्वार स्वयमेव खुल जाता है। कमल के पीलेपन की तरह हृदयाकाश में जो अवकाश होता है, वहीं पर चैतन्य आधा भोजन किये रहता है (उसकी पूर्ण तृप्ति नहीं हुई होती)। उस आत्मा के घर जब परमेश्वरी कुण्डलिनी पहुँचती है तो वह अपना तेज चैतन्य के सम्मुख नैवेद्य के रूप में रखती हैं। जिसमें द्वैतभाव का चिह्न भी नहीं होता, ऐसी बुद्धि के शाक सहित शुद्ध भोजन अर्पित किया जाता है। इस प्रकार अपना तेज अर्पण कर देने पर वह कुण्डलिनी केवल प्राण वायु रूप बन जाती है। तब वह कैसी लगने लगती है ? जैसे कोई वायु की पुतली हो, उसने पीताम्बर धारण किया हो और फिर वह उस पीताम्बर को उतार कर खड़ी हो। अथवा पवन का झोंका लगने से दीपक की ज्योति बुझ गई हो। अथवा विद्युत आकाश में चमक कर तुरन्त लुप्त हो जाती है। अथवा हृदय कमल पर्यन्त एक सोने की सलाई अथवा प्रकाश रूप जल का स्रोत बहता हुआ आया और वहाँ की पोली भूमि में एक दम समा गया। इस प्रकार कुण्डलिनी रूप शक्ति का शक्ति में ही लय हो जाता हैं। ऐसी स्थिति होने पर भी वह शक्ति ही कही जाती है, पर वास्तव में वह प्राण वायु होती है, ऐसा समझ ! उस समय नाद, बिन्दु और कला-ज्योति का नाश हो जाता है। उसके पश्चात् मन का संयम, अथवा

प्राण-वायु का निरोध, अथवा ध्यान करना भी मिट जाता है। फिर कल्पना करनी और कल्पना का त्याग करना भी नहीं रहता, क्योंकि उस अवस्था में पंचभूतों का निश्चय ही अभाव हो जाता है पंचभूतों को पंचभूतों से ही नाश करना यही भगवान शंकर के योग-मार्ग का रहस्य है, परन्तु अब उसे श्रीमहाविष्णु (भगवान् कृष्ण) ने संकेत रूप में प्रकट किया। (ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं) मैंने अपने श्रोताओं को अच्छे ग्राहक देखकर उस गूढार्थ वाली गठरी कोखोलकर उसका भावार्थ ही उनके सामने प्रकट कर दिया। (२९२)

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५

हे अर्जुन ! जब इस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति का तेज लुप्त हो जाता है, तब शरीर भी लुप्त होकर सूक्ष्म रूप में हो जाता है और वह लोगों को दिखाई भी नहींदेता। शरीर पूर्ववत् सावयव होते हुए भी वह केवल वायुरूप होता है। जिस प्रकार केला के वृक्ष के ऊपरी पर्त को हटाकर केवल उसके गर्भ को ही खड़ा रखा जाय अथवा जिस प्रकार आकाश के अंग पैदा हो जायें वैसे ही उस योगी के अवयव होते हुए भी न होने के समान होते हैं। शरीर की ऐसी सूक्ष्म अवस्था हो जाने पर उसे 'खेचर' अर्थात् आकाश में चलने वाला कहा जाता है, और ऐसा शरीर प्राप्त हो जाने पर लोगों को वह बड़ा आश्चर्यजनक लगता है। हे अर्जुन ! ऐसा योगीं जब चलता है तब अणिमा आदि सिद्धियाँ उसके सम्मुख दोनोंहाथ जोड़कर खड़ी रहतीं हैं। (२९७)

परन्तु उन सिद्धियों से अपने को क्या काम है? पृथ्वी, जल और तेज ये तीनों भूत देहके भीतर ही लय हो जाते हैं ! पृथ्वी, को जल तत्व खा जाता है, जल को अग्नि स्वाहा करता है और हृदय में वायु, अग्नि का नाश कर देता है। फिर केवल वायु ही शेष बचता है जो शरीर की

आकृतिका ही होता है,पर वह भी कितनी बार निकलकर ब्रह्मरन्ध्र रूपी आकाशमें जा मिलता है। उससमय 'कुण्डलिनी' नाम मिटकर उसकामारुत जब तक ब्रह्ममें न मिल जाय तबतक उसकीशक्ति स्थिर रहतीहैं। फिरवह 'जालन्धर बन्ध' को छोड़कर,काकी मुख (कण्ठ-स्थान) को छोड़कर, ब्रह्म रन्ध्ररूपी आकाश पर्वत पर पहुँचती है। वह ॐकार की पीठ पर पैर रखकर पश्यन्ती-वाणीकी सीढ़ी को पार करके, ॐकार की अर्ध वर्तुलाकार मात्रा को पीछे छोड़कर ब्रह्माकाश में इस प्रकार मिल जाती है, जैसे नदी सागर में प्रविष्ट होती है। तब ब्रह्मरन्ध्र में स्थित होकर वह 'मैं ब्रह्म हूँ'की भावना रूपी भुजा को फैला,परब्रह्म काआलिंगन करके उसके साथ एक रूप हो जाती है। इस अवसर पर पंचभूतों का परदा हटकर शिव-शक्ति का ऐसा मिलन होता है कि वह आकाश सहित ब्रह्मानन्द में मिल जाता है। जिस प्रकार समुद्रका पानी बादल बनकर पृथ्वी पर बरसता है और फिर नदी के मार्ग से पुनः समुद्र में ही जा मिलता है, उसी प्रकार हे अर्जुन ! देह के रूप को ग्रहण करकेजीवात्मा परमात्मा के साथ मिलता हैं, और यह एकता समुद्र के जल के समान ही होती हैं। वहाँ पर मैं भिन्न हूँ और आत्मा भिन्नहै,अथवा हम दोनों एक ही हैं, इस तरह का वादविवाद शेष ही नहीं रहता। छोटा आकाश बड़े आकाश में मिल जाता है, इस सचाई का अनुभव जो कोई प्राप्त कर लेता है उसी को सिद्धि मिलती है। इसलिए उस स्थिति को शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। (३११)

हे अर्जुन सत्य तो वह है कि वर्णन करने का गर्व रखने वालों को तो उसका तनिक भी पता ही नहीं लगता। भ्रकुटि के भीतर 'मकार' (ॐकार की तीसरी मात्रा) का प्रवेश भी नहीं होता, उसी प्रकार अकेले प्राण वायु को भी ब्रह्म आकाश में जाते हुए कठिनाई

प्रतीत होती है। फिर वहाँ पहुँचने पर वायु भी तदाकार हो जाता है इससे वहाँ का वर्णन करने के लिए शब्दों की शक्ति ही चली जाती है। इस समय आकाश तत्व भी संकुचित होता है। जिस अव्यक्त स्थिति की गहराई में महदाकाश का भी पता नहीं लगता, वहाँ बिचारे शब्दों की कौन गिनती ? वह ब्रह्म न तो अक्षर की मर्यादा में आ सकता है और न श्रवण के क्षेत्र में रखा जा सकता है, इस तथ्य को तू तीन बार सत्य करके मान लेना। इसलिए ब्रह्म का चतुर्थपाद ईश्वर साक्षी, आत्मा का चौथा पाद तुरीय, तथा ॐकार की चतुर्थ मात्रा 'अ'—इन तीनों को शुद्ध परब्रह्म रूप ही समझो। जब दैवयोग से इसका अनुभव मिलता है, तो अनुभवकर्त्ता स्वयं भी तद्रूप हो जाता है। फिर वहाँ की स्थिति को जान सकने की बात अपने आप रुक जाती है। इसलिए हे धनुर्धर! इस विषय में चाहे कितना भी बतलाया जाय, वहसब कुछ करना-सुननाअपने आप बन्द होता है। जहाँ सब संकल्प मिट जाते हैं, जिस विषय में विचारों की हवा भी नहीं पहुँचती, उस ब्रह्म का रूप क्या है ? वह उन्मनी स्थिति का सौन्दर्य और तुरीया (समाधि) अवस्था का तारुण्य है, उसका आदि नहीं है और उसको नापा भी नहीं जा सकता। वह विश्व का आधार और योगरूपी वृक्ष का फल है, उसी प्रकार आनन्द का तो वह प्राण ही है वहाँ आकाश की सीमा आ जाती है, अर्थात् वह मोक्ष की केवल स्थिति होने से उसमें आदि और अन्त का लय हो जाता है। वह ब्रह्म पंचभूतों का मूल कारण और महातेजों का तेज है। हे पार्थ ! वही ब्रह्म मेरा मूल स्वरूप है। साधुजनो पर जब अधर्मी लोग अत्याचार करते हैं, तब यही चतुर्भुज मूर्ति उस निराकार स्वरूप में से प्रकट हो जाता है। हे अर्जुन ! इस प्रकार यह महासुख अवर्णनीय है, परन्तु जब तक वह प्राप्त न हो तब तक जो व्यक्ति उसके लिए लगातार प्रयत्न करते रहते हैं, वही उस सुख के अधिकारी होते हैं।

मैंने जो अष्टांग योग के साधन बताये, उनको जो अपने शरीर

द्वारा प्राप्त करता है, वह योग में निपुण होकर मेरे समान ही बन जाता है। ऐसे योगियों का शरीर इतना तेजस्वी हो जाता है मानो उनके देह रूपी पात्र में परब्रह्म रूपी रस ही न भर दिया गया हो। इस बात को सुनकर अर्जुन बोला —"हे प्रभो आपने जो कहा वह सत्य है, आपने जो मार्ग बताया वह ब्रह्म प्राप्ति कराने वाला है, उससे निस्सन्देह ब्रह्म साक्षात्कर हो जाता है। आपने जो साधन विधि बतलाई उसका दृढ़ता पूर्वक अभ्यास करने वाले वास्तव मे ब्रह्म पद प्राप्त कर लेते हैं यह आपके कथन से मेरी समझ में आ गया है। हे देव! आपकी बात को सुनने से ही चित्त में ज्ञान उत्पन्न होता है, तो फिर उसका अनुभव प्राप्त कर लेने पर तद्रूपता क्यों न प्राप्त होगी? इसलिए आपने जो कुछ कहा है उसमें संशय करने का लेश मात्र कारण नहीं है। तो भी मैं जो प्रार्थना करता हूँ उसे ध्यान पूर्वक सुन लीजिए। अभी आपने जिस योग का वर्णन किया है वह मुझे बहुत अच्छा जान पड़ा, पर उसके लिए मेरी सामर्थ्य के विषय में जो कुछ कहा वैसा में नहीं कर सकूँगा। यह योग मुझसे साधा नहीं जा सकेगा। मेरे शरीर में जितनी शक्ति है, उस समस्त शक्ति को लगाकर यदि यह योग सिद्ध किया जा सके, तो भी मैं बड़ी खुशी से इसका साधन करने को तैयार हूँ। इसलिए मेरी शक्ति से जो कुछ संभव हो सके, जो कुछ मुझ से बन सके उसी साधन को आप मुझे बतलावें। महाराज! आपने जो योग-साधन वतलाया है वह मैंने सुन लिया, पर क्या प्रत्येक मनुष्य उसका अभ्यास करके योग की प्राप्ति कर सकता है? अथवा बिना योग्यता के यह प्राप्त नहीं हो सकता, ऐसी बात है?" श्री कृष्ण ने कहा–"हे अर्जुन! ऐसे प्रश्न तू क्यों पूछता है? यह योगाभ्यास तो इतना महत्व-पूर्ण कार्य है कि इससे मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है, पर क्या किसी साधारण विषय में भी बिना योग्यता के सफलता प्राप्त हो सकी है? योग्यता के बिना तो कोई वस्तु अथवा अधिकार प्राप्त हो ही नहीं सकता। जब मनुष्य किसी कार्य के योग्य बन जाता है तभी उसमें

सिद्धि मिल सकती है। पर इस कार्य में तो योग्यता प्राप्त करने में कोई अड़चन पड़ ही नहीं सकती है। मैं ही पूछता हूँ कि क्या योग्यता की कहीं पर खान होती है? जो सांसारिक भोगों से कुछ विरक्त और धर्माचरण का पालन करते हुए देह धर्म नियमित और व्यवस्थित रूप में चलायेगा वही अधिकारी बन जायगा। इस दृष्टिके विचार करनेपर यह तो सिद्ध हो ही जाता है क्या इतनी योग्यता तुम में है।" इस प्रकार समझाकर भगवान् कृष्ण ने अर्जुन का दुःख दूर किया और कहा—"हे पार्थ! इस योग को प्राप्त करनेकी विधि यहीहै, पर अपना चित्त अव्यवस्थित रखने वाले को वह स्थिति की प्राप्त नहीं होती।"

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥१६

जो जिह्वा अथवा निद्रा के पूर्णतया अधीन हो गया है, वह इस योग का अधिकारी नहीं हो सकता अथवा दुराग्रह के कारण क्षुधा और तृष्णा का निरोध करके जो बहुत ही कम खाता है, अथवा हठ के प्रबल अभिमान के वशीभूत हो नाम मात्र के लिए भी नहीं सोता, उस व्यक्ति का अपना शरीर भी वश में नहीं रहता, फिर वह योग का साधन कैसे कर सकेगा? इसलिए विषयों का अति सेवन करने का अथवा पूर्ण रूप से उनका निरोध करने की इच्छा नहीं करनी चाहिए, अर्थात् सब काम नियमित होने चाहिए। (२४८)

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥१७

अन्न ग्रहण तो करना, परन्तु वह युक्तिपूर्वक और परिमित होना चाहिए। इसी प्रकार जो-जो कर्म किये जायें वे सब युक्तिपूर्वक उचित मात्रा में किये जायें। बोलना भी परिमित होना चाहिए, व्यायाम भी जितना शरीर को अनुकूल पड़े उतना ही किया जाय और जगना तथा सोना भी नियमित समय पर्यन्त करना चाहिए।। इससे शरीर में रक्त

आदि सातों धातुएँ और कफ-वात आदि सन्तुलित रहते हैं। इस प्रकार युक्ति से इन्द्रियों को तृप्त किया तो अपना स्वयम् का मनही अपने आप सन्तोष की वृद्धि करता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८

इस प्रकार बाह्य इन्द्रियों की स्थिति नियमित रखी जाय तो उससे अन्तर में सुख उत्पन्न होता और उस मनुष्य को बिना अधिक परिश्रम किये सहज में ही योग की प्राप्ति हो जाती है। जिस प्रकार भाग्योदय होने पर उद्योग को निमित्त बनाकर सब प्रकार की सम्पत्ति अपने आप घर में आने लग जाती है, उसी प्रकार जो नियम चाहता है, वह अगर विनोद के लिए भी योगाभ्यास की तरफ झुकता है तो उसे आत्म स्थिति का अनुभव प्राप्त हो जाता है। इसलिए हे अर्जुन ! जिस भाग्यशाली को युक्ति की सहायता मिलती है, वह मोक्ष-साम्राज्य में शोभा को प्राप्त होता है। (३५६)

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोमपा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९

नियमिततापूर्वक रहने वाले मनुष्य के मन में जो योगाभ्यास करने की इच्छा उत्पन्न हो जाय, तो इस संयोग को गंगा और यमुना पर स्थित प्रयाग तीर्थ की तरह समझना। उस आत्मरूपी प्रयाग तीर्थ में जिस मनुष्य का मन क्षेत्र-संन्यासवत् अविचल रहता है, उसी मनुष्य को तू योगी जान। उसके चित्त पर वायु रहित स्थान में रखे दीपक की उपमा लागू हो सकती है। अब तेरे मन का भाव समझकर तुझ से मैं जो कुछ कहता हूँ उसे ध्यान-पूर्वक श्रवण कर। तू योग की इच्छा रखता है, पर साधन की तरफ तेरा लक्ष्य नहीं है। तो क्या तुझे उस साधन के कठिन होने का भय लगता है ? हे पार्थ ऐसा भय

रखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये दुष्ट इन्द्रियाँ उस साधन को भयंकर दिखाकर डर की भावना उत्पन्न करती हैं। जो औषधि जीवन को दीर्घ बनाती है और बिल्कुल समाप्त होने वाले आयुष्य को रोक लेती है, मृत्यु के प्रसंग को टालती है, उस अमृत समान औषधि को भी कड़वा स्वाद होनेके कारण जिह्वा अपना शत्रु समझने लगती है। इसी प्रकार पारलौकिक हित की दृष्टि से जो वस्तु परमोपयोगी और उत्तम होती है, वह इन्द्रियों को दुःखदायक लगती है। नहीं तो विचार किया जाय तो विदित होगा कि इस योग-साधन के समान सहज और स्वाभाविक अन्य कोई साधन इस संसार में है नहीं।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।२०
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति तत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।२१

इसलिए आसन की दृढ़ता से युक्त योग के जिस अभ्यास का तुझको उपदेश दिया है, उसके द्वारा ही इन्द्रियों का निग्रह होना संभव है। इस योग साधन को करने से जब इन्द्रिय संयम हो जाता है तब चित्त स्वयं ही आत्मा से भेंट करने जाता है। चित्तका स्वभाव सदैव आगे की तरफ दौड़-धूप करते रहने का है। इसलिए जब वह पीछे की तरफ मुड़कर आत्मा को देखता और उसको आत्म दर्शन होता है, तो उसे यह प्रतीति होने लगती है कि "मैं ही आत्मतत्व हूँ।" इस प्रतीति के होते ही वह सुख के सिंहासन पर आरूढ़ हो जाता है तथा तत्पश्चात् आत्मानन्द में ही लय को प्राप्त हो जाता है। जिससे अधिक कोई वस्तु है ही नहीं और जिसको इन्द्रियाँ कभी जान ही नहीं सकतीं ऐसा जो आत्मस्वरूप अर्थात् ब्रह्मस्वरूप है चित्त स्वयं भी उसी रूप में परिणत हो जाता है।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।२२

इस स्थिति को प्राप्त होने पर उसके ऊपर चाहे मेरु पर्वत की अपेक्षा भी प्रचंड दुःख आ पड़े तो भी उसके चित्तको क्षोभ नहीं होता। चाहे उसके शरीर को हथियारों से छिन्न-भिन्न कर दिया जाय, चाहे अग्नि में जला दिया जाय तो भी महासुख में निमग्न रहकर उसका चित्त कभी दुख नहीं पाता। (३७१)

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगऽनिर्विण्णचेतसा ।२३

संसार के पंजे में फँसा हुआ मन जिस ब्रह्म सुख की मिष्टता को पाकर भौतिक सुखको सर्वथा भूल ही जाता है जो सुख योग का भूषण हैं, सन्तोष का साम्राज्य है और जिसके लिए सब ज्ञान की आवश्यकता है, वह ब्रह्म सुख अभ्यास-योग से मूर्तिमान होकर दिखाई पड़ने लगता है। ऐसा होने पर योगी तत्काल तद्रूप हो जाता है। (३७४)

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ।२४
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।२५
यतो यतो निश्चरति मगश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।२६

तथापि हे अर्जुन ! एक उपाय से यह योग सुलभ है। संकल्प की संतति जो काम, क्रोध आदि है, उसका नाश करने से जब संकल्प को अपनी सन्तानों का शोक होगा तभी वह योग साध्य होता है। विषय का लय हो गया है ऐसी बात संकल्प सुनाता है, अथवा जब वह इन्द्रियों को नियमित रूप से व्यवहार करते देखता है तो उसका हृदय फट जाता है। इस प्रकार वैराग्य हो जाने से संकल्प की मात्रा समाप्त हो जाती है और धैर्य रूपी मन्दिर में बुद्धि सुख पूर्वक निवास

करती है। (३७७) बुद्धि को धैर्यका आश्रय मिला तोवह मन को धीरे-धीरे ब्रह्मानुभव के मार्ग पर चलाकर ब्रह्म स्वरूप में उसकी स्थापना करती है। इसी मार्ग द्वारा ब्रह्म प्राप्ति होती है फिर यह मार्ग यदि कठिन मालूम पड़े तो उससे सुलभ एक अन्य मार्ग बतलाता हूँ। साधक को सबसे पहले एक नियम यह याद रखना चाहिए कि किया हुआ निश्चय कभी छोड़ा न जाय। इस प्रकार निश्चय करने से जो स्थिर हो जाता है, तो अनायास ही कार्य सिद्ध हो जाता है। परन्तु जो ऐसा न हो सके तो चित्त को खुशी से व्यवहार करने दिया जाय। क्योंकि इस प्रकार स्वतन्त्र होने पर वह जहाँ-जहाँ जायगा, वहाँ-वहाँ से हमारा आत्मिक 'निश्चय' उसको खींच लायेगा और क्रमशः उसे स्थिरता का अभ्यास हो जायगा। (३८२)

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।२७

एक बार इस प्रकार के अनुभव के पश्चात् उसी तरह जब चित्त स्थिर दशा को प्राप्त होता रहता है तो यह आत्म स्वरूप के निकट पहुँचने लग जाता है। फिर आत्म स्वरूपका दर्शन करके वह तद्रूप ही बन जाता है। इनसे द्वैत-भाव अद्वैत में डूब जाता है और उस ऐक्य के तेज से त्रैलोक्य प्रकाशित होता है। आकाश में उत्पन्न होने वाले बादल जब नष्ट होते हैं, तब जहाँ-तहाँ शुद्ध आकाश दिखाई पड़ने लगता है। उसी प्रकार जब चित्त ब्रह्म में लय होता है तब त्रैलोक्य सहज में ही ब्रह्म स्वरूप बन जाता है। (३८३)

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।२८

मनमाने संकल्प-विकल्पों को त्याग जो इस सुलभ योगस्थिति का पर्याप्त अनुभव प्राप्त करके सुखी बन जाते हैं, वे उस सुख के प्रभाव से परब्रह्म-पद तक पहुँच जाते हैं। जिस प्रकार नमक पानी में मिल जाने

पर उस पानी को छोड़ नहीं सकता, उसी प्रकार जीव और ब्रह्म का ऐक्य होने के पश्चात् वे अलग-अलग नहीं हो सकते। उस समय जीव ब्रह्मानन्द रूपी मन्दिर में महासुख की दिवाली मनाये जाने के समान समस्त संसार को देखता है। इस प्रकार योगी को वास्तव में अपने पैरों से अपनी ही पीठ पर चलना पड़ता है। पर जो ऐसा कठिन योग तुमसे न सध सके तो अन्य उपाय बतलाता हूँ। (३९०)

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।२९
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।३०

मैं सब शरीर में हूँ और सब शरीर मेरे भीतर है, इस विषय में तो कोई सन्देह ही नहीं है। इस प्रकार जगत् और ईश्वर एक-दूसरे से ओत-प्रोत हैं। परन्तु साधक की बुद्धि को यह तत्व ग्रहण कर लेना चाहिए। हे अर्जुन! जो ऐक्य भाव से यह समझ लेता है कि मैं सर्वभूतों में व्याप्त हूँ और इसी रूप में मेरा भजन करता है व्यक्तियों का अनेकत्व देखकर जिसके हृदय में अनेकत्व उत्पन्न नहीं होता और जो सभी स्थानों में मुझको व्यापक मानता है, ऐसा व्यक्ति और मैं एक ही हूँ, इस विषय में अधिक कहना व्यर्थ है। क्योंकि हे धनंजय! इस विषय को चाहे शब्दों द्वारा न समझाया जा सके तो भी उसका और मेरा स्वरूप एक ही है। जिस प्रकार दीपक और प्रकाश का कोई भेद नहीं होता, दोनों एक ही हैं उसी प्रकार वह मुझ में है और मैं उसमें हूँ। जिस प्रकार रस का अस्तित्व पानी के योग से और आकाश (पोलापन) का अस्तित्व आकाश के योग से होता है उसी प्रकार योगी मेरे ही स्वरूप से स्वरूपवान् दिखाई देता है। (३९७)

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।३१

हे अर्जुन! जिस प्रकार वस्त्र में तन्तु मिला हुआ होता है,

उसी प्रकार जिसको ऐक्य-दृष्टि से सभी जगह मैं ही व्याप्त दिखाई देता हूँ, अथवा जिस प्रकार अलंकार (गहने) अनेक प्रकार के होते हैं, पर वे सब एक ही सुवर्ण के बने होते हैं अथवा जिस प्रकार वृक्ष में अनेक पत्ते रहते हैं, वे अलग-अलग नहीं लगाये होते वरन् उनका मूल एक ही वृक्ष होता है। ऐसे ही अद्वैत ज्ञान रूपी प्रकाश से जिसकी अज्ञान रूपी रात्रिका नाश हो गया है वह मनुष्य पाँचभौतिक शरीर में रहते हुए भी उसके बन्धन में नहीं पड़ सकता। अनुभव के द्वारा जो मुझ से एकत्व प्राप्त कर लेता है, वह मेरे सर्वव्यापी स्वरूप को भी अच्छी तरह समझ लेता है। इस रहस्यको जानने वाला स्वयं भी सर्वव्यापी बन जाता है। इसमें किसी को भी सन्देह करना ही नहीं चाहिए। ऐसा व्यक्ति चाहे शरीरधारी होता है तो भी शरीर के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस विषयको शब्दों द्वारा स्पष्ट रूपसे समझाया नहीं जा सकता, इसलिए मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता। (४०३)

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।३२

जो समस्त जगत् को अपने समान ही मानता है, जो सुख और दुःख की भावना नहीं रखता, शुभ-अशुभ को पृथक्-पृथक् नहीं समझता, जो सम, विषम और विचित्र सभी बातों को अपने शरीर के अवयवों के समान एक ही मानता है, और जिसने अनुभव द्वारा यह समझ लिया है कि "त्रैलोक्य मैं ही हूँ", ऐसे व्यक्ति को चाहे दुनियाके लोग शरीरधारी और सुख-दुःख भोगने वाला समझते रहें, पर मेरे मतानुसार तो वह "ब्रह्मस्वरूप" ही हैं। इसलिए हे अर्जुन ! जिस समदृष्टि के प्रभाव से आत्मा समस्त विश्व को देख सकता है, और स्वयं भी विश्व-रूप बन सकता है, तू उसी की उपासना कर। इसी कारण मैंने अनेक प्रकार से तुझे यह बतलाया है कि इस जगत् में "समदृष्टि" से बढ़कर प्राप्त करने योग्य अन्य कोई वस्तु नहीं है। (४१०)

अर्जुन उवाच–

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ।३३
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।३४

फिर अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से कहा–हे देव, आपने मेरे ऊपर कृपा करके मुझे समत्व मार्ग बतलाया, पर मन के चञ्चल स्वभाव के कारण मेरा वश नहीं चलता। यह मन कैसा है, इसका कुछ पता ही नहीं चलता। इसकी कामनाओं के लिए तो त्रिलोकी भी छोटी जान पड़ती है। जिस प्रकार बन्दर को समाधि लगवा सकना अथवा प्रचण्ड तूफान को "ठहर जा" कहकर स्थिर बना देना असम्भव है उसी प्रकार मन का स्थिर हो सकना भी सम्भव नहीं है। यह मन बुद्धि को ठगता है, निश्चय को भङ्ग कर देता है और धैर्य के हाथ पर हाथ मार कर भाग जाता है जो मन विचार को बहकाता है सन्तोष को खण्डित करता है, और एक स्थान पर शान्ति पूर्वक बैठ मनुष्यको दशों दिशाओं में दौड़ाता है। इसको दबाकर रखने से यह उछल-कर बाहर निकल जाता है, निग्रह करने पर उलटा अधिक तेज हो जाता है। ऐसा मन क्या अपना स्वभाव छोड़ देगा? इसलिए जब मन को स्थिर बनाया जा सके तभी हमको समदृष्टि प्राप्त हो सकती है, पर मन की चंचलता के कारण वैसा हो सकना असम्भव लगता है। (४१७)

श्रीभगवानुवाच–

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।३५

तब श्री कृष्ण ने कहा—"जो कुछ तुमने कहा वह सत्य है, मन का स्वभाव चंचल है, परन्तु उसको यदि वैराग्य के आधार पर

अभ्यास कराया जाय तो वह समय आने पर अवश्य स्थिर हो जायगा। क्योंकि इस मन का एक उत्तम गुण यह है कि जिस बात का इसको चस्का लग जाता है उसमें निरन्तर रहने को यह आकर्षित हो जाता है। इसलिए चाहे विनोद की दृष्टि से हीं हो, पर मन को आत्म सुख की तरफ़ अवश्य मोड़ देना चाहिए।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६

जिसमें वैराग्य नहीं है और जो अभ्यास भी नहीं करता, उसका मन कभी वशमें नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो यम नियम, प्राणायाम आदि का अभ्यास नहीं करता जिसे कभी वैराग्य की याद भी नहीं आती और जो केवल विषय रूपी जल में मत्स्य की तरह डूबा रहता है और इस प्रकार विषय-लम्पट हुए अपने मन को कभी युक्त से नियन्त्रित नहीं करता उसका मन कैसे निश्चल हो सकेगा? इसलिए मनोनिग्रह के जो उपाय हैं उनको तू आरम्भ कर, फिर इस बात को देख कि मन वश में होता है या नहीं? क्या योग साधन सब झूँठे हैं, परन्तु मुझसे उसका अभ्यास नहीं किया जाता ऐसा कहना ठीक नहीं जो योग साधन का बल अपने पास हो तो मनकी चञ्चलता क्या कर सकती है? क्या योग-साधन से महत्तत्व आदि वश में नहीं हो जाते।" यह सुनकर अर्जुन बोला-देव आप जो कहते हो वह सत्य है। वास्तव में योग-बल के सम्मुख मन की चंचलता का बल टिक यहीं सकता। पर वह योग कैसा है और उसे किस प्रकार जाना जा सकता है, इस बात की मुझे जानकारी नहीं। इसी से आज तक मैं यही कहता था कि यह मन ऐसा है जिसका निग्रह नहीं किया जा सकता। पुरुषोत्तम! आपकी कृपा से अपने समस्त जीवन में आज ही मुझे उसका परिचय मिला। (४२९)

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।

अप्राप्य योग संसिद्धि कां गति कृष्ण गच्छति ।३७
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ।३८
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तु महस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ।३९

परन्तु हे प्रभो ! मेरे मन में एक अन्य संशय स्वभावतः ही पैदा हुआ । इस संशय को निवृत्त करने में आपके अतिरिक्त और कोई समर्थ नहीं । हे गोविन्द ! जो मनुष्य मोक्ष प्राप्तिके लिए भक्ति-युक्त अन्तःकरण से श्रद्धापूर्वक अभ्यास करने लगे और इन्द्रियरूपी गाँव से निकल कर मोक्ष रूपी नगर में जाने के लिए भक्तिरूपी मार्ग में प्रवेश करे,यदि ऐसे व्यक्ति को मोक्ष-प्राप्ति होने से पहले ही उसकी आयु पूरी हो जाय, तो उसकी क्या गति होगी? असमय में घिर आने वाला बादल जिस प्रकार टिकता भी नहीं और बरसता भी नहीं उसी प्रकार वह साधक दोनों लक्ष्यों से वंचित हो जाता है अर्थात् मोक्ष तो दूर रही, परन्तु श्रद्धा के साथ किया जाने वाला सांसारिक व्यवहार भी छूट जाता है। इस प्रकार दोनों लक्ष्यों से वंचित होने वाले की क्या गति होती है ? (४३६)

श्रीभगवान् उवाच—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गति तात गच्छति ।४०

तब श्री कृष्ण भगवान् ने कहा—हे पार्थ ! जिनको मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा होती है उनकी मोक्ष के अतिरिक्त और कोई गति नहीं हो सकती । यह हो सकता है कि उसे मार्ग के बीच में कहीं विश्राम करना पड़े, पर वहाँ भी उसे जो सुख मिलता है, वह देवों को भी प्राप्त नहीं होता । जो ऐसा मनुष्य योगाभ्यास द्वारा मोक्ष-मार्ग पर गमन करता है तो वह दिवस (आयुष्य) का अन्त होने के पहले ही मोक्ष रूपी नगर में पहुँच जाता है । पपन्तु यदि उसकी गति उतनी अधिक न हो तो

उसे मार्ग में विश्राम करना पड़ता है, तो भी अन्त में उसे मोक्ष प्राप्त होना निश्चय है। (४४०)

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।४१।

अरे इस कौतुक को तो देख ! सौ यज्ञ करने वालेइन्द्र को भी जिस लोक को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है, वह लोक इस मोक्षाभिलाषी पुरुष को अनायास ही मिल जाता है। फिर वहाँ के सफल और अनुपम भोगों को भोगते हुए उसे विरक्ति होती है। उन दिव्य भोगों में रहते हुए सुख नहीं जान पड़ता और निरन्तर हाथ जोड़ कर भगवान् से यही प्रार्थना करता रहता है और पश्चात्ताप करता है कि हे भगवन् यह भोग का विघ्न मेरे मार्ग में कहाँ से आ गया ? वह फिर मृत्यु लोक में जन्म ग्रहण करता है, परन्तु वह समस्त धर्म के भंडार रूप उच्च कुल में ही उत्पन्न होता है। यहाँ उसके ऐश्वर्य की वृद्धि होती है और पूर्व जन्म के बीच के अंकुर निकलते हैं। जो कुल नीति मार्ग पर चलने वाला हो, सत्य और सुमधुर भाषण करने वाला तथा शास्त्रोक्त रीति से व्यवहार करने वाला हो जिस कुलका व्यवसाय और सारासार विचार उसका मन्त्री हो, जिस कुल में ईश्वर के अतिरिक्त और किसी का चिन्तन नहीं किया जाता हो और ऋद्धि आदि को ही घरका देवता मानकर पूजा की जाती हो—ऐसे जिस कुल में समस्त पुण्य एकत्र हों और सब सुखों की समृद्धि हो उसी कुल में योग भ्रष्ट पुरुष आनन्द से जन्म धारण करता है। (४४८)

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।४२
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।४३

अथवा जो पुरुष ज्ञान रूपी अग्नि में हवन किया करते हैं, जो पर ब्रह्म रूप नगर में रहने वाले 'एकमेवाद्वितीयम्'' के सिद्धान्त में नित्य

निमग्न रहकर त्रिभुवनका राज्य करते हैं,जो संतोष रूपी वन में कोकिल के समान सुन्दर स्वर निकालते हैं, जो विचार रूपी वृक्षको जड़के समीप बैठकर ब्रह्म रूपी नित्य जल का सेवन करते हैं ऐसे किसी योगी के घर में वह योगभ्रष्ट पुरुष जन्म धारण करता है। जन्म लेनेके पश्चात् छोटी उम्र में ही उसकी आत्मा में ज्ञान का प्रकाश पड़ता है, जिस प्रकार सूर्योदय के पहले उसकी प्रभा चारों तरफ फैलती है, उसी प्रकार प्रौढ़ वय की राह न देखकर ज्ञान उसको बाल्यावस्था में ही अपना लेता है। पूर्व जन्म में सिद्ध हुई बुद्धिके द्वारा उसे सर्व विद्यायें प्राप्त होती हैं और उसके मुखसे समस्त शास्त्र स्वयमेव निकलने लगते हैं। ऐसे उत्तम कुल में जन्म लेने की अभिलाषा देवताओं के मन में भी होती है और इसके लिए वे नित्य हवन जप करते हैं। हे पार्थ ! देवगण भी जिसकी प्रशंसा करते हैं, ऐसे उत्तम कुल में योग भ्रष्ट जन्म लेता है। (४५६)

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।४४

इतना ही नहीं पूर्वजन्म में जीवन के अन्तकाल की सद्बुद्धि उसे इस जन्म में पुनः प्राप्त होती है। प्रथम तो कोई पुरुष भाग्यवान हो, फिर वह पैरों से जन्म लेने वाला हो, साथ ही उसकी आँखों में दिव्य अंजन आँज दिया जाय, तो उसे पृथ्वी में गड़ा हुआ धन सहज ही में दिखाई पड़ता है उसी प्रकार योग भ्रष्ट पुरुष की बुद्धि उन कठिनाई से समझे जाने वाले विषयोंको भी अपने आप जानने लग जाती है जिसका ज्ञान सामान्यतः गुरुके उपदेश सेही हुआ करता है। उसकी इन्द्रियाँ अपने आप ही मन के अधीन हो जाती हैं, मन प्राण वायु के साथ ऐक्य करता है, और प्राण वायु चिदाकाश में मिल जाती है। अन्य बातें जैसे चाहे वैसे होती है, पर योगाभ्यास तो उसे अनायास प्राप्त होता है और समाधि उसका घर पूछती चली आती है। उसको देखने पर ऐसा ही लगता है कि मानो 'योगस्य शिवजी' अथवा योग का

आरम्भ कालीन वैभव वैराग्य रूपी सिद्धि का मूर्तिमन्त अनुभव ही प्रकट हुआ है क्या ? अथवा संसार मापक यन्त्र अथवा अष्टांगयोग साहित्य का भण्डार ही प्रकट हो गया। मानो सुगन्ध ने चन्दन का रूप धारण कर लिया हो, इस प्रकार साधक दशा में ही वह इतना योगारूढ़ जान पड़ता है, कि वह सन्तोष की मूर्ति के समान अथवा सिद्धि के भण्डार में से निकाली हुई भव्य प्रतिमा के समान हीं यह दिखाई देता है। (४६४)

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५

कारण यह होता है कि करोड़ों वर्षो और हजारों जन्मों के प्रतिबंधों को दूर करके वह आत्मा सिद्धि के किनारे आ पहुँचा होता है इसलिये समस्त साधन उसे सहज में प्राप्त होते हैं और वह अनायास ही विवेक के सिंहासन पर विराजमान होता है। इसके पश्चात् विचार करने वाला विवेक भी पीछे रह जाता है और विचार भी नहीं किया जा सकता 'ऐसा ब्रह्म वह स्वयं ही बन जाता है। इस अवसर पर तनके ऊपर छाये बादल हट जाते हैं, प्राण वायुका चलना बन्द हो जाता हैऔर वह चिदाकाश में लीन होकर ॐकार के अर्ध बिन्दु में निमग्न हो जाता है। इस प्रकार उसे ऐसा अवर्णनीय सुख प्राप्त होता है कि वाणी द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। सब प्रकार की गति और गति देने वाला जो निराकार परब्रह्म है उसकी मूर्ति ही बन जाता है। उसने पिछले जन्मोंमें वासनारूपी विक्षेप और पापरूपी मलका निवारण किया होता है,इसलिए जन्म लेतेही उसकी लग्नघडी डूब जातीहै अर्थात् उसके कर्म क्षय होने का अवसर आ जाता है। तब ब्रह्म स्थितिके साथ उसका शुभ-विवाह होकर वह अभेदात्मक पद पर पहुँच जाता है। बादलोंके नष्ट होने पर जिस प्रकार आकाश ही स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार मल-विक्षेप दूर होने पर, शरीर के विद्यमान रहते हुए भी उसमेंसे विश्व

की उत्पत्ति होती है, विश्वका लय होता है, अर्थात् वह योगी इस भौतिक शरीर में रहते हुए ही 'सदेह ब्रह्म' बन जाता है ।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक: ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।४६

जिस लाभ को प्राप्त करने की आशा से कर्मनिष्ठ पुरुष अपने बाहुबल पर भरोसा रखकर कर्म मार्ग की धारा में कूदते हैं, अथवा जिस वस्तुके लिए ज्ञानी पुरुष ज्ञान रूपी कवच धारण करके समर प्रांगणमें प्रपंचरूपी शत्रु के साथ युद्ध करते हैं,अथवा जिसकी प्राप्तिके लिए तपस्वीगण निर्जन और विकट पर्वतों के भयंकर स्थानों से चलते हैं, जो भक्तोंके भजन का लक्ष्य है और सब प्रकार से पूज्य है, तथा साधकों का सिद्ध तत्वहै, ऐसा जो कैवल्य पद है उस पर वह स्वत: ही आरूढ़ हो जाता है । इसलिए वह कर्मकांड वालों के लिए वन्दनीय, ज्ञानियों के लिए विचारणीय और तपस्वियों के लिए मुख्य गुरुरूप बन जाता है । जीव और परमात्मा के संगमस्थल पर उसके मनका ऐसा भाव हो जाने से,देहधारी होनेपरभी वह इतनी भारी योग्यता प्राप्त कर लेता है । इसलिए हे अर्जुन ! मैं तुझसे अपने अन्त:करण से सदैव यही कहता हूँ कि तू योगी बन जा । (४८१)

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो माँ स मे युक्ततमो मत: ।४७

अरे ! तू ऐसा समझ ले कि योगी देवताओं का भी देव, मेरे सब सुखों का सागर और मेरा प्राण ही है । भक्ति-मार्ग में भक्त, भगवान और भजन की जो 'त्रिपुटी' कही जाती है उसे वह स्वयं को ही समझता है । हे सुभद्रापते ! फिर उसकी और मेरी प्राप्ति का तो वर्णन किया ही नहीं जा सकता । ऐसा समझ ले कि वह मेरा प्रत्यक्ष रूप ही है । इस प्रकार के प्रेम ऐक्य की तुलना के लिए यदि कोई

उपमा देनी हो तो यही कहा जा सकता है कि मैं देह हूँ और यह आत्मा है। संजय महाराज धृतराष्ट्र से कहता है कि हे राजन् ! भक्ति रूपी चकोर के चन्द्र अथवा सर्व त्रिभुवन के पति, अथवा गुणों के समुद्र जो भगवान् कृष्ण हैं, वे इस प्रकार बोले। इससे प्रथम से ही योगेश्वर का वर्णन सुनने को उत्सुक अर्जुन की उत्कण्ठा दुगुनी हो गई। श्री यदुनाथ को अर्जुनका ऐसा मनोभाव देखकर आनन्द हुआ और वे मन में कहने लगे कि 'मैंजो कुछ कहता हूँ उसका पूर्ण प्रतिविम्व अर्जुन के हृदयरूपी दर्पण में पड़ता है।' अब वे आनन्द के आवेश में आगे कथा कहेंगे। इस कथा में शान्तरस का स्पष्ट दर्शन होगा और ज्ञान रूपी बीज का अंकुर फूटेगा। इस ज्ञान बीज को उगने के लिए सत्वगुण की पुष्टिं हुई, मानसिक क्षेत्र के ढेले टूट गये और चतुर श्रोताओंका चित्त रूपी क्षेत्र कंचन के से बीजों को बोने के लिए तैयार देखकर भी निवृत्तिनाथ को ज्ञान रूपी बीजोंको बोनेकी आवश्यकता हुई। ज्ञानदेव कहते हैं कि उन बीजों को बोने के लिए गुरुदेव ने विनोद पूर्वक मुझे बीज बोने वाला चोगा बनाया और मेरे मस्तक पर हाथ रखा। इसलिए मेरे मुख से जो कुछ निकलता है वह सन्तों को रुचिकर लगता है। अस्तु अब श्री रंग ने जो कुछ कहा उसे मैं आगे बतलाऊँगा। परन्तु श्रोता उन बातों को मानसिक श्रवणेन्द्रिय से सुने, बुद्धि की आँख के उसके तत्व को देखें और फिर चित्त द्वारा उसके सम्बन्ध में ऊहापोह करें। फिर सावधानी पूर्वक हाथों से उठाकर उन को हृदय में संचित करें। इससे उन सज्जनों का चित्त आनन्दित होगा। इन शब्दों द्वारा नित्य प्राप्ति होगी, संकट से छुटकारा मिलेगा और अन्तःकरण सुखी होगा। अब श्री मुकुन्द अर्जुन को जो सर्वोत्कृष्ट ज्ञान प्रदान करेंगे, मैं तुमको ओवी में सुनाऊँगा। ४९७

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां
षष्ठोऽध्याय: ।।६।।

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

श्री भगवान् उवाच–

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ।१
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।२

हे श्रोतागणो ! श्री अनन्त पार्थ से कहने लगे—अरे, तू निश्चय ही योग विषयक ज्ञान से सम्पन्न हो गया है। अब मैं तुझको व्यावहारिक ज्ञान सहित ब्रह्मज्ञान इस प्रकार सुनाऊँगा, कि उसके प्रभाव से तू मुझको उसी प्रकार सम्पूर्ण रूप से जान सकेगा जैसे हम अपनी हथेली पर रखे हुए रत्न को स्पष्ट देखते हैं। यदि तेरे मन में ऐसा संशय उत्पन्न होता हो कि यहाँ व्यवहार ज्ञान की क्या आवश्यकता है ? तो तुझे सबसे पहले इसी विषय को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। ऐसा करने से ज्ञान के साक्षात्कार का अवसर आने पर बुद्धि की दृष्टि कुण्ठित हो जाती है। जिस प्रकार नदी के किनारे पर नाव का लंगर डालने से वह हिलती नहीं, उसी प्रकार जहाँ बुद्धि प्रवेश नहीं कर सकती, विचार के कदम पीछे की तरफ पड़ते हैं और तर्क का उत्साह मन्द पड़ जाता है, उसी को 'ज्ञान' कहा जाता है। हे अर्जुन ! इस ज्ञान के अतिरिक्त शेष सब प्रकार के सांसारिक ज्ञान को "विज्ञान" कहा जाता है। और हे अर्जुन! यह समझ लेना चाहिए कि इस प्रपंच को सत्य मानना भयंकर अज्ञान है। जब अज्ञान-लोप हो जाता है, विज्ञान भी पूर्णतया भस्मीभूत हो जाता है, तब वह मूर्तिमन्त ज्ञान

प्रकट होता है, जिसके संयोग से वक्ता की वाणी रुक जाती है, श्रोता की इच्छा कम पड़ जाती है, और लघु अथवा महान् वस्तु का भेद जाता रहता है। जिसको थोड़ा-सा जान लेने पर भी उद्देश्य पूरा हो जाता है, वह गुप्त तत्व अब मैं तुझे सुनाता हूँ। (६)

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः ।३

अरे! हजारों मनुष्यों में से केवल एकाध को इस ज्ञान की इच्छा होती है, और ऐसी इच्छा वाले अनेकों में से कोई एक मुझे जानने वाला मिलता है। हे अर्जुन! जिस प्रकार मनुष्यों से भरे इस त्रिभुवन में लाखों में से कोई एक ही समरांगण के लायक होताहै, और जब तलवारों के घाव शरीर पर लगते हैं तब कोई एक ही वहाँ डटा रह कर विजय श्री का अधिकारी होता है, उसी प्रकार मेरी ज्ञान-प्राप्ति के प्रवाह में करोड़ों लोग गोता लगाते हैं,पर दूसरे किनारे तक तो उनमें से एकाध मनुष्य ही जा सकता है (अर्थात् किसी एक को ही मेरी प्राप्ति होती है)। इसलिए यह बात सामान्य नहीं है वरन् अति महान है—परन्तु उसका वर्णन आगे चलकर किया जायगा, अभी तो तुझको विज्ञान का स्वरूप ही बतलाता हूँ, इसे सुन। (१४)

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।४

हे धनंजय! मेरी बात सुन! जिस प्रकार अपने अंग की छाया पड़ती है, उसी प्रकार इन महदादि तत्वोंका प्रकटीकरण मेरी माया है। इसी को प्रकृति कहा जाता है। इसके विभिन्न आठ भेद हैं। इन आठों से ही त्रिलोकी की उत्पत्ति होती है भूमि, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार ये ही प्रकृति के आठ भेद हैं अथवा उसके आठ विभिन्न स्वरूप हैं। (१८)

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।५

हे पार्थ ! इस प्रकार जो अपरा प्रकृति की सौम्य स्थिति अर्थात् एकीकरण है, वही मेरी परम प्रकृति है। वही परमात्मा में जीव भाव उत्पन्न करती है और इसी ने उसे 'जीवभूता' ऐसी संज्ञा प्राप्त हुई। यह प्रकृति अचेतन को जीवन प्रदान करती है, ज्ञान को चैतन्य देती है और मन को शोकमोहादि अनुभव कराती है इसके सान्निध्य से बुद्धि ज्ञान की उत्पत्ति होती है और वह अहङ्कार के कौतुक जगत् को धारण करती हैं। (२४)

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।६

यह सूक्ष्म (परा) प्रकृति जब स्वेच्छा से स्थूल प्रकृति के साथ मिल जाती है, तब दृष्टि से प्राणियों की टकसार खुल जाती है। इस टकसार में अपने आप चार प्रकार के सिक्के (जरायुज, अंडज, स्वेदज, उद्भिज्ज) ढलने लगते हैं। इनमें पंचभूत तो समान रूप से ही रहते हैं, पर उनकी श्रेणियाँ पृथक्-पृथक् हो जाती हैं उनमें चौरासी लाख जातियाँ होतीहैं और उन जातियों की उपजातियाँ कितनी हैं, उनकी तो कोई गिनती ही नहीं है। इस प्रकार अनेक प्रकार के सिक्कों से निराकार (शून्य) अव्यक्त का गर्भ भर जाता है। इस प्रकार पंचमहाभूतों से अनेक प्रकारके सिक्के बनते हैं और उनकी बुद्धि का हिसाब प्रकृति (माया) ही रखती है। वह इस सिक्का पर छाप लगाकर उसका प्रचलन करती है और फिर वही प्रकृति उसे वापस लौटा लेती है। इस प्रकार कर्म-अकर्म के व्यवहार में माया ही उनको प्रवृत्त करती है। अब इस रूपक को छोड़कर तुझे स्पष्ट रूप से समझाता हूँ कि यह प्रकृति ही प्राणियों के नाम रूप का विस्तार करती है और फिर वह प्रकृति मुझमें ही लय हो जाती है। इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति स्थिति तथा सबका कारण मैं ही हूँ। (२८)

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।७

यह दृश्य जगत् मृग जल के समान है। मृग जल के कारण को ढूँढने लगें तो वह सूर्य किरण नहीं वरन् प्रत्यक्ष सूर्य ही है। उसी प्रकार हे अर्जुन ! जिस प्रकृति से यह सृष्टि उत्पन्न होती है, वह प्रकृति और सृष्टि दोनों दिखाई पड़ती है। उन दोनों का अन्त होकर जब वे अपने मूल रूप में समा जायेंगीं और मुझ में ही लय हो जायेंगी तब प्रकट होगा कि सबका अधिष्ठान मैं ही हूँ। इस प्रकार जो कुछ उत्पन्न होता है, दिखाई पड़ता है और लय को प्राप्त होता है वह सब कुछ मेरे भीतर ही है। जिस प्रकार डोरा के आधार पर माला के दाने होते हैं उसी प्रकार यह जगत् मेरे आधार पर है। सुवर्ण के दाने बनाकर सोनेके तार में ही पिरो दिये जायें उसी प्रकार यह विश्व बाहर भीतर मुझ से ही व्याप्त है। (३२)

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवःसर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ।८

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि बिभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ।९

इसलिए जल में जो रस है, अथवा वायु में जो स्पर्श है, और सूर्य चन्द्रमा में जो प्रकाश हैं, वह मैं ही हूँ ऐसा समझ ले। इसी प्रकार पृथ्वी में स्वाभाविक रूप में रहने वाली सुगन्ध और आकाश में रहने वाला शब्द मैं ही हूँ। फिर वेद में जो ॐकार है वह मैं ही हूँ। मनुष्य में रहने वाला मनुष्यत्व (अहंभाव), पौरुष, अग्नि में रहने वाला तेज मैं ही हूँ। संसार में अनेक प्रकार के प्राणी जन्म लेकर अपनी-अपनी जाति के अनुसार अन्न आदि के आधार पर जीवित रहते हैं। कोई वायु का ही सेवन करके रहता है, कोई घास से जीविका चलाता है, कितने ही अन्न खाकर जीते हैं ओर कुछ केवल पानी पर निर्वाह करते हैं। इस प्रकार समस्त प्राणियों में अपनी प्रकृति के अनुसार जो जीवन दिखाई पड़ता है, वह सब मैं ही हूँ। (३९)

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कालोऽस्मि भरतर्षभ ॥११

सचमुच उत्पत्तिकाल में जो आकाश रूपी अंकुर से विस्तार पाता है और जो संसार के अवसान (प्रलय) पर ॐकार के अक्षरों को भी मिटा देता है, जब तक इस जगत् का अस्तित्व है तब तक जो इसके समान ही दिखाई पड़ता है और महा प्रलय के अवसर पर आकार रहित हो जाता है, ऐसा जो इस जगत् का अनादि और स्वयं सिद्ध बीज है, वह मैं ही हूँ। हे अर्जुन ! आज मैं इस बीजको सर्वथा तेरे हाथ में देता हूँ। इस विषय में सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके विचार करेगा तब तुझे मालूम होगा कि इसका परिणाम कितना श्रेष्ठ है। परन्तु अब इस प्रासंगिक विषय को त्याग कर मैं तुझे संक्षेप में यह समझाना चाहता हूँ कि तपस्वियों में जो तप है, बलवानों में जो बल है बुद्धिमानों में जो बुद्धि है वह मैं ही हूँ। जिसके आचरण से धर्म और अर्थ रूपी पुरुषार्थों की सिद्धि हो, ऐसा समस्त प्राणियों में रहने वाला काम भी मैं ही हूँ। यदि विकार उत्पन्न होने से इन्द्रियाँ अपनी इच्छानुसार आचरण करने लगें, तो भी वह काम उनको धर्म के विरुद्ध चलने नहीं देता। वह 'काम' निषेध का टेढ़ा मार्ग छोड़कर विधि के राज-मार्ग पर ही चलता है और फिर उसके साथ विवेक की प्रज्वलित मशाल भी होती है। इस प्रकार का काम का आचरण होने से जो धर्म साधन होता है उसके द्वारा संसारी ज़ीव मुक्ति का अधिकारी बन जाता है। वेद ने जिसकी स्तुति की है, ऐसे कर्म रूपी विज्ञान पर विश्वरूपी वेल चढ़ती हुई जब फलों से इतनी झुक जाती है कि उसके पत्ते मोक्ष को स्पर्श करने लगते हैं, तब तक 'काम' अपना कार्य करता ही जाता है। योगियों के जनक श्रीकृष्ण कहते हैं कि ऐसा नियम में, रहने वाला बीज भूत 'काम' मैं ही हूं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का पृथक्-पृथक् वर्णन कहाँ तक

करूँ, तू इतना ही समझ ले कि प्रत्येक वस्तु का विस्तार मुझसे ही हुआ है। (५८)

ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ।।१२

सात्विक, राजस और तामस आदि विकार भी मुझमें से ही उत्पन्न हुए हैं। पर मैं उनसे उत्पन्न कदापि नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार स्वप्न जागृत अवस्था से ही उत्पन्न होता है और उसमें जागृति नहीं रहती। अथवा जिस प्रकार बीज रस से ही बना होता है और उसी से अंकुर निकलकर कठोर लकड़ी की उत्पत्ति होती है, पर उस लकड़ी में बीज का नाम निशान भी नहीं रहता। इसी प्रकार सत्वादि सब विकार मुझसे उत्पन्न होते हैं, पर मैं उनमें नहीं रहता। जिस प्रकार आकाश में बादल रहते हैं, पर बादलों में शुद्ध आकाश नहीं होता, जिस प्रकार बादलों में पानी होता है पर पानी में बादल नहीं होते, फिर पानी में घर्षण से तेज (बिजली) उत्पन्न होती है, परन्तु उस तेज में पानी नहीं होता, अग्नि में से जो धूँआ होता है, उसमें अग्नि नहीं होती, उसी प्रकार सत्वादि सब विकार मुझमें से उत्पन्न होते हैं, तो भी मैं उनमें नहीं होता। (५९)

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।।१३

तो भी जिस प्रकार पानी में से उत्पन्न होने वाली सेवार पानी को ढक देती है, अथवा बादलों के छा जाने से आकाश लोप हुआ जान पड़ता है, अथवा स्वप्न असत्य होते हुए भी निद्रा के योग से सत्य प्रतीत होने लगता है, अथवा आँख की पुतली स्वयं ही एक प्रकार का पानी-सा पैदा करके देखना बन्द कर देती हैं, उसी प्रकार दिखलाई पड़ने वाली सत्व, रज और तम-इन तीन गुणों से युक्त मेरी छाया (माया) परदा की तरह जीव और मेरे बीच में आ जाती है। इससे प्राणी मुझे जान

नहीं पाते और मुझमें से उत्पन्न होने पर भी मेरे स्वरूप में मिल नहीं सकते। जिस प्रकार पानी में से ही उत्पन्न हुआ मोती पानी में मिलता नहीं अथवा मिट्टी से बनाया हुआ घड़ा जब तक कच्चा रहता है तब तक सहज ही मिट्टी से मिल सकता है, पर पका दिये जाने के पश्चात् वह उसमें नहीं मिल सकता, उसी प्रकार सब प्राणी मेरे ही अंश होने पर भी माया के कारण जीव बन जाते हैं और मुझसे उत्पन्न होने पर भी मेरे समान नहीं बन सकते और मेरे होने पर भी मुझे पहचान नहीं सकते। 'मैं' और 'मेरा' ऐसी भ्रान्ति से वे विषयांध हो जाते हैं। (६७)

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।१४

ऐसी दशा में हे धनंजय ! महत्तत्वादि मेरी जो माया है उसको पार करके मेरे समान किस प्रकार बना जा सकता है ? जो माया रूपी नदी ब्रह्म रूपी पर्वत के टूटे हुए भाग में होती है, उसमें पहले संकल्प रूपी जल का प्रादुर्भाव होता है और फिर पंच महाभूतों का छोटा-सा बुलबुला उत्पन्न होता है। जो नदी सृष्टि-विस्तार, प्रवाह और काल गति रूपी वेग से कर्म और मोक्ष के ऊँचे विकारों का उल्लंघन करती आगे बढ़ती जाती है, वह सत्व आदि गुणों की वर्षा से भरपूर होकर बहने लगती है। वह अपनी बाढ़ से यम-नियम रूपी नगरों को बहा देती है। उसमें द्वेष रूपी भंवर और मत्सर रूपी चक्कर पड़ते हैं जिसमें उन्मत्तता आदि बड़े-बड़े मत्स्य उछलते रहते हैं, प्रपंच रूपी भेद के प्रवाह चलते हैं और कर्म-अकर्म की बाढ़ से सुख-दुःख रूपी कूड़ा कर्कट उतर कर किनारों पर पड़ जाता है। उसी नदी में विषय-सुख रूपी दीप पर काम रूपी लहरें टकराती हैं और जीव रूपी फेन बड़े परिमाण में दिखलाई पड़ता है। अहङ्कार रूपी प्रवाह और विद्या, धन तथा बल—इन तीन स्रोतों वाली नदी के जोर से जहाँ विषय-तरंग उठती रहती हैं, उदय और अस्त की बाढ़ से जन्म-मरण के पाषाण

टूट जाते हैं, उस जगह शरीर रूपी बुलबुले उत्पन्न और लय होते रहते हैं। जिसमें मोह और भ्रांति रूपी मत्स्य धैर्य के मांस को नोंच-नोंच कर खाते हैं और अज्ञान रूपी प्रचण्ड चक्कर लगाते रहते हैं। भ्रांति रूपी गँदला पानी आस्था और श्रद्धाके गढ़ों में भर जाता है और रजोगुण के इस तमोरूपी प्रवाह को पार कर सकना एक कठिन काम है और सत्व रूपी देह का तैर सकना भी सहज नहीं है। अधिक क्या कहूँ यह माया रूपी नदी बड़ी विनाशकारिणी है। सचमुच इसके जन्म मृत्युरूपी प्रवाह में सत्यलोक के किले तक भूमिसात हो जाते हैं और ब्रह्मांड रूपी पाषाण भी टूटकर गिर पड़ते हैं। इसकी बाढ़ के प्रवाह में अभी तक किसी के पैर टिक नहीं पाते। अरे! यह माया की बाढ़ कैसे पार की जा सकती है? इसके अतिरिक्त यहाँ एक और विशेष बात यह है कि बिना जाने हुए इस नदीके पार करने के जो उपाय किये जाते हैं वे उल्टे हानिकारक सिद्ध होते हैं। कोई व्यक्ति अपनी बुद्धि के बल पर इसमें कूद पड़े तो उसका पता भी नहीं लगता। किसी का गर्व ज्ञान रूपी गड्ढे में ही डूब जाता है। कोई वेदत्रयी के तूमा पर बैठकर नदी पार करने को चला, पर साथ में अहंकार रूपी पत्थर भी बांध लिया, जिसके परिणामस्वरूप वह मद-मत्सर के प्रचण्ड मुख में पड़कर नष्ट हो गया। कोई युवावस्था की शक्ति का भरोसा करके विषयों के पीछे पड़ा, पर उसे विषय रूपी मगर ने ही चबा डाला। अन्य लोग वृद्धावस्था की तरङ्गों में बहते हुए गति भ्रम रूपी जाल में फँस जाते हैं और सब तरफ से घायल होकर शोकरूपी चट्टान से टकराते हैं। फिर क्रोधरूपी चक्कर में पड़कर मस्तक को थोड़ा सा ऊपर की तरफ उठाते हैं तो आपत्तिरूपी गिद्ध चारों तरफ से नोंच-नोंच कर खाने लगते हैं। फिर वे दुःख रूपी कीचड़ में फँसकर मरण रूपी रेती में पड़े रह जाते हैं। इस प्रकार जो विषयों के फेर में पड़े रहते हैं उनका जीवन व्यर्थ ही जाता है।

कितने ही सत्रादिक में कर्मकाण्ड को तूमे की तरह पेट के नीचे लगाकर पार होने का प्रयत्न करते हैं, पर वह स्वर्ग सुख रूपी गढ़े में अटक जाते हैं। कितने ही मोक्ष प्राप्ति की आशा से कर्म रूप बाहुबल पर भरोसा रखते हैं, पर वे भी कर्तव्याकर्तव्य के भंवर में फँस जाते हैं। जिस नदी में वैराग्य रूपी नाव नहीं चलती और विवेकरूपी बाँस भी थाह नहीं ले पाता, ऐसी नदी क्या किसी उपाय से पार की जा सकती है? इस नदी के पार जा सकना असम्भव है। यदि कोई यह कहता है कि जीव अपनी शक्ति से इस नदी को पारकर लेगा तो उसके कथन में कितना सार है यह मैं अब बतलाता हूँ। यदि कुपथ्य करने वाला रोग से छुटकारा पाने को समर्थ हो सके, यदि दुष्ट व्यक्ति की चालबाजी को साधु व्यक्ति जान सके, यदि विषयासक्त पुरुष ऐश्वर्य प्राप्त होने पर भी उसका त्याग कर दे यदि चोरों को सभी प्रकट रूप में होने लगे, यदि मछली वंशी (मछली पकड़ने का माँस) को निगल जाय, यदि डरपोक मनुष्य पिशाच को डराकर भगा दे, यदि हिरन का बच्चा शिकारी के जाल को तोड़ डाले, यदि चींटी मेरु पर्वत को लाँघ जाय, तभी वह माना जा सकता है कि जीव अपनी बुद्धि और शक्ति से माया नदी को तैरकर उसे पार जा सकता है। इसलिये हे अर्जुन! जिस प्रकार विषयलोलुप पुरुष स्त्री को नहीं जीत सकता, उसी प्रकार जीव माया रूपी नदी को पार नहीं कर सकता। परन्तु जो अनन्य भाव से मेरी शरण आता है वही इस नदी को सहज में पार करके उस पार जा सकता है। इतना ही नहीं ऐसा भक्त जब इसी किनारे पर खड़ा होता है कि अकस्मात् ही माया जल लुप्त हो जाता है। जिसको सद्गुरु रूपी मल्लाह मिल गया हो, जिसने ब्रह्म-साक्षात्कार रूपी कच्छी को मजबूती से कस लिया हो, जिसने आत्मानुभव रूपी नाव प्राप्त करली हो, वही अहंभाव का बोझा फेंककर विकल्परूपी तूफान से बचाकर और स्त्री-पुत्रादि के प्रेमरूपी जल प्रवाह से हटकर, जीवात्मा के ऐक्यरूपी उतरनेके घाट से निवृत्ति की दूसरी पार पहुँच जाते हैं। योगी

लोग वैराग्य रूपी हाथों से पानी को चीरते, 'अहं ब्रह्मास्मि' की भावना के जल से मुक्ति तट पर अवश्य पहुँचते हैं। जो इस विधि से मुझे भजते हैं वे ही माया रूपी नदी को पार कर सकते हैं। पर ऐसे भक्त अधिक नहीं होते, विरले ही ऐसा उपाय कर पाते हैं। (२०)

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः । १०२
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ।।१५
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।।१६

इसका कारण यह है कि भक्तों के अतिरिक्त अन्य सब प्राणियों में अनादि काल से अहङ्कार रूपी भूत का आवेश होने के कारण वे आत्म-स्वरूप को भूले रहते हैं। उस समय उनको नियम रूपी वस्त्र का ध्यान नहीं रहता, अधोगति की लाज लुप्त होती है और वे वेद विरुद्ध व्यवहार करने में तत्पर हो जाते हैं। हे अर्जुन ! इस शरीररूपी नगरी में जो कार्य करने के लिए जाते हैं, उनको न करके इन्द्रिय समुदाय रूपी राजमार्ग पर; अहन्ता-ममता की बकवाद करके काम, क्रोध आदि विकारों के समूह को एकत्रित कर लेते हैं। उनको दुःख तथा शोक के घाव सहन करने पड़ते हैं। तो भी उन्हें उनकी याद ही नहीं आती। वे माया में मस्त होते हैं, माया से ही ठगे जाते हैं। इस कारण केवल चार प्रकार के भक्त ही मेरा भजन करके आत्मवहित को प्राप्त होते हैं। इन चारों में से प्रथम को आर्त, दूसरे को जिज्ञासु, तीसरे को अर्थार्थी और चौथे को ज्ञानी के नाम से पुकारा जाता है। (१०७)

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।।१७

आर्त भक्त दुःख के निवारण के लिए मेरा भजन करता है, दूसरा मुमुक्षु ज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य से भजन करता है, तीसरा अर्थार्थी द्रव्यादि के लिए भजता है, परन्तु चौथा जो ज्ञानी है, वह कोई कर्तव्य शेष न

रहने पर भी मेरा भजन करता है, इसलिए वह ज्ञानी व्यक्ति ही मेरा सच्चा भक्त है। वह ज्ञान के प्रकाश से भेदाभेद रूपी अन्धकार का नाश करके मेरे साथ ऐक्य स्थापित करके मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, फिर भी उसकी भक्ति पूर्ववत् स्थित है। परन्तु स्फटिक मणि जिस प्रकार जलमयी जान पड़ती है, उसी प्रकार ज्ञानी भी सामान्य जनों को संसार में लिप्त ही दिखाई देता है। परन्तु यह रहस्य वर्णन करने योग्य नहीं है। जिस प्रकार आकाश में पवन की गति बन्द हो जाने पर उसका अस्तित्व (पवन होना) भिन्न नहीं जान पड़ता, उसी प्रकार जो मेरे स्वरूप में मिल जाता है उसकी 'भक्त' के रूप की महत्ता समाप्त नहीं हो जाती। यदि वायु को हिलाकर देखा जाय तो वह आकाश के तुल्य जान पड़ती है, परन्तु वैसे उसमें तथा आकाश में कुछ भी अन्तर नहीं जान पड़ता। इसी प्रकार मेरा भक्त शारीरिक कर्मों की दृष्टि से अलग जान पड़ता है, परन्तु स्वानुभव के द्वारा वह मेरे रूप को ही प्राप्त हुआ होता है। ज्ञान प्राप्ति के आकाश के रूप में मुझ को ही प्राप्त हुआ होता है। ज्ञान प्राप्ति के प्रकाश के रूप में मैं ही उसका आत्मा हूँ, ऐसा वह जानता है। इससे मैं भी सन्तुष्ट होकर उसको अपनी आत्मा का अङ्ग ही मानता हूँ जो जीवत्व के उस पार (ब्रह्म-स्वरूप) के लक्षणों को समझ लेता है और सदैव उनके अनुसार ही व्यवहार करता है, वह क्या देहधारी होने के कारण मुझसे पृथक माना जायगा ? कदापि नहीं।

(११८)

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।।१८

अपने हित के लिए तो बहुत से मनुष्य मेरी भक्ति करते हैं, पर मैं ज्ञानी से प्रेम रखता हूँ। दूध दुहने के लिए सभी मनुष्य, गाय के पैरों में रस्सी बांधते हैं, पर अपने बछड़े को वह बिना बांधे ही दूध पिलाती है। इसका कारण यही होता है कि बछड़ा और

कोई बात नहीं जानता, वह तन-मन और प्राण से अपनी माता को ही मानता है और जिस चीज को देखता है उसे अपनी माता ही समझता है। इस दृष्टि से बछड़ा अनन्य भक्त होता है और इस कारण गाय भी उस पर उतना ही अधिक प्रेम रखती है। ज्ञानी के अतिरिक्त जो अन्य भक्त तुझे बतलाये वे भी मुझे प्रिय ही होते हैं। वे जब मुझको जानने लग जाते हैं, तो फिर संसार की तरफ आँख नहीं उठाते जिस प्रकार नदी समुद्र में मिलकर फिर पीछे की तरफ नहीं लौट सकती, उसी प्रकार उक्त भक्तों के अन्तःकरण रूपी गुफा में से अनुभव रूपी गङ्गा निकलकर मुझसे आ मिलती है। वे मेरे स्वरूप के ही अंग बन जाते हैं, इनका वर्णन कितनी बार करूँ! जो ज्ञानी कहलाता है वह तो मेरा प्राण ही है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। पर वह बात भी प्रसङ्ग वश मैंने तुझे बतला दी।

(१२६)

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९

जो विषय रूपी घोर जंगल में से काम-क्रोध आदि सङ्कटों से बचकर सद्‌वासना के पर्वत पर चढ़ गया है, फिर हे वीर श्रेष्ठ अर्जुन! जो साधु की संगति से सत्कर्म के सहज मार्ग में, दुराचरण के टेढ़े-तिरछे रास्ते को छोड़कर, फलाशा की बेड़ी को पैरों से निकाल कर, सैकड़ों जन्म तक भक्ति-मार्ग पर चलता जाता है, ऐसा ज्ञानी भक्त फल की इच्छा को क्या महत्व दे सकता है? इस प्रकार शरीर सम्बन्धी अज्ञान रूपी राशि में उपाधि रहित होकर अकेले रास्ते पर चलते हुए सहज में ही कर्म क्षय होकर ज्ञानोदय हो जाता है। उसी समय गुरु कृपा रूप ऊषा काल होता है और तत्पश्चात् ज्ञान रूपी सूर्य की सुन्दर किरणें फैलती हैं। इस समय समदृष्टि का ऐश्वर्य उसको दृष्टिगोचर होता है और वह जहाँ-जहाँ दृष्टि डालता है वहाँ-वहाँ मेरे सिवाय कोई अन्य वस्तु दिखाई नहीं पड़ती। जब वह स्वभावतः कहीं बैठता है तो वहाँ भी मैं ही उसे दिखाई देता हूँ। अधिक क्या कहूँ, उसे मेरे सिवाय

अन्य कुछ दिखलाई ही नहीं देता। जिस प्रकार पानी में डूबे हुए घड़े के भीतर-बाहर सर्वत्र पानी ही होता है उसी प्रकार वह मेरे भीतर और उसके बाहर-भीतर सब दिशाओं में मैं रहता हूँ। इस प्रकार उसे सब कहीं ज्ञान का भण्डार ही दिखाई पड़ता है। इस ज्ञान से परिपूर्ण होकर वह जहाँ कहीं संचार करता है, वहाँ-वहाँ ही उसे ऐसा ही जान पड़ता है कि मैं ही वासुदेव हूँ। इसलिए भक्तों में वह सर्वश्रेष्ठ है और ज्ञानी भी है। हे धनुर्धर ! जिसके अनुभव रूपी भण्डार में समस्त चराचर विश्व संचित हो रहा है ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। उसके सिवाय हे अर्जुन ! और भी अनेक मनुष्य मुझे भजते हैं, पर उनकी भक्ति केवल विषय सुख की आशा को लेकर होती है, क्योंकि आशा रूपी तिमिर से उनकी दृष्टि विषयांध हो जाती है। (१३८)

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्याः नियताः स्वया ॥२०

जब फल की इच्छा से हृदय में कामना का संचार होता है तो उसके प्रभाव से ज्ञानरूपी दीपक बुझ जाते हैं, और इस कारण वे भीतर और बाहरी अन्धकार में डूब जाते हैं। उस समय यद्यपि मैं उनके सामने ही उपस्थित होता हूँ, पर वे मुझसे पृथक् होकर अन्य देवताओं का भजन करने लगते हैं। वे पहले से ही माया के अधीन होते हैं और फिर फल प्राप्ति की भावना से, दीन भाव को प्राप्त हो जाते हैं, इसलिए फिर उनकी अधोगति के विषय का कहना ही क्या ? वे लम्पट होकर बड़े कौतुक पूर्वक देवताओं की कैसी भक्ति करते हैं वह देखने ही योग्य होती है। किस नियम में कौन-कौन सी उपचार सामग्री, कैसी-कैसी विधि से देवताओं को अर्पण करना चाहिए, वे इसी पर अधिक से अधिक ध्यान देते हैं और उस देवता को जो-जो उपचार अच्छे लगते हों उन्हीं को करते हैं। (१४२)

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१

जो मनुष्य केवल फल के लिए जिस देवता की उपासना करता है, उन इच्छाओं की पूर्ति मैं ही करता हूँ। प्रत्येक देव या देवी मैं ही हूँ। पर वे लोग इस तथ्य को न समझकर उन विशिष्ट देवताओं में पृथक्-पृथक् भाव रखते हैं।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ।।२२

तत्पश्चात् उनको जिस किसी देवता पर श्रद्धा होती है उसी देवता का वे कार्य सिद्धि होने तक पूजा-अर्चन करते हैं। इस प्रकार जो कोई जिस-जिस फल की इच्छा रखता है, उसको वही-वही फल प्राप्त होता है पर उस सबका देने वाला मैं ही होता हूँ।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।।२३

पर वे भक्त मुझको नहीं जानते। क्योंकि वे आशा के फन्दे से मुक्त नहीं हो पाते और इसलिए उनके इच्छित नाशवान् फल ही उनको प्राप्त होते हैं। अधिक क्या कहूँ इस प्रकार का भजन संसार का ही साधन होता है। उनको मिलने वाली फल प्राप्ति स्वप्न में प्राप्त होने वाले क्षणिक सुख की तरह ही होती है। पर जो तन-मन अर्पण करके मेरी भक्ति के मार्ग पर चलते हैं वे देहान्त होने पर मेरे ही पास आते हैं। (१५७)

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यंते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।।२४

परन्तु फल प्राप्ति की कामना वाले लोग ऐसा नहीं करते। वे निरर्थक ही अपने हित की हानि करके ऐसी चेष्टा करते हैं जैसे कोई अंजलि के पानी में तैरना चाहे। जबकि अमृत से भरे समुद्र में डुबकी लगाने का साधन प्राप्त हो रहा हो फिर मुँह बन्द करके गड्ढे में भरे पानी की इच्छा क्यों करनी ? अमृत निधि में प्रवेश करके भी स्वयं ही

मृत्यु बुलाने का विचार क्यों करना ? अमृत में अमृत रूप ही क्यों न बना जाय ? इस प्रकार हे धनुर्धर फलाशा रूपी पिंजरे को त्याग कर अनुभव रूप पंख लगाकर चिदाकाश में भ्रमण क्यों न किया जाय ? और भगवत्स्वरूप का स्वामी वनकर क्यों न रहा जाय ? वह चिदाकाश कैसा विशाल है, उसमें जितना भी ऊँचा उड़ना चाहें उतना ही ऊँचा सुख पूर्वक उड़ सकते हैं। मैं तो किसी तरह के नाप में नहीं आ सकता, फिर मुझको नापने का, मर्यादा में लाने का प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता ? और निराकार को साकार मानने से क्या मतलब ? मैं सिद्ध हूँ तो फिर मुझे प्राप्त करने के लिए साधन करने का झंझट क्यों उठाया जाय ? परन्तु हे अर्जुन ! वास्तविक बात यह है कि ऐसे प्रश्न किये जायें तो उन प्राणियों को वे अच्छे नहीं जान पड़ते। (१५७)

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५

कारण यह है कि योग माया के परदे से वे अन्धे बन जाते हैं और उनमें जो देहबुद्धि होती है उसके परिणाम स्वरूप वे मुझ प्रकाश स्वरूप को नहीं देख पाते। नहीं तो, क्या कोई ऐसी वस्तु है जिसमें मैं न होऊँ ? यह बताओ कि क्या कोई पानी रस रहित भी हो सकता है ? वायु किसको स्पर्श नहीं करता ? आकाश कहाँ नहीं होता ? इसी प्रकार समस्त विश्व मुझसे ही भरपूर है। (१५८) १६०

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६

इस जगत् में जितने प्राणी हो चुके हैं उन सबमें मैं ही था। वर्तमान समय में जितने प्राणी हैं उन सबमें मैं ही हूँ और भविष्य में जो प्राणी उत्पन्न होने वाले हैं वे भी मुझसे भिन्न नहीं हो सकते। पर यह बात केवल कथन मात्र ही है। वास्तव में ऐसा कुछ भी नहीं

होता और कोई आता-जाता भी नहीं। जिस प्रकार रस्सी में सर्प की कल्पना कर लेने पर भी वह काला है या चितकबरा अथवा गेहूँ के वर्ण का है, यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता, इसी प्रकार प्राणिमात्र के मिथ्या होने के कारण, उसी प्रकार की कोई कल्पना नहीं की जा सकती। हे अर्जुन इस प्रकार मैं सदा अखण्ड और व्याप्त हूँ। प्राणिमात्र के पीछे जो संसार का बोझा बँधा है, उसका कारण कुछ और ही है उसका जो संक्षेप रहस्य मैं तुझे बतलाता हूँ, उसे तू ध्यानपूर्वक सुन। (१६९)

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७

अभिमान और शरीर इन दोनों में प्रेम उत्पन्न हो गया, उसके परिणाम स्वरूप इच्छा रूपी कन्या का जन्म हुआ। जब उस कन्या को कामना रूपी तरुणाई प्राप्त हुई तो उसका विवाह द्वेष के साथ हो गया। उन दोनों के संयोग से (सुख-दुःख रूप) द्वन्द्व मोह नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। फिर उसकी अहङ्कार रूपी मातामही ने उसकी सेवा करके उसका पालन किया और बड़ा बनाया। यह द्वन्द्व-मोह सदैव धैर्य के प्रतिकूल रहता है और इन्द्रिय तथा मनका अहित करने वाला होता है। इसका कारण यही है कि वह आशारूपी दूध को पीकर पुष्ट हुआ होता है। हे धनुर्धर! असन्तोष रूपी मद्य को पी लेने के कारण वह विषय-सेवन से अघाता नहीं, वह शुद्ध भक्ति के मार्ग पर काँटा बिखेर कर फिर उनमें से कुमार्ग का टेढ़ा-तिरछा रास्ता निकालता है। इससे प्राणीमात्र भ्रमित होकर संसार रूपी जंगल में मारे-मारे फिरते हैं और उनको महा दुःखों को सहन करना पड़ता है। (१७१)

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८

उस प्रकार विकल्पों के तीक्ष्ण और निष्फल काँटों को देखकर, जो लोग मति भ्रम के फन्दे से सर्वथा दूर रहते हैं और सीधे भक्ति पथ पर

चलते चले जाते हैं, वे मिथ्या संकल्प-विकल्पों के भाले जैसे काँटों को रौंद कर, महापातकों के जंगल से बचकर निश्चय ही पुण्य मार्ग को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार वे कामाक्रोधादि बटमारों के हाथ से साफ बच जाते हैं।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ।।२६

और हे पार्थ ! जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होने के जो साधन हैं, उनको प्राप्त करने की जिनको इच्छा उत्पन्न होती है, उनके प्रयत्न अन्त में सफल होकर ब्रह्म प्राप्ति कराते हैं। उस समय वे परिपक्व फल के रस के समान पूर्णता पाते हैं, उस अवसर पर उनके मन में यह भाव उत्पन्न होता है कि हमारा जीवन धन्य है' और फिर उन्हें समस्त विश्व में आनन्द, आनन्द और आनन्द ही दिखाई पड़ता है। तब इनकी आत्म-ज्ञान की जिज्ञासा भी निवृत्त हो जाती है और उनके कर्म अपने-अपने स्थानों में चले जाकर उनका मन शान्त हो जाता है। हे धनंजय ! इस प्रकार उनके आत्म-ज्ञान का लाभ होता है, क्योंकि उनके इस पर-मार्थ रूपी व्यापार की पूंजी तो मैं ही होता हूं। उनको समदृष्टि रूपी ब्याज मिलता है, उनकी ऐक्य रूपी सम्पत्ति की वृद्धि होती है और उनको भेद रूपी दीनता का तो स्मरण भी नहीं होता। (१७९)

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ।।३०

जिन्होंने अनुभव द्वारा माया में ग्रस्त जीव को स्ववश करके पञ्च भौतिक शरीर के साथ मुझे स्पर्श किया है (अर्थात् आत्मा के प्रथम पाद विश्व की और ब्रह्मा के प्रथम पाद विराट् की स्थूल प्रपंच सहित एकता का अनुभव कर लिया है), जिन्होंने ज्ञान के बल से मुझे अधियज्ञ (परमात्मा) के रूप में देखा है, उनको शरीर के वियोग का दुःख किंचित भी नहीं होता। अन्यथा वायु की डोरी के

टूटने के अवसर पर प्राणियों को जो घबराहट होती है, उसे देखकर जीवित प्राणियों को भी क्या प्रलय काल के आगमन का सा भान नहीं होता ? ऐसे लोगों की बात तो जाने दो पर ज्ञानी भक्त मृत्यु के कठिन समय में भी मेरे सान्निध्य में ही रहते हैं। जब भगवान् कृष्ण अपने मुख की शब्द रूपी कुप्पी (शीशी) से यह रस गिरा रहे थे उस समय अर्जुन की अवधान रूपी अंजिल उसके नीचे नहीं थी। उस समय अर्जुन का चित्त पिछले श्लोकों के अर्थ का चिन्तन करने में लगा था। वहाँ पर ब्रह्म प्रतिपालक वाक्यरूपी फल अर्थरूपी रस से भरे हुए थे और उनकी भक्तिरूपी सुगन्ध चारों तरफ फैली हुई थी। उस समय श्रीकृष्ण की कृपा रूपी मन्द वायु के झोंके से श्रीकृष्ण रूपी वृक्ष के वचन रूपी फल अर्जुन की श्रवण रूपी गोद में सहज ही में आकर पड़ गये। वे फल वेदान्त सिद्धान्त के बने हुए, ब्रह्म रस के समुद्र में डुबोये हुए और परमानन्द रूपी चाशनीसे युक्त थे। इस प्रकार तैयार किये निर्मल फलों के अर्थ रूपी गर्भ (ज्ञान) का सुफल प्राप्त करना ऐसी इच्छा अर्जुन के मन में उत्पन्न हुई और वह विस्मय रूपी अमृत के घूंट लेने लगे। इस सुख के परिणाम स्वरूप अर्जुन के अन्तःकरण में आनन्द की ऐसी गुदगुदी होने लगी कि वह स्वर्ग सुख भोगने वाले को भी तुच्छ समझने लगा। इस प्रकार उस फल के बाह्य रूप को देखकर ही उसका आनन्द वृद्धि को प्राप्त होने लगा। उस समय फल का स्वाद लेने के लिए जीव को उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई और अर्जुन तुरन्त ही अनुमान रूपी हाथ से श्रीकृष्ण वाक्य रूपी फलों को लेकर अनुभव रूपी मुख में झटपट डालने लगा। (१९२)

परन्तु विचार रूपी ज़िह्वा तो फलों का स्वाद नहीं ले सकेगी और हेतु रूपी दाँत उनको चबा नहीं सकेंगे। ऐसा जानकर सुभद्रापति अर्जुन उनको खाने से रुक गया। फिर वह आश्चर्य पूर्वक बोला—'अहो ! पानी में दिखलाई पड़ने वाले तारागणों के समान इन शब्दों के सौन्दर्य से उनको फल समझकर मैं कैसा धोखा खा गया। ये तो शब्द वाक्य

नहीं है, वरन् आकाश के परत हैं । इनमे मेरी बुद्धि चाहे जितनी डुबकी मारे तो भी उनकी थाह ले नहीं, सकता तो फिर इनका स्वाद कैसे लिया जा सकता है ।, ऐसा विचार करके अर्जुन ने अपनी दृष्टि पुनः यादवेन्द्र श्रीकृष्ण की तरफ की और विनयपूर्वक कहा—हे देव ! आज सात पद (ब्रह्म, कर्म, अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव-अधियज्ञ और मृत्यु के समय भगवत् चिन्तन-ये सात पद हैं) एकत्र हुए हैं । उनका किसी ने कभी स्वाद नहीं लिया, यह एक बड़े आश्चर्य की बात है । यदि उनको लक्ष्यपूर्वक न सुना जा सके तो क्या साधारण श्रवण से इन सिद्धान्तों का तात्पर्य समझा जा सकता है ? कदापि नहीं । इसके अतिरिक्त आपका यह कथन तो असाधारण है । श्रवणेन्द्रिय रूपी झरोखा में होकर शब्द रूपी किरणें जैसे भीतर पहुँचीं, वैसे ही मेरा विस्मय का भाव बढ़ गया और ध्यान टूट गया । उन शब्दों का अर्थ समझने की मुझे उत्कण्ठा है, यह कहने में जितना समय लगता है, उतना विलम्ब भी मुझसे सहन नहीं किया जा सकता । इसलिए हे देव ! आप मुझे वह सब सुना दीजिए । इस प्रकार पिछले प्रसंग को लेकर, भविष्य के उद्देश्य पर दृष्टि रखकर और बीच में अपनी इच्छा को प्रकट करके अर्जुन ने प्रश्न किया । यह तो देखो कि अर्जुन के पूछने का ढंग कैसा, है । मर्यादा का उल्लंघन न हो ऐसे रूप में श्रीकृष्ण के हृदय को प्रेमालिंगन देने को तत्पर हुआ है । अहो ! श्रीगुरुदेव से जब कोई प्रश्न करना होता है, तो इसी प्रकार करना पड़ता है । मर्यादा को स्थित रखते हुए किस प्रकार प्रश्न किया जाय इस बात को तो सव्यसाची अर्जुन ही अच्छी तरह समझता है । (२०४)

अब अर्जुन किस प्रकार पूछता है, श्रीहरि उसका उत्तर किस प्रकार देते हैं और उसका वर्णन संजय किस प्रकार प्रेमपूर्वक करता है, यह कथा कही जायगी । इसलिए उस तरफ ध्यान दीजिये । जो वार्ता सरल भाषा में कही जाने वाली है, उसमें पूरा ध्यान लगाइये । और

वह ध्यान ऐसा होना चाहिए कि कानों से पहले नेत्र ही उसके अर्थ को समझ लें। बुद्धि रूपी जिह्वा से उन शब्दों के रस को न चखते हुए अक्षरों की शोभा से ही इन्द्रियों को सन्तुष्ट होकर तटस्थ हो जाना चाहिए। मालती पुष्प की कलियों का स्वाद नासिका को तो मिल ही सकता है, पर क्या उसके बाह्य सौन्दर्य से नेत्रों को आनन्द नहीं मिलता? क्या इसी प्रकार की शोभा से ही इन्द्रियों को सुख-साम्राज्य प्राप्त हो जायगा और फिर वे तुरन्त सिद्धान्त-नगर में जा पहुँचेंगी? कथन ऐसी सुन्दरता से बोला जाता है उसे सुनो, इस प्रकार निवृत्तिदास ज्ञानदेव कहते हैं। (२१०)

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां
सप्तमोऽध्यायः ॥१॥

।। अथ अष्टमोऽध्याय: ।।

अर्जुन उवाच–

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ।।१

अर्जुन कहने लगा—हे देव ! आपने सुना या नहीं ? मैंने जो पूछा उसका उत्तर मुझे विस्तार पूर्वक दीजिए कि ब्रह्म किसे कहते हैं, कर्म किस का नाम है तथा अध्यात्म किसे कहा जाता है ! अधिभूत कैसा होता है और जगत् में अधिदैवत क्या है ? मैं इनको अच्छी तरह समझ सकूँ, इस प्रकार वर्णन कीजिए ।

अधियज्ञ: कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभि: ।।२

"हे देव अधियज्ञ किसे कहते हैं, और इस देह में उसका क्या स्थान है, यह बात अनुमान द्वारा अच्छी तरह समझ में नहीं आती । हे शार्ङ्गपाणि ! जिन्होंने अन्त:करण को अधिकार में कर लिया है, वह अन्तकाल में आपको किस प्रकार पहचान सकता है इसका रहस्य मुझे भली प्रकार समझाइये ।" ज्ञानेश्वर कहते हैं—) "देखिये चिन्तामणि के निकट अगर कोई मनुष्य सोता हो और नींद में उसका बड़बड़ाने लगे, तो उसका बड़बड़ाना भी सार्थक हो जाता है, उसी प्रकार आप मुझे सब कुछ बतलाइये ।" अर्जुन के ऐसे वचन सुनकर भगवान कृष्ण कहने लगे—तूने जो प्रश्न किया है, उसका उत्तर ठीक-ठीक सुनले । ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि किरीटी अर्जुन कामधेनु का बछड़ा है और उसके ऊपर कल्प वृक्ष का मण्डप बन गया

है। इससे यदि उसके मन की समस्त अभिलाषाएं पूर्ण हो जायें तो इसमें आश्चर्य क्या ? श्रीकृष्ण क्रोधित होकर जिसका संहार करते हैं वह भी ब्रह्म स्वरूप हो जाता है, तो वे जिसको कृपा दृष्टि से उपदेश दें, उसे कौन वस्तु अप्राप्य रह सकती हैं ? जिस समय यह निश्चय हो जाता है कि "मैं ही श्रीकृष्ण हूँ" उस समय अपना अन्तःकरण भी श्री कृष्ण रूप बन जाता है। फिर संकल्प रूपी आँगन में (अपने मन में जो-जो संकल्प उत्पन्न होते हैं उनको पूर्ण करने के लिए) ऋद्धि-सिद्धि आकर दोनों हाथ जोड़कर खड़ी हो जाती हैं। इस प्रकार का असीम प्रेम अर्जुन में ही है, इसलिए उसकी इच्छा सदैव पूर्ण हुआ करती है। अतएव जब भगवान ने जान लिया कि अर्जुन अब अपने मन में जो-जो प्रश्न और जिज्ञासायें उत्पन्न होंगीं उनको मुझ से पूछेगा तो उन्होंने स्वयं ही उत्तरों की थाली परसकर अर्जुन के सामने रख दी। स्तनपान करके दूर खेलते हुए बालक को भूख लगने की बात माता स्वयं ही समझ लेती है, वह इसकी राह नहीं देखती कि बालक जब मांगे तब उसको दूध दे। इसी प्रकार कृपालु सद्गुरु के हृदय में भी शिष्य के प्रति ऐसा ही प्रेम रहता है तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं अस्तु अब भगवान श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा उसे सुनो।

श्री भगवानुवाच–

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।।३

फिर सर्वेश्वर कहने लगे—जो इस छिद्र युक्त देह में ओत-प्रोत भरा है, वह कभी गिरकर नष्ट नहीं होता, जिसकी सूक्ष्मता देखने से वह शून्य जान पड़ता है पर जो वास्तव में वैसा नहीं है, जो वस्तु आकाश से अधिक सूक्ष्म है—ऐसा सूक्ष्म तत्व जो भौतिक ज्ञान की झोली में से नीचे नहीं गिर पाता है वही परमब्रह्म कहा जाता है। वह ऐसा तत्व है कि जो शरीर धारण भी करले तो उसमें शरीर के

विकार नहीं आते और शरीर का नाश हो जाने पर भी उसका नाश कभी नहीं होता। हे सुभद्रापते ! ब्रह्म की आत्म-स्वरूप में निरन्तर जो ऐसी स्थिति होती है, इसको अध्यात्म के नाम से पुकारा जाता है।

निर्मल आकाश में नाना रंग के बादल किस प्रकार उत्पन्न होते हैं, यह जैसे नहीं जाना जा सकता उसी प्रकार निराकार शुद्ध ब्रह्म में प्रकृति तथा अहंकार आदि के भेद से ब्रह्मांड के आधारों का आविर्भाव होने लगता है कल्पनातीत ब्रह्म की भूमि में 'एकोऽहं बहुस्याम्' (मैं एक से बहुत हो जाऊँ) इस संकल्प का अकुंर उगता है और उससे तुरन्त उसे ब्रह्मांड का आकार मिलकर वह चारों ओर फैल जाता है। अगर हम प्रत्येक ब्रह्मांड की जाँच करें तो उसी ब्रह्म बीज से परिपूर्ण विदित होता है। फिर प्रत्येक आकाश में कितने जीवों की उत्पत्ति होती है और कितनों का नाश होता है। उनकी तो गिनती की ही नहीं जा सकती। तत्पश्चात् ब्रह्मांड के गोल के प्रत्येक अंग में से असंख्य संकल्प उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सर्वत्र एक ही ब्रह्म व्याप्त है और जब वह अनेकत्व की बाढ़ उत्पन्न करता है, तभी वह अनेक रूपों में मालूम पड़ने लगता है। यदि यह कहा जाय कि इस स्थावर-जंगम विश्व की रचना बिना किसी कारण के व्यर्थ मनोविनोद के ढंग पर हुई है, तो उसमें लाखों तरह की जीव जातियों की उत्पत्ति क्यों हुई ? ये जीव इतने अधिक हैं कि उनको गिनना किसी प्रकार सम्भव नहीं। जब हम यह विचार करते हैं कि हम सबकी उत्पत्ति किस में से कैसे हुई तो अन्त में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन सब का मूल कारण अव्यक्त ही है। इस प्रकार मूल आदिम स्थिति में कर्ता का और अन्त में कारण का कोई पता नहीं लगा सकता फिर भी बीच के समय में कार्य की स्वयमेव वृद्धि होती रहती है अव्यक्त में से बिना किसी कर्त्ता के प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाले आकार उत्पन्न करने का जो कार्य चलता जा रहा है उसे 'कर्म' कहते हैं। (२६)

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ।।४

अब मैं संक्षेप में 'अधिभूत' का वर्णन करता हूँ। जिस प्रकार बादल उत्पन्न होते हैं और लय हो जाते हैं, उसी प्रकार जिसका अस्तित्व दिखाई पड़ता है, पर जो वास्तव में विद्यमान नहीं है, उसे पञ्चभूत ही एकत्र होकर रूप प्रदान करते हैं। जो पंचभूतों के आश्रय में रहता है, जो उन 'भूतों' के संयोग से दिखाई पड़ता है तथा उनसे वियोग होते ही नष्ट हो जाता है, ऐसा जो नाम रूप है, उसी को 'अधिभूत' कहा जाता है। फिर 'अधिदैव' जीवों को समझना चाहिए। यह जीव प्रकृति जन्य भोगों का उपभोग करता है, वही बुद्धि का द्रष्टा है, इन्द्रिय रूपी देह का अधिपति है और शरीर का अन्त हो जाने पर मनोरथ रूपी पक्षियों के लिए विश्राम करने का वृक्ष है। वह वास्तव में दूसरा परमात्मा ही है, पर अहंकार रूपी निद्रा में पड़े रहने से जिसे स्वप्न की घटनाओं की तरह सन्तोष और असन्तोष भी होता है। उसी के स्वभावानुसार 'जीव' कहा जाता है और वही पंचभूतात्मक शरीर का मुख्य देवता है। इसी को 'अधिदैव' कहा जाता है। (३६)

अब हे पांडु कुमार! जो इस शरीर रूपी नगर में से शारीरिक-भावना को दूर करता है, वह 'अधियज्ञ' मैं हूँ। इसके अतिरिक्त जो 'अधिदैव' और 'अधिभूत' हैं वह भी वास्तव में मैं ही हूँ। परन्तु जिस प्रकार पूरी तरह शुद्ध सोना घटिया दर्जे के सोने में मिला दिया जाय तो वह भी घटिया कहलाने लगता है। तो भी वह शुद्ध सोना स्वयं कभी मलिन नहीं होता और न उसे कोई घटिया सोने का अंश कह सकता है। जब उत्तम सोना घटिया सोने के साथ मिला रहता है तभी तक उसे न्यून माना जाता है उसी प्रकार जब तक 'अधिभूत' और 'अधिदैव' अज्ञान रूपी आवरण से ढके रहते हैं तभी तक वे पृथक् माने जाते हैं। जब अज्ञान का आवरण दूर होकर भेदभाव नष्ट हो जाय तब उनको भिन्न मानना ठीक नहीं। बालों की डोरी के ऊपर

यदि स्फटिक की शिला रख दी जाय तो वह बीच में से टूटी हुई सी दिखाई देती है। उस डोरी के हटाते ही उसका खण्डितपना कहा गया, यह भी पता नहीं चलता। इस आधार पर क्या कोई यह कह सकता है कि पहले शिखा खंडित थी अब जोड़ दी गई ? नहीं ऐसी बात कोई नहीं कहेगा, वह तो वास्तव में अखण्डित ही थी, केवल बालों के सम्पर्क में आने से खण्डित दिखाई देने लग गई थी। बालों को जब एक तरफ हटा दिया तो वह शिला जैसी थी वैसी ही दिखाई देने लगी। इसी तरह जब अहंभाव नष्ट हो जाता है तो जीव का मूल ज्यों का त्यों दिखाई पड़ने लग जाता है। और जब ऐक्य की प्रतीति हो जाती है तो वही 'अधियज्ञ' मैं हूँ। इस उद्देश्य को मन में रखकर मैंने तुमको पहले (चौथे अध्याय में) यह कहा था कि समस्त कर्म यज्ञ में से ही उत्पन्न होते हैं वही यह अधियज्ञ है। यह समस्त जीवों का विश्राम स्थल और ब्रह्म सुख का आधार है।

हे अर्जुन ! अब मैं तुझे स्पष्ट रूप से समझाता हूँ कि पहले वैराग्य रूपी ईंधन एकत्रित करके इन्द्रिय संयम रूपी अग्नि सुलगाई जाय और फिर उसमें विषय रूपी द्रव्य की आहुति दी जाय। फिर वज्रासन रूपी भूमि को शुद्ध करके उस पर मूल बंध मुद्रा की वेदी लगाकर उस पर शरीर का मण्डप खड़ा किया जाता है। उस स्थान पर इन्द्रिय निग्रह रूप अग्नि कुण्ड में इन्द्रिय रूपी आहुति डालकर योग मन्त्र से हवन किया जाता है। तत्पश्चात् मन और प्राण के निग्रह रूपी हवन द्रव्यों से तैयार किया गया बिना धुएँ का निर्दोष जो ज्ञानग्नि है, उसे तृप्त किया जाता है। इस प्रकार वे समस्त वस्तुएँ ज्ञान में समर्पित करने के पश्चात् वह ज्ञान भी ब्रह्म में लय हो जाता है और तब केवल एक शुद्ध ब्रह्म ही शेष रह जाता है। इसी को 'अधियज्ञ' अथवा ब्रह्म समझना चाहिए। ज्यों ही यह बात बलवान कृष्ण ने कही त्यों ही बुद्धिमान अर्जुन ने उसका तात्पर्य समझ लिया।

अर्जुन ब्रह्म के वास्तविक रूप को समझ गया। यह जानकर

श्रीकृष्ण कहने लगे कि बहुत अच्छी तरह से सुनता है। भगवान् का ऐसा वचन सुनकर अर्जुन को भी बड़ा सन्तोष हुआ। प्यासे बालक की प्यास बुझाने की अथवा शिष्य के कृतार्थ होने की विधि माता अथवा सद्गुरु ही जानते हैं। इसलिए अर्जुन से पहले स्वयं श्रीकृष्ण की देह में अष्ट सात्विक भाव (स्तम्भ, प्रस्वेद, रोमांच, स्वर-भंग, कम्पन, विवर्णता, अश्रु, मृत्यु—ये आठ सात्विक भाव कहे गये हैं) उत्पन्न होने लग गये। पर उन्होंने विवेक पूर्वक उनको रोका और अपनी पूर्णता द्वारा प्राप्त हुए सुख की सुगन्ध के समान अथवा शीतल हुए अमृत की तरंगों के समान कोमल और सुमधुर शब्दों में वे कहने लगे—'हे श्रोताओं में श्रेष्ठ अर्जुन! सुनो। हे तात! जब माया जल गई तो उसे जलाने वाला ज्ञान भी स्वयं जल जाता है। (५८)

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५

'हे अर्जुन! मैंने अभी जो 'अधियज्ञ' बतलाया उसी अधियज्ञ के रूप में जो मुझे वस्तुतः जानता है, और प्राणन्त के समय तक ऐसी ही भावना रखता है, वह देह को मिथ्या समझकर स्वयं में ही ब्रह्म रूप हो जाता है। जिस प्रकार घट के भीतर आकाश भरा रहता है और वह घट भी आकाश में ही रहता है, उसी तरह मेरे अनुभव रूपी घट में उनकी निश्चय रूप सुदृढ़ कोठरी होती है। जब वे उसमें प्रवेश करते हैं तो ब्रह्म के अतिरिक्त देहादिक का स्मरण नहीं रहता। इस प्रकार जो भीतरी और बाहरी दोनों प्रकार के ऐक्य के प्रभाव से मेरे स्वरूप (ब्रह्मस्वरूप) में लीन हो जाते हैं, उनका यह पंचभूत का कवच शरीर इस प्रकार समाप्त हो जाता है कि उसको उसका पता भी नहीं चलता। जीवित अवस्था में भी वे शरीर की परवाह नहीं करते तो उसका अन्त होने पर उनको खेद कैसे होगा? अर्थात् इसके अनुभव से पेट में रहने वाला पानी हिलने-चलने नहीं लगता। इसी अनुभव को

केवल ऐक्य भाव से रचा गया है, अ[illegible] दय में रखा गया है और पूर्णानन्द के समुद्र में धोकर [illegible] हैं। इसलिए काम, मोह आदि मलों से मलिन नहीं होता। गहरे पानी में घड़ा डुबाने पर उसके भीतर और बाहर सर्वत्र पानी ही रहता है। यदि संयोग वश उस समय घड़ा टूट जाय, तो क्या यह कहा जायेगा कि पानी का नाश हो गया? अथवा सर्प अपनी केंचुली छोड़ दे या कोई मनुष्य गर्मी के मारे कपड़ा उतार दे तो क्या इससे अंगों की कुछ हानि हो जाती है? इसी प्रकार यदि बाहर दिखलाई पड़ने वाला मिथ्या शरीर नष्ट हो जाय, तो भी वह चारों और उपस्थित ही रहता है। इस प्रकार यदि बुद्धि उपयुक्त तत्व को अच्छी तरह ग्रहण कर ले तो फिर भय क्यों होगा? इस सिद्धान्त के अनुसार अन्तकाल में मेरा स्मरण करते हुए जो देह त्याग करते हैं, वह मेरे ही स्वरूप के हो जाते हैं। अन्यथा साधारण नियम यह है कि मरते समय हृदय में जिसका स्मरण होता है, जीवात्मा उसी गति को प्राप्त होता है। जिस प्रकार कोई भयभीत मनुष्य बहुत तेज दौड़ता हुआ रास्ते में किसी कुँए में गिर पड़े। उस दशा में वह अपने दौड़ने को कम करने से बच नहीं सकता और कुआ में गिरना ही होता है। उसी प्रकार मृत्यु के समय मनुष्य के आगे जो कुछ है, मरने के पश्चात उसे वही रूप धारण करना है। वह घटना किसी प्रकार रोकी नहीं जा सकती। यह इसी प्रकार होता है, कि मनुष्य जाग्रत अवस्था में जैसी कल्पना करता रहता है, वैसी ही बातें उसे स्वप्नावस्था में दिखाई देने लगती हैं।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६

जिस प्रकार जाग्रत अवस्था में मनुष्य जैसी कामनायें करता रहता है वैसी ही स्वप्नावस्था में दिखाई पड़ती हैं, उसी प्रकार जीवित दशा में मनुष्य की जिन विषयों में लालसा रहती है, वह मरते समय

और बढ़ जाती है। मरते समय जिस विषय का ध्यान रहता है उसी के अनुसार गति मरणोपरान्त प्राप्त होती है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।७

इसलिए हे अर्जुन ! तू नित्य मेरा स्मरण करता रहे। आँखों से जो दिखाई पड़ता है, कानों से जो सुनाई देता है मन के द्वारा जो चिन्तन किया जाता है, वाणी द्वारा जो बोला जाता है तथा हृदय में प्रतीत होने वाला तथा वाह्य दृष्टि से दिखाई पड़ने वाला सब कुछ मैं ही हूँ, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार विचार करने पर तुमको सहज ही में यह अनुभव हो जायेगा कि मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ। जब तेरा मन इस बात को समझ कर उस पर दृढ़ हो जायेगा कि विश्व की प्रत्येक वस्तु मेरा ही रूप है, तो तू यह भी समझ लेगा कि देह के नष्ट होने पर भी तू मर नहीं सकता। तब फिर युद्ध करने में भय किस प्रकार हो सकता है। अगर ऐसा संशय तेरे मन में हो, तो पहले उसका अभ्यास और अनुभव करो। फिर अगर मेरे कथनानुसार न हो तो मुझे दोषी बनाना (८०)

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।।८

इसलिए यदि उत्तम प्रकार से चित्त और अभ्यास की अवस्था की जाय, तो जिस प्रकार लँगड़ा आदमी उद्योग करने पर पहाड़ पर चढ़ जाता है, उसी प्रकार निरन्तर ब्रह्म-विचार का अभ्यास करके चित्त को आत्मा की तरफ लगाओ। फिर शरीर रहता है या नहीं, इसकी कुछ भी फिकर नहीं रहती। जिस चित्त के कारण नाना प्रकार की योनियों में भ्रमण करना पड़ता है वह यदि आत्मा में संलग्न हो जाय तो फिर शरीर बना रहा या चला गया इसको कोई स्मरण भी नहीं रखता। जब पानी नदी का रूप धारण करके कल-कल नाद करता समुद्र से मिलने चल देता है तब वह पीछे क्या होता है यह जानने को

पीछे को मुड़कर नहीं देखता, वरन समुद्र में मिलकर समुद्र रूप ही हो जाता है। उसी प्रकार जब चित्त आत्म स्वरूप हो जाता है तो जन्म-मरण की यातना निश्चय ही दूर हो जाती है, क्योंकि यहाँ पर परमानन्द ही भरा रहता है।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥६

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०

जिसका अस्तित्व निराकार है जिसको जन्म-मरण है ही नहीं और जो सर्वव्यापकता द्वारा सबको देखता है, जो आकाश के पहले भी विद्यमान था, जो परमाणु से अधिक सूक्ष्म हैं, जिसके सान्निध्य में संसार के समस्त कार्य होते हैं, जिसमें से समस्त विश्व की उत्पत्ति हुई है, जिसकी सहायता से समस्त विश्व जीवित रहता है—और जिसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का अनुमान भी नहीं किया जा सकता, जैसे अचिन्त्य ही है। जैसे दीपक का 'अग्नि में प्रवेश नहीं हो सकता, जैसे आत्म ज्ञान रूपी प्रकाश में अज्ञान रूपी अन्धकार नहीं घुस सकता, जो चैतन्य स्वच्छ सूर्य की किरणों का ढेर है, जो ज्ञानियों के लिए सदैव दृष्टिगोचर होता है और जिसके लिए कभी 'अस्तंगत' शब्द का प्रयोग भी नहीं किया जा सकता उस परिपूर्ण ब्रह्म को जानकर मरणकाल में उसका एकाग्र चित्त से स्मरण करे। उस समय पद्मासन लगाकर उत्तर की तरफ मुख करके योगाभ्यास द्वारा प्राप्त सुख को अन्तःकरण में संचित करके, अन्तर में एकाग्रचित से स्वरूप प्राप्ति की उमंग से स्वयंभू ब्रह्म से शीघ्र ही मिलने के लिए सम्पादन किये योग द्वारा सुषुम्णा नाड़ी के मध्य मार्ग में होकर अग्नि स्थान (नाभि) से ब्रह्म रन्ध्र में पहुँचने के लिए चलता है और प्राण का लय महाकाश में होने लगता है उस समय देह और चित्त का संसर्ग बहुत ही तुच्छ जान पड़ने

लगता है परन्तु उस समय भी योगी मन को स्थिर रखकर अन्तःकरण में भक्तिभाव रखकर, योगबल से तैयार किये अपने मनको वश में रखते हुए चित्त और मनको भृकुटि के बीच में ले जाता है। जिस प्रकार घंटा का नाद घंटा में ही लय हो जाता है अथवा मिट्टी की गोद के नीचे रखा दीपक कब बुझ गया, इसकी किसी को खबर नहीं पड़ती, उसी प्रकार जो कोई अपनी देह को ऐसा ही शान्ति के साथ त्याग देता है, वह निश्चय ही परम ब्रह्म में, जिसे परम पुरुष भी कहते हैं, जाकर मिल जाता है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।।११

जो ज्ञान समस्त ज्ञान का अन्त है, उसे सम्पूर्ण ज्ञान के भण्डार बुद्धिमान् ज्ञानी—जन 'अक्षर' कहते हैं। जिस प्रचण्ड तूफान के आगे आकाश ही ठहर सकता है उसके आगे मेघ कैसे टिकेंगे ? इसी प्रकार ज्ञानी जन जिसे समझ चुके हैं वह वस्तु ज्ञान की मर्यादा में आ जाती है और उसे 'क्षर' (नाशवान्) कहा जाता है। और जिसको जाना नहीं जा सकता वह स्वभावतः 'अक्षर' (अविनाशी) कहा जाता है। यह 'अक्षर' (ब्रह्म) मायातीत होने से सच्चिदानन्द रूप है। विषयेच्छा छोड़कर समस्त इन्द्रियों का दमन करके देह रूपी वृक्ष के नीचे उदासीन वृत्ति से बैठे हुए विरक्त पुरुष भी सदा जिसकी राह देखते रहते हैं, जो सदैव इच्छा-रहित लोगों को प्रिय लगती है, जिसका प्रेम प्राप्त करने के लिए योगीजन ब्रह्मचर्यादि संकटों की कुछ गिनती नहीं करते तथा कठोरता पूर्वक इन्द्रिय-निग्रह करते हैं, ऐसा जो दुर्लभ परम पद हैं, जिसका वर्णन वेदों में भी नहीं मिलता, उस पद को वे लोग सहज ही प्राप्त कर लेते हैं जो मेरे उपर्युक्त कथन के अनुसार देह-त्याग करते हैं। इसलिए हे अर्जुन ! उस विषय को एक बार फिर तुझे बतलाता हूँ। इस पर अर्जुन ने कहा—"हे गुरुदेव ! मैं अभी आपसे यही पूछने वाला था, पर आपने स्वयं ही कृपा की। इसलिए आप उसे

शीघ्र कहें और बिल्कुल सीधी सरल भाषा में कहें।" यह सुनकर त्रिभुवन दीप श्रीकृष्ण बोले 'मैं क्या तुझे जानता नहीं हूं ? तुझ को संक्षेप और स्पष्ट रूप में हीं समझाता हूँ। इसलिए मन के इधर-उधर झपटने की सहज प्रवृत्ति को रोककर उसे हृदय में स्थिर रखने का उपाय करना।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ।।१२
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।।१३

पर यह काम तभी हो सकेगा जब समस्त इन्द्रिय रूपी द्वारों को निग्रह रूपी ताला लगाकर बन्द कर दिया जायगा। ऐसे किए जाने पर मन सहज में वशीभूत होकर हृदय स्वच्छतापूर्वक स्थिर हो जाता है। जैसे किसी मनुष्य के हाथ पैर टूट गये हों तो वह मनुष्य अपने घर से हट नहीं सकता, उसी तरह हे अर्जुन ! जब चित्त की स्थिरता हो जाय तो प्राणायाम करते हुए ॐकार का ध्यान करे और प्राण वायु को क्रमशः ब्रह्म रन्ध्र तक लावे। फिर 'अकार' 'उकार' 'मकार'—इन तीनों मात्राओं का लय आधी मात्रा में हो, तब तक धारणा शक्ति के बल से प्राण वायु को इस प्रकार स्थिर रखे रहो, मानो वह ब्रह्माकाश से मिलने ही वाला है। अर्थात् तब तक वायु को मस्तकाकाश में ठहराये रहो। उसके पश्चात् ॐकार और उसका संयोग होने पर वह मूल स्वरूप (ब्रह्म) में रमण करता है। ऐसा होते ही ॐकार का स्मरण बंद हो जाता है और उसी समय प्राणों का अन्त हो जाता है। फिर ॐकारातीत ब्रह्मानन्द-स्वरूप ही शेष रहता है। इस प्रकार प्राण स्वरूप एकाक्षर ब्रह्म जो मेरा परम स्वरूप है, उसे स्मरण करते-करते जो जीव उस अवस्था में प्राण त्याग करता है, वह निश्चय ही मुझ में समा जाता है। हे अर्जुन ! कदाचित् तेरे मन में ऐसी शंका उत्पन्न होती हो कि मरण-

काल में मेरा स्मरण कैसे हो सकता है ? जीवन का सुख नष्ट हो रहा हो, इन्द्रियाँ शङ्का में पड़ी हों, भीतर और बाहर मृत्यु के चिह्न प्रकट हो रहे हों तब उठना, बैठना किस प्रकार सम्भव होगा ? उस समय इन्द्रियों का संयम कौन करेगा और अन्तःकरण से ॐकार का स्मरण किससे होगा ? हे तात ! ऐसे संशय को तू अपने मन में कभी स्थान मत देना। क्योंकि जो नित्य प्रति मेरी सेवा करता रहता है, उसके अन्तःकाल में भी उनका दास बनकर रहता हूँ।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५

जो विषयों को तिलांजलि देकर, विषय की इच्छाओं का निरोध करके, मुझको ही हृदय में रखकर सुख का उपभोग करते हैं, उनको उस अवसर पर भूख आदि का भी ध्यान नहीं रहता, तो फिर बिचारे नेत्रादिक की वहाँ कौन गिनती करता है ? इस प्रकार निरन्तर मेरे ऐक्य रूप को पाने वाले, अपने अन्तःकरण से मुझमें तल्लीन होने वाले, तथा मद्रूप बनकर मेरी सेवा करने वाले जो व्यक्ति हैं, उनको अन्तकाल में ऐसी कठिनाई नहीं होती। यदि उस समय स्मरण करने पर ही मैं उनको प्राप्त हो सकूँ तो फिर उपासना का महत्व ही क्या रहा ? संकट के समय तो कोई सामान्य मनुष्य भी दीनता पूर्वक विनती करता है—"हे देव ! मेरी सहायता करो।" तो क्या उसकी सहायतार्थ नहीं जाता। तो फिर जो मेरे भक्त हैं, यदि मरणकाल में मैं उनकी देख—भाल न कर सकूँ तो फिर वे मेरी भक्ति क्यों करेंगे ? इसलिए ऐसी शंकाओं को कभी जबान पर भी न लाना चाहिए। वे जिस समय मेरा स्मरण करते हैं उसी समय मैं उनको मिल जाता हूँ। उनका भक्ति रूपी उपकारों का भार मुझ से सहन नहीं हो सकता। इस प्रकार मैं अपने को ऋणी समझता हूँ और ऋण मुक्ति होने के लिए अन्तकाल

में अपने भक्तों की सेवा करता हूँ। देह त्याग की ग्लानि का प्रभाव मेरे भक्तों के शरीर पर न पड़े इसलिए अन्तकाल में उनको मैं आत्मबोध रूपी पिंजरे में रखता हूँ। उस पिंजरे पर मैं स्मरण का आह्लादकारक और शीतल पर्दा डाल देता हूँ। इस प्रकार जिसकी बुद्धि सदैव मुझ में रहती है उनको मैं अपने स्वरूप में ही खींच लेता हूँ। देह त्याग के अवसर पर मेरे भक्तों को तनिक भी दुःख नहीं होता और वे सुख-पूर्वक मेरे समीप आ जाते हैं। (१४४)

आत्मा पर में देह रूपी आवरण को दूर करके तथा मिथ्या अहंकार की धूल को झाड़कर, भगवत प्राप्ति की वासना से मैं उनको तद्रूप कर लेता हूँ, और भक्तों का देह के प्रति प्रेम न रहने से वे सहज ही उसका त्याग करते हैं, उस समय देह छूट रही है, इतना भी उसको प्रतीत नहीं होता। उसी प्रकार देहांत के समय उनके मनमें यह इच्छा भी जाग्रत नहीं होती कि भगवत् प्राप्ति हो अथवा ईश्वर का सान्निध्य मिले, क्योंकि वह पहले ही मद्रूप हो चुका होता है। यद्यपि उसके शरीर रूपी जल में आत्मा दिखाई पड़ती है, पर वह इसी प्रकार होती है जैसे जल में पड़ने वाला किसी पदार्थ का प्रतिबिम्ब। चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल में दिखाई पड़ता है, पर उसकी वास्तविक स्थिति तो चन्द्रमा में ही है। इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करके जो मेरे साथ युक्त हो गया है, उसके समीप मैं सदैव हूँ, इसलिए वह मृत्यु के पश्चात् निश्चय ही मद्रूप बन जाता है। जो शरीर क्लेश रूपी वृक्षों का बना है, जो तापत्रय रूपी अग्नि की धगधगाती अंगीठी (सिगड़ी) है, जो मृत्यु रूपी कौआ का बलि-भाग है, जो दरिद्रता को बढ़ाता है, जो मृत्यु के भय को बढ़ाता है, जो सब दुःख का भण्डार है, जो खोटी बुद्धि का मूल है, जो पूर्वजन्म के अशुभ कर्मों का फल है, जो भ्रान्ति का स्वरूप ही है, जो संसार का आश्रय है, जो अहंकारादि विकारों का उपवन है, जो सब प्रकार की व्याधियों की परसी हुई थाली है, जो काल द्वारा चबायी हुई झूठी खिचड़ी है, जो आशा का अमङ्गल है, जो

स्वभावतः जन्म-मरण को फिर से ताजा करने वाला है, जो भ्रान्ति से परिपूर्ण है, जो कुकल्पनाओं से भरा हुआ है। जो बिच्छुओं का निवास स्थान है जो बाघ की गुफा है। जो वेश्याओं के सदृश्य मन्त्री वाला है जो विषय वासना का सर्वमान्य साधन है जो यक्षिणी के प्रेम के समान अथवा विष की शीतल घूंट के समान घातक है, जो ठग द्वारा दिखाये गये बाह्य स्नेह के समान, जो कोढ़ग्रस्त मनुष्य के आलिंगन के समान, जो महा विष वाले सर्प के कोमल अङ्ग के समान, जो बहेलिया के मीठे गायन के समान जो शत्रु द्वारा किये गये आतिथ्य सत्कार, दुष्ट द्वारा होने वाले स्वागत सत्कार के समान है। ज्यादा क्या कहूँ जो प्रत्यक्ष अनर्थ का समुद्र है, जो स्वप्न में आया हुआ स्वप्न है, जो मृग जल से परिपूर्ण वन है, और जो धूल से छाया हुआ आकाश है—ऐसा जो यह शरीर है वह मेरे भक्तों को पुनः प्राप्त नहीं होता। (१५१)

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६

ब्रह्मत्व का अभिमान रखने वाले ब्रह्माजी भी पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त नहीं हो पाते। जिस तरह मरे हुए मनुष्य के पेट में पीड़ा नहीं होती, स्वप्न में बाढ़ ग्रस्त व्यक्ति डूब नहीं सकता, उसी प्रकार जो मुझे (भगवान को) पा लेता है वह संसार में लिप्त नहीं होता। जो चौदह लोकों का शिखर है, जो सातों चिरंजीवों के अग्रभाग में रहता है और जो त्रैलोक्य रूपी-पर्वत के मस्तक स्वरूप हैं, ऐसा जो ब्रह्म लोक है, उसके एक प्रहर तक भी इन्द्र की आयु नहीं टिकती और एक दिन में ही चौदह इन्द्रों का अन्त हो जाता है। (१५५)

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७

चार युग एक हजार बार बीत जायें तब वास्तव में ब्रह्मा का एक दिन पूरा होता है। उसी प्रकार एक रात होती है। इतना बड़ा

दिन और रात्रि जहाँ है वहाँ निवास करने वाले भाग्यशाली व्यक्ति मरते नहीं परन्तु रात्रि और दिन का होना देखते हैं। वे ही स्वर्गलोक के चिरंजीवी कहे जाते हैं। अन्यथा जहाँ स्वयं स्वर्ग के अधिपति इन्द्र की अवस्था ही इतनी है कि एक दिन के भीतर चौदह इन्द्र बदल जाते हैं, तो फिर देवताओं की प्रतिष्ठा की क्या गिनती की जाय पर जो ब्रह्मा जी के आठ प्रहर के दिन-रात को अपनी आँखों से देखते हैं उन्हीं को ब्रह्मा के दिन और रात को जानने वाला कहा जाता है। (१५६)

अव्यक्ताद्व्यक्तय: सर्वा: प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८
भूतग्राम: स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवश: पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९

उन ब्रह्माजी का जब दिन निकलता है तब निराकार में से साकार विश्व इस तरह उत्पन्न होता है कि उसका परिणाम कथन नहीं किया जा सकता। फिर उस दिन के चार प्रहर बीत जाने पर यह विश्व नष्ट हो जाता है और रात बीतने पर फिर पौ फटने लगती है और विश्व का निर्माण होने लग जाता है। शरद् ऋतु के आरम्भ होने पर बादल आकाश में से नष्ट होने लग जाते हैं। और ग्रीष्म ऋतु का अन्त होने पर फिर उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्माजी का दिन आरम्भ होने पर यह पंचभूमि का समुदाय एकत्रित होने लगता है। और वे चार युग हजार बार बीत जायें तब तक स्थिर रहता है। फिर ब्रह्मदेव की रात्रि का समय आने पर यह सृष्टि निराकार में लय हो जाती है और रात्रि के बीतने पर फिर उदय होने लग जाती है। इसी प्रकार विश्व की रचना होती है। इस कथन का उद्देश्य यही है कि ब्रह्माजी के एक दिन और रात में विश्व की उत्पत्ति और लय की क्रिया हो जाती है। उसकी महत्ता पर विचार करने से यही प्रतीत होता है कि ब्रह्म देव सृष्टि के बीजों का भण्डार है, तो भी वे

जन्म मरण की मर्यादा में आ जाते हैं। हे धनुर्धर ! यह त्रिलोक युक्त सृष्टि सत्यलोक का प्रसार है और ब्रह्म देव का दिन निकलने के साथ ही वह फैलने लगती है और जब रात्रि का समय आता है तब अपने आप अव्यक्त में लीन हो जाती है। तब ये पंचभूत ब्रह्मदेव के आदेश से जहाँ के तहाँ विलीन हो जाते हैं। जिस प्रकार वृक्ष बीज में समाया हुआ है अथवा मेघ आकाश में विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार इस अनेकत्व का प्रकृति में जो लय होता है उसी को 'साम्य' कहा जाता है। (१६६)

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः सः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०

उस 'साम्य' में न्यूनाधिक का कोई प्रश्न नहीं होता इसलिये उसे 'भूत' भी नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार दूध का दही बन जाने पर दूध का नाम और रूप नाश को प्राप्त हो जाता है, परन्तु जहाँ उत्पत्ति हुई है, वहाँ तो वह उस दशा में बना रहता है। उस समय उसे 'अव्यक्त' कहा जाता है, और जब वह साकार होकर नाम रूप धारण कर लेता है तब उसी को 'व्यक्त' मान लिया जाता है। ये दो नाम केवल एक अवस्था से दूसरी का भेद बतलाने के लिए रखे गये हैं, यदि वास्तव में विचार किया जाय तो दोनों में से कोई वस्तु यथार्थ नहीं है। जैसे चाँदी को गलाकर डेला बना दिया तो उसे थकिया अथवा ईंट कहते हैं। फिर जब उसके आभूषण बना लिए जाते है तो 'थकिया' का नाश हो जाता है उसी प्रकार 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' ये दोनों विचार ब्रह्म से ही सम्बन्धित हैं, पर वस्तुतः वह ब्रह्म व्यक्त है और न अव्यक्त, वह उत्पन्न भी नहीं होता और उसका नाश भी नहीं होता। वह दोनों बातों से परे और अनादि सिद्धि है। वह ब्रह्म विश्व के रूप में रहता है, पर विश्व का नाश होने पर उसका नाश नहीं हो जाता। जिस प्रकार अक्षरों को मिटा देने से उनका अर्थ नहीं मिट जाता। पानी में लहरें उठती हैं और लय हो जाती है, पर इतने

पर भी पानी का अस्तित्व तो कायम रहता ही हैं। उसी प्रकार पंचभूतों के नष्ट हो जाने पर भी अविनाशी ब्रह्म तो स्थायी रहता है। अथवा जिस प्रकार आभूषणों के नाश होने पर सोने का नाश नहीं होता, उसी प्रकार मृत्यु पाने वाला आत्मा शरीर में ही अमर रहता है। (१७८)

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।२१
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।।२२

जिसको कौतूहल से 'अव्यक्त' कह देने पर भी यह नहीं जान पड़ता कि उसके लिए यह विशेषण उचित है। इसका कारण यह है कि वह किसी तरह मन और बुद्धि की सीमा में नहीं आ सकता। उसको आकार प्राप्त हो जाने पर भी उसका निराकार पन मिट नहीं जाता और आकार का नाश होने पर भी जो 'नित्य' अथवा 'शाश्वत्' बना रहता है। इसी कारण उसे अक्षर कहा जाता है और केवल इसी शब्द से उसकी कुछ जानकारी होती है। उसके आगे कोई और मार्ग न रहने से उसे 'परमगति' कहा जाता है। वह अक्षर इस शरीर में व्याप्त है, पर निद्रावस्था में रहता है, क्योंकि न तो वह स्वयं कोई कार्य करता है और न कराता है। हे महावीर अर्जुन ! इस अवस्था में भी शरीर के समस्त कार्य होते रहते हैं, दसों इन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापार में संलग्न रहती हैं। विषयरूपी बाजार खुलकर मन चौराहे पर जो लेन देन होता है, उससे प्राप्त होने वाला सुख-दुःख का हिस्सा अन्तः-करण को भी मिलता है। जिस प्रकार राजा सुख से सोता हो उस समय भी उसके राज्य का कोई काम बन्द नहीं हो जाता और प्रजा अपने लाभ की इच्छा से व्यापार करती ही रहती है, उसी प्रकार बुद्धि की ज्ञान शक्ति, मन की संकल्प विकल्प शक्ति, इन्द्रियों की क्रिया शक्ति और प्राण वायु की स्फुरण शक्ति—ये सब शरीर सम्बन्धी-व्यापार

इच्छा पूर्वक न किये जाने पर भी स्वयंमेव होते ही रहते हैं। जिस प्रकार सूर्य किसी को नहीं चलाता तो भी उसके प्रकाश से सब लोक अपने आप चलते रहते हैं उसी प्रकार हे अर्जुन उस परमात्मा के कारण ही इस शरीर रूपी यन्त्र के सब काम चलते रहते हैं। ऐसा जो परमात्मा है वह इस शरीर रूपी पुरी में सो रहा है इसी से इसे "पुरुष कहा जाता है" माया रूपी पतिव्रता के साथ एक पत्नीव्रत में निमग्न रहने से भी उसे 'पुरुष' के नाम से पुकारा जाता है। यद्यपि वेदों ने बहुत चेष्टा की पर वे उनके आसन को भी नहीं देख सके। उसमें आकाश का भी समावेश होता है यह जानकर योगीजन उसको जीव और प्रकृति से अतीत मानते हैं। वह पुरुष-परमात्मा एकनिष्ठ भक्तों की खोज करता हुआ उनके घर पहुँच जाता है। (१९१)

जो एकनिष्ठ भक्त काया, वचन और मन से किसी अन्य वस्तु का चिन्तन नहीं करता, उसकी एक निष्ठा की उत्तम फसल उत्पन्न करने वाला यह उपजाऊ खेत है। हे पाण्डव ! जिस भक्त के मन में यह निश्चय है कि यह त्रिलोकी भगवत् स्वरूप ही है, उस आस्तिक भक्त को उसमें पूर्ण आश्रय प्राप्त होता है। जो निरभिमानियों का वैभव है, जो गुणतीतों का ज्ञान है, निःस्पृह जनों का सुयोग्य भोग प्राप्त करने का स्थान है, जो सन्तोषी व्यक्तियों का भोजन है, जो संसार की चिन्ता न करने वाले शरणागत का आश्रय धाम है और जो भक्ति मार्ग पर चलने वालों के लिए मोक्ष रूपी नगर का सीधा रास्ता है। हे अर्जुन ! मैं उसके एक-एक गुण का कितना वर्णन करूँ ? पर जिस स्थान पर पहुँच कर मनुष्य तद्रूपता प्राप्त कर लेता है, वह स्थान यही है। जाड़ा पड़ने पर जिस प्रकार गर्म पानी ठण्डा पड़ जाता है, अथवा सूर्योदय होने पर अन्धकार ही प्रकाश रूप बन जाता है, उसी प्रकार हे पाण्डुकुमार ! अज्ञान और उसका कार्य—यह सागर उस परमात्मा रूपी नगरी में पहुँचने पर स्वयं ही मुक्ति रूप बन जाता है। जिस प्रकार

लकड़ी को अग्नि में डालने पर वह स्वयं अग्नि रूप बन जाती है और कितना भी ढूँढ़ा जाय उसका "काष्ठत्व" देखने में नहीं आता, अथवा जिस प्रकार एक बार ईख से शक्कर बन जाने पर फिर कैसा भी बुद्धिमान व्यक्ति उसे ईख के रूप में नहीं बदल सकता, अथवा जिस प्रकार एक बार पारस का स्पर्श पाकर लोहे का सोना बन जाने पर फिर उसका लोहापन लौटकर नहीं आ सकता, अथवा जिस प्रकार से दही पुनः किसी प्रकार दूध नहीं बनाया जा सकता, उसी प्रकार जिसे प्राप्त हो जाने पर पुनः पुनर्जन्म नहीं होता, वही मेरा वास्तविक श्रेष्ठ स्थान है। उसी को अब मैं तुझे स्पष्ट रीति से समझाता हूँ। (२०३)

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३

उसी प्रकार, देहावसान के पश्चात् जिस स्वरूप को योगीजन प्राप्त करते हैं, उनका रहस्य एक अन्य प्रकार से सहज में ही समझा जा सकता है। अथवा ऐसा भी होता है कि जो योगी अकाल में देह त्याग करते हैं, उनको फिर से जन्म लेना पड़ता है। इसका आशय यही है कि यदि शास्त्र के कथनानुसार शुद्ध देह का अवसान हो तो वे योगी तत्काल ब्रह्मरूप हो जाते हैं और यदि अकाल में अवसान होता है तो उनका पुनर्जन्म होता है। इस प्रकार मोक्ष और पुनर्जन्म, ये दोनों काल के अधीन हैं। अब मैं तुमको इस काल के सम्बन्ध में कुछ बात कहता हूँ, हे महावीर अर्जुन! उसे तू ध्यान लगाकर सुन। मृत्यु के समय पंच महाभूत तो अपने-अपने स्थान को चले जाते हैं पर उस समय भी तो भ्रान्ति बुद्धि को निगल सकती है, न स्मरण शक्ति मन्द पड़ती है, और न मन की मृत्यु होती है। इस प्रकार यह समस्त ज्ञान समुदाय मृत्यु के समय प्रकाशित हो जाता है, और उसे पूर्व में अनुभव किये ब्रह्म भाव का अनुभव होता है। इस प्रकार यह समुदाय सावधान रहता है और मरने के समय तक उसे आन्तरिक इन्द्रियों की सहायता

मिलती रहती है। पर यह सहायता तभी मिल सकती है जब जठराग्नि प्रदीप्त रहती है। वायु अथवा पानी से जब दीपक का प्रकाश बुझ जाता है, तब अपनी आँख ठीक रहने पर भी क्या अपने को कुछ दिखाई पड़ता है? उसी प्रकार देहावसान के समय वायु बढ़ने से शरीर कफ से भर जाता है और जठराग्नि का तेज बुझ जाता है; उस समय वहाँ प्राण ही नहीं रहता, तो बुद्धि बची रहने से भी क्या कर सकती है? क्योंकि अग्नि के बिना देह में चैतन्य नहीं रह सकता, और जब जठराग्नि नष्ट हो जाती है तो शरीर भी केवल गीली मिट्टी या कीचड़ के समान बन जाता है। उस समय साधक अपने आयुष्य को उसी तरह समाप्त करता है जैसे कोई अन्धेरे में गिरता-पड़ता चल रहा हो। ऐसी स्थिति में पूर्व अभ्यास का स्मरण रखकर देह छोड़ना और निज स्वरूपमें मिल जाना कैसे सम्भव हो सकता है? उस समय तो देह के कफ रूपी कीचड़ में चेतन के डूब जाने से आगे-पीछे की बातों का विस्मरण हो जाता है और पहले जो योगाभ्यास किया गया है उसका स्मरण मृत्यु आने से पहले ही नष्ट हो जाता है। अँधेरे में रखी वस्तु हाथ में आने के पहले ही दीपक बुझ जाय, वैसी ही यह घटना होती है। इन सबका का तात्पर्य यही है कि ज्ञानका मूल कारण जठराग्नि होती है और जीवन में समस्त बल उस अग्नि का ही होता है। (२१६)

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४

शरीर के भीतर जठराग्नि की ज्योति का प्रकाश हो और बाहर उत्तरायण के छः महीनों में से कोई भी महीना हो, शुक्ल पक्ष का दिन हो (रात्रि नहीं होनी चाहिए) ऐसा सब प्रकार का योग प्राप्त होने पर ही ब्रह्म का अभ्यासी पुरुष अपनी देह को त्यागता है। वे ही ज्ञानीजन ब्रह्म में जाकर मिल जाते हैं। हे धनुर्धर! सुनो, इस काल-योग में (तत्कालाग्नि देवताओं का) विलक्षण सामर्थ्य होने से, मोक्ष प्राप्ति के

लिए निज स्वरूप में पहुँचने का यह सरल मार्ग है। इस मार्ग में जठराग्नि ही पहली सीढ़ी है, अग्नि का तेजस्वी बना रहना दूसरी सीढ़ी है, दिन का समय होना तीसरी सीढ़ी हैं, शुक्ल पक्ष चौथी सीढ़ी है और उत्तरायण के छः महीनों में से कोई एक महीना होना पाँचवो अथवा सब से ऊपर की अन्तिम सीढ़ी है। इस क्रम से चढ़ने पर योगी योग सिद्धि रूपी घर में जा पहुँचा है। यह उत्तम काम होता है ऐसा समझ ले, इसी को शास्त्र में अर्चिरादि मार्ग कहा गया है। अब योगी साधक के लिए मरने का अयोग्य समय कौन-सा होता है वह भी तुझको बतलाता हूँ, सुन। (२४५)

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ।।२५

मरते समय कफ-बात आदि दोषों की प्रबलता से अन्तःकरण में अन्धकार हो जाता है, सब इन्द्रियों की गति कुंठित हो जाती है, स्मृति में भ्रम उत्पन्न हो जाता है, मन में उन्माद का संचार होने लगता है, प्राण अवरुद्ध होने लगता है, जठराग्नि बुझ जाती हैं और चारों तरफ धुँआ-सा छा जाता है। इससे शरीर में पाया जाने वाला ज्ञान आच्छादित हो जाता है। जिस प्रकार चन्द्रमा के सामने जल युक्त बादलों के आने से न तो अन्धेरा और न प्रकाश ऐसी स्थिति पैदा हो जाती है, सर्वत्र धुँधलापन छा जाता है, उसी प्रकार वह व्यक्ति न तो मरता हैं, और न चैतन्य होता है। ऐसी दशा में केवल शरीर पड़ा रहता है और जीवन मरने की राह देखने लगता है। इससे मन, बुद्धि और इन्द्रियों के चारों ओर अत्यन्त धुँआ भर जाता है, अर्थात् वे अज्ञान से ढंक जाती है। तब समस्त जन्म में प्राप्त किये सब लाभों का नाश हो जाता है। जब हाथ में आया हुआ लाभ ही निकल गया, तो आगे चल कर क्या मिलेगा, इसको कौन जानता है। इसलिए मृत्यु के समय तब ऐसी पतित अवस्था प्राप्त होती है, देह की भीतरी दशा बिल्कुल बिगड़ जाती है और बाहर कृष्ण पक्ष दक्षिणायन

के छः महीनों में से कोई एक महीना होता है। जब जन्म-मरण के चक्र में डालने वाले सब योग इकट्ठे हो जायें, तब कानों में मोक्ष प्राप्ति की बात कैसे पड़ सकती है? इस काल में जिस योगी का देहान्त होता है वह योग के आधार पर चन्द्रलोक तक जा सकता है, पर उसके बाद जब तप का तेज समाप्त हो जाता है, तब उसको जन्ममरण के चक्र में पुनः पड़ना पड़ता है। हे पाण्डव! मैंने मरण के लिए जो अयोग्य काल बतलाया था, वह यही है, ऐसा समझले। जन्म-मरण की नगरी में ले आने वाला धूम्रमार्ग यही है। इसके अतिरिक्त जो ऊपर बतलाया अर्चिरादि मार्ग है, वह राज मार्ग है, सुलभ और उत्तम है, और वह मोक्ष-प्रदेश तक फैला हुआ है। (२३९)

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६

ऐसे दो मार्ग हैं, एक सीधा और दूसरा टेढ़ा (वक्र) और ये अनादि काल से चले आते हैं, इसलिए ये तुझको बौद्धिक ढङ्ग से समझाये गये हैं। इससे तू जान सकेगा कि इनमें से कौन उत्तम है और कौन निम्न श्रेणी का है। इससे तू श्रेष्ठ और हीन मार्ग की पहचान करके यह भी निर्णय कर सकेगा कि 'इनमें कौन सा हितकारी और कौन सा अहितकारी है।' यह देखते हुए कि एक उत्तम नाव किनारे पर मौजूद है कोई व्यक्ति गहरे पानी में क्यों कूदेगा? अथवा बढ़िया राजमार्ग को छोड़कर पगडण्डी पर कोई क्यों चलेगा? जो व्यक्ति विष और अमृत को पहचान सकता है, वह अमृत का त्याग क्यों करेगा? इसी प्रकार जो सरल मार्ग को जानता है वह टेढ़े तिरछे रास्ते पर नहीं जा सकता। इसलिए हम को सच्चे और झूठे की जाँच करनी चाहिए। जब ऐसी परीक्षा करनी अच्छी तरह आ जाय, तो मनुष्य कभी सङ्कट में नहीं पड़ सकता। पर मृत्युकाल में इस मार्ग को जान सकना बहुत ही कठिन हो जाता है, और ज्ञान न होने से समस्त जन्म का अभ्यास व्यर्थ हो जाता है। जो योगी

अचिरादि मार्ग को छोड़कर धूम्रमार्ग में फँस जाते हैं, वे जन्म-मरण के चक्र में पड़कर बार-बार आते-जाते रहते हैं। इस महान् सङ्कटको समझ कर ही, उससे पूर्णतः-बचने के लिए यहाँ दोनों योग-मार्गों का वर्णन किया गया है। एक रास्ते पर चलने से तो मोक्षकी प्राप्ति होती है और दूसरे पर जन्म-मरण के चक्र में पड़ना होता है। परन्तु देहावसान के अवसर पर प्रारब्धानुसार जिसे जो मार्ग प्राप्त हो जाय वही ठीक है। (२४६)

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।।२७

किस समय अकस्मात् क्या हो जायगा इसका कोई नियम नहीं है परन्तु देहान्त होने पर ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग कौन-सा है, इस पर हम विचार करेंगे। ज्ञानी जन तो यह मानते हैं कि देह चाहे रहे और चाहे चली जाय, हम केवल ब्रह्म ही हैं। रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाना उसी समय नष्ट हो जाता है जब हम रस्सी की असलियत को जान जाते हैं। पानी में तरङ्गें उठती हैं और मिटती हैं, ऐसा अनुभव क्या कभी पानी को होता होगा? उसे तो कभी जाकर देख लो, वह पानी का पानी ही रहता है। तरङ्ग के उत्पन्न होने से न तो उसका जन्म होता है और न तरङ्ग का नाश होने से वह नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार जो लोग देह में रहने पर भी अपने को केवल ब्रह्म ही मानते हैं, वे ही 'विदेही' कहलाते हैं। फिर कब किस वस्तु का नाश होता है? जब देश और काल हम स्वयं बने हैं तब ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग की खोज करने का कोई कारण नहीं जान पड़ता। फिर खोज की भी जाय तो किसके पास किस प्रकार को जाय? जिस प्रकार घड़ा फूट जाता है, तो उसके भीतर का आकाश क्या सरल मार्ग पाने पर ही बृहत् आकाश में मिलेगा? क्या वह सरल रास्ता न मिलने पर नहीं मिलेगा? वास्तव में नाश तो केवल घड़ा के आकार का होता है, घटाकाश तो घड़ा के बनने के पहले ही मूल आकाश के रूप में मौजूद

था। इस प्रकार का ज्ञान मिल जाने पर अपने को ब्रह्म स्वरूप समझने वाले योगी को सुमार्ग अथवा कुमार्ग के झंझट में पड़ना नहीं होता। इसलिए हे पाण्डुकुमार तुम योगयुक्त बनो। इस योग से तुझे अपने आप ब्रह्म स्वरूप की प्राप्ति होगी। फिर पंच भौतिक शरीर चाहे जहाँ रहे अथवा नाश को प्राप्त हो, परन्तु इससे तुम्हारे अनिर्बन्ध तथा नित्य ब्रह्म स्वरूप में कोई बाधा नहीं पड़ सकती। वह न तो सृष्टि के आरम्भ में जन्म ग्रहण करता है और न सृष्टि का अन्त होने पर मृत्यु को प्राप्त होता है। जब तक सृष्टि चालू रहती है तब तक वह स्वर्ग अथवा संसार के सुख मोह में फँसता भी नहीं। इस प्रकार के ज्ञान से जो योगी साव-धान होता है उसी को तदनुसार फल की प्राप्ति होती है क्योंकि वह विषय-भोग को उलाँघकर ब्रह्मस्वरूप में जा मिलता है। हे अर्जुन! इन्द्र आदि देवताओं के स्वर्ग में जो निरन्तर सब प्रकार के सुखों का लाभ मिलता है, उसे वह फेंक देने योग्य निकम्मे पदार्थ की तरह मान कर सर्वथा त्याज्य कर देता है। (२६०)

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८

वेद का अध्ययन करके कोई मनुष्य वैदिक बन जाय, अथवा यज्ञ करके पुण्य-क्षेत्र में फल प्राप्ति कर ले अथवा तप और दान करके सर्व-पुण्य एकत्रित करे—इस प्रकार के समस्त पुण्यों का वृक्ष फलों के भार से नीचे झुक जाय, तो भी शुद्ध ब्रह्म की समानता कोई नहीं कर सकता। जिसको तराजू में रखने से जो नित्यानन्द की अपेक्षा न्यून नहीं जान पड़ता जिसकी प्राप्ति के लिए वेद, यज्ञ आदि साधन करने पड़ते हैं, जिस स्वर्ग सुख को भोगने से मन नहीं ऊबता अथवा जिसका कभी अन्त नहीं होता, जो सब प्रकार के भोगों की इच्छा को पूरा करते हैं और जो ब्रह्मानन्द के छोटे भाई की तरह ही जान पड़ते हैं। इस प्रकार उच्च कोटि का स्वर्ग सुख भी केवल ऊपर से देखने पर सुख जान पड़ता

है, और मरने के पश्चात् मिलता है। ऐसा सुख यद्यपि सौ वर्ष तक यज्ञ करने पर भी कठिनता से प्राप्त होता है फिर भी दिव्य-दृष्टि वाले योगीश्वर उसे एक तमाशे की सी बात समझते हैं और ब्रह्मसुख की तुलना से उसे अत्यन्त हलका मानते हैं। हे अर्जुन ! फिर वे योगी उस स्वर्ग-सुख को सीढ़ी के समान समझकर, वास्तव में उसको पददलित करके ब्रह्मपद पर आरूढ़ होते हैं। इस प्रकार जो स्थावर और जङ्गम स्वामी हैं जो ब्रह्मा और शङ्कर के भी आराध्य हैं, जो योगियों द्वारा प्राप्त करने ही योग्य हैं, जो आद्य ज्ञात-स्वरूप हैं, जो परमानन्द की केवल मूर्ति हैं, जो विश्व के अन्तर्गत प्राणी मात्र के जीवन हैं, जो समस्त ज्ञान की आत्मा हैं जो यादव वंश के कुल-दीपक हैं, ऐसे श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति यह सब कथन किया। ज्ञानदेव कहते हैं, कुरुक्षेत्र की जो कथा संजय ने धृतराष्ट्र को सुनाई उसे आगे चल कर सुनो। (२७१)

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां
अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

॥ अथ नवमोऽध्याय: ॥

श्री ज्ञानेश्वर कहते हैं—'हे श्रोताजनों ! सुनो, मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि जो तुम केवल इस तरफ ध्यान दोगे तो समस्त सुखों के पात्र बनोगे। परन्तु तुम्हारे जैसे महान् ज्ञानियों की सभा में मैं ऐसे शब्द गर्व रहित नहीं कह सकता। मैं जो 'ध्यान देने' को कह रहा हूँ वह एक दुलार युक्त विनती के समान है। क्योंकि आप जैसे सुसम्पन्न ज्ञान के भण्डार जहाँ होते हैं, वहाँ जो मनोगम्यता नाम की वृत्ति है उसकी मनोगम्यता (पसन्दगी) पूर्ण हो जाती है और मनोरथ की इच्छा भी तृप्त होती है। आपकी कृपा दृष्टि की शीतलता से मेरी प्रसन्नता के पौधे खूब हरे-भरे हो गये हैं और उनकी शीतल छाया में मैं थक जाने पर विश्राम लेता हूँ। महाराज ! आप तो सुखामृत के सरोवर हो उसमें मैं इच्छानुसार बिहार करके शान्ति प्राप्त करूँ, इस बात की अनुमति मुझे दें। यहाँ भी अगर मैं अपने मन को खोलकर व्यवहार में सङ्कोच करूँ, तो फिर मेरी अभिलाषा कहाँ पूरी हो सकेगी ? बालक के तुतला कर बोलने और टेढ़ा-तिरछा चलने से जैसे मेरे ऊपर प्रीति है, उसी से मैं इतनी छूट ले रहा हूँ। नहीं तो आप जैसे सर्वज्ञ श्रोताओं को मेरे शब्दों से क्या नई बात समझने को शेष है।' क्या सरस्वती के पुत्र को पाठ रटकर विद्या प्राप्त करनी पड़ती है ? जुगनू चाहे कितना भी बड़ा हो पर सूर्य के प्रकाश के सामने उसकी क्या गिनती हो सकती है ? इसी प्रकार अमृत से बने थाल में उससे बढ़कर और कौन सा पकवान परोसा जा सकता है ? शीतल किरणों के समुदाय से चन्द्रमा को पंखा करना अथवा नाद-ब्रह्म को संगीत

सुनाना अथवा अलङ्कार को गहने पहिनाना, ये कार्य कैसे किये जा सकते हैं ? परिमल को अन्य पुष्पों की सुगन्ध लेने की क्या आवश्यकता है ? क्या समुद्र किसी तालाब में जाकर स्नान करेगा ? अथवा इस आकाश का जिसमें समावेश हो सके ऐसी कोई अन्य वस्तु हैं क्या ? इसी प्रकार आपकी इच्छा पूर्ण हो और आप कहने लगो—'चाहे, ठीक व्याख्यान हुआ' ऐसा भाषण कौन कर सकता है ? न्याय तो सम्भवतः यही रहेगा कि ऐसा होना असम्भव है, ऐसा मनीषी कहते हैं। इसलिए क्या समस्त जगत् को प्रकाश देने वाले सूर्य की आरती एक छोटी-सी रुई की बत्ती जलाकर नहीं उतारी जाती ? क्या समुद्र को एक अञ्जलि भर पानी से अर्घ्य नहीं दिया जाता ? हे सज्जनों ! आप तो प्रत्यक्ष शङ्करजी के अवतार हो और मैं तो केवल भक्ति वश ही आप की पूजा करता हूँ, इसलिए आप मेरे कथन रूपी बिल्वपत्रों को स्वीकार करना। छोटा बच्चा पिता की थाली में खाने को बैठ जाता है और अपनी कुछ योग्यता न होने पर भी प्रेमवश पिता के मुँह में ग्रास देने लगता है और पिता भी उस ग्रास को खाने के लिए आगे की तरफ मुँह कर देता है, उसी तरह मैं आपके साथ बालक की तरह विनोद—पूर्ण व्यवहार करता हूँ मेरे इस व्यवहार से आपको आनन्द तो होना ही चाहिए, क्योंकि प्रेम का सबसे बड़ा गुण यही है। और आप सन्त जनों ने अनेक बार आत्मीयता के भाव से मुझको 'अपना' कहा है, इसलिए मेरी इस धृष्टता से आप कभी नाराज हो ही नहीं सकते।

देखिये जब बछड़ा गाय के थनों में मुँह मारता है तो उसके थनों में दूध अधिक उतरता है और दूध की धारा बहने लग जाती है, इसी प्रकार जिसके साथ अत्यन्त प्रेम होता है, एक बार उसके क्रोध से भी दुगुना प्रेम उत्पन्न होता है। इस प्रकार मेरे तोतले वचनों से आपकी कृपा जाग्रत हुई है यह जानकर ही मैंने कुछ कहने का साहस

किया है। नहीं तो, क्या चन्द्रमा की चाँदनी को कोई पाल में दबाकर पकाता है? अथवा वायु को चलने के लिए कोई गति प्रदान करता है? ऐसा कभी नहीं हो सकता। जिस प्रकार पानी को पतला नहीं करना पड़ता और मक्खन में मथानी नहीं डाली जाती, उसी प्रकार गीतार्थ को देखकर मेरा व्याख्यान लज्जित होकर बाहर निकलने में संकोच अनुभव करता है। वह गीतार्थ कैसा है जिसका वर्णन करने में वेदों की गति भी कुंठित हो जाती है और वे उसकी शय्या पर स्तब्ध होकर गहरी नींद लेने लगते हैं? ऐसे गीतार्थ को प्राकृत भाषा में स्पष्ट करने का मैं कैसे अधिकारी हो सकता हूँ? वास्तविकता तो ऐसी ही है, फिर भी भविष्य की आशा से मेरे भीतर इच्छा उत्पन्न हुई है। और वह आशा यही है कि आपके सम्मुख कुछ उल्ट-सीधा बोलकर आपका प्रेम पात्र बनूं। इसलिए अब चन्द्रमा की अपेक्षा भी शीतल और अमृत की अपेक्षा भी जीवन-प्रदायक अवधान (श्रवण) से मेरे मनोरथ को पुष्टि कीजिए। कारण कि जब आप की कृपा रूपी दृष्टि मेरे ऊपर पूर्ण रूप से होगी, तो मेरी बुद्धि रूपी भूमि में सकलार्थ रूपी अन्न उत्पन्न होगा। पर यदि आप उदासीन वृत्ति धारण करेंगे तो उगता हुआ ज्ञान भी शुष्क हो जायगा। वक्तृत्व रूपी पक्षी को अवधान रूपी चारा मिलेगा तो उसके प्रत्येक अक्षर रूपी अवयव को अर्थ रूपी पुष्टि मिलेगी। अर्थ तो शब्द के बाहर निकलने की राह देखता है, शब्द के निकलते ही उसमें से अर्थ के ऊपर अर्थ निकलता है और बुद्धि को तरह-तरह की व्याख्याएँ सूझने लगती हैं। इसलिए जब सम्वाद रूपी अनुकूल वायु बहने लगता है तो वक्ता के हृदयाकाश में शास्त्र सिद्धान्त रूपी मेघ छा जाते हैं और ब्रह्मज्ञान की वृष्टि होती है। पर जो श्रोताओं का ध्यान न हो तो वक्तृत्व का जमा हुआ रस नीरस हो जाता है। देखिए, चन्द्रकान्त मणि में से पसीना निकलता है, परन्तु वह कार्य केवला चन्द्रमा के सम्मुख ही हो सकता है। इसलिए अगर जो श्रोता न हों तो वक्ता की कुछ भी कीमत नहीं है। या चावलों को

खाने वालों से यह विनती करनी पड़ती है कि हम को मीठा बनाकर खाओ ? इसी प्रकार क्या डोरी पर नाचने वाली पुतलियों को सूत्रधार से यह प्रार्थना करनी पड़ती है कि 'हमको उत्तम रीति से नचाना ?' वह सूत्रधार जो पुतलियों को नचाता है, वह क्या उन पुतलियों के स्वार्थ की दृष्टि से ऐसा करता है ? नहीं वह तो अपनी कुशलता दिखाने के लिए उनको नचाता है इसी प्रकार मैं भी एक पुतली ही हूँ, आप जैसा बोलने को कहेंगे वैसे ही मैं बोलूंगी । इसलिए मुझे यह सोच-विचार की क्या आवश्यकता है, कि मैं किस प्रकार बोलूँ ? इतना सुन-कर गुरु निवृत्तिनाथ कहते हैं तुमको इतना अधिक व्याख्यान देने की क्या आवश्यकता है ? तुम्हारा जो कुछ आशय है, उसे हम समझ गये हैं इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से जो कुछ कहा, वही श्रोताओं को सुनाओ । यह वचन सुनकर निवृत्ति नाथ के शिष्य ज्ञान देव बहुत सन्तुष्ट हो गये और बड़ी प्रसन्नता के साथ कहने लगे—"ठीक है, महाराज" ? सुनो, श्रीकृष्ण अर्जुन से इस प्रकार कहने लगे—

श्री भगवान् उवाच—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१

हे अर्जुन ! मेरे अन्तःकरण में जो अति गुह्य ज्ञान का आदि कारण उपस्थित है उसे तुझको पुनः सुनाता हूँ। अब इस प्राण प्रिय भेद को तेरे सामने क्यों खोलता हूँ, ऐसी सहज शङ्का तेरे मनमें उत्पन्न होती हो तो हे तात ! सुन । इसका कारण यही है कि तू बुद्धिमान और श्रद्धायुक्त है, और मैं जो कुछ कहता हूँ उसे तू खूब ध्यान लगा कर सुनता है । इसलिए यदि मेरी गुप्त वार्ता बाहर निकलती है तो मैं उसे निकलने ही देता हूँ, ओर न कहने योग्य बात कहनी पड़ती है तो उसे भी मैं कह देता, हूँ । मैं यही चाहता हूँ कि मेरे हृदय की गुप्त

बात तेरे हृदय में पहुँच जाय यही मेरी इच्छा है। देखो, स्तन में दूध इकट्ठा होने पर भी स्वयं स्तन तो उसका स्वाद ले नहीं सकता। अपने स्तनों का वह दूध बाहर निकल जाय तो कोई हानि नहीं, परन्तु माता उसे अनन्य भाव से पीने वाले वत्स की राह ही देखती रहती है। इसी प्रकार यदि बोरे में से बीज निकाल कर तैयार खेत में बिखेर दिये जायें, तो क्या उनको व्यर्थ में फेंका कहा जायगा? इसीलिए यदि कोई प्रशस्त अन्तःकरण की शुद्ध बुद्धि वाला, निन्दा न करने वाला और सच्ची निष्ठा रखने वाला भक्त हो, तो वह गुप्त बात भी आनन्दपूर्वक बतला देने में कोई बाधा नहीं है। इन गुणों से युक्त और कोई भक्त तेरे समान नहीं है, इसलिए इस गुप्त वार्त्ता को मैं तुझसे छुपाकर नहीं रख सकता। अब इस वार्ता को बार-बार गुप्त-गुप्त कहने से कदाचित् मन उकताने लगा हो, इसलिए मैं उस प्रापञ्चिक ज्ञान सहित ब्रह्मज्ञान को तुझको सुना ही देता हूँ। पर जिस प्रकार खरे और खोटे सिक्के मिल जाने पर उनको परख-परखकर अलग करना पड़ता है, उसी प्रकार मैं तुझको ज्ञान और विज्ञान अलग-अलग बतलाता हूँ। अथवा राजहंस अपनी चोंच रूप संडसी (चिमटा) से जिस प्रकार दूध और पानी को अलग कर डालता है, उसी प्रकार ज्ञान और विज्ञान के अलग-अलग विभाग करके तुझे बतलाता हूँ। भूसा और अनाज को अलग करने के लिए उसे जिस प्रकार पवन के सामने रखा जाता है, जिससे अनाज का ढेर तो नीचे लग जाता है और भूसा दूर उड़ जाता है, उसी प्रकार ज्ञान और विज्ञान जान लेने से ज्ञान सांसारिक प्रपञ्च का नाश करके मुमुक्षु जन को मोक्ष पद पर आसीन कर देता है।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥२

जो ज्ञान सब प्रकार के ज्ञानों में मुख्य हैं, जो सर्व गुह्य विद्याओं का स्वामी है, जो पवित्र वस्तुओं का राजा है, जो धर्म का अधिष्ठान है, जो

उत्तमोत्तम वस्तु है और जिसके प्राप्त होने पर पुनर्जन्म लेने का कारण नहीं रहता, ऐसा ब्रह्म ज्ञान जब गुरु के मुख से बाहर आने लगता है तब शिष्य के हृदय में स्वयमेव निवास करने वाला ब्रह्म सहज ही प्रत्यक्ष हो जाता है। उसी प्रकार सुख की भूमिका पर पैर रखते ही जिसका साक्षात्कार होता है और तत्पश्चात् उससे प्राप्त होने वाले सुख का जिसमें लय होता है, जिसकी प्राप्ति के इसी किनारे पर खड़े रहने से चित्त आनन्दयुक्त हो जाता है, वह ज्ञान यद्यपि सहज और सुलभ है तो भी वह परब्रह्म रूप ही है। साथ ही इस ज्ञान में एक विशेषता यह है कि वह एक बार प्राप्त होने पर कभी नष्ट नहीं होता। बारम्बार उसका आस्वादन अनुभव कर लेने पर भी वह ज्ञान न्यून नहीं होता, न उसका कभी अभाव होता है, न उससे मन ऊबता है। हे चतुर ! यदि अब तू ऐसी शङ्का करे कि ऐसी अनुपम वस्तु होने पर भी वह सब लोगों को प्राप्त क्यों नहीं हो गई अर्थात् लोग ऐसी उतम वस्तु के लिए प्रयत्न क्यों नहीं करते ? जो लोग पैसा पाने के लिये बिना सोचे-विचारे आग में भी कूदने का दुस्साहस करते हैं, वे ऐसी सहज में प्राप्त होन वाली और अपने पास ही रहने वाली अमूल्य सम्पत्ति का त्याग क्यों करते हैं ? जो ज्ञान रूपी वस्तु इतनी अधिक पवित्र रमणीय, सुखदायक, जानने में सुलभ, पूर्णरूप से धर्मानुकूल है, वह यह सब कुछ होने पर भी लोगों को प्राप्त क्यों नहीं होती ? ऐसी शङ्का उत्पन्न हो सकती है, पर तू ऐसी शङ्का अपने मन में कभी मत लाना। (५६)

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३

उपर्युक्त शङ्का का समाधान यह है कि स प्रकगाय के थन मे लगी हुई जोक बिल्कुल निकट ही पवित्र और मं दूध भरा

रहने पर भी उसे न पीकर खून ही पीती है। अथवा जिस प्रकार कमल पुष्प और मेंढक एक तालाब में रहते हैं, पर कमल के उस मधुर पराग का सेवन बाहर से आये हुए भ्रमर करते हैं और मेंढक के भाग्य में वही कीचड़ लिखा रहता है। अथवा कोई भाग्यहीन व्यक्ति घर के भीतर बहुत-सा द्रव्य गड़ा रहने पर भी दरिद्रावस्था में दुःख सहन करता रहता में। उसी प्रकार प्राणी मात्र के हृदय में यद्यपि मेरा (राम का) निवास है, जिससे उनको भरपूर सुख शान्ति प्राप्त हो सकती है, फिर भी उन अज्ञानी जीवों की तुच्छ विषय भोगों में ही लालसा लगी रहती है। जैसे बहुत अधिक मृग-जल देखकर मुँह में भरे अमृत को थूक दिया जाय, सीप मिल जाने पर गले में बँधी पारसमणि को तोड़कर फेंक दिया जाय, उसी प्रकार जिनके मन में अहन्ता-ममता का पूर्ण अन्धकार जमा रहता है, वे विचारे मुझे प्राप्त नहीं कर सकते और जन्म-मरण के दोनों किनारों के बीच ही डुबकी खाते रहते हैं। मैं कैसा हूँ? अगर यह प्रश्न किया जाय तो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार सूर्य चाहे जिस स्थान से देखा जाय तो वह देखने वाले के मुँह के सामने ही दिखाई देता है। वही बात मेरे साथ भी है—मैं भी स्थित हूँ। परन्तु सूर्य में जो एक न्यूनता है कि वह कभी दिखाई देता है और कभी दिखाई नहीं देता, ऐसा मैं नहीं हूँ। (६३)

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४

यह समस्त जगत् मेरे निर्गुण रूप का ही विस्तार है। जिस प्रकार दूध के जम जाने से दही बन जाता है, अथवा बीज में से वृक्ष हो जाता है, अथवा सोने में से आभूषण (गहने) बन जाते हैं, उसी प्रकार मेरे निर्गुण रूप में से यह समस्त दृश्यमान जगत् विकसित हो गया है मेरा स्वरूप जब अव्यक्त होता है तो उसको निराकार कहा जाता है, पर फिर वह सृष्टि के रूप में विस्तार पाकर आकार धारण

कर लेता है। इस तरह निराकार होने पर भी साकार हुआ जो मैं हूँ उसी से तीनों लोकों की रचना हो गई है। महत्तत्व से लेकर शरीर पर्यन्त समस्त प्राणी, जिस प्रकार पानी में फेन दिखाई देता है, उसी प्रकार मेरे स्वरूप के आभास मात्र हैं। यद्यपि फेन पानी से ही होता है पर यदि उसमें से पानी प्राप्त करने की चेष्टा की जाय तो वह निष्फल ही होगी। अथवा हे अर्जुन ! जिस प्रकार प्राणी स्वप्न में अनेक रूप धारण करता है पर जाग्रत हो जाने पर वे सब अदृश्य हो जाते हैं, इसी प्रकार ये सब प्राणी मेरे भीतर जान पड़ते हैं पर मैं उनमें नहीं हूँ। यह बात मैं तुझे एक बार पहले भी (अध्याय ७१ श्लोक १२ में) समझा चुका हूँ। एक ही बात का पुनः पिष्टपेषण करना नियम विरुद्ध है, इसलिए इस बात को यहीं छोड़ देते हैं। अब मैं उस विषय में अधिक कुछ नहीं कहूँगा, परन्तु तुम अपनी दृष्टि का प्रवेश यथार्थ स्वरूप में होने दो। (७०)

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ।।५

माया से परे मेरे स्वरूप को कल्पना बिना यदि तू देखले तो तुझे जान पड़ेगा कि मेरा कथन कि "सब भूत (प्राणी) मेरे ही भीतर हैं" बिल्कुल गलत है। कारण यह कि सब कुछ मैं ही हूँ। यह होने पर भी संकल्प रूपी संध्या काल में ज्ञान रूपी चक्षु अज्ञान रूपी अन्धकार से कुछ समय तक ग्रसित रहते हैं। ऐसे धुँधले प्रकाश में प्राणी मुझ से भिन्न जान पड़ते हैं, यद्यपि मैं सदैव अखण्ड ही बना रहता हूँ। जिस प्रकार माला में से सर्प की भ्रान्ति के मिट जाने पर केवल माला ही शेष रह जाती है, उसी प्रकार संकल्प रूप सन्ध्याकाल (अथवा सन्धि-काल) के लोप हो जाने पर मेरा अखण्ड स्वरूप ही रह जाता है। भेद मालूम पड़ने का कारण केवल द्रष्टा का संकल्प ही होता है। घड़ा, मटका आदि का आकार क्या जमीन में से अपने आप निकल आता है ? पर वह कुम्हार की बुद्धि से ही प्रस्तुत हो पाता है। समुद्र के पानी में

क्या लहरों की खान है ? क्या वह कार्य पवन द्वारा नहीं होता ? कपास के गर्भ में क्या कपड़े की गाँठ बँधी रहती है ? व्यवहार करने वाले की कारीगरी से ही कपास कपड़े में रूपान्तरित हो जाता है। सुवर्ण का गहना बन जाने से उसका सुवर्णपन नष्ट नहीं हो जाता, यह तो देखने वाले की कल्पना से ही गहना दिखाई पड़ने लगता है। शब्द की जो प्रतिध्वनि सुनने में आती है अथवा दर्पण में जो अपना स्वरूप दिखाई पड़ता है वह वास्तव में अपने बोलने और देखने का ही परिणाम है। क्या कोई कह सकता है कि यह वहाँ पहले से ही विद्यमान था। इसी प्रकार मेरे निरुपाधिक स्वरूप में जो भूतों (प्राणियों और पदार्थों) का आरोप करता है, उसकी अपनी कल्पना के कारण ही वैसा आभास होता है, उस कल्पना करने वाली प्रकृति के समाप्त होते ही मेरे भीतर प्राणियों का आभास होना भी लुप्त हो जाता है, और तब मेरा निरुपाधिक शुद्धरूप ही केवल शेष रहता है। जिस प्रकार तेजी के साथ गुलाई में घूमने से चक्कर आ जाता है और हमको अपने चारों तरफ के पहाड़, पेड़ आदि घूमते दिखाई पड़ते हैं, उसी प्रकार अपने मन में कल्पना होने से हमको अखण्ड ब्रह्मस्वरूप में पदार्थों का आभास होता है। इस कल्पना का त्याग करके जब हम देखते हैं तो 'मैं पदार्थों में हूँ और पदार्थ मेरे पदार्थ हैं—' ऐसी कल्पना स्वप्न में भी नहीं आ सकती। इसलिए 'एक मैं ही भूतों (पदार्थों) का करने वाला अथवा उनमें रहने वाला हूँ', ये सब बातें संकल्प रूप सन्निपात की वायु की लहरों में बड़बड़ाहट के समान ही हैं। इसलिए हे प्रिय सखे ! तू यह सुन और समझ ले कि इसी प्रकार मैं सृष्टि का विश्वात्मा अथवा समस्त सृष्टि का आधार हूँ, यह कल्पना भी मिथ्या है। जिस प्रकार सूर्य की किरणों में वास्तविक रूप से नहीं परन्तु झूठमूठ ही मृग-जल का आभास होता है, उसी प्रकार मेरे निर्गुण स्वरूप में सब पदार्थों के होने की भावना लोग किया करते हैं। इतना ही नहीं वे यहाँ तक कल्पना करते हैं कि मैं उन पदार्थों के भीतर हूँ। इसी आधार पर

वह कहने लगते हैं कि '(ईश्वर) सब पदार्थों को उत्पन्न करता है' वास्तव में तो मैं और भूत दोनों एक वस्तु हैं। जिस प्रकार सूर्य और उसकी प्रभा एक ही वस्तु है, वैसा ही मेरे और पदार्थों के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए। अपना यह ऐश्वर्य-योग मैंने तुमको अच्छी तरह समझा दिया। अब तू ही कह कि मुझ में और समस्त प्राणियों में क्या किसी प्रकार का अन्तर है? बिल्कुल नहीं है। इसलिए सब प्राणी वास्तव में मुझ से भिन्न हैं, और मैं उनसे भिन्न हूँ, ऐसा कभी मत मान लेना। (८८)

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
यथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ।।६

आकाश का जितना विस्तार है, उसी परिमाण में उसमें वायु भरा हुआ है, परन्तु जब वह हिलती डोलती है तभी वह पृथक् जान पड़ती है, अन्यथा वास्तविक रीति से समझा जाय तो जो आकाश है वही जान पड़ता है। उस कल्पना के अभाव में सर्वत्र में अकेला ही हूँ ऐसा जान पड़ता है। इसलिए पदार्थों का होना या न होना यह अकेला कल्पना के सम्बन्ध से ही प्रतीत होता है और कल्पना के लय हो जाने पर ही लय हो जाता है। जब कल्पना को उत्पन्न करने वाला अज्ञान ही समूल नष्ट हो जाता है, तब पदार्थों का न होना अथवा होना कहाँ से प्रतीत होगा? इसलिए अन्त में मैं तुझको अपनी अद्भुत कृति फिर समझा देता हूँ। तू इस अनुभव रूपी समुद्र में एक लहर बन जा, उसके पश्चात् जब तू चराचर पर दृष्टिपात करेगा तो तुझे दिखाई देगा कि तू ही सर्वत्र भरा हुआ है। श्रीकृष्ण कहने लगे—"हे अर्जुन! यह जो ज्ञान मैंने तुझे बतलाया, उसका कोई प्रकाश तेरे मन में पड़ा या नहीं? अर्थात् तू उसका रहस्य समझा या नहीं? जो इस रहस्य को समझ लिया हो तो "मैं और यह विश्व दो भिन्न वस्तुएँ हैं' ऐसा जो

स्वप्न तुझे आने लगा था वह गलत सिद्ध हुआ या नहीं ? परन्तु यदि तेरी बुद्धि को फिर कल्पना रूपी निद्रा आ जाय तो तू फिर भेद रूपी स्वप्न में पहुँच जायेगा और तेरा अभेद रूपी ज्ञान नष्ट हो जायेगा। इस लिए इस कल्पना रूपी निद्रा का रास्ता ही बन्द हो जाय और जो शुद्ध ब्रह्म ज्ञान है वह तुझको स्वयमेव प्राप्त हो जाय, ऐसा जो एक ज्ञान का तत्व है, वह तुझको अब बताता हूं।' तो हे धैर्यवान् धनुर्धर धनञ्जय ! तू अच्छी तरह समझ ले कि प्राणी मात्र की उत्पत्ति, स्थिति और लय इन तीनों अवस्थाओं का कारण केवल माया ही है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७

इस माया को प्रकृति कहा जाता है और वह दो प्रकार की है यह मैं तुझको पहले (अ० ७ श्लोक ४५) बतला चुका हूँ। एक तो यह भेदभाव से आठ हिस्सों में बँटी हुई है और दूसरी जीव रूप हैं। हे पांडव ! इस प्रकृति का सब वर्णन तू पहले ही सुन चुका है, इसलिए उस सम्बन्ध में बार-बार कहने का कोई प्रयोजन नहीं है। महाप्रलय के अन्त में ये सब पञ्चभूत मेरे प्रकृति रूप अव्यक्त स्वरूप में लय को प्राप्त हो जाते हैं। ग्रीष्म ऋतु के अन्त में जिस प्रकार घास बीज सहित सूख जाती हैं, अथवा वर्षा काल में मेघों का आडम्बर समाप्त होने पर जिस प्रकार शरद् ऋतु का अंकुर फूटता है और उस समय आकाश में दिखाई पड़ने वाले बादल उसी में लय हो जाते हैं, अथवा आकाश के पीलेपन में जिस प्रकार प्राण वायु उत्पन्न होकर फिर लुप्त हो जाती है, अथवा पानी में उत्पन्न होने वाली लहरें उसी में लुप्त हो जाती हैं, अथवा मनुष्य के जाग्रत हो जाने पर उसके मन के स्वप्न मन में ही मिट जाते हैं, उसी प्रकार महाप्रलय के अन्त में प्रकृति में उत्पन्न हुए समस्त भूतों (पदार्थों) का मैं निर्माण करता हूँ—इस प्रकार का जो कथन शास्त्रों में पाया

जाता है, सम्बन्ध में वास्तविक स्थिति क्या है, वह अब मैं तुझको सुनाता हूँ।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८

इसलिए हे अर्जुन ! जब मैं अपनी प्रकृति को सहज रूप में अंगीकार करता हूँ तब जिस प्रकार वस्त्र बनाते समय सूत समवायी अथवा उपादान कारण बनता है, अर्थात् बनावट के कारण जैसे सूत वस्त्र का रूप धारण करता जाता है और उसमें बहुत से खाने बन जाते हैं उसी प्रकार इस पंचभूत रूपी जगत् का उपादान कारण प्रकृति ही होती है (जैसे घड़ा का उपादान कारण मिट्टी होती है)। जिस प्रकार जामन डाल देने से दूध जमने लगता है, उसी प्रकार प्रकृति सृष्टि में तरह-तरह के आकार ग्रहण करने लगती है। जिस प्रकार पानी का संयोग होने से बीज में से अंकुर फूट कर वृक्ष तैयार हो जाता है, उसी प्रकार प्राणियों से युक्त सृष्टि का प्रसार मेरे कारण से ही होता है। अमुक नगर अमुक राजा ने बसाया, ऐसा कहने में आता है, परन्तु यदि यथार्थ रूप से विचार किया जाय तो क्या उसके बसाने में राजा को अपने हाथ से कुछ परिश्रम करना पड़ता है ? जिस प्रकार मनुष्य स्वप्नावस्था से जाग्रत अवस्था में आता है उसी प्रकार मैं प्रकृति को स्वीकार करता हूँ। हे पाण्डुसुत ! स्वप्नावस्था से जाग्रतावस्था में हो तब उसे किसी काम के करने में परिश्रम करना होता है ? कहने का आशय यही कि इस पंच भौतिक सृष्टि के निर्माण में मुझे कोई श्रम नहीं करना पड़ता। जिस प्रकार राजा की आज्ञा में रहने वाली प्रजा अपने स्वार्थ के लिए अपने-अपने काम-धन्धों में लगी रहती है, उसी प्रकार मेरा प्रकृति से सम्बन्ध मात्र है। अन्यथा उत्पत्ति स्थिति और लय—ये सब काम उसी के हैं। पूर्णिमा के चन्द्रमा को देखते ही समुद्र में ज्वार की बड़ी-बड़ी लहरें, उठने लगती हैं, परन्तु हे

अर्जुन ! क्या चन्द्रमा को उसके लिए कुछ श्रम करना पड़ता है ? लोहा यद्यपि जड़ है, पर यदि वह चुम्बक के समीप होता है तो वह हिलने लगता है, तो क्या लोहा चुम्बक को, लोहे के पास रहने में कुछ श्रम करना पड़ता है ? इसी प्रकार जब मैं प्रकृति को अंगीकार कर लेता हूँ तब अपने आप प्राणी मात्र का विस्तार होने लगता है। हे पाण्डव ! यह समस्त प्राणी समुदाय प्रकृति के अधीन है। जिस प्रकार बीज में से बेल पत्र आदि उत्पन्न करने में भूमि समर्थ है, अथवा बाल्यावस्था, तरुणाई तथा वृद्धता का मुख्य कारण मानव-देह ही है, अथवा आकाश में मेघ-माला उत्पन्न होने में जिस प्रकार वर्षा काल कारण है, अथवा स्वप्न का कारण जिस प्रकार निद्रा है उसी प्रकार हे नरेन्द्र ! इन समस्त प्राणियों का मुख्य कारण प्रकृति ही है। स्थावर और सूक्ष्म का और (अधिक क्या कहूँ) इस सम्पूर्ण जगत् का मूल कारण प्रकृति ही है। इस लिए प्राणियों की उत्पत्ति और पालन के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। पानी में चन्द्रभानु प्रकाश बेल की तरह फैला हुआ जान पड़ता है, उसकी उत्पत्ति चन्द्रमा नहीं करता। इसी प्रकार कर्मों की उत्पत्ति का कारण तो मैं ही हूँ, तो भी वह मुझसे दूर ही रहते हैं। (१२३)

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९

जिस प्रकार समुद्र की प्रचण्ड लहरों को नमक का बाँध नहीं रोक सकता, उसी प्रकार मुझ में लय होने वाले सब कर्म मुझे किसी प्रकार बन्धन ग्रस्त नहीं कर सकते। यदि धुँआ वायु की गति को रोक सकता हो, अथवा सूर्य बिम्ब में अन्धकार का संचार हो सकता हो, अथवा वर्षा का जल पहाड़ों की चट्टानों को भेद सकता हो तभी प्रकृति के कर्मों से मुझे बाधा हो सकती है। (परन्तु इन बातों में से कोई भी सम्भव नहीं है इसलिये मुझे भी प्राकृतिक कर्म बाधा नहीं कर सकते)। वैसे प्रकृति के कार्यों का एक मात्र कारण मैं ही हूँ फिर

भी उदासीन की तरह मैं न कुछ करता हूँ और न करवाता हूँ। जिस प्रकार घर में रखा हुआ दीपक किसी को अमुक कार्य करने या न करने की आज्ञा नहीं देता। वह यह भी नहीं जानता कि कौन क्या काम कर रहा है। वह तो मात्र साक्षीभूत होकर घर में होने वाले कामों के कारण रूप बन जाता है। उसी प्रकार मैं सृष्टि के उत्पत्ति, स्थिति और लय होने के कर्मों से उदासीन रहता हुआ भी सब भूतों में व्याप्त रहता हूँ यही वास्तविक बात है। इस तथ्य को मैं बार-बार अनेक युक्तियों से कहाँ तक समझाऊँ? हे सुभद्रापते! इस बात को पूरी तरह से ध्यान में रखो। (१३०)

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०

हे अर्जुन! समस्त सृष्टि के लोगों के कार्यों में जिस प्रकार सूर्य कारण-भूत है उसी प्रकार जगत् की उत्पत्ति का कारण मैं हूँ ऐसा समझ ले। इसका रहस्य यह है कि माया को मैंने अंगीकार किया हुआ है और उसी के द्वारा प्राणी मात्र की उत्पत्ति होती है। इसी से लोगों की यह मान्यता हो जाती है कि मैं जगत् की उत्पत्ति का कारण हूँ। इस प्रकार यद्यपि समस्त पदार्थों और प्राणियों की उत्पत्ति मुझसे होती है, पर मैं उन पदार्थों में नहीं रहता, यही मेरा सबसे अद्भुतपना है, जिसे तू उपयुक्त विवेचन से समझ सकता है। अतएव तू इस बात को कभी मत भूलना कि वे पदार्थ मेरे भीतर नहीं हैं और मैं उनके भीतर नहीं हूँ। मेरा मुख्य तत्व है, जो मैंने तुझ पर प्रकट कर दिया है। तो अब तू अपनी इन्द्रियों के द्वारों को बन्द करके अर्थात् विषय भोग से दूर होकर, अपने हृदय के अन्तरंग में इसका उपभोग कर। हे पार्थ! जब तक वेदान्त सिद्धान्त का यह रहस्य भली प्रकार हस्त गत नहीं होता, तब तक मेरे बचे तत्व को कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता है। जिस प्रकार भूसा में हाथ डालने

से अनाज प्राप्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार वेदान्त-सिद्धान्त को जाने बिना मेरा सत्य स्वरूप किसी के जानने में नहीं आ सकता। वैसे अनुमान—तर्क के बल पर मनुष्य को ऐसा आभास होने लगता है कि उसे वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो गया, पर वह तो व्यर्थ है? मछलियों को पकड़ने के लिए जो जाल पानी में डाला जाता है उसमें चन्द्रमा का बिम्ब भी फँसा हुआ दिखाई पड़ता है, पर उस जाल को बाहर निकाल कर झाड़ते समय चन्द्र बिम्ब उसमें कहाँ होता है? इसी प्रकार कितने ही लोग 'हमको अनुभव हो चुका है' ऐसी बातें मुँह से कहने लगते हैं, पर जब सत्य की खोज करके कसौटी पर उसकी जाँच की जाती है तब ऐसे लोगों का बातूनी ज्ञान सर्वथा निरुपयोगी ठहरता है। (१३६)

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११

इतना ही नहीं, अगर तुमको संसार-बन्धन से भय लगता हो और मुझे प्राप्त करने की सच्ची इच्छा हो, तो जो तत्व मैंने तुमको बतलाया है उसको सदैव अच्छी तरह ध्यान में रखो। अन्यथा जिस प्रकार पीलिया का रोग होने से चन्द्रमा की श्वेत चाँदनी भी पीली जान पड़ती है, उसी तरह मेरे निर्मल, शुद्ध स्वरूप में भी उनको दोष दिखाई पड़ते हैं। जिस प्रकार ज्वर होने पर मुख का स्वाद कड़वा हो जाता है और उस समय मधुर दूध भी विष के समान कड़वा लगने लगता है, उसी प्रकार यद्यपि मैं मनुष्य नहीं हूँ तो भी अज्ञानी लोग मुझे मनुष्य ही समझते हैं। इस लिए धनञ्जय! मैं तुझ से बार-बार कहता हूँ कि तू इस बात को कभी मत भूलना, कि केवल बाह्य दृष्टि से देखना व्यर्थ होता है। जिस प्रकार स्वप्न में प्राप्त होने वाले अमृत से कोई अमर नहीं होता, उसी प्रकार जो मुझे स्थूल दृष्टि से देखते हैं वे मुझे कभी जान ही नहीं पाते। यद्यपि कितने ही अज्ञानी लोग स्थूल दृष्टि से ही मुझे जानने की डींग मारा करते हैं, परन्तु यह उनका भ्रम होता है और इससे सच्चे ज्ञान को प्राप्त

करने में बाधा पड़ती है। जिस प्रकार पानी में दिखलाई पड़ने वाले तारों के प्रतिबिम्ब को मोती समझकर कोई हंस झपट्टा मारता है तो वह अपने प्राण भी खो बैठता है, अथवा जैसे मृग-जल को गंगा जल समझ कर उसके पास जाने से कुछ भी प्राप्त नहीं होता, अथवा जैसे बबूल के पेड़ को कल्प वृक्ष समझ कर हाथ मे लेने से कोई लाभ नहीं होता। नीले रंग के सर्प को नीलमणि का हार समझ कर पकड़ लिया जाय, बरफ के टुकड़े को रत्न समझकर उठा लिया जाय, अथवा यह समझ कर कि पृथ्वी के गर्भ से द्रव्य भण्डार निकल कर बाहर पड़ा है कोई खैर की लकड़ी के कोयले को ही अंगोछा में बांध ले, तो उससे क्या लाभ होगा ? अपनी ही परछांही को दूसरा सिंह समझ कर कुंए में कूद कर प्राण खो देने वाले सिंह की कथा सुनकर जो लोग मेरे प्रपंच में दिखाई पड़ने वाले रूप को निश्चय पूर्वक यह मान लेते हैं कि मैं ऐसा ही 'साकार' हूँ और इस आधार पर वे भी सांसारिक प्रपंच मे निमग्न हो जाते हैं, तो वे उसी प्रकार भ्रम से शिकार बनते हैं, जैसे कोई पानी में दिखाई देने वाले चन्द्र बिम्ब को पकड़ने के लिए व्यर्थ में परिश्रम करे। अर्थात् वे निश्चय कर लेते हैं कि मैं इस संसार में ही हूँ, पर उनकी यह धारणा बिल्कुल निरर्थक और निष्फल सिद्ध होती है। जिस प्रकार कोई कांजी पीकर अमृतपान से प्राप्त होने वाले सुख की इच्छा रखे, उसी प्रकार वे अपने आन्तरिक विश्वास से नाशवन्त स्थूल देह में मुझ अविनाशी को ढूंढ़ते हैं, तो मैं उनको किस प्रकार दिखाई पड़ सकता हूँ ? यदि कोई पश्चिमी समुद्र को जाने की इच्छा से पूर्वी समुद्र की ओर चलने लग जाय, तो क्या उसे पश्चिमी समुद्र मिल सकेगा ? अथवा हे महावीर ! भूसे को कूटने से क्या उसमें से अन्न निकल सकता है ? उसी प्रकार इस चारों तरह फैले संसार को जानकर मुझे जान सकने की आशा करनी व्यर्थ ही है। क्या फेन पीने से वैसी तृप्ति हो सकती है जैसी पानी के पीने से होती है। (१५४)

मनुष्य माया मोहित मनोवृत्ति से भ्रांति पूर्वक ऐसा मान लेते हैं कि मैं संसार के भीतर ही हूँ। इस प्रकार की धारणा करके वे यह व्यर्थ-कल्पना भी कर लेते हैं कि जन्म और मृत्यु मुझको भी लगी हुई हैं। मैं तो नाम रहित क्रिया रहित और देहरहित हूँ, पर लोग मुझको नामधारी कर्म करने वाला और देह धर्म से युक्त समझते हैं और वैसी ही कल्पना करने लग जाते हैं। वे मुझे निराकार को आकार युक्त निरुपाधि को उपाधि सहित, कर्तव्य रहित को व्यवहार में रत, जाति रहित को जाति सहित, गुणातीत को गुणवान्, चरण रहित को चरण वाला हस्त रहित को हाथों से युक्त, परिमाण रहित को परिमाण वाला और सर्व व्यापक को एक स्थानीय मान लेते हैं। जिस प्रकार शैया में सोता हुआ मनुष्य वन की शोभा देखता है, उसी प्रकार लोग मुझ कर्ण रहित को कान, नेत्र रहित को नेत्र, गोत्र रहित को गोत्र, निराकार को रूप, अव्यक्त को व्यक्तित्व, इच्छा रहित को इच्छा और मैं जो स्वयमेव तृप्त हूँ उसको तृप्त करने की कल्पना करते हैं। सर्व जगत् को आच्छादित करने वाले मुझ को वस्त्र रहित मानकर वे मुझे वस्त्र पहिनाते हैं। मैं निराकार होने से भूषणातीत हूँ, तब भी वे मुझे अलङ्कार पहिनाते हैं। मैं समस्त जगत् को उत्पन्न करता हूँ पर वे मुझको अन्य से उत्पन्न हुआ मानते हैं (जैसे भगवान् राम को कौशल्या से और श्रीकृष्ण को देवकी से जन्म लेने वाला मानते हैं।) मैं स्वयम्भू हूँ, तो भी मेरी मूर्तियां बनाते हैं। मैं स्वतः सिद्ध हूँ तो भी वे मेरी प्राण प्रतिष्ठा करते हैं। मैं सर्वत्र सदैव उपस्थित हूँ, तो भी वे मेरा आवाहन और विसर्जन करते हैं। मैं निरन्तर निराकार, स्वतः सिद्ध हूँ तो भी वे मुझ में बाल्य, तारुण्य और वृद्धावस्था लागू करते हैं! मैं अद्वैत हूँ, पर वे मुझ में द्वैत का आरोप करते हैं। मैं कुछ भी नहीं करता फिर भी मुझे करने वाला और कुछ न खाने पर खाने वाला बतलाते हैं। मेरा कोई कुल, गोत्र न होने पर भी मेरे कुल का वर्णन करते हैं। मैं नित्य हूँ, फिर भी यह मान कर कि मैं मरता हूँ, वे मेरी मृत्यु का शोक करते हैं। मैं सबके अन्तःकरण में

निवास करता हूँ तो भी वे मुझे किसी का शत्रु और किसी का मित्र मान लेते हैं। मैं निजानन्द में निमग्न रहने वाला हूँ पर वे मुझे इच्छा करने वाला समझते हैं। मैं सर्वत्र समान रूप से व्याप्त हूँ तो भी वे मुझे एक देशीय अथवा एक स्थान में रहने वाला बतलाते है। मैं समस्त स्थावर और जङ्गम का आत्मा हूँ, पर वे मुझे एक का रक्षक और दूसरे का संहारक मानकर इसी रूप से चारों तरफ मेरा वर्णन करते हैं। इस प्रकार उन्होंने मनुष्यों में पाई जाने वाली समस्त क्षुद्र विशेषताओं का आरोपण मुझमें कर दिया है और इससे उनकी सब मान्यता विपरीत हो जाती हैं। वे सब किसी मूर्ति को अपने सामने देखते हैं तो उसे भगवान् मानकर भाव पूर्वक उसका भजन करते हैं और जब वह टूट जाती है तो उसका देवत्व नष्ट हुआ मानकर उसे त्याग देते हैं। मुझे इस प्रकार मनुष्य ही मान लेने से उनका ऐसा ज्ञान ही सत्य-ज्ञान में बाधक सिद्ध होता है। (१७१)

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतस: ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिता: ।।१२

सारांश यह कि मेरे विषय में जिनकी ऐसी धारणा होती हैं उनका जन्म व्यर्थ ही जाता है। अथवा वर्षा ऋतु के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में दिखाई पड़ने वाले बादलों के समान वह बेकार है। अथवा जिस प्रकार मृग-जल की तरंगें दूर से ही देखने लायक होती हैं, अथवा मिट्टी पर चित्रित किया गया घुड़सवार, या जादूगरी से दिखाये गये आभूषण, या सन्ध्या-काल के समय दृष्टिगोचर होने वाले गन्धर्व नगर अवास्तविक होते हैं, वैसा ही उनको समझना चाहिए। थूहर का पेड़ यद्यपि ऊँचा बढ़ जाता है, वह अन्दर से पोला होता है और उसमें फल नहीं आते, अथवा जिस प्रकार बकरी के गले में लटकने वाले थनों में दूध नहीं निकलता अथवा सेमल के वृक्ष में जो फल लगता है वह किसी के काम नहीं आता, उसी प्रकार मूर्खों का जीवन व्यर्थ होता हैं और

उनके कर्म भर्त्सना के योग्य हैं। इसलिए ऐसे मूर्खों ने शास्त्राध्ययन किया होता है, वह भी बन्दर द्वारा तोड़े नारियल, अथवा अन्धे को प्राप्त होने वाले मोती की तरह निरर्थक ही होता है। इतना ही नहीं उनके अध्ययन किए हुए शास्त्र छोटे बालक के हाथ में दिये गये शस्त्र अथवा अपवित्र मनुष्य को बीज सहित सिखाये गये मन्त्र के समान व्यर्थ ही होता है। हे धनञ्जय ! जिसका चित्त यथार्थ ज्ञान सम्पन्न नहीं है, उसका सब ज्ञान और आचरण व्यर्थ ही सिद्ध होता है। इस प्रकार की तमोगुणी राक्षसी सद्बुद्धि का ग्रास करके ज्ञान के स्थल का नाश करने वाली यक्षिणी ही होती है। जो लोग ऐसी मनोवृत्ति से ग्रस्त हो जाते हैं, वे हमेशा चिन्ता से आक्रान्त होकर तामस प्रकृति के जबड़े में जाकर फँस जाते हैं। फिर यह तामसी-प्रकृति आशा रूपी लार में हिंसा रूपी जीभ को चलाती हुई असन्तोष रूपी मांस-पिण्डों को निरन्तर चबाती रहती है। उसकी जीभ होठों को चाटती हुई अनर्थ रूपी कानों तक पहुँच जाती है। जो प्रमाद (भूल) रूपी प्रचण्ड पर्वत की अन्धकारमय गुफा है, जिसकी द्वेषरूपी दाढ़े ज्ञान को चबा-चबाकर चूर्ण-विचूर्ण कर देती हैं, और जो अगस्त्य ऋषि के कुम्भावरण के स्थूल-बुद्धि लोगों के लिए आसुरी माया का आवरण है, इस प्रकार की उस राक्षसी प्रकृति के मुख में जो ग्रास रूप होकर पड़ जाते है, वे भ्रांति रूपी कुण्ड मे पूरी तरह डूब ही जाते हैं। इस प्रकार जो अज्ञान के अन्धेरे कुँए मे गिर जाते है उनकी सहायता का विचार रूपी हाथ भी वहाँ नहीं पहुँच पाता। इतना ही नहीं वे कहाँ चले जाते हैं, इसका भी पता नहीं लगता। इस निरर्थक कथा को अब बन्द करता हूँ, क्योंकि मूर्खों का वर्णन करते हुए वाणी भी क्षीण हो जायगी।

श्रीकृष्ण के इस प्रकार कहने पर अर्जुन ने कहा—'हाँ महाराज, समझ गया।' श्रीकृष्ण भगवान पुनः कहने लगे—'अब मैं उन साधुओं महात्माओं की कथा कहता हूँ जिनका वर्णन करते हुए वाणी को सुख प्राप्त होता है।'

(१७०)
१८७

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३

जिन साधुओं के निर्मल अन्तःकरण में मैं क्षेत्र-संन्यासी (आजन्म एक ही पवित्र क्षेत्र में निवास करने वाले) की तरह निवास करता हूं, और निद्रावस्था में भी वैराग्य जिनकी सेवा किया करता है, अर्थात् स्वप्न में भी जिनको विषय वासना का स्पर्श नहीं होता, जिनकी परमात्मा-प्राप्ति की उत्कृष्ट इच्छा भी धर्म के राज्य की तरह होती है धर्म जिनकी सद्वासना में राज्य करता है (अर्थात् जिनको कभी अधर्म का विचार ही नहीं आता), जिनका मन सदा सद्विचारों की ही पुष्टि प्रदान करता रहता है, जो ज्ञान रूपी गंगा में स्नान करके भीतर और बाहर शुद्ध हो जाते हैं, जो पूर्ण ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति से तृप्त होते हैं, जिनका शरीर ऐसा लगता है मानो उसमें शान्ति के नये पत्ते निकल आये हैं, अथवा जिनका शरीर ब्रह्म के अंकुर या धैर्य रूपी मण्डप के स्तम्भ के समान ही जान पड़ने लगता है, जो आनन्द के समुद्र में डुबाकर निकाले हुए कुम्भ के समान आनन्द रूपी जल से पूर्ण भरे हुए होते हैं, जिनको भक्ति की इतनी अधिक प्राप्ति हो गई होती है कि वे मोक्ष के भी आगे चला जा, ऐसा कहते हैं, जिनके सामान्य कार्यों में भी नीति का अधिपत्य रहता है जिन्होंने अपने शारीरिक अवयवों में शांति रूपी अलंकार धारण कर रखे हैं और अपने चित्त में मुझ को (सर्व व्यापी परमात्मा को) धारण कर रखा है, ऐसे जो महात्मा हैं वे भावना भक्ति के अनुकूल रहने वाली सात्विक प्रकृति के भी शृंगार की तरह होते हैं। वे सब दृश्य पदार्थों को भी रूप मानकर, दिन-प्रतिदिन बढ़ते हुए प्रेम से मुझे फलते हैं। तो भी उनके मन में कभी द्वैत-भाव का स्पर्श भी नहीं होता। हे अर्जुन जो इस प्रकार मद्रूप बनकर मेरी सेवा करते हैं, उस आश्चर्य जनक सेवा की बात अब तू ध्यान लगाकर सुन। (१८६)

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रता: ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ।।१४

ऐसे महात्मा हरिकीर्तन में प्रेम से नृत्य करके प्रायश्चित्त सम्बन्धी बातों की तो इति श्री ही कर देते हैं, उनमें पाप का नाम निशान भी शेष नहीं रहता। यम और दम को तो वे निरर्थक ही कर देते हैं, तीर्थों की आवश्यकता को भी समाप्त कर देते हैं और यम लोक के मार्ग को ही बन्द कर देते हैं। उनके लिए यम कहता है कि मैं नियमन किसका करूँ ? दम कहता है कि मैं किसको विजय करूँ ? तीर्थ कहते हैं कि हम पवित्र किस को करें ? क्योंकि ऐसे पुरुष में पाप का तो कहीं चिह्न रहता ही नहीं। इस प्रकार वे मेरे नाम का जय घोष करके संसार के समस्त दु:खों को नष्ट कर देते हैं, और समस्त विश्व ब्रह्म मुख से ध्वनित होता रहता है। ऐसे पुरुष प्रात:काल हुए बिना ही लोगों को प्रकाश प्रदान करते हैं, अर्थात् वे उनको आत्म ज्ञान का लाभ करा देते हैं। वे अमृत बिना ही जीवों की प्राण रक्षा करते हैं और बिना योग साधन के ही कैवल्य दर्शन कराते हैं। उनके लिए राजा और रंक का भेद नहीं रहता, छोटे और बड़े का भेद नहीं रहता। समस्त जगत् के लिए वे आनंद के भंडार रूप बन जाते हैं। वैकुण्ठ में तो बिरले ही जा सकते हैं, पर ऐसे महापुरुष तो जहाँ-जहाँ जाते हैं उसी स्थान को वैकुण्ठ बना देते हैं। इस प्रकार नाम भजन की महिमा से वे सम्पूर्ण विश्व को पवित्र बना देते हैं। उन साधुओं का तेज सूर्य के समान निर्मल होता है, पर सूर्य में तो अस्त होने का दोष पाया जाता है। यदि उनको चन्द्रमा के समान कहें तो वह महीने भर में केवल एक दिन ही पूर्ण होता है, पर ये भक्त तो सदैव ही पूर्ण रहते हैं। अगर उनकी उदारता को मेघ के समान कहें, तो मेघ तो कुछ समय में ही रीते हो जाते हैं, उससे उनकी उपमा भक्तों से देनी ठीक नहीं लगती। उनको पंचानन सिंह कहना चाहिए। मेरे जिस नाम के लिए हजारों जन्म तक मेरी सेवा करनी पड़ती है, मेरा वह नाम उनकी वाणी पर निरन्तर नृत्य करता रहता है। मेरे जिस नाम की इतनी

महिमा है कि मैं कभी वैकुण्ठ में भी नहीं मिलता एकाध बार सूर्य मंडल में भी नहीं रहता, कभी योगियों के मन का भी उल्लंघन कर जाता हूँ, पर जो मेरे नाम का सदैव घोष करते रहते हैं, उनके पास तो मैं अवश्य रहता हूँ। अहाहा ! वे मेरे गुण से इतने अधिक तृप्त होते हैं कि वे देश और काल को भूल कर मेरे नाम-कीर्तन के सुख से स्वयमेव ही सुखी बने रहते हैं। कृष्ण, विष्णु, हरि, गोविन्द इन शुद्ध नामों को अखण्डरूप से बोलते और आत्म-अनात्म का विचार न करके वे स्पष्ट और उच्च स्वर में गाते रहते हैं। ज्यादा क्या कहूँ, हे पांडुपुत्र ! वे अनेक प्रकार से मेरा गुणानुवाद गाते विश्व में भ्रमण करते ही रहते हैं। (२११)

हे अर्जुन ! इसके अतिरिक्त अन्य अनेक महत्प्रयत्नों से वे पंचप्राण और मन को जीतकर, बाहर यम नियम की मेंड़ बनाकर, भीतर मूल बन्ध का दुर्ग तैयार करके, तथा उसको ऊपर निरन्तर चालू रहने वाली प्राणायाम रूपी तोपे लगा देते हैं। फिर कुण्डलिनी के ऊर्ध्व मुख होते ही उसके प्रकाश में मन और प्राण की सहायता से चन्द्रामृत की सत्रहवीं कला के तहखाने अधिकार में आ जाते है, इस अवसर पर प्रत्याहार भी अपना पराक्रम दिखाकर काम क्रोधादि का परिवार सहित नाश कर डालता है और इन्द्रियों को भी बांध जकड़ कर हृदय में ले आते है। इस बीच में धारणारूपी घुड़सवार आक्रमण करके पञ्च महाभूतों को एकत्रित करते हैं और संकल्प रूपी चतुरंगिनी सेना (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) का नाश कर डालते हैं। इतना होने पर ध्यान 'विजय ! विजय !!' कहकर डङ्का बजाता है और तन्मयता रूपी एक चमकीला छत्र दिखाई देता है। फिर समाधि रूपी लक्ष्मी का अखण्ड आत्मानुभव रूपी राज्य पर ब्रह्म रूप ऐक्य द्वारा राज्याभिषेक होता है। हे अर्जुन ! ऐसा जो मेरा कठिन भजन है, उसे कौन करता है, यह मैंने तुझे बताया। इसके अतिरिक्त अन्य भजन करने वाले कौन हैं, वह भी सुनाता हूँ।

वस्त्र के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जो ताना-वाना लगा रहता है वह सब एक ही प्रकार का सूत होता है। उसी प्रकार मैं भी इस समस्त जगत् में पूर्ण रूप से व्याप्त हूँ, ऐसी जिनकी मान्यता होती है, वे ब्रह्मा से लेकर एक कीट तक सबको मेरा ही स्वरूप मानते हैं। वे छोटे-बड़े सजीव-निर्जीव आदि जो कुछ देखते हैं, उसको मेरा ही स्वरूप समझकर साष्टांग प्रणाम करते हैं। वे अपनी श्रेष्ठता का ध्यान न करके और सामने वाले की योग्यता अयोग्यता को न देखकर, वस्तु मात्र को नमस्कार करने में ही प्रसन्नता अनुभव करते हैं। जिस प्रकार ऊँचे स्थान पर बरसने वाला पानी ढाल की तरह ही बहता है। उसी प्रकार किसी प्राणी को सामने देखकर उसे नमन करने का उनका स्वभाव होता है। फल लगे हुए वृक्ष की शाखायें जिस प्रकार स्वभावतः पृथ्वी की तरफ झुकती जाती हैं, उसी प्रकार वे प्राणी मात्र को नमन करते रहते हैं। वे सदैव गर्व रहित रहते हैं, नम्रता उनकी अक्षय सम्पत्ति होती है और समस्त कर्मों को वे 'जय-जय' बोलकर मुझे (परमात्मा को) अर्पण करते हैं। नम्र होते-होते उनके मन से मान अपमान का विचार ही दूर हो जाता है। जिससे वे सहज ही मेरे रूप को प्राप्त हो जाते हैं (इस प्रकार मेरा रूप बन जाने पर निरन्तर मेरी उपासना करते रहते हैं) हे अर्जुन! यह एक श्रेष्ठ प्रकार की भक्ति का वर्णन है। अब जो ज्ञान यज्ञ द्वारा मेरी भक्ति करते हैं उसके विषय में सुनो। (२२४)

परन्तु हे किरीटि! उनके भजन की शैली तू जानता ही है, और इस विषय में मैं तुझे सब बातें पहले सुना ही चुका हूँ। तब अर्जुन ने कहा—'हाँ जी, सचमुच ईश्वर का प्रसाद ही है, तो भी अमृत का पान करते हुए कभी यह कहा जा सकता है कि 'बस-बस बहुत हो गया।' इन वचनों से उसको उत्सुक जानकर श्री कृष्ण आनन्द में मग्न हो गये और कहने लगे "हे पार्थ! धन्य हो! यद्यपि एक बार कही हुई बात को फिर से कहना अप्रासाङ्गिक ही है,. तो भी तेरी

उत्सुकता मुझे फिर कहने के लिए प्रेरित करती है।' तब अर्जुन बोला- 'आप कहते हैं वैसी बात नहीं है। क्या चन्द्रमा के पास चकोर पक्षी की तृषा को तृप्त करने के सिवाय और कोई काम नहीं है? परन्तु उसका स्वभाव ही जगत् को शान्ति देना है। जो कोई चाँदनी का सेवन करता है उसे शान्ति मिलती ही है। इस शान्ति को प्राप्त करने के लिये चकोर पक्षी अपने स्वार्थ की दृष्टि से जिस प्रकार बार-बार चन्द्रमा की तरफ अपनी चोंच को खोलता है, उसी प्रकार हे प्रभु! हे कृपासिन्धु! मैं भी आप दयासागर के प्रति जितनी विनती करूँ उतनी कम है। मेघ अपनी श्रेष्ठता से सम्पूर्ण जगत को तृषा को दूर करता है। उसकी अगाध जल राशि को देखते हुए चातक की प्यास कितनी हो सकती है? परन्तु जिस प्रकार गंगाजल की एक अंजलि की इच्छा हो तो भी उसके लिये गंगातट पर ही जाना पड़ता है उसी प्रकार हमारी इच्छा थोड़ी या अधिक जितनी भी सुनने की हो तो भी आपको उसे तृप्त करना ही चाहिये।'

तब भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा हे अर्जुन! अब अपनी बात बन्द कर। मुझे जो स्वाभाविक सन्तोष हुआ है उसकी अधिक स्तुति करने की आवश्यकता नहीं हैं। मेरे कथन को तू जिस प्रकार ध्यान लगाकर सुन रहा है उसी से मुझे पूर्ण प्रोत्साहन मिल जाता है। इसलिये अब आगे चल कर मैं जो कुछ कहता हूँ उसे भी ध्यान लगाकर सुन। इस प्रकार अर्जुन का सम्मान करके श्रीहरि ने फिर अपना भाषण आरम्भ किया। (२३८)

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ।।१५

अब मैं ज्ञान-यज्ञ के स्वरूप का वर्णन करता हूँ। ब्रह्म का आदि-संकल्प (एक से बहुत होने की भावना) ही उसका यज्ञ-स्तम्भ है। पंच-महाभूत वहाँ मण्डप स्वरूप हैं और जीव तथा ईश्वर की भिन्नता पशु रूप है। पाँचों महाभूतों के विशेष गुण अथवा पाँच इन्द्रियाँ और पाँच

प्राण यज्ञ-विधि के उपकरण हैं। ब्रह्म विषयक अज्ञान ही घृत है। हे बलवान् अर्जुन ! उस यज्ञ में मन और बुद्धि रूपी दो कुण्डों में अग्नि प्रज्वलित की जाती है। दुःख और सुख में समत्व-भावना वेदी अथवा यज्ञ कुण्ड की परिधि है। आत्मा और अनात्मा का विचार करने में बुद्धि की कुशलता ही यज्ञ के यन्त्र हैं। शान्ति, स्रुक और स्रुवा (हवन के पात्र) हैं तथा ज़ीव यज्ञ करने वाला है। यह जीव अनुभव रूपी पात्र से, ब्रह्म विचार रूपी महामन्त्र द्वारा ज्ञानाग्नि रूप अग्निहोत्र में जीव और ईश्वर के भिन्नत्व (द्वैतभाव) की आहुति देकर, उस भाव का नाश कर देता है। उस अवसर पर अज्ञान का नाश होते ही जीव (यजमान) आत्मानन्द रूपी रस से 'अवभृथ स्नान' करता है। उस समय पंचभूत विषय और इन्द्रियाँ अलग-अलग मालूम नहीं देती, वरन् ब्रह्म के साथ तादात्म्य हो जाने से आत्म बुद्धि के कारण वह सबको एक ही जानता है। हे अर्जुन ! जिस प्रकार निद्रा में जाग जाने पर मनुष्य की समझ में यह बात आ जाती है कि स्वप्न में देखी हुई चित्र-विचित्र सेना वह स्वयं ही बन गया था। इस प्रकार उस ज्ञानी को समस्त विश्व एक रूप प्रतीत होता है, और अपने जीव-भाव को भी भूलकर वह मानने लगता है कि तृण से ब्रह्म पर्यन्त सर्वत्र एक ही आत्म तत्व व्याप्त है इस प्रकार के ज्ञान यज्ञ द्वारा कितने ही मनुष्य ऐक्य-भाव प्राप्त करके मेरी भक्ति करते हैं, यद्यपि जगत् में अनादिकाल से कार्य और कारण रूप पदार्थ एक दूसरे से भिन्न दिखाई पड़ते हैं, और समस्त नाम-रूप भी संसार में पृथक्-पृथक् ही जान पड़ते हैं, पर उनके अधिष्ठान (मूल आधार) के विषय में भक्तों का ज्ञान विभिन्न प्रकार का नहीं होता। जिस प्रकार शारीरिक अंग अलग-अलग होने पर भी एक ही शरीर से सम्बन्धित होते हैं, डालियाँ छोटी बड़ी होने पर भी एक ही पेड़ की होती हैं, किरण बहुसंख्यक होने पर एक ही सूर्य की होती है। उसी प्रकार यद्यपि संसार में अनेक व्यक्ति, अनेक नाम और अनेक प्रकार के स्वभाव विद्यमान हैं, पर उन भिन्न-भिन्न प्राणियों में एक अभिन्न तत्व के रूप में मैं उपस्थित रहता हूँ और

यह समस्त पसारा उसी का है—यही भक्तों को धारणा होती है। हे पाण्डव ! इस प्रकार इन्द्रियों से भिन्न जान पड़ने वाले भूत (प्राणियों और पदार्थों) में अभेदता रूपी ज्ञान-यज्ञ करते हैं, वे ही सच्चे ज्ञानी हैं और उनमे किसी प्रकार का भेदभाव शेष नहीं रहता। वे जहां-जहां और जो-जो वस्तु देखते हैं वे वस्तु मेरे सिवाय और कुछ नहीं है ऐसा उनका निश्चय होता है। (२५४)

पानी का बुलबुला जहाँ कहीं चला जाय पर वह पानी रूप में ही होता है। वह नष्ट हो जाय या ठहरा रहे तो भी पानी रूप ही होता है। पृथ्वी के रज कण चाहे पवन से ऊपर उड़ जायें पर तो भी वे पृथ्वी धर्म से नहीं छूट सकते और जब पुनः नीचे गिरते हैं तो पृथ्वी रूप में ही दिखाई देते हैं। उसी प्रकार चाहे जहाँ, चाहे जिस भावना से चाहे कुछ हो या न हो, पर सब कुछ मैं ही हूं ऐसी उनकी मनोवृत्ति बन जाती है। हे अर्जुन ! मेरा स्वरूप जिस प्रकार सर्वव्यापी है उतना ही विशाल उनका अनुभव है। इसलिए यद्यपि जगत् अनेक रूपों से भरा हुआ दीखता है, पर उन सब स्वरूपों में मैं ही हूं, यही उनकी मान्यता होती है। जिस तरह सूर्य बिम्ब सबको अपने सामने ही दिखाई पड़ता है उसी प्रकार वे ज्ञानीजन ज्ञान से व्याप्त होने के कारण सदैव जगत् के सम्मुख ही रहते हैं। हे अर्जुन ! उसके ज्ञान में बाहर और भीतर का कुछ भेद नहीं होता। हे पाण्डव ! आकाश में सर्वत्र भरे हुए वायु की तरह जिस प्रकार मैं हर जगह पाया जाता हूं, उसी प्रकार वे भी सर्वत्र रहते हैं, अर्थात् दोनों का माप एक बराबर होता है। जिसको ऐसा बोध हो जाता है, वे भजन न करें तो भी उनका भजन कायम ही रहता है। वास्तव में मैं ही सब कुछ हूँ, मेरी उपासना कब और कौन नहीं करता ? पर मेरा यथार्थ ज्ञान न होने के कारण ही अज्ञानियों को मेरी प्रतीति नहीं रहती। इस प्रकार श्रेष्ठ ज्ञान-यज्ञ से जो मेरी उपासना करते हैं, उन भक्तों के विषय में मैंने तुझे बताया। सदा

सब समय मनुष्य जो कुछ कर्म करता है उस ही द्वारा मेरी प्राप्ति सहज में हो सकती है, पर मूर्खों को मेरा यथार्थ ज्ञान न होने से मैं उनको प्राप्त नहीं होता। (२६४)

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ।।१६

जब मनुष्य के हृदय में यथार्थ ज्ञान का उदय हो जाता है, तो उसके लिये मैं ही वेदस्वरूप बन जाता हूँ और वेदों में बतलाया हुआ यज्ञ विधान भी मैं ही हो जाता हूँ। फिर उन कर्मों से जो सांगोपांग श्रेष्ठ यज्ञ प्रकट होते हैं वह भी मैं ही हूँ। देवताओं को पितरों को आहुति देने का मन्त्र, सोमलता आदि भाँति-भाँति की औषधियाँ घृत समिधा, मन्त्र, हवन सामग्री आदि सब कुछ मैं ही हूँ। मैं ही हवन करने वाला, हवन की अग्नि और अग्नि में हवन की जाती हुई वस्तुएँ हूँ। अर्थात् मेरे (ब्रह्म के) अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है। (२६५)

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ।।१७

जिसके द्वारा यह अष्टधा प्रकृति जगत् को जन्म देती है वह जगत् पिता मैं ही हूँ। जिस प्रकार अर्ध नारीनटेश्वर में पुरुष ही स्त्री और स्त्री ही पुरुष होती है, उस प्रकार स्थावर और जंगम की माता मैं ही हूँ। फिर जन्म लेने वाला जगत् जहाँ रहता है और निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता है, वह भी वास्तव में मेरे सिवाय और कुछ नहीं है। (७१) प्रकृति और पुरुष दोनों ने जिस अन्तःकरण रहित सत्ता से जन्म लिया है वह विश्व का पितामह त्रिभुवन में मैं हूँ हे अर्जुन! समस्त ज्ञान मार्ग एक ही स्थान की ओर जाकर मिल जाते हैं, वेदों के चौराहे पर जो जानने योग्य कहलाता है, जिस केन्द्र पर बहुत से मताभिमानियों का

ऐक्य हो जाता है, जहाँ शास्त्रों का एक दूसरे के साथ परिचय हो जाता है और जहाँ भूला हुआ ज्ञान एकत्र हो जाता है, जिस स्थान को पवित्र कहा जाता है, जहाँ ब्रह्म-बीज में से परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी वाणी रूपी अंकुर फूटते हैं और उनसे ॐकार रूप मन्दिर निर्मित होता है, वह भी मैं ही हूँ। (७५) उस ॐकार के गर्भ में वे अ, उ और म् तथा अर्ध मात्रा उत्पन्न होते हैं और फिर ऋक् यजुः तथा साम तीनों वेदों का उद्भव होता है, वह भी मैं ही हूँ। इस प्रकार वेद की वंश परंम्परा मैं ही हूँ—यह श्रीकृष्ण ने कहा। (२७७)

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८

यह समस्त स्थावर जंगम विश्व जिस प्रकृति के गर्भ में निवास करता है, वह प्रकृति श्रम से थक जाने पर जहाँ विश्राम करती है, वह परमधाम मैं ही हूँ। जिसके सहारे प्रकृति जीवित रहती है जिसके आश्रय से विश्व को प्रसव करती है और जो इस प्रकृति में आकर सत्व, रज और तम इन गुणों का उपभोग करती है, वह विश्व लक्ष्मी का पति भी मैं ही हूँ। हे अर्जुन ! इस सम्पूर्ण त्रिभुवन का स्वामी मैं ही हूँ। (२८०)

आकाश सर्वत्र व्याप्त होकर रहे, वायु क्षण भर के लिये भी रुकें नहीं, अग्नि अपना जलाने का कार्य करती रहे, मेघ वर्षा करते रहें, पर्वत अपने स्थान पर स्थिर रहें, समुद्र अपनी मर्यादा को न छोड़े पृथ्वी समस्त प्राणियों का भार वहन करती रहे—यह सब मेरी ही आज्ञा से होता है। मेरे बोलने से ही वेद बोलते हैं, मेरे चलाने से सूर्य चलता है, समस्त जगत को गतिशील रखने वाला प्राण भी मेरे गति देने से ही कार्य करता है। मेरी ही आज्ञा से काल समस्त भूतों—प्राणियों को ग्रस लेता है। हे अर्जुन ! इस प्रकार सब कोई जिसके आदेश को सिर झुकाकर मानते हैं और अपना-अपना कर्त्तव्य पालन करते हैं, ऐसा समर्थ जगत् का नाथ भी मैं ही हूँ और आकाश की तरह

सर्वत्र रहकर साक्षीभूत रहने वाला भी मैं ही हूँ। इस प्रकार नामरूपों के साथ जो सर्वत्र व्याप्त है और जो स्वयं ही नाम रूपों का आधार भी है, वह मैं ही हूँ। जिस प्रकार तरंगें पानी में उत्पन्न होती हैं और तरंगों में पानी होता है, उसी प्रकार समस्त जगत् मेरे भीतर है और मैं जगत् के भीतर हूँ। इस प्रकार जगत् का अधिष्ठान मैं ही हूँ। जो एकान्त निष्ठा-पूर्वक मेरी शरण में आता है, उसे मैं जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त कर देता हूँ, इस प्रकार शरणागत की रक्षा करने वाला एकमात्र मैं ही हूँ। प्रकृति के गुणों के कारण मैं एक होने पर भी अनेक रूपों में संसार के प्राणीमात्र में प्राण रूप से स्थिर रहता हूँ। जिस प्रकार सूर्य समुद्र अथवा एक छोटी-सी पोखर का भेद न करके सर्वत्र प्रतिबिम्बित होता है, उसी प्रकार मैं ब्रह्मा से लगाकर एक छोटे से कीड़े तक का मित्र हूँ। हे पांडव ! इस त्रिभुवन में जीवन मैं ही हूँ और उत्पत्ति, स्थिति तथा लय भी मैं ही हूँ। बीज में से वृक्ष और शाखाएँ उत्पन्न होती हैं और समस्त वृक्ष का बीज में समावेश होता है, उसी प्रकार जिस आदि-संकल्प में से समस्त जगत की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार यह जगत उसी आदि-संकल्प में लय भी होता है। इस प्रकार इस जगत् का बीज संकल्प जो अव्यक्त तथा वासनारूप है, वह कल्प के अन्त में जहाँ लय होता है, वह स्थान भी मैं ही हूँ। जब निराकार स्वरूप प्रकट होता है, तब यह समस्त नाना विधि रूप लय को प्राप्त हो जाते हैं, वर्ण और आकार भी नष्ट हो जाते हैं, और जाति भेद भी नहीं रहता। उसके पश्चात् जगत् के पुनः निर्माण के लिये संकल्प और वासना के संस्कार जहाँ अमर रहते हैं, वह स्थल भी मैं ही हूँ। (२६५)

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ।।१९

मैं जब सूर्य में तपता हूँ उस समय जगत् को सुखा डालता हूँ, और फिर मैं ही इन्द्र रूप में वर्षा करके पृथ्वी को हरा-भरा कर देता

हूँ। जिस प्रकार अग्नि जब काष्ठ को भक्षण करती है तब वह काष्ठ ही अग्निरूप बन जाता है इसी प्रकार मरने वाला और मारने वाला दोनों मेरे ही रूप हैं। इसलिये जो मृत्यु के वशीभूत हो जाते हैं, वे भी मेरे ही रूप हैं और जो नहीं मरते वे भी मेरे ही हैं। अब ज्यादा क्या कहूँ ? मैं तुझको स्पष्ट बतला देना चाहता हूँ कि सत् और असत्, बुरा और भला दोनों मेरे ही अंग हैं। हे अर्जुन ! ऐसा कोई स्थान नहीं है कि जहाँ मैं न होऊँ, तो भी प्राणियों का कैसा दुर्भाग्य है कि मुझे देख नहीं पाते। जिस प्रकार लहरों का अस्तित्व पानी के बिना समाप्त हो जाय अथवा सूर्य की किरणें दीपक के प्रकाश बिना अन्धी हो जाँय, वैसे ही यह बड़े आश्चर्य की बात है कि यद्यपि मैं स्वयं ही सर्व जीव रूप हूँ, तो भी वे मुझे पहचान नहीं पाते। इस समस्त विश्व में भीतर और बाहर मैं ही भरा हुआ हूँ और यह जगत् मेरा ही रूप है, तो भी प्राणियों के कर्म ऐसे बाधक बन जाते हैं कि वे कहने लगते हैं कि—"परमात्मा कहीं नहीं है।" जो अमृत के कुएँ में गिर जाने के पश्चात् उससे बाहर निकलने का प्रयत्न करे तो उससे बढ़कर अभागा कौन होगा ? हे अर्जुन ! अन्न की भिक्षा माँगते हुये अन्धे मनुष्य को चिन्तामणि मिल जाय, पर वह दृष्टि के अभाव से उसे पैर से हटा दे, इसी तरह अज्ञानी मनुष्य की स्थिति उपर्युक्त अन्धे मनुष्य के समान ही होती है। इस कारण बिना ज्ञान के जो कुछ कर्म किये जाते हैं, वे बिना करे के समान ही हैं। अन्धे मनुष्य को गरुड़ के से पंख लग जायें तो भी वह उनसे क्या लाभ उठा सकता है। इसी प्रकार ज्ञान के बिना सत्कर्मों में श्रम करना भी निरर्थक ही है। (३०६)

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०

हे अर्जुन ! जो लोग आश्रम धर्म का विधिपूर्वक पालन करते हुए स्वयं ही विधि धर्म की कसौटी बन जाते हैं, जिनके यज्ञ कर्म को देख

तीनों वेद सन्तुष्ट होकर मस्तक हिलाने लगते हैं, और जिनके समाने यज्ञ फल मूर्तिमान आकर खड़ा हो जाता है, उन सोम पान करने वाले और स्वयं यज्ञ स्वरूप बन जाने वाले यज्ञ-कर्ताओं के लिये हमें यही कहना पड़ता है कि उन्होंने पुण्य के नाम पर वस्तुतः पाप ही कमाया। अब तुम पूछो कि यज्ञ करके वे किस प्रकार पाप करते हैं तो मैं तुमको बताना चाहता हूँ कि ऐसे लोग ऋक्, यजु, साम-तीनों वेदों को जानकर सैकड़ों यज्ञों को करके केवल स्वर्ग प्राप्ति की ही इच्छा रखते हैं पर मुझको भूल जाते हैं जिसके लिये कि वास्तव में यज्ञ किया जाता है। वे मुझे प्राप्त करने की इच्छा न करके क्षुद्र स्वर्ग प्राप्ति की ही इच्छा रखते हैं। हे अर्जुन ! जैसे कोई अभागा मनुष्य कल्प वृक्ष के नीचे बैठकर झोली लेकर भिक्षा माँगने को निकले, उसी प्रकार वे सैकड़ों यज्ञों द्वारा मेरा पूजन करके स्वर्ग सुख की ही इच्छा करते हैं, इसलिए इसको पुण्य नहीं वरन् सचमुच पाप ही समझना चाहिये। मेरी प्राप्ति की इच्छा को छोड़ कर स्वर्ग-सुख के लिये दौड़ने वालों को अज्ञानी लोग पुण्यवान् समझते हैं, परन्तु ज्ञानीजन उनको जन्म-मरण के फेर में पड़े रहने वाले दीन-हीन ही मानते हैं। यदि विचार किया जाय तो नर्क के घोर कष्टों की तुलना में स्वर्ग प्राप्ति को सुख कहा जा सकता है, पर दोनों से भिन्न अखण्ड आनन्ददायक निर्दोष सुख तो मेरे स्वरूप को जानने से ही मिल सकता है। हे महावीर अर्जुन ! मुझे प्राप्त करने के मार्ग में स्वर्ग और नर्क दोनों बाधक और टेढ़े-तिरछे रास्तों के समान हैं। वे चोरों के जाने के मार्गों की तरह है। स्वर्ग की प्राप्ति पुण्यात्मक-पाप (अर्थात् जो कर्म देखने में पुण्य जैसा लगता हो पर जिनका परिणाम पाप जैसा—जन्म-मरण का बन्धन—मिलता हो) से होती है और नरक की प्राप्ति पापात्मक पाप से होती है। इसलिए जिस कर्म द्वारा मेरी प्राप्ति होती है उसी को तू शुद्ध पुण्य-कर्म समझले। हे पाण्डुसुत ! प्राणी मेरे भीतर रहते हुये भी जिस कर्म से मुझसे पृथक् बना रहे, उस कर्म को पुण्य कहने वाले की जिह्वा क्यों न कट जाय ? परन्तु अब इस बात को छोड़कर, यज्ञ

करने वाले जिस स्वर्ग की इच्छा करते हैं, उसका कुछ वर्णन सुनो।
(३१८)

ये दीक्षा लेने वाले याज्ञिक मेरा यजन करके किस प्रकार स्वर्ग का उपभोग करने की इच्छा रखते हैं ? जिस पुण्य से मैं प्राप्त नहीं हो सकता, उस पापात्मक पुण्य का अनुष्ठान करके बड़ी अभिलाषा से स्वर्ग में जाते हैं। उस स्वर्ग में अमरत्व का सिंहासन है, ऐराव तैसा गजराज वाहन है, अमरावती जैसी राजधानी है, अष्ट महासिद्धियों के भण्डार भरे हैं, अमृत के कुण्ड भरे पड़े हैं, जहाँ कामधेनुओं के झुण्ड के झुण्ड हैं जहाँ देवताओं के सेवक भी चिन्तामणि की भूमि पर चलते हैं, विलास के लिए कल्प वृक्षों के उपवन लगे हुए हैं, गन्धर्व गायन करते हैं, और अप्सरायें नृत्यकला का प्रदर्शन करती रहती हैं, जहाँ विलासिनी वनिताओं में अग्रगण्य उर्वशी उपस्थित रहती है, शयन गृह में मदन सेवा करने को प्रस्तुत रहता है, चन्द्रमा आँगन की सफाई करता है और पवन देव दौड़ने वाले अनुचर का कार्य करते हैं, आशीर्वाद देने के लिए बृहस्पति जैसे प्रमुख ब्राह्मण रहते हैं, जहाँ स्तुति पाठ करने वाले हजारों देव हैं और लोकपाल जैसे राजा और सरदार आस-पास चलते रहते हैं, जहाँ उच्चैःश्रवानामक अश्वरत्न कोतवाल है। इस प्रकार के स्वर्ग लोक के भोगों का सकाम यज्ञ करने वाले बस उस समय तक उपभोग करते रहते हैं जब तक उनका पुण्य-फल शेष रहता है। (३२७)

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ।।२१

फिर जब उनके पुण्य की पूँजी समाप्त हो जाती है तो वे इन्द्रत्व के पद से उतर कर मृत्यु लोक वापस आते हैं। जिस प्रकार कोई वेश्या के प्रेम में पड़कर अपने समस्त धन को खो कर निर्धन हो जाय तो फिर उसे वेश्या के दरवाजे को अँगुली लगाने का भी अधिकार

नहीं रहता, उसी प्रकार स्वर्ग सुख के लिए यज्ञ करने वाले की स्थिति भी अत्यन्त लज्जास्पद हो जाती है। इस बात को मैं विस्तार करके कहाँ तक समझाऊँ। इस प्रकार जिस समय मुझ ब्रह्म को याद रखना आवश्यक था उस समय मुझे भूलकर पुण्य-मार्ग के द्वारा जिसने स्वर्ग प्राप्त किया हो, वह स्वर्ग से फिर मृत्यु लोक में आ जाते हैं। फिर माता की उदर रूपी गुफा में—जहाँ सब प्रकार की गन्दगी भरी रहती है वहाँ पर नौ महीने तक गर्मी में उबल-कर थक कर जन्म लेते हैं और कुछ समय पश्चात् पुनः मृत्यु को प्राप्त होते हैं। सुनो! जिस प्रकार स्वप्न में मिली हुई सम्पत्ति जग जाने पर नष्ट हो जाती है, वैसा ही हाल तुम यज्ञकर्ताओं का समझ लेना। हे अर्जुन! जैसे अनाज के निकल जाने पर भूसा-तूरा निरर्थक हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य चाहे वेदार्थ का ज्ञानी हो, तो भी मुझे जाने बिना उसका जन्म व्यर्थ है। आशय यही है कि तीनों वेदों में बतलाये धर्म मेरे बिना जाने कुछ लाभ नहीं दे सकते। इसलिए अब तू मुझको जानने का प्रयत्न कर और किसी वस्तु की तरफ ध्यान मत दे, तभी तू सुखी हो सकेगा। (३३४)

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२

जिन्होंने अपना चित्त सब प्रकार से मुझे अर्पण कर दिया है, अथवा जिस प्रकार गर्भस्थ बालक किसी प्रकार का उद्योग करना नहीं जानता, उसी प्रकार जिनको मेरे सिवाय और कुछ अच्छा नहीं लगता और जो केवल मेरे लिये ही जीवन धारण करते हैं और इस प्रकार जो एकनिष्ठ अन्तःकरण से मेरा चिन्तन और सेवा करते रहते हैं, मैं भी उनकी सेवा करता हूँ। मेरे भक्त जब एकाग्रचित से मेरे ध्यान में, सेवा में संलग्न होते हैं, उसी समय से मुझे उनकी चिन्ता होने लगती है और वे जो कुछ करने का विचार मन में करते हैं, वह सब मुझको ही करना पड़ता है। जिस प्रकार बिना पंख वाले पक्षी बच्चों की जीवन-रक्षा के लिये सभी

काम उनकी माता पक्षिणी को करने पड़ते हैं, अथवा जिस प्रकार माता अपनी भूख, प्यास का ख्याल विसराकर अपने दूध पीते बालक के लिये सब प्रकार के उपाय करती है, उसी प्रकार जिन्होंने मन से अपना समस्त भार मेरे ऊपर छोड़ दिया है, उनके सब काम मुझको ही करने पड़ते हैं। अगर उनको मेरे तादात्म्य होने की इच्छा होती है तो मैं उनकी उस उत्कण्ठा को पूरा करता हूं। अथवा उनको मेरी सेवा करने की अभिलाषा हो तो मैं उनमें और अपने में प्रेम भाव उत्पन्न करता हूँ। इस प्रकार वे अपने मन में जो-जो इच्छाएँ करें वे सब मुझको सदैव पूरी करनी पड़ती हैं, और उनको जो कुछ दिया जाता है उसका संरक्षण भी मैं ही करता हूँ। हे अर्जुन ! जिनका सम्पूर्ण ध्यान मुझ में ही होता है उनके भरण-पोषण और कुशलता का भार मेरे ही ऊपर आ पड़ता है। इसलिए उनके जीवन-निर्वाह की समस्त व्यवस्था मैं ही करता हूँ। (३४३)

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३

अनेक लोग यह नहीं जानते कि मैं सर्वव्यापक हूँ और वे अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्त के अनुसार मुझ को अग्नि, इन्द्र, चन्द्र आदि एक विशेष रूप में ही समझकर मेरा भजन-पूजन करते है। ये लोग इस प्रकार यद्यपि मेरा ही भजन करते है, क्योंकि मैं समस्त जगत् में व्याप्त हूँ, परन्तु उनका इस प्रकार का भजन-पूजन विधि पूर्वक न होकर गलत ढंग पर होता है। वृक्ष की शाखा, पत्ते आदि बीज में से ही होते हैं, तो भी पानी तो जड़ में ही सींचना पड़ता है। दसों इन्द्रियाँ एक ही देह से सम्बन्धित होती हैं, और वे जिन विषयों का सेवन करती हैं वे सब एक ही स्थान पर पहुँचते हैं तो भी न तो उत्तम भोजन बना कर उसे कान पर रखा जाता है और न सुगन्धित पुष्प को आँख पर लगाया जाता है। अन्न का सेवन तो मुख से ही किया

जायगा और सुगन्धित पदार्थ की नाक से ही लगाया जायगा। इसी प्रकार मेरी पूजा मेरे प्रेम की दृष्टि से ही की जानी चाहिए। इसलिए जो मुझे जाने बिना मेरा भजन करते हैं उनका प्रयत्न व्यर्थ हो जाता है। इसलिये कर्म का आचरण करने के लिये ज्ञान दृष्टि होनी चाहिये और वह दृष्टि स्वच्छ तथा निर्मल होनी चाहिए। (३५०)

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४

हे अर्जुन ! तू इतना ही विचार कर कि इस समस्त यज्ञोपचार का भोक्ता मेरे अतिरिक्त और कौन हो सकता है ? मैं ही इन सब यज्ञों का आदि हूँ और मैं ही इनका अन्त हूँ। पर जिनकी बुद्धि खराब हो गई है वे मुझे छोड़कर अन्य देवों का यजन करते हैं। जिस प्रकार गंगा का पानी देव और पितरों के नाम पर गङ्गा में ही अर्पण करने में आता है, उसी प्रकार वे मेरी वस्तु मुझको ही अर्पण करते हैं। परन्तु उनका मनोभाव भिन्न-भिन्न प्रकार का होने से वे मुझे कभी प्राप्त नहीं कर सकते। वरन् अपने मन में जो इच्छा रखते हैं उसी स्थान को वे प्राप्त होते हैं। (३५४)

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५

मन, वाणी और इन्द्रियों द्वारा इन्द्रादि देवों का भजन करने वाले देवलोक को पाते हैं, पितरों का व्रत करने वाले पितृलोक में जाते हैं। वैताल, पिशाच तथा क्षुद्र देवों के उपासक, जारण-मारण-घातक मन्त्रों की साधना करने वाले मरने पर पिशाच आदि योनियों को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार उनके संकल्प के अनुसार ही उनके कर्म उन्हें फल देते हैं। जो नेत्रों से मुझको ही देखते हैं, कान से मेरी चर्चा श्रवण करते हैं, मन से मेरा ही विचार करते हैं, वाणी से मेरा वर्णन करते हैं सर्वाङ्ग से सब स्थानों पर मुझे नमस्कार करते हैं, दान-पुण्य आदि सब कुछ मेरे लिये

ही करते हैं, मेरे स्वरूप का यथार्थ वर्णन करने वाले शास्त्रों का अध्ययन करते हैं, मेरे द्वारा ही जिनकी अन्तर्बाह्य तृप्ति होती है, जिनका जीवन केवल मेरे लिये ही व्यतीत हुआ है, जिनको मेरे सिवाय अन्य कुछ प्राप्त करने की कभी इच्छा नहीं होती, जिनको इस बात का गर्व है कि हम हरि की कीर्ति को फैलाने वाले हैं और इसके लिये मेरी महिमा गाते फिरते हैं, जो मुझे प्राप्त करने की इच्छा से ही सकाम बने हैं, जो मेरे प्रति प्रेम रखने को ही प्रेमी बने हैं, जो मेरे प्रेम में मस्त होकर संसार की तरफ देखते भी नहीं, मुझे जान लेना ही जिनका शास्त्र है और जिनके मन्त्र मेरी प्राप्ति के लिये ही होते हैं, इस प्रकार जो समस्त व्यवहारों में मेरे सिवाय न तो किसी का ध्यान करते हैं न इच्छा करते हैं—ऐसे व्यक्ति मरने के पहले मेरे स्वरूप में आ जाते हैं, मरने के पश्चात् तो वे मेरे अतिरिक्त और कहाँ जा सकते हैं ? (३६५)

इस प्रकार जो मेरा यजन करते हैं और सेवा के नाम पर अपने को मुझे अर्पण कर देते हैं, वे चाहे जीवित रहें या मृत्यु को प्राप्त हों, सदैव मुझ को ही प्राप्त करते हैं। हे अर्जुन ! आत्म समर्पण किये बिना अन्य किसी उपाय से मेरे प्रति सच्चा प्रेम किसी में उत्पन्न नहीं हो सकता। तेरे सम्बन्ध में ज्ञान का अभिमान रखने वाले वास्तव में मुझे कुछ भी नहीं जानते। जो अपने को 'कृतार्थ हो गया' मानते हैं उनकी कृतार्थता अभी कच्ची ही समझनी चाहिये। 'मैं मुक्त हो गया' ऐसा कहने वाला वस्तुतः अभी मुक्ति से बहुत दूर है। हे किरीटी ! "हमने यज्ञ किया"—"हमने धर्माचरण किया"—"हमने तप किया", इस प्रकार कहकर जो अभिमान करते हैं, उनके कर्मों का मेरी प्राप्ति की दृष्टि से तिनका भर भी महत्व नहीं है। तुम्हीं विचार करो कि ज्ञान के सम्बन्ध में वेदों से बढ़कर ज्ञाता और कौन है ? अथवा सहस्र मुख वाले शेषजी से बढ़कर वक्ता कौन हो सकता है ? पर शेष भी जिसकी शैय्या के नीचे दवा रहता है और वेद जिसके विषय में

नेति-नेति कहकर हट जाते हैं—अर्थात् मौन ही रहते हैं, तो मिथ्या अभिमानी लोग मुझे कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? (३१७) ३७१

इसी प्रकार पूर्वकाल में सनकादि जैसे ब्रह्मज्ञानी परमात्मा के स्वरूप का निर्णय करने में भ्रमित हो गये हैं। तपस्वियों में महादेवजी से बढ़कर कौन है ? पर उन्होंने अभिमान छोड़कर परमात्मा का पादोदक अर्थात् भागीरथी अपने मस्तक पर धारण किया। सम्पन्नता में लक्ष्मी से अधिक कौन है ? उसके घर में 'सिद्धि' के समान दासियाँ खेलते-खेलते जो घरौंदा बनाती है उसी का नाम अमरावती पड़ जाता है। ऐसी दशा में इन्द्र आदि देवों को तो उस घर के गुड्डे-गुड़ियाँ ही कहना चाहिये। फिर उन दासियों को वह खेल नापसन्द हो जाने से जब वे उस घरौंदे को तोड़ डालती हैं, तो इन्द्र आदि सब कंगाल हो जाते हैं। वे दासियाँ जिस वृक्ष पर दृष्टि डालती हैं वही कल्पवृक्ष हो जाता है। जिसके घर की दासियों की इतनी सामर्थ्य है, उस घर की पटरानी लक्ष्मी की भी परमात्मा के पास विशेष प्रतिष्ठा नहीं है। इसलिए उस लक्ष्मी ने भी जब अभिमान त्याग कर अन्तःकरण से मेरी सेवा की तभी उसको मेरे पैर धोने का अधिकार प्राप्त हुआ। इसलिए जब महत्ता का त्याग करके, समस्त शास्त्रीय ज्ञान को छोड़कर, विद्वत्ता का अभिमान दूर करके नम्रता से व्यवहार किया जाय तभी मेरी प्राप्ति हो सकनी सम्भव है। हे किरीटी ! सूर्य के तेज के सम्मुख चन्द्रमा का प्रकाश लुप्त हो जाता है तो जुगनू अपने प्रकाश का घमण्ड किस आधार पर कर सकता है ? इसी प्रकार जहाँ लक्ष्मी का ऐश्वर्य और शम्भु की तपस्या भी किसी गिनती में नहीं हैं, वहाँ फिर अज्ञानी और ढोंगी तो मुझे किस प्रकार जान सकते हैं ? इसलिए समस्त देहाभिमान को छोड़कर, समस्त गुणों की प्रतिष्ठा को राई-नोंन उतार कर, सम्पत्ति का मद तथा अपने सर्वस्व को भी मेरे ऊपर निछावर कर देना चाहिए। (३८१)

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६

तत्पश्चात् दृढ़ भक्ति से मुझे अर्पण करने की भावना से चाहे जिस वृक्ष का, चाहे जो फल मेरे सामने रखे, मैं स्वयं अपने दोनों हाथ आगे बढ़ाकर उसे लेता हूं और उसको डण्ठल तोड़े बिना ही प्रेम पूर्वक सेवन करता हूं। भक्ति भाव से यदि कोई मनुष्य एक फूल भी मुझे अर्पण करता है तो वास्तव में उसे सूंघना चाहिए, पर मैं प्रेम विभोर होकर उसे मुंह में ही डाल लेता हूँ। अभी फूल की तो क्या बात, वृक्ष का एक पत्ता भी मुझे प्रिय है, वह चाहे जिस वृक्ष का हो ताज़ा हो या सूखा हो, यदि वह पूर्ण भक्ति भाव से अर्पण किया गया है तो जिस प्रकार कोई भूखा मनुष्य अमृत को खाकर तृप्त होता है, उसी प्रकार मैं उसको अमृत तुल्य मानकर खाने लगता हूं। कदाचित् पेड़ का पत्ता भी न मिले, तो पानी तो सब कहीं मिलता है। यदि उस पानी को भी आन्तरिक भक्ति पूर्वक मुझे अर्पण किया जाय, तो उससे मैं इतना सन्तुष्ट होता हूं कि मानो मेरे लिये वैकुण्ठ से भी बढ़िया कोई मन्दिर बनाया गया है अथवा कौस्तुभ मणि से भी अधिक सुप्रकाशित कोई अलंकार मुझे अर्पित किया गया है। अथवा दूध के समान स्वच्छ और क्षीर समुद्र की लहरों के समान कोमल तथा मनोहर अपरिमेय शयन स्थान मेरे लिये निर्मित कर दिये हैं। अथवा कपूर, चन्दन, अगर आदि सुगन्धित पदार्थों का महा-मेरु लगाकर सूर्य की ही दीपमाला बनाकर मेरी आरती करदी। अथवा गरुड़ जैसे वाहन, कल्पतरु के उद्यान और कामधेनुओं के झुण्ड ही मुझे अर्पण कर दिये। अमृत से भी अधिक मीठे पकवान अर्पण करने से जितना सन्तोष होता है, उतना ही या उससे भी अधिक सन्तोष मुझे उस भक्ति पूर्वक अर्पण किये गये जल बिंदु से होता है। हे किरीटी ! अधिक क्या कहूं मुझे अर्पण करने के लिए थोड़े से चावलों की पोटली बगल में दाबकर कंगाल सुदामा लाया था, मैंने उस पोटली की गांठ स्वयं ही खोली थी यह तुमने देखा था या नहीं ? मैं तो केवल भक्तिभाव को देखता हूं, वह संसारमें

बड़ा माना जाता है अथवा छोटा इसका विचार कभी मन में नहीं लाता। मेरे लिये जिसमें अनन्य भाव उत्पन्न हो गया उसी के घर का अतिथि मुझे समझलो। फिर ये पत्र, पुष्प, फल आदि तो भक्ति करने के निमित्त मात्र हैं। निर्मल भक्ति ही मुझे प्राप्त करने का मुख्य साधन है इसके बिना अन्य समस्त सामग्रियों को मैं व्यर्थ समझता हूँ। इसलिये हे अर्जुन ! अपनी बुद्धि पर नियन्त्रण रखते हुये निरन्तर अपने मन मन्दिर में मेरा स्मरण करते रहो, कभी मुझे भूलो मत। (३९७)

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७

इसलिए तू जो कुछ काम करे, जिन-जिन बस्तुओं को उपयोग में लावे, अथवा जिन विविध भाँति के यज्ञों से मेरा यजन करे, सत्पात्र को जो कुछ दान करे, उन सबको और तुम्हारे द्वारा स्वभावत: जो अन्य कर्म होते रहें, उन सबको भक्ति पूर्वक मुझे अर्पण कर दो। तुम अपने मन में उनको कभी याद भी न करो, न उनके लिये किसी प्रकार का अहंकार अपने भीतर पैदा होने दो। तुम निरहंकार और निष्काम बुद्धि से उन सबको मुझे अर्पण कर दो। (४०१)

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८

इसका परिणाम यह होगा कि जिस प्रकार आग पर सेके हुए बीजों में अंकुर नहीं फूटता उसी प्रकार अर्पण किये हुये शुभाशुभ कर्मों की फल प्राप्ति तुमको नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, जो पिछले कर्म शेष रह जाते हैं उनके अनुसार सुख-दुःख भोगने को फिर जन्म धारण करना पड़ता है परन्तु यदि तुम उन कर्मों को भी मुझे अर्पण करदो, तो उसी समय जन्म-मरण का चक्र कट जायगा और समस्त दुःख भी अपने आप निवृत्त हो जायेंगे इसलिए हे अर्जुन ! इस सहज संन्यास-युक्ति का प्रयोग. इसी समय से करने लग जा। "ऐसा ही करूँगा" अथवा

"कर रहा हूँ" इस प्रकार के वाक्य कह कर समय को मत गँवाओ। यह कर्म फल त्यागने की सरल युक्ति मैंने तुझे इसीलिये बताई है, जिससे इस देह के बन्धन में न पड़ कर और दुःख सागर में डूबने से बचकर, तू अनायास ही मेरे सुख स्वरूप में निमग्न हो सके—मेरे साथ एक हो सके। (४०६)

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९

मैं सब प्राणियों और पदार्थों में एक समान रहता हूँ, इसलिये मुझे 'मेरा' और 'तेरा' का भेद कभी नहीं करना पड़ता। जो लोग मेरे इस प्रकार के स्वरूप को जानते हैं और अहंकार का समूल उच्छेद करके मन-वचन-काया से कर्म करते हुए मेरा ही भजन करते रहते हैं, वे चाहे देखने में शरीर द्वारा सब काम करते रहते हैं, तो भी उनका चित्त उन कामों में नहीं होता, वरन् पूर्ण रूप से मुझ में ही रहता है, और मैं भी उनके हृदय में पूरी तरह निवास करता हूँ, जिस प्रकार बरगद का विशाल वृक्ष सूक्ष्म से बीज में रहता है और वृक्ष में बीज होते हैं, उसी प्रकार मुझ में और उनमें नाम मात्र का अन्तर रहता है। अन्यथा अन्तः-स्थिति का विचार करने पर वे और मैं एक हैं। जिस प्रकार दूसरे के गहने माँग कर अपने शरीर पर धारण करना व्यर्थ है, उसी प्रकार उनका देह धारण कार्य उदासीनता का होता है, अर्थात् वे देह धारण किये रहते हैं; पर उनका आचरण देह रहित पुरुष के समान होता है। वायु के साथ जिस प्रकार फूल की सुगन्ध पीछे-पीछे चली जाती है। और डंठल के पास पुष्प गन्ध रहित हो जाता है, उसी प्रकार प्रारब्धवश प्राप्त हुई देह को वे उतनी अवधि तक कायम रखते हैं, पर उनका अहंकार मेरी भक्ति के प्रभाव से बिल्कुल मिट कर मुझ में ही निमग्न हो जाता है। (४१४)

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०

इस प्रकार जो प्रेम भाव से मुझे भजते हैं और जिनको संसार में पुनः जन्म नहीं लेना है, वे भले ही किसी जाति के हों और हे महावीर अर्जुन ! उनके आचरण प्रथम श्रेणी के पापियों जैसे हों तो भी जिन्होंने अपने जीवन का अन्त मार्ग पर चल दिया हो उनकी दुर्गति नहीं होती। क्योंकि अन्तकाल में मन की जैसी स्थिति होती हैं, वैसी गति दूसरे जन्म में प्राप्त होती है। इसलिये जो लोग अपनी आयु का अन्तिम भाग मेरी भक्ति में व्यतीत करते हैं, वे चाहे आरम्भ में दुराचारी ही रहे हों तो भी वे सर्वोत्तम हैं ऐसा समझ ले। कोई मनुष्य नदी की भयंकर बाढ़ के अवसर पर इस किनारे पर डुबकी लगावे तो सब मनुष्य उसको मरा हुआ समझ लेंगे। पर यदि वह उस जल प्रवाह को पार करके दूसरे किनारे पर निकल आवें तो उसका वह डूबना वृथा हो जाता है। इसी प्रकार आरम्भिक आयु में किये हुये पाप अन्तिम आयु में भक्ति मार्ग में प्रवेश होने से धुल सकते हैं। इसलिए पापाचरण करने वाला यदि पश्चाताप रूपी तीर्थ में स्नान करके पूर्ण शुद्ध भाव से मेरी शरण में आवे (और पश्चात्ताप के बाद किसी प्रकार का पाप-कर्म न करे) तो उसका दोष मिट जाता है, उसका कुल पवित्र हो जाता है और जन्म धारण करने का सच्चा फल भी उसको प्राप्त हो जाता है। वह मानो समस्त शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर चुका समस्त तप कर चुका, अष्टाङ्गयोग की सर्वोत्तम सिद्धि प्राप्त कर चुका। हे पार्थ ! जिसने अपने मन तथा बुद्धि की समस्त क्रियाओं को एक पेटी में रखकर मेरे स्वरूप में ही रख दिया है, तो समझ लो कि वह सब कर्मों से पार उतर चुका और मेरे स्वरूप में ही मिल चुका है। (४२४)

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।।३१

हे अर्जुन ! तू समझता होगा कि ऐसा व्यक्ति बहुत समय व्यतीत होने पर मेरे समान बनता होगा, पर ऐसी बात नहीं है। तुम यह विचार करो कि जो अमृत में निवास करता है, उसकी मृत्यु कैसे

हो सकती है ? जिस समय सूर्योदय नहीं होता उसको रात कहा जाता है, उसी प्रकार मेरी भक्ति बिना जो कर्म किया जाता है वह महापाप कहा जाता है। हे पाण्डुसुत ! उसके चित्त के साथ जब मेरा सम्पर्क हो जाता है, उसका चित्त मुझ में लीन हो जाता है, तभी वास्तव में वह मेरे स्वरूप को पाता है। एक दीपक से दूसरे दीपक को जलाने के पश्चात् यह कहना संभव नहीं होता कि पहला दीपक कौन-सा है, इसी प्रकार जो मेरा स्वरूप बन जाता है, तो उसे मेरी स्थिति, मेरी कांति, मेरी नित्य शांति अवश्य प्राप्त होती है। अधिक क्या कहूँ, वह मेरे जीवन से ही जीवित बना रहता है। हे पार्थ ! इस बात को बारम्बार कहाँ तक कहूँ, पर जिस किसी को मुझे प्राप्त करने की अभिलाषा हो उसे मेरी भक्ति भूलनी नहीं चाहिये। (४३०)

इसमें कुलीनता की आवश्यकता नहीं है, जाति की उत्तमता का प्रश्न नहीं है, तो फिर विद्वता की तो चर्चा करना ही व्यर्थ है ? फिर इसमें शारीरिक सुन्दरता, यौवन, सम्पत्ति की अधिकता का भी कोई महत्व नहीं है। क्योंकि यदि मेरी भक्ति न हो तो यह बात कुछ व्यर्थ ही हैं। दाना रहित अनाज के छिलकों का ढेर लगा हो, अथवा सुन्दर शहर होने पर मनुष्यों की आबादी से रहित उजाड़ हो तो उसका क्या उपयोग। अथवा बहुत बड़ा तालाब हो, पर वह सूखा पड़ा हो, अथवा जंगल में दुःख और कष्ट की स्थिति में पड़े हुये व्यक्ति को एक वैसा ही मनुष्य और मिल जाय अथवा कोई पेड़ वन्ध्या फूलों से खूब लदा हुआ हो तो वह जिस प्रकार व्यर्थ है उसी प्रकार समस्त वैभव, कुल और जाति महत्ता व्यर्थ है। (४३४)

जिस प्रकार शरीर सब अङ्गों से युक्त हो परन्तु उसमें जीवन न हो, उसी प्रकार मेरी भक्ति बिना मनुष्य का जीवन निरर्थक है, क्योंकि ऐसे तो पृथ्वी पर पत्थर भी बहुत से पड़े रहते हैं। जिस प्रकार थूहर आदि काँटे वाले वृक्षों को बुद्धिमान निषिद्ध मानते हैं और उनसे बच कर रहते हैं, उसी प्रकार जो मेरी भक्ति नहीं करता उसे पुण्य छोड़कर

चले जाते हैं। चाहे नीम का वृक्ष निबौरियों के भार से झुक जाय तो भी उसका लाभ केवल कौए ही उठाते हैं, उसी प्रकार मेरी भक्ति न करने वाला मनुष्य पापों का बोझा इकट्ठा करने के लिये ही जीवित रहता है। अथवा जिस प्रकार मिट्टी के खपरे में षट्रस व्यंजन परोसकर चौराहे पर रख दिया जाय तो वह कुत्तों के ही काम आता है उसी प्रकार जो स्वप्न में भी पुण्य-आचरण नहीं करता वह भी एक ऐसी थाली के समान होता है जिसमें संसार के दुःख रूपी पकवान ही परोसे गये हैं। इसलिये चाहे कुल उत्तम न हो अथवा जाति अन्त्यज हो अथवा पशु का ही शरीर मिला हो, तो भी मनुष्य का काम चल सकता है, पर भक्ति के बिना नहीं चल सकता। जब गजेन्द्र ने ग्राह को पकड़ा और उसने दीन वाणी से मुझे पुकारा तो उसने मुझे प्राप्त कर लिया, उसका पशुत्व दूर हो गया और वह मुक्ति का अधिकारी बना। (४४२)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२

हे किरीटी! जिसका नाम लेना भी उचित नहीं ऐसा सबसे अधिक नीच, पापयोनि में जिसका जन्म हुआ हो, जो सचमुच पाषाण जैसा मूर्ख हो, परन्तु मुझ में पूरी भक्ति रखता हो, जिसकी वाणी मेरा मेरा नाम उच्चारण करती रहती हो, जिसकी दृष्टि मेरे स्वरूप का दर्शन करके कृतार्थ होती हो, जिसके मन में मेरे सिवाय अन्य बात का संकल्प उठता ही न हो, जिसके कान मेरा गुणानुवाद ही श्रवण किया करते हों, जिसके समस्त अंगों में मेरी सेवा ही आभूषण रूप हो, जिसकी बुद्धि को मेरे अतिरिक्त अन्य कोई विषय दिखाई ही नहीं पड़ता हो जो केवल ऐसी स्थिति में रह कर ही जीवित रह सकता, और इनके बिना जिसको मृत्यु ही अच्छी जान पड़ती है—इस प्रकार का व्यक्ति जो सब प्रकार से मुझ को ही अपना जीवन समझता है, वह चाहे कैसी भी अधम जाति, पापयोनि में जन्मा हो, जिसने शास्त्र का नाम भी सुना

हो, तो भी मेरे साथ उसकी तुलना की जा सकती है और वह मुझ से किसी प्रकार कम नहीं माना जा सकता। (४४६)

देखो, भक्ति के बल से ही दैत्यों ने देवताओं को पीछे हटा दिया और प्रह्लाद की भक्ति की महिमा को स्थिर रखने के लिये मुझे नृसिंह अवतार लेना पड़ा। हे किरीटी! उस प्रह्लाद ने मेरी भक्ति के लिये अनगिनती संकट सहन किये। मेरी प्रसन्नता से जो लाभ प्राप्त होते हैं, वे उसे पहले से ही प्राप्त थे। वह दैत्य कुल में उत्पन्न हुआ था, पर इन्द्र को भी उससे अधिक महत्व प्राप्त नहीं हो सका। इस प्रकार मुझे प्राप्त करने के लिये एक मात्र भक्ति ही सच्चा साधन है। जाति आदि के कारण उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ सकती। राजा का आदेश अगर एक चमड़े के टुकड़े पर लिखा हो, तो उस टुकड़ा से समस्त वस्तुयें प्राप्त हो सकती हैं, और उस आदेश के सामने सोना-चाँदी की भी कोई कीमत नहीं होती। ऐसे अवसर पर राज्य का आदेश ही मुख्य होता है और उसके सिक्के के द्वारा, चाहे वह चमड़े का ही हो, सब तरह की वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं। उसी प्रकार जब मन और बुद्धि मेरे प्रेम से युक्त होती हैं तभी उनकी महत्ता और ज्ञान उपयोगी हो सकते हैं—शोभा पा सकते हैं—शोभा पा सकते हैं। (४५५)

इस कारण वंश, जाति और वर्ण का कोई खास महत्व नहीं केवल मेरी भक्ति से ही जीवन सार्थक माना जा सकता है। मेरी इस भक्ति को जो भी मनुष्य सच्चे मन से करे तो वह चाहे किसी भी जाति का हो उसकी चिन्ता करनी व्यर्थ है। जब तक नाला गंगाजी में जाकर मिल नहीं जाता, तभी तक उसे नाला, झरना आदि के नाम से पुकारा जाता है। पर जब वह गंगाजी में मिल जाता है तो गंगा का रूप ही माना जाता है। लकड़ी को जब तक अग्नि में डाला नहीं जाता तभी तक उसके खैर, बबूल, चन्दन आदि नाम होते हैं। इसी प्रकार जब तक मेरे स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती तभी तक क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री, शूद्र, अन्त्यज इत्यादि जातियाँ भिन्न-भिन्न मानी जाती हैं। जिस

प्रकार समुद्र में नमक डालने से वह समुद्र के साथ एक रूप हो जाता है, उसी प्रकार मन से मेरी शरण में आने पर जाति, व्यक्ति आदि का भेद लोप हो जाता है, जब तक समुद्र में नहीं मिल जाते, तभी तक नद, नदी पूर्व को बहने वाली, पश्चिम को बहने वाली आदि भेद रहते हैं, इसी प्रकार मुझ से हृदय की संलग्नता हो जाने पर मेरे स्वरूप की ही प्राप्ति हो जाती है। (४६३)

इतना ही नहीं अगर पारस पत्थर तोड़ने के लिये जो लोहे का हथौड़ा उस पर मारा जाता है, तो स्पर्श होते ही लोहे का सोना बन जाता है। गोपियों ने प्रेम के बहाने अपने चित्त को मेरे साथ संलग्न कर दिया था तो क्या उनको उसी से मेरी प्राप्ति नहीं हुई ? क्या भय के कारण कंस ने मेरे स्वरूप को प्राप्त नहीं कर लिया ? अथवा मेरे साथ निरन्तर वैरभाव रखने से ही क्या शिशुपाल मुझे नहीं पा गया ? इसी प्रकार पाण्डवों और यादवों को सगे-सम्बन्धी होने के कारण और वासुदेव आदि को ममता से मेरी सायुज्यता प्राप्त नहीं हो गई ? हे धनुर्धर! नारद, ध्रुव, अक्रूर शुक और सनत्कुमार को जिस प्रकार मैं भक्ति के द्वारा प्राप्त हुआ, उसी प्रकार गोपियों को विषय-भोग बुद्धि से, कंस को भय के भाव से, शिशुपाल आदि को वैर-बुद्धि के कारण मैं प्राप्त हुआ हूँ। सत्य तो यह है कि मैं ही एक मात्र निर्वाण का स्थान हूँ, इसलिये कोई मनुष्य भक्ति से, चाहे विषय-बुद्धि से, चाहे विरक्ति और वैरभाव से मेरा ध्यान करे—भजन करे, उसकी मुझे कुछ भी परवाह नहीं है। हे पार्थ ! अब तू समझले कि मुझ से संलग्नता स्थापित करने के उपायों की कोई कमी नहीं है। मनुष्य चाहे जिस जाति का हो, चाहे जिस कुल का हो, चाहे, मेरी भक्ति अथवा शत्रुता करे, परन्तु भक्ति अथवा शत्रुता करे, परन्तु भक्ति अथवा शत्रुता जो कुछ करनी हो वह मेरी ही करनी चाहिये। इस तरह जो कोई जिस कारण से मेरी शरण आवे तो मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेना उसके हाथ में ही है। इसलिये हे अर्जुन ! पाप-योनि में जन्म लेने वाले, वैश्य, शूद्र, स्त्री-

ये भी यदि मेरी भक्ति करें तो मेरे स्वरूप को अवश्य पा सकते हैं। (४७४)

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।।३३

जब वास्तव में स्थिति ऐसी है कि भक्ति के प्रभाव से सब मुझे प्राप्त कर लेते हैं, तब उन सच्चे ब्राह्मणों का क्या कहना है जो सब कर्मों में श्रेष्ठ हैं, स्वर्ग के अधिपति हैं, मंत्र-विद्या के जन्म-स्थान हैं, जो पृथ्वी पर के देव (भूसुर) हैं, जो तपश्चर्या के मूर्तिमन्त अवतार हैं, जिनके योग से तीर्थों का भी भाग्योदय हो जाता है, जिनमें यज्ञों का अखण्ड निवास है, जो वेदों के सुदृढ़ कवच है, जिनकी दृष्टि के प्रभाव से सर्वत्र मंगल की वृद्धि होती है। जिनकी आस्था के बल से सत्कर्मों का प्रचार होता है, और जिनके प्रभाव से सत्य की रक्षा होती है, जिनके आशीर्वाद से अग्नि के आयुष्य की वृद्धि होती है और समुद्र ने उसे अपने भीतर स्थान दिया है, जिनकी प्रीति के लिये मैंने लक्ष्मी को दूर हटा दिया और कौस्तुभमणि को गले से उतार कर हाथ में ले लिया, जिनकी चरणरज के लिये मैंने अपना वक्षस्थल आगे कर दिया और अपनी शान्ति को स्थिर रखने के लिये उनके चरण चिन्ह को अब भी हृदय पर धारण किये हूँ। हे महावीर ! जिनका कोप काल, अग्नि और रुद्र का निवास स्थान है, जिनकी प्रसन्नता प्राप्त होते ही सिद्धियाँ अनायास मिलने लग जाती हैं, ऐसे पूज्य जो ब्राह्मण और उनमें भी जो मेरी भक्ति करते हैं, वे अगर मुझको प्राप्त हो जायँ तो इसमें अधिक कहने की क्या बात है। (४८३)

चन्द की वायु से स्पर्श होने वाले और कम योग्यता वाली नीम की लकड़ी भी जब देवताओं के मस्तक पर स्थान पा जाती है तो चन्दन को वहाँ स्थान नहीं मिलेगा ऐसी शंका क्यों करनी ? अथवा यह प्रश्न उठाने की ही क्या आवश्यकता है कि चन्दन को देवताओं के मस्तक पर स्थान मिलेगा ? शिवजी विषपान करने के पश्चात् दाह के

शमन करने को अपने मस्तक पर सदा अर्धचन्द्र को धारण किया तो फिर दाह के शमन करने वाले और पूर्णता तथा सुगन्ध में चन्द्रमा से भी अधिक जो चन्दन हैं, उसको सर्वाङ्ग में क्यों न धारण किया जाय ? जिन गंगा में मिलकर रास्ते में बहने वाला पानी भी समुद्र में पहुँच जाता है, वह गंगा समुद्र के सिवाय और कहाँ जा सकती है ? इसलिये जिनको गति और ज्ञान देने वाला तथा संरक्षण करने वाला एकमात्र मैं ही हूँ, उन राजर्षियों और ब्राह्मणों की भक्ति और मुक्ति का स्थान भी निश्चित रूप से मैं ही हूँ। इसलिए सैकड़ों छेद वाली नाव में बैठ कर मनुष्य निश्चित क्यों बना रहे ? जहाँ शस्त्रों की झड़ी लग रही हो वहाँ यह समझ कर कि हम कोई हानि नहीं पहुँचेगी, खुले बदन क्यों रहें ? जहाँ पत्थर गिर रहे हों वहाँ अपने बचाव को ढाल का उपयोग क्यों न किया जाय ? रोग हो जाने पर औषधि सेवन में उदासीनता क्यों की जाय ? जब चारों तरफ आग जल रही हो तो उसमें से बाहर निकलने का प्रयत्न क्यों न किया जाय ? इसी प्रकार इस संकटों से भरे मृत्यु लोक में जन्म लेकर मेरा भजन क्यों न करना चाहिये ? और मेरा भजन न करने वाले मनुष्य के शरीर में ऐसी कौन-सी शक्ति है तथा उसके घर में ऐसी कौन सी समृद्धि है, जिसके भरोसे वह निश्चिन्त बना रहे ? मेरा भजन किये बिना क्या मनुष्य यह भरोसा रख सकता है कि विद्या, युवावस्था द्वारा ही वह सच्चा सुख प्राप्त कर लेगा ? परन्तु हे भाई ! समस्त भोग्य वस्तुयें जिस देह के लिये हैं, वह देह तो इस मृत्यु लोक में काल के मुख में पड़ा रहता है। इस मृत्यु लोक में तो दुःख रूपी माल भरा पड़ा है और मरण रूपी माल के गट्ठर पर गट्ठर चले आ रहे हैं। इस बाजार में मनुष्य अन्तिम समय में आ पहुँचा है। इसलिये पाण्डुसुत ! इस दुःख रूपी बाजार में ऐसी कौन-सी चीज मिल सकती है जो प्राणी के लिये सुख कारण सिद्ध हो सके ? (४९७)

क्या बुझी हुई अग्नि की राख फूँकने से दिया जल सकता है ?

विष के पौधे को पीस कर रस निकाला जाय, तो क्या उसे अमृत कहा जा सकता है? उस विष-रस को पीकर अमर होने की इच्छा रखने के समान ही विषयों के सेवन से सुख की आशा भी व्यर्थ है। तो भी अज्ञानी जन उसका सेवन किये बिना रह नहीं सकते। पैर में घाव हो जाय तो उसके इलाज के लिए माथे को काटकर लगा दिया जाय, ऐसी ही बात मृत्यु लोक के सुखों की भी समझनी चाहिये। इस मृत्यु-लोक में सुख की बात किसी अज्ञानी के मुख से ही निकल सकती है, अन्यथा जलते हुए पलङ्ग पर क्या कभी सुख की नींद आ सकती है? जिस मृत्यु लोक का चन्द्रमा क्षय का रोगी है, जो अस्त होने के लिए ही सूर्योदय होता है, जहाँ दुःख ही सुख का रूप धारण करके दुनियाँ को ठगते हैं, अंकुर निकलते ही उस पर अकल्याण का आच्छान्दन गिर जाता है, जहाँ मृत्यु उदर में रखे गर्भ को भी खोजने को पहुँच जाती है। जहाँ लोग मिथ्या बातों के चिन्तन में लगे रहते हैं, और उतने में ही यमदूत आकर उसे उठा ले जाते हैं, और कहाँ ले जाते हैं इसका कोई पता ही नहीं लगता। (५०४)

फिर समस्त मार्गों को खोज करके देखो, तो भी मृत्यु के मुख में से पीछे लौट आने का कोई मार्ग दिखाई नहीं पड़ता, जहाँ के पुराणों में मरने वालों की ही कथायें भरी हैं वहाँ की अनित्यता का वर्णन मनुष्य तो क्या ब्रह्माजी भी अपनी आयु के अन्त तक नहीं कर सकते, ऐसे अनित्य—क्षण भंगुर लोक में जन्म लेकर प्राणी यदि निश्चिन्त रहे तो इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या बात हो सकता है? प्रत्यक्ष अथवा परलोक के लाभ के लिये जो कौड़ी भी खर्च नहीं कर सकते वे ही हानिकारक वस्तुओं के लिये करोड़ों खर्च कर डालते हैं। जो लोग विषय भोगों में फँसे हैं उनको यहाँ सुखी माना जाता है, महालोभी को ज्ञानी कहा जाता है, जिसकी आयु थोड़ी ही बच रही है और जिसकी शक्तियाँ तथा बुद्धि मन्द पड़ गई हैं उसको 'बड़ा, श्रेष्ठ, मातामह, पितामह' कह कर उनके पैर छुये जाते हैं। छोटा

बालक जैसे-जैसे होता है, लोग खुशी होते हैं, पर यह नहीं सोचते कि जैसे-जैसे दिन बीतते जाते है, उसका आयुष्य कम होता जाता है। इसके लिए वे कभी शोक नहीं करते, मनुष्य प्रतिदिन मृत्यु के समीप पहुँचते जाते हैं, तो भी अपना जन्म-दिवस मनाकर आनन्दित होते हैं। अगर कोई यह कह दे कि 'अरे मर' तो ये शब्द उनको बड़े बुरे लगते हैं. ब कोई मर जाता है तो वे खूब रोते हैं। परन्तु अपनी उम्र बीतती ली जा रही है इसकी तरफ वे कभी ध्यान नहीं देते, इस मूर्खता के लिए क्या कहा जाय ? जिस समय सर्प किसी मेंढक को निगल रहा हो, उस समय भी वह अपने मरने से अनजान रहकर जीभ से मक्खियों को पकड़ कर खाता रहता है उसी प्रकार ये मनुष्य न जाने किस लाभ के लिए अपनी आकांक्षाओं, इच्छाओं को बढ़ाते ही रहते हैं। हाय, हाय ! यह कैसी शोचनीय दशा है। मृत्यु लोक व्यवहार बिल्कुल विपरीत और अनष्टिकारक है, यह मैं कितनी बार समझाऊँ। हे अर्जुन ! तुमने कर्मों की गति से मृत्युलोक में जन्म लिया है, पर यहाँ की सब बातें उल्टी ही होती हैं। इसलिये जितना हो सके जल्दी ही तुम इससे बचने का उद्योग करो और मेरे बताये भक्तिमार्ग को अपनाओ जिससे तुमको मेरा अविनाशी धाम प्राप्त हो सके। (५१६)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण: ॥३४

तुम अपने मन को मेरे स्वरूप में लगा दो, मेरे भजन से प्रेम रखो, और में सर्वत्र व्याप्त हूँ ऐसा समझ कर नमस्कार करो। मन के सब सङ्कल्पों को दूर करके जो मेरे प्रति ही लक्ष्य रखता है, वही मेरा निर्मल यज्ञ करने वाला कहा जा सकता है। इस प्रकार जब तू मुझ में परायण होगा, तब अविलम्ब मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेगा। यह मैंने अपने मन की गुह्य बात तुझको कहदी है। अन्य सब लोगों से छुपाकर रखी हुई गुप्त बात मैंने तुझे बतलादी और यदि तू उसे ग्रहण करेगा तो

सुखी बनेगा। भक्तों की इच्छा पूर्ण करने वाले श्रीकृष्ण भगवान् इस प्रकार बोले यह संजय ने कहा। (५२१)

हे श्रोताओ! सुनो जिस प्रकार भैंसा नदी की बाढ़ की चिन्ता न करके उसके जल में बैठा ही रहता है, उसी प्रकार इस महान कृष्णार्जुन सम्वाद को सुनकर भी वृद्ध राजा धृतराष्ट्र उसी प्रकार शान्त बैठे रहे। यह देखकर माथा हिलाकर संजय मन मे कहने लगा—"अहो! आज यहाँ अमृत की वृष्टि हो गई पर यह धृतराष्ट्र यहीं पर बैठे रहने पर भी ऐसा जान पड़ता है कि अन्य स्थान को चला गया था। पर यह मेरा स्वामी है, इसके सामने ऐसी बात कहूँगा तो मेरी वाणी दूषित होगी। क्या किया जाय इसका तो स्वभाव ही ऐसा पड़ गया है। पर मुनिश्रेष्ठ व्यासजी ने मेरे ऊपर यह बड़ी कृपा की, कि उन्होंने कृष्णार्जुन सम्वाद सुनने के लिये मुझको नियुक्त किया, यह मेरा बड़ा भारी सौभाग्य है। मन में ऐसा विचार आने पर बड़े परिश्रम से बोलते हुए संजय को ऐसा अष्ट सात्विक भाव उत्पन्न हो गया कि जिसे वह रोक न सका। (५२६)

उस अवसर पर संजय की वाणी स्तब्ध हो गई और नख से शिख तक रोमांच हो आया नेत्र आधे बन्द हो गये, उनमें प्रेमाश्रु बहने लगे। उसके अन्तर में आनन्द की ऐसी लहर उठी कि शरीर थर-थर काँपने लगा। उसके रोम-रोम से पसीने की बूँदें निकलने लगीं, जिससे ऐसा मालूम पड़ने लगा कि मानो उसने मोतियों का लबादा पहना हो। ऐसी महा आनन्द की दशा उत्पन्न हो जाने से उसकी जीव-दशा लोप होने लगी और ऐसा जान पड़ने लगा कि व्यासजी ने उसको जो काम सौंपा है, क्या वह अधूरा ही रह जायगा। इतने में कृष्णार्जुन सम्वाद के शब्द उसके कानों में पड़े और वह तुरन्त सावधान होकर अपने कर्तव्य पालन में तत्पर हो गया। उसने आँखों के आँसू और पसीना पोंछ डाला और वह धृतराष्ट्र से बोला—"महाराज सुनो।" (५३२)

अब श्रीकृष्ण वाक्य रूप उत्तम बीज और संजय का सात्विक

भाव तैयार किया हुआ खेत दोनों मिल गये हैं। अब इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि श्रोताओं को सिद्धान्त की बढ़िया फसल प्राप्त होगी। पूर्वार्ध की फसल संजय के अन्तर में आ ही गई और उत्तरार्ध-वाली के लिये भी तैयारी हो गई। हे श्रोतागणो ! अब आप इस तरफ कुछ विशेष ध्यान दें और आनन्द की राशि पर विराजमान हो जायें। आप की श्रवणेन्द्रिय का भाग खुल गया, क्योंकि सिद्धों के राजा भगवान कृष्ण ईश्वरीय विभूतियों के समस्त स्थानों को अर्जुन को बतलायेंगे। श्री निवृतिनाथ के शिष्य ज्ञानदेव की प्रार्थना है कि आप उस कथा को श्रवण करें। (५३५)

॥ इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां ॥

नवमोऽध्यायः ॥९॥

॥ अथ दशमोऽध्यायः ॥

निर्मल ब्रह्मज्ञान का बोध कराने में चतुर विद्यारूपी कमल को विकसित करने वाले हे गुरो, आपको नमस्कार है। आप संसार रूपी अन्धकार को नाश करने वाले सूर्य के समान अपार सामर्थ्यवान हैं, तुर्यावस्था (आत्म समाधि) में विहार करते हैं—आपको नमस्कार है। समस्त जगत के पालन करने वाले, कल्याण रूपी रत्नों के भंडार, सज्जन रूपी वन में चन्दन के समान श्रेष्ठ, और जिनका स्वरूप आराधना करने योग्य है—ऐसे आपको नमस्कार है। भक्तों के चित्तरूपी चकोर के लिये चन्द्रमा के समान तृप्तिकारक, ब्रह्मानन्द रूप अनुभव के राजा, वेद-ज्ञान के समुद्र और मदन के गर्व का नाश करने वाले—आपको मेरा नमस्कार है। भावयुक्त ज्ञानीजनों के भजनीय, संसार रूपी हाथी गंडस्थल को तोड़ने वाले और जगत् की स्थिति के स्थान रूप ऐसे आपको मेरा नमस्कार है। (५)

हे गुरो ! आपका कृपारूपी गणेश जब प्रसन्न हो जाता है, तो छोटे बालक को भी समस्त शास्त्रों के गुह्य सिद्धान्तों का ज्ञान हो जाते है। गुरु की उदारवाणी से जब अभय वचन प्राप्त हों, तो नवरसामृत रूपी समुद्र का भी पार पाया जा सकता है। जब आपकी प्रीति रूपी सरस्वती मूक व्यक्ति को भी अंगीकार कर लेती है तो वह ग्रन्थ रचना में वृहस्पति से भी होड़ कर सकता है। ज्यादा क्या कहूँ, जिस पर आपकी कृपा दृष्टि हो जाती है, अथवा जिसके मस्तक पर आपका वरद-हस्त रख दिया जाता है, वह जीव होने पर भी ईश्वर तुल्य बन जाता है। ऐसी जो गुरु कृपा की महिमा है उसका वर्णन में किस वाणी की सामर्थ्य से कर सकता हूँ ?' क्या कोई सूर्य के अंगों को उबटन लगाकर

अधिक स्वच्छ बन सकता है ? कल्पवृक्ष में फूल लग जायें ऐसी इच्छा करनी अनावश्यक हैं और सागर का आतिथ्य किस पदार्थ से किया जा सकता है ? कपूर के अन्य किस वस्तु कीसुगन्ध अर्पित की जा सकती हैं ? चन्दन पर किस वस्तु का लेपन किया जा सकता है ? अमृत को किस प्रकार पकाया जा सकता है ? आकाश की अपेक्षा कोई अधिक ऊँची वस्तु कैसे बनाई जा सकती है ? उसी प्रकार श्रीगुरुदेव की महिमा को जानने का साधन ही कहाँ है ? इस बात को समझ कर मैंने मौन रहकर गुरु को नमस्कार मात्र किया है। यदि बुद्धि के बल से गुरु की सामर्थ्य का वर्णन करने का प्रयत्न करें, यह कार्य मोती को अधिक चमकदार बनाने के लिये उस पर पालिश चढ़ाने के समान होगा। अथवा उत्तम सोने पर चाँदी का मुलम्मा करने के समान ही गुरु की स्तुति करने का प्रयत्न निरर्थक है। अतएव गुरुचरणों में मस्तक रखना ही योग्य है।
(१५)

फिर श्री ज्ञानेश्वर महाराज बोले—"हे स्वामिन् ! आपकी कृपा दृष्टि से ही श्रीकृष्ण-अर्जुन के संवाद रूपी संगम में मैं प्रयाग के वटवृक्ष की तरह विस्तार करने में समर्थ हुआ हूँ। आप अपनी कृपादृष्टि से क्या नहीं कर सकते हो ? पूर्वकाल में उपमन्यु के दूध माँगने पर शंकर जी ने समस्त क्षीर समुद्र ही उसके सामने रख दिया था, अथवा ध्रुव के रूठ जाने पर श्रीविष्णु ने अचलपद की मिठाई देकर उसे मनाया। उसी प्रकार ब्रह्मविद्या में श्रेष्ठ और समस्त शास्त्रों का निचोड़ ऐसी जो अध्यात्म विद्यारूपी भगवद्गीता, उसका ओवी छन्द में वर्णन करने की शक्ति मुझे आपने ही प्रदान की है। जिस वाणीरूपी जंगल में मारे-मारे फिरने पर भी एक भी सार्थक शब्द सुनने में नहीं आता था, आपने कृपा करके उसे विवेक की कल्पलता ही बना दिया। मेरी बुद्धि जो केवल देहमयी हो गई थी, उसे आपने अब ब्रह्मानन्द रूपी भंडार की कोठरी ही बना दिया है। और मेरे मन को गीतार्थ रूपी क्षीर सागर में मानो जल मन्दिर बना दिया है। इस तरह गुरु की एक-एक कृति अगाध होने

से, मैं उनकी अपार सामर्थ्य का वर्णन किस प्रकार कर सकता हूं ? हे महाराज ! मैं धृष्टता से जो कुछ कह गया होऊँ उसके लिये मुझे क्षमा कीजिये। अब तक मैंने आपकी ही कृपा से श्रीमद्भगवद् गीता का ओवीबद्ध वर्णन आनन्द पूर्वक किया। (२३)

प्रथम अध्याय में अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ युद्ध करना अयोग्य है, ऐसा लगने से अर्जुन को खेद उत्पन्न हुआ था। दूसरे अध्याय में स्पष्ट रीति से योग का वर्णन किया गया है और ज्ञानयोग और कर्मयोग का भेद बतलाया है। तीसरे अध्याय में केवल कर्म महिमा का ही प्रतिपादन किया गया है। चौथे अध्याय में उसका ज्ञान सहित प्रतिपादन किया गया है और पाँचवें मे योग-तत्व को आरम्भ किया गया है। वही योग-तत्व छठे अध्याय में आसन विधि से लेकर जीव और ब्रह्म के ऐक्य होने तक स्पष्टतः बताया है। अष्टाङ्ग-योग्य, योग स्थिति और योगभ्रष्टों को मिलने वाली गति का वर्णन भी छठे अध्याय मे किया गया है। फिर सातवें अध्याय में प्रकृति की उत्पत्ति और लय को बता कर चार प्रकार के भक्तों, अर्थात् आर्त, जिज्ञासु अर्थार्थी और ज्ञानी का वर्णन किया गया है। फिर आठवें में सात प्रश्नों का स्पष्टीकरण करके मरणकाल की स्थिति अर्थात् संसार से प्रयाण करते समय चित्त शुद्धि का निर्णय आदि बातें दी गई हैं। फिर कहा गया है कि वेदों में जो अगाध ज्ञान भरा है उसे महाभारत के एक लाख श्लोकों में कहा गया है, महाभारत का ज्ञान श्रीकृष्ण-अर्जुन सम्वाद रूपी गीता में सात सौ श्लोकों में है और गीताका समस्त ज्ञान नौवें अध्याय में भर दिया गया है। जब इस नौवें अध्याय के ज्ञान को समझ सकने में अर्जुन भी अशक्त हुआ, तो मैं उसे स्पष्ट करके समझाने का गर्व क्यों करूँ ?" (३२)

देखिये गुड़ और चीनी एक ही रस से बनाये जाते हैं, तो भी उनका मिठास अलग-अलग होता है। इसी प्रकार गीता के सभी अध्यायों में यद्यपि ब्रह्म-तत्व का ही वर्णन किया गया है तो भी कितने

ही अध्यायों में ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया है जैसे हमको उसका अच्छी तरह परिचय है, कई मे ब्रह्म का स्थान ही दिखाया गया है, और कई में ब्रह्म को जानने का प्रयत्न करते हुये मनुष्य ज्ञान और गुणों सहित स्वयं ही ब्रह्म हो जाता है। इस प्रकार के गीता के सब अध्याय हैं, पर उनमें नौवाँ अध्याय तो अवर्णनीय है। तो भी मैंने उसका वर्णन-निरूपण किया, हे प्रभो ! यह आपकी सामर्थ्य है। देखिये, वसिष्ठ ने साटीन नामक वस्त्र से सूर्य के समान प्रकाश उत्पन्न किया, विश्वामित्र ने नई सृष्टि की रचना की, रामचन्द्र ने समुद्र पर पाषाण का पुल बाँध कर समस्त सेना को पार उतार दिया, हनुमान जी जन्म लेते ही आकाश में उड़ गये और सूर्य को हाथ से पकड़ लिया, अगस्त ऋषि ने एक चुल्लू में समुद्र को पी लिया, उसी तरह आपने मेरे जैसे अनजान मनुष्य की वाणी से अनिर्वाच्य ब्रह्म का वर्णन कराया। जिस प्रकार राम-रावण के सग्राम का राम-रावण-युद्ध की ही उपमा दी जा सकती है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के नौवें अध्याय का कथन भी ऐसा है कि उसकी अन्य उपमा नहीं दी जा सकती। गीता का वास्तविक रहस्य जिन तत्वज्ञानियों के समझने में आया है, वे ही इसका निर्णय कर सकते हैं। (३९)

इस प्रकार प्रथम नौ अध्यायों का मैंने यथामति वर्णन-निरूपण किया। अब यहाँ से उत्तरकाण्ड का प्रारम्भ होता है, उसे भी सुनलो। इस उत्तरखण्ड के सबसे पहले अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन को अपनी मुख्य और गौण विभूतियों का वर्णन सुनाते हैं। उसकी उत्तम रस भरी कथा मैं आपके सम्मुख कहता हूँ। भाषा की सुन्दरता से शान्त-रस शृंगार-रस, को जीत लेगा और ओवियाँ अलकार शास्त्र के आभूषणों की तरह देदीप्यमान हो उठेंगी। मूल संस्कृत ग्रन्थ और उसकी यह प्राकृत टीका वाँचने से जो वास्तविक अर्थ हृदय में उतरेगा तो इसका पता भी न चलेगा कि दोनों में से मूल ग्रन्थ कौन सा है। जिस प्रकार शरीर अपने सौन्दर्य से अलंकारों को भी शोभायमान बना देता है,

उस अवसर पर यही निर्णय कर सकना कठिन हो जाता है कि कौन-सी वस्तु किसकी शोभा बढ़ा रही है, इसी प्रकार संस्कृत और प्राकृत भाषा दोनों एक ग्रन्थ के भावार्थ का वर्णन करती हुई जिस प्रकार शोभायमान होती हैं, यह तुम निर्मल बुद्धि से सुनो। कोई भाव प्रकट करते हुए जब रस की वृष्टि होती है, तभी चातुर्य की विशेषता ज्ञात पड़ती है। इस स्थान पर प्राकृत भाषा का समस्त सौन्दर्य और आकर्षण लूटकर लाया गया है (प्रयत्नपूर्वक संग्रह किया गया है) और उसी के द्वारा इस विस्तृत गीता तत्व का वर्णन किया गया है। जो स्थावर और जंगम के परम गुरु हैं और जो चतुर लोगों के चित्त को आनन्द प्रदान करने वाले हैं, यादवेश्वर श्रीकृष्ण क्या बोले थे वह सुनो। श्री निवृत्तिनाथ के शिष्य ज्ञानदेव महाराज कहते हैं कि भगवान कृष्ण बोले—'अब तुम्हारा अन्तः-करण श्रवण करने के लिए सब प्रकार योग्य हो गया है।' (४९)

श्री भगवानुवाच—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥1

मैंने पिछले नौ अध्यायों में जो कुछ कहा है, उसमें तेरा कितना अधिक ध्यान है, यह मैंने जान लिया। मिट्टी के घड़े में पहले थोड़ा पानी डालकर देख लिया जाता है कि वह टपकता है या नहीं, उसके पश्चात् उसे पूरा भरा जाता है। इसलिए पहले मैंने तुझे थोड़ी बातें सुनायीं। फिर जब मुझे विश्वास हो गया कि तू मेरे आशय को हृदयङ्गम कर रहा है, तो मुझे ऐसा लगा कि तुझको अब अधिक सुनाना चाहिए। जिस प्रकार नये नौकर को रखने पर उसके आने-जाने के मार्ग में को कोई बहुमूल्य वस्तु डालकर उसकी परीक्षा की जाती है, यदि वह उसे अपने पास न रखकर स्वामी को देदे तो उसे खजांची बना दिया जाता है। उसी प्रकार हे अर्जुन ! तू भी मेरी परीक्षा में उत्तीर्ण

हो जाने से मेरे ज्ञान-भण्डार का स्वामी बन गया है। फिर जिस प्रकार पर्वत को देखकर मेघ जल से भर जाता है, उसी प्रकार भगवान कृष्ण अर्जुन की तरफ देखकर इस प्रकार बोले—'हे अर्जुन ! पहले कही हुई बातों का आशय फिर तुझे समझाता हूँ। प्रतिवर्ष अनाज बोने से फसल ठीक पैदा होती रहे, तो फिर अनाज बोने से मनुष्य उकताता नहीं। अथवा जिस प्रकार बार-बार तपाने से स्वर्ण की चमक बढ़ती है तो सुनार उससे घबराता नहीं। हे पार्थ ! अपनी बात समझाने में तेरे ऊपर किसी प्रकार का उपकार नहीं करता, वरन् इससे मैं अपना ही स्वार्थ मानता हूँ। (५७)

जिस प्रकार बालक को आभूषण पहनाये जाँय तो उससे बालक को सुख नहीं मिलता वरन् उसकी माता उसकी सुन्दरता को देखकर प्रसन्न होती है, उसी प्रकार जितना-जितना तेरा हितसाधन होता चलेगा वैसे-वैसे मेरा ही सुख अनेक गुणा बढ़ता जायगा। हे अर्जुन ! अब इस आलंकारिक भाषा को छोड़कर मैं तुझे बताना चाहता हूँ कि तुझ पर मेरा अत्यन्त प्रेम होने से, मैं तेरे साथ कितनी भी बात करूँ तो भी मेरा मन नहीं भरता और इसलिए बार-बार वही बात तेरे सामने मुझे कहनी पड़ती है। अब तू मेरे कथन पर अच्छी तरह ध्यान दे हे अर्जुन ! मेरे अति उत्तम वाक्यों को सुन। ये वाक्य नहीं है, परन्तु अक्षर रूपी परब्रह्म ही तुझे आलिंगन करने आया है। हे किरीटी ! तू अभी मुझे वास्तविक रूप में नहीं जानता। अगर ऐसी बात है तो समझलो कि जो कुछ मैं तुमको यहाँ दिखाई देता हूँ, वही समस्त विश्व में भी है। (६३)

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२

मेरे इस स्वरूप का वर्णन करने में वेद की वाणी भी कुण्ठित होगई है। मन और प्राण की गति भी वहाँतक नहीं पहुँचपाती। मेरे तेजके आगे

रात न होने और दिन के छुप जाने पर भी सूर्य और चन्द्रमा अस्त हो गये हैं। जैसे पेट में रहने वाला गर्भ माता की आयु को नहीं जान सकता उसी प्रकार मेरे उत्पन्न किये देव मुझे जान सकने में असमर्थ रहते हैं। जलचर जिस प्रकार समुद्र का अन्त नहीं जानते अथवा मच्छर जिस प्रकार गगन मण्डल को पार नहीं कर सकते उसी प्रकार महर्षियों का ज्ञान मुझे जान नहीं सकता। मैं कौन हूँ कैसा हूँ, किसका हूँ किसमें से उत्पन्न हुआ हूँ—इन प्रश्नों का निर्णय करते-करते उनको अनेक युग बीत गये, क्योंकि हे अर्जुन ! इन सब महर्षियों, देवताओं, अन्य प्राणियों का मूल मैं ही हूँ और इसलिए मुझको जान सकना उनके लिए कठिन होता है। पर्वत पर से नीचे आने वाला फिर ऊपर पहुँच जाय अथवा वृक्ष बढ़ते-बढ़ते फिर जड़ को छूने लग जाय, तभी मुझसे उत्पन्न होने वाला और मेरे भीतर रहने वाला जगत मुझे जान सकता है। यदि बरगद के गर्भ में समस्त वृक्ष समा जायें, तभी तुझ से उत्पन्न होने वाले जीव, महर्षि और देव मुझे जान सकते हैं। इस प्रकार यद्यपि मुझे जान सकना कठिन है। तथापि यदि कोई बाह्य प्रवृत्तियों को मार्ग छोड़कर इन्द्रियों से विमुख हो जाता है तो वह देह-भाव को त्यागकर पंचभूतों के शिखर पर चढ़ सकता है। (७३)

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३

मन की ऐसी स्थिति जब स्थायी हो जाती है, तो वह आत्म प्रकाश द्वारा अपने नेत्रों से मुझे उत्पत्ति रहित देख सकता है और यह समझ लेता है कि आरम्भ से भी परे और सब लोकों का महेश्वर मैं हूँ। ऐसा मनुष्य पत्थरों में पारस और षट्रसों में अमृत तुल्य है और इस दृष्टि से उसे मेरा ही अंश मानो। ऐसे मनुष्य को ज्ञान की बोलती

चालती मूर्ति ही समझना चाहिए और उसके अवयव तो मानो सुख के अंकुर ही होते हैं। वह लौकिक दृष्टि से चाहे एक मनुष्य ही जान पड़ता है, पर यह एक भ्रम ही है। यदि कपूर में अकस्मात् एक हीरा मिल जाय और ऊपर से पानी गिर जाय तो क्या कपूर की तरह हीरा भी गल जायगा ? उसी प्रकार उपर्युक्त प्रकार का मनुष्य चाहे मनुष्य लोक में साधारण मनुष्यों की तरह ही रहता हो तो भी माया के बन्धनों से वह सर्वथा दूर रहता है। पाप उसको छोड़कर स्वयं ही पलायन कर जाते हैं कि कहीं हमारा नाश न हो जाय। जिस प्रकार सर्प अपने निवास स्थान को जलता देखकर चन्दन के वृक्ष को त्याग देता है उसी प्रकार जो ज्ञानाग्नि के प्रकाश में तुझे देख लेता है उसके समस्त संकल्प दूर चले जाते हैं। अगर तू विचार करता है कि मुझे किस प्रकार जाना जाय तो मैं तुझे बतलाता हूँ कि मैं कैसा हूँ तथा मेरे विकार और धर्म कैसे हैं ? ये ही विकार भिन्न-भिन्न प्राणियों की प्रकृति बनकर त्रैलोक्य में व्याप्त हैं। (८२)

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५

इन विकारों में प्रथम बुद्धि है फिर असीम ज्ञान, निर्मोहता, सहनशीलता, क्षमा और सत्य, फिर मनोनिग्रह और इन्द्रिय निग्रह, जगत् के सुख-दुःख और जन्म-मरण, ये ही विकार मुझे परमात्मा के भावरूप में हैं। हे पांडुसुत ! भय और निर्भयता, अहिंसा, समता और सन्तोष, तप और दान, यश वे मेरे द्वारा ही प्राणियों में उत्पन्न होते हैं। प्राणी जिस तरह विभिन्न प्रकार के हैं उसी प्रकार विकार भी भिन्न-भिन्न होते हैं, ऐसा समझ ले। इनमें से कुछ को मेरा ज्ञान होता है और कुछ को नहीं होता। जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकार दोनों सूर्य के कारण होते हैं,

सूर्योदय के साथ प्रकाश और सूर्यास्त के साथ अन्धकार हो जाता है, उसी प्रकार मेरा ज्ञान होना अथवा न होना यह प्राणियों के अपने-अपने कर्मों पर निर्भर है। इसलिए प्राणियों में तरह-तरह के विकारों का आविर्भाव होता है। इस प्रकार हे अर्जुन ! यह समस्त जीव सृष्टि मेरे ही विकारों या भावों से भरी है। अब जो इस लोक के पालन कर्त्ता हैं और जिनकी आज्ञानुसार सब लोग व्यवहार करते हैं, उन ग्यारह अन्य भावों का वर्णन तुझे बतलाता हूँ। (६१)

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६

सम्पूर्ण गुणों से युक्त और महर्षियों में जो ज्ञानी हैं, ऐसे कश्यपादि सात प्रसिद्ध ऋषि हुए हैं और चौदह मनुओं में स्वयंभव आदि चार मुख्य माने गये हैं। इस प्रकार ये ग्यारह भाव सृष्टि की उत्पत्ति के लिए मेरे मन से ही उत्पन्न हुए हैं। उस समय लोकों की व्यवस्था और तीनों लोकों की रचना नहीं हुई थी और पंच-महाभूतों का समुदाय स्तब्ध दशा में अपने स्थान में ही निष्क्रिय पड़ा था। जब ये सात ऋषि और चार मनु उत्पन्न हुए तो उन्होंने आठ लोकपाल बनाकर उनको लोकों का अधिपति बनाया। इस प्रकार वह ग्यारह संसार के राजाओं की तरह हैं और अन्य सब इनकी प्रजा के समान है। इस प्रकार यह विश्व का समस्त विस्तार मेरा ही है, ऐसा तू समझ ले। पहले बीज अकेला ही होता है, फिर बढ़ने पर उसमें अंकुर फूटते हैं। अंकुर में से तना बनता है, तने में से शाखायें निकली हैं। शाखाओं में से छोटी शाखायें और कोमल पल्लव आते हैं। पत्तों के बड़े हो जाने पर फल उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार समस्त वृक्ष की रचना हो जाने पर कारण दृष्टि से विचार किया जाय तो वह वृक्ष बीज ही होता है, इसी प्रकार आरम्भ में मैं अकेला था, मुझ में मन की उत्पत्ति हुई और मन से सप्त सृष्टि और चार मनु उत्पन्न हो गये। उनमें इन्द्र आदि आठ लोकपाल हुए और लोकपालों से विभिन्न प्रकार की प्रजा उत्पन्न

हुई और तरह-तरह के प्राणी बन गये। इस प्रकार वास्तव में विश्वरूप से मेरा ही विस्तार हो रहा है। यह एकादश भावों की बात जिनको श्रद्धा पूर्वक मान्य होगी उसी की समझ में आ सकेगी। (१०३)

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ।।७

इसलिए हे सुभद्रापते ! ये मेरे बीस भाव और ग्यारह विभूतियाँ हैं, जिनसे यह समस्त जगत् व्याप्त हो रहा है। इस प्रकार ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त मेरे सिवाय और कुछ नहीं ! जो मेरे इस सर्वव्यापी स्वरूप को जानता है, उसके अन्तःकरण में सत्य ज्ञान का प्रकाश होता है और इसीलिए उसे स्वप्न में भी उत्तम-अधम प्राणियों का भेद प्रतीत नहीं होता। मैं, मेरी विभूतियाँ और उन विभूतियों से उत्पन्न प्राणी, सब एक ही हैं, ऐसा तुझे समझ लेना चाहिए। जो अपने मनोभाव पूर्वक इस ज्ञान योग को प्राप्त कर लेता है, वह मुझ में मिलकर कृतार्थ हो जाता है, इसमें संशय नहीं। हे अर्जुन ! जो कोई इस प्रकार की अभेद दृष्टि से मेरा भजन करता है, तो मैं सहज ही उसके पाश में आबद्ध हो जाता हूँ मेरी इस प्रकार की अभेद शक्ति के प्रभाव से मेरी प्राप्ति में किसी प्रकार की विघ्न बाधा नहीं आती और ऐसा भक्त जब मृत्यु को प्राप्त होता है तो भी उसे उत्तम गति ही मिलती है। ये बातें छठे अध्याय में पूर्णरूप से समझा दी गई हैं। अब यह भक्ति कैसी होती है यह जानने की तेरे मन में इच्छा हो तो मैं तुझे वह बतलाता हूँ। (११९)

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ।।८

हे अर्जुन ! इस जगत् का उत्पन्न कर्त्ता और पालन कर्त्ता मैं ही हूं। जिस प्रकार पानी की तरंगों का जन्म पानी में ही होता है, उनका आश्रय भी पानी ही होता है, उनका जीवन भी पानी ही होता है अर्थात् वे सब प्रकार से पानी ही पानी होती हैं, उसी प्रकार इस विश्व में मेरे

सिवाय और कुछ भी नहीं हैं। इस तरह मुझे सर्वव्यापक जानकर जो सच्ची उत्कण्ठा और प्रेम भाव से सर्वत्र मुझे भजते हैं और यह समझते हैं कि मैं देश, काल, वर्तमान आदि से भिन्न नहीं हूँ, जिस प्रकार वायु आकाश रूप होकर आकाश में संचार करता है उसी तरह जो आत्मज्ञानी मन में मुझ सर्वव्यापक प्रभु का स्मरण करते हुए त्रिभुवन में सुखपूर्वक कालक्रमण कहते हैं, और जितने प्राणी दिखाई पड़ते हैं उन सबको ईश्वर के स्वरूप ही समझते हैं, वे ही "भक्तियों" के सच्चे आचरण करने वाले हैं, यह निश्चय पूर्वक समझलो। (११८)

मच्चित्ता मद्‌गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९

जैसा मैंने अभी बतलाया, जिन लोगों का चित्त मुझमें संलग्न हो गया है और मुझे पाकर जिनके प्राण तृप्त हो गये हैं तथा ज्ञान की लगन लग जाने से जिनको जीवन अथवा मरण का भी कोई ध्यान नहीं है, फिर उनका पारस्परिक व्यवहार भी आत्मज्ञान का ही होता है। जिस प्रकार पास-पास बने दो तालावों का पानी ऊपर तक भर जाने से छल-कने से परस्पर मिल जाता है और उनकी तरंगे भी एक दूसरे से मिलने लगती हैं, उसी प्रकार ज्ञानियों के एक साथ मिलने से ब्रह्मानन्द रूपी तरंगे एक दूसरे के साथ मिलने लगती हैं, तब ज्ञान, ज्ञानरूप में ही प्रकाशित होकर ज्ञान के ही अलंकार धारण करता है। जिस प्रकार सूर्य-सूर्य को ही आरती उतारे अथवा चन्द्रमा, चन्द्रमा का ही आलिंगन करे अथवा बराबरी के दो जल-प्रवाह एक दूसरे से मिल जाँय उसी प्रकार जब ज्ञानी-भक्त मिलते हैं। तो ब्रह्म की एकता रूपी समय में बाढ़ आ जाती है और अष्ट सात्विक भाव तिनकों की तरह बहने लगते हैं। फिर वे ज्ञानी सम्वाद रूपी चौराहे के गणपति (अग्रणी) बन जाते हैं। फिर ब्रह्मानन्द के आने में देह भाव की सीमा का अतिक्रमण करके भगवत् प्राप्ति के उद्‌गारों से सर्वत्र गरजने लगते

हैं। जो एकाक्षरी मन्त्र (ॐकार) गुरु द्वारा शिष्य को एकांत में दिया जाता है उसे वे त्रिलोकी में मेघ के समान गरजते हुए उच्चारण करने लगते हैं। जिस प्रकार कमल की कली खिल जाने पर अपने मकरन्द को दबाकर नहीं रख सकती और अपनी सुगन्ध को राजा से रंक तक सर्वत्र बिखरने लगती है, उसी प्रकार वे भक्तियोगी संसार में मेरे गुण कीर्तन से ऐसे आवेश में आ जाते हैं कि अन्त में स्तब्ध हो जाते हैं और उनके जीव-भाव तथा देह-भाव दोषों का लोप हो जाता है। ऐसे प्रेमावेश में रात और दिन का होश नहीं रहता और वे अन्तरात्मा से मिलन-सुख का पूर्णतः आस्वादन करते रहते हैं। (१२९)

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०

इस प्रकार जो आत्मबोध द्वारा मेरे सान्निध्य का पूरा सुख भोगते हैं, उनको हे अर्जुन ! मैं जो कुछ देना चाहता हूँ, उसका उत्तम अंश वे पहले ही प्राप्त कर चुके होते हैं। उन्होंने जिस मार्ग को स्वीकार किया होता है, उसके सामने स्वर्ग और मोक्ष के रास्ते तो टेढ़े-तिरछे जान पड़ते हैं। अर्थात् उनकी भक्ति के बदले में मुझे जो कुछ देना होता है उसे उन्होंने पहले ही अपने अधिकार में कर रखा होता है। अब मेरे लिए केवल यही काम रह जाता है कि मेरी भक्ति का जो प्रेम सुख है उसको बढ़ाते जाना और उन पर काल की दृष्टि न पड़े इसकी सम्भाल रखनी। हे किरीटी ! जिस प्रकार कोई लाड़ला बालक खेलता हो तो उसकी माता प्रेम दृष्टि रखती हुई उसके पीछे दौड़ती रहती है और बालक यदि कोई नया खिलौना देखकर आग्रह करे तो उसके लिए एक से एक उत्तम खिलौना लाकर देती है, उसी प्रकार मैं भी अपने भक्तों के उपासना मार्ग को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न करता रहता हूँ (१३२)

उपासना की दृढ़ता और श्रेष्ठता के फल से मेरे भक्त शीघ्र आकर मुझसे मिल सकें इतना ही मैं चाहता हूँ। भक्त यदि मुझ से प्रेम

रखते हैं तो मैं भी उनसे कम प्रेम नहीं रखता, क्योंकि मेरे यहाँ प्रेमी भक्तों की ही कमी रहती है। सभी भक्तों के लिए मैंने स्वर्ग और मोक्ष का निर्माण किया है, यहाँ तक कि अपने शरीर और लक्ष्मी को भी उन्हें दे डालता हूँ। परन्तु बाह्य देह से भी बढ़कर और अहंकार से रहित जो एक विशेष आत्म सुख है उसे मैंने अपने प्रेमी भक्तों के लिए विशेष रूप से सुरक्षित रखा है। हे अर्जुन ! प्रेमी भक्तों को मैं अपने अत्यन्त निकट रखता हूँ। यह बात मुख से कहने योग्य नहीं है, वरन् अनुभव से ही जानी जा सकती है। (१४०)

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११

अतएव जिन्होंने मेरी भक्ति ही अपने जीवन का उद्‌देश्य मान लिया है और उसके सिवाय अन्य सब बातों को व्यर्थ समझते है, उन शुद्ध आत्म ज्ञानियों के लिये तो मशालची बनकर कपूर की मशाल लेकर आगे-आगे चलता हूँ जिससे अज्ञान रूपी रात्रि में फैला हुआ अन्धकार नष्ट हो सके। मैं उन भक्तों के लिए निरन्तर ज्ञान रूपी सूर्य को प्रकाशित करता हूँ। प्रेमी भक्तों के प्रिय पुरुषोत्तम जब ऐसे वचन बोले तो अर्जुन ने कहा—'हे देव ! मेरे सब मनोरथ पूर्ण हो चुके। आपने ऊपर से संसार रूपी कूड़े-कबाड़े को अच्छी तरह से हटा दिया है। हे प्रभो ! इसके द्वारा मैं पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त हो गया हूँ। आज मैंने अपने जन्मों के रहस्य को अपनी आँखों से देख लिया और ऐसा लगता है कि मेरा जीवन मेरे हाथ में ही आ गया। हे भगवन् ! आपके मुख से ये बातें सुनकर आज मेरा जीवन सार्थक हो गया और मेरा भाग्योदय हुआ। आपके वचन रूपी सूर्य से मेरे अन्तर्बाह्य अज्ञानान्धकार का नाश होगया जिससे आप का यथार्थ रूप मुझे दिखाई पड़ने लगा है। (१४२)

अर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२

हे कृष्ण ! आप परब्रह्म हो और समस्त महाभूतों के आश्रय स्थान होने से परम पवित्र और समस्त जगत् के पालनकर्त्ता हो। आप ब्रह्मा विष्णु महेश के परम देव हो। हे देव ! पच्चीसवाँ तत्व जो 'पुरुष' कहा गया है वह आप ही हो। हे स्वामी ! आप अनादि सिद्ध हो, जिससे जन्म-मरण धर्म से परे हो यह बात अब मेरी समझ में अच्छी तरह आ गई है। आप ही भूत, भविष्यत्, वर्तमान के संचार करने वाले हो। आप जीवन के मुख्य अधिपति हो, ब्रह्माण्ड के आश्रयदाता हो, इसे मैं अब जान गया हूँ। (१५२)

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ।।१३

इस बात की प्रतीति एक अन्य प्रकार से भी होती है और वह यह कि आपके सम्बन्ध में ऐसा ही कथन पूर्व काल के अनेक ऋषियों ने भी किया है। परन्तु उनकी कही हुई बातों की यथार्थता मेरी समझ में आज ही आई। वह भी आपने कृपा की तभी समझ सका हूँ। अन्यथा नारद मुनि मेरे यहाँ सदैव आते रहते हैं और वे भी इसी बात को गाया करते हैं पर आज तक मैं इसका अर्थ नहीं समझता था। केवल उस संगीत से मिलने वाला आह्लाद ही मैं प्राप्त किया करता था। हे महाराज ! अन्धों के गाँव में यदि सूर्य उदय हो तो उनको केवल उष्णता की ही प्रतीति होती है, परन्तु प्रकाश का अनुभव नहीं हो सकता। इसी तरह जब नारद जी अध्यात्म गायन करते थे, तो उनकी राग रागनियों का माधुर्य ही हम को जान पड़ता था, और कोई बात समझ में नहीं आती थी। उसी प्रकार असित तथा देवल के मुख से आपका गुणानुवाद सुनता था परन्तु उस समय मेरी बुद्धि विषय से व्याप्त हो रही थी। विषय विष का स्वभाव ही यह है कि परम श्रेष्ठ होने पर भी प्राणी को बुरा लगता है, और विषय कटु होने पर भी मीठा जान पड़ता है। अन्य ऋषियों के सम्बन्ध में क्या कहूँ, सर्वश्रेष्ठ व्यास मुनि भी हमारे राजमहल में आपके स्वरूप का ऐसा ही वर्णन करते थे। परन्तु जिस प्रकार कोई

अज्ञानी मनुष्य अँधेरे में चिन्तामणि मिल जाने पर उसे फेंक देता है और जब दिन निकलता है तब उसे मालूम होता है कि यह तो चिन्तामणि है। उसी प्रकार हे कृष्ण ! व्यास आदि मुनियों के कथानक ज्ञान रूपी रत्नों की खान के तुल्य होनेपर भी,आपके उपदेश रूपी सूर्य-प्रकाश के अभाव से मैंने उनको अङ्गीकार न करके फेंक दिया था। (१६२)

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ये भगवन्व्यक्ति विदुर्देवा न दानवाः ॥१४

अब आपकी वाक्य रूपी किरणें मेरे हृदय में फैल गई है और ऋषियों ने जिस मार्ग का वर्णन किया था उसके सम्बन्ध में मेरे अज्ञान का सर्वथा लोप हो गया है। हे महाराज ! उनके शब्द अर्थात् ज्ञान-बीज मेरी हृदय-भूमि में गहराई में पड़े थे। अब आपकी कृपा रूपी वर्षा से वे उग आये और उनमें एक-वाक्यता रूपी फल लग गये। हे अनन्त ! नारदादिक सन्तों के भाषण रूपी नदियों के द्वारा आज मैं संवाद-सुख रूपी समुद्र ही बन गया हूँ। हे प्रभो ! हे सद्गुरो ! मैंने जन्म-जन्मान्तर में जो पुण्य किये होंगे, उनसे भी मुझे वह वस्तु प्राप्त न हो सकी जो आपने आज प्रदान की है, इसलिए अब मुझे उन पुण्यों से भी कुछ प्रयोजन नहीं रहा। फिर बड़े बूढ़ों के मुख से भी आपका गुणानुवाद मेरे कानों में पड़ता रहा, पर जब तक आपकी कृपा नहीं हुई तब तक मैं उनके रहस्य को समझ सकने में असमर्थ रहा। इससे मालूम होता है कि भाग्य के अनुकूल होने पर ही उद्योग सफल होता है। उसी प्रकार जब गुरु की कृपा होती है तभी श्रवण और अध्ययन किया हुआ ज्ञान सार्थक होता है। माली सदैव पूरा परिश्रम करके वृक्षों को सींचता रहता है, पर उसे फल तभी मिलते हैं जब उनकी ऋतु आ जाती है। जब विषमज्वर उतरता है तभी मिठाई का स्वाद मीठा लगता है और तभी औषधि को कारगर माना जाता है। इन्द्रिय, वाणी और प्राणी में जब चैतन्य आवे तभी उनका होना सार्थक होता है।

उसी प्रकार वेद-शास्त्र का अध्ययन और योगाभ्यास कर लेने पर भी जब गुरु की कृपा होती है तभी वे वास्तविक फलदायक होते हैं। इस प्रकार आत्मानुभव के नशे में आकर अर्जुन खुशी के मारे नाचने लग गया और कहने लगा—आपके कथन की प्रतीति तो मुझे अभी हुई है। अब मैं पूरी तरह समझ गया हूँ कि देव अथवा दानवों की बुद्धि आपको जान सकने में असमर्थ है। हे देव ! आपके कथन को अनुभव में लाये बिना अगर कोई आपको जान लेने की कल्पना करे, तो वह बात कदापि सम्भव नहीं, ऐसा मुझको दृढ़ निश्चय हो चुका है। (१७५)

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५

जिस तरह आकाश की विशालता को आकाश ही जानता है अथवा पृथ्वी के बोझ का पता पृथ्वी को ही होता है, उसी प्रकार हे लक्ष्मीपते ! आपकी समस्त शक्ति को आप ही जानते हो। वेद आदि तो व्यर्थ में ही इस बात का गर्व करते हैं कि हम परमब्रह्म को जानते हैं। देखिये, मनकी शक्ति को किस प्रकार रोका जा सकता है अथवा पवन के बहने को कैसे बन्द किया जा सकता है ? इसी तरह आपका ज्ञान होना भी अत्यन्त कठिन है और वह किसी को नहीं होता। आपका ज्ञान आपको ही है और उसे अन्य किसी को भी आप ही प्रदान कर सकते हो। अतएव एक बार मेरी अभिलाषा को पूर्ण कीजिए, मेरी श्रवण करने की उत्कण्ठा का निवारण करो। हे प्राणीमात्र के उत्पादक ! हे संसार रूपी गज का नाश करने वाले सिंह ! हे समस्त देवों के पूज्य जगदधिपते ! आपने मेरी बात सुनी कि नहीं ? हम चाहे इस बात का मिथ्या अभिमान करते रहें कि आपको जानते हैं, पर वास्तव में हम आपके समीप खड़े होने की योग्यता भी नहीं रखते। इस कारण से यदि हम आपकी विनती न करें तो फिर हमारे लिए अन्य उपाय ही क्या है ? चारों तरफ नदी और समुद्र जल वृष्टि से उमड़ रहे हों तो भी चातक को उससे क्या लाभ ? क्योंकि उस

की प्यास तो उसी जल से बुझ सकती है जो स्वाति नक्षत्र में बरसे। इस प्रकार हे कृष्ण ! यद्यपि जगत् में चारों तरफ गुरु भरे पड़े हैं, पर मेरे लिए तो आपके अतिरिक्त और कोई गुरु नहीं है, मेरी गति तो आप ही हो। इसलिए अब आप अपनी विभूतियों का परिचय देने की कृपा करें। (१८४)

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतय: ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६

हे महाराज ! आपकी अनन्त विभूतियों में से जितनी व्यापक, शक्तिमान् और तेजस्वी हों, उन सबको आप मुझे बतलाओ। हे अनन्त ! आपकी जो विभूतियाँ तीनों लोकों में व्याप्त हो रही हैं, उनमें से जो मुख्य और प्रसिद्ध हों वे मुझ से कहो। (१८५)

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७

हे महाराज ! मैं आपको किस प्रकार जान सकता हूँ और सदैव किस तरह आपका चिन्तन करूँ ? यदि यह कहा जाय कि आप तो सदैव ही उपस्थित हैं तो फिर मुझसे आपका ध्यान क्यों नहीं किया जा सकता ? इसलिए आपने संक्षेप में जिन विभूतियों का वर्णन किया है, उनका फिर विस्तार से वर्णन कीजिये। जिन विभूतियों में आपका ध्यान करने में अधिक कठिनाई न हो, उनको मुझे स्पष्ट समझाइये। (१८६)

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूय: कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८

हे प्राणीमात्र के अधिपति ! मैंने विभूतियों के विषय में आपसे जो प्रश्न किया है उसे अवश्य समझाइये। कदाचित् आप कहें कि एक ही बात को बार-बार क्या कहना, तो हे जनार्दन ! आप ऐसी शंका मन में न करें। जगत् में साधारण अमृत पीने को मिले, तो भी कोई यह नहीं करता कि 'बस, अब बहुत हो गया !' यह अमृत तो हलाहल

विष का सगा भाई है। इसको देवताओं ने मृत्यु के भय से पिया था, तो भी ब्रह्माजी के एक दिन में चौदह इन्द्रों का मरण हो जाता है। यह लौकिक अमृत तो क्षीर-सागर का एक प्रकार का रस ही है, इसको व्यर्थ में अमृत के नाम से पुकारा जाता है। फिर भी जब हम देखते हैं कि उसके स्वाद से किसी की तृप्ति नहीं होती, उस तुच्छ अमृत की भी जब इतनी महिमा है, तो आप का कथन तो सचमुच परमामृत ही है। यह तो मंदाराचल द्वारा क्षीर सागर का मंथन न करने पर भी अनादि, स्वाभाविक और स्वयम्भू है। फिर यह न पतला है न गाढ़ा हैं, इसमें मिठास और सुगन्ध भी नहीं है, और स्मरण करते ही चाहे जिसको प्राप्त हो सकता। (१६६)

इस अमृत की चर्चा सुनते ही समस्त संसार मिथ्या लगने लगता है, और उसके फलस्वरूप अमरता तो आग्रह पूर्वक स्वयं ही आ जाती है। इससे जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाता है और अन्तर्बाह्य महासुखों की वृद्धि होने लगती है। फिर दैवयोग से उसका सेवन किया जाय, तो वह मनुष्य को भगवत् स्वरूप ही बना देता है ऐसा जो आपका परमामृत है, उसे आप मुझे पिला रहे हो। तब मैं कैसे कह सकता हूँ कि 'बस, बहुत हो गया।' पहले तो आपका नाम ही मुझे बहुत प्रिय है फिर आपसे भेंट हुई और सहवास का अवसर मिला। जब आप आनन्द पूर्वक मुझे उपदेशामृत पिलाने लगे, तो अब मैं यह भी नहीं कह सकता कि यह पर सुख कैसा है। तो भी इससे मेरी अन्तरात्मा को अत्यन्त सन्तोष हो रहा है, इसलिए आपके मुख से आपकी विभूतियों का वर्णन फिर से सुनना चाहता हूँ आप यह हरगिज विचार न करें कि जो कथन एक बार कर चुके, उसी को फिर कहने से क्या लाभ? (२०१)

परन्तु हे महाराज! सूर्य का प्रकाश नित्य ही मिलता रहता है, पर क्या कोई 'सूर्य वासी हो गया' ऐसा कह सकता है? अग्नि को कभी अपवित्र कहा जा सकता है? सदैव प्रवाहित रहने वाले जल में कभी

बासीपन आ सकता है क्या ? आपने अपने मुख से जो ज्ञान कह सुनाया उसे सुनकर मुझे तो ऐसा लगा मानो नारद ब्रह्म मूर्तिमान होकर मेरे सम्मुख खड़ा है अथवा मानों दुर्लभ चन्दन पुष्प सुगन्ध सूँघ रहा हूँ । अर्जुन के ऐसे वचन सुनकर श्रीकृष्ण के समस्त अंग प्रेम से डोलने लगे और वे कहने लगे—'यह अर्जुन तो अब भक्ति और ज्ञान की खान है । इस प्रकार अपने भक्त अर्जुन को जो आनन्द हुआ उसे देखकर श्री कृष्ण का प्रेम प्रवाह भी उमड़ पड़ा, उसे बड़ी प्रसन्नता से दबाकर वे कहने लगे— (२०५)

श्री भगवानुवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतय: ।
प्राधान्यत: कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ।।१९

उस समय भगवान् प्रेमावश में भूल गये कि मैं तो ब्रह्माजी का भी पिता हूँ और कहने लगे—'हे तात ! अर्जुन ! बहुत अच्छी बात कही ।' भगवान ने अर्जुन को तात (बाबा) कह दिया इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं । क्या भगवान् ने नन्द के पुत्र बन कर बाल-कोचित क्रीडायें नहीं की थीं ? विशेष प्रेम के कारण ही ऐसा हो जाता है, फिर वे कहने लगे—'हे धनुर्धर ! सुनो हे सुभद्रापति अर्जुन ! तुमने जिन विभूतियों के विषय में प्रश्न किया,. वे यों तो अगणित हैं, वे इतनी अधिक हैं कि स्वयं मेरी बुद्धि उन सबको नहीं जान पाती जिस प्रकार मनुष्य अपने शरीर के रोमों को नहीं गिन सकता, उसी प्रकार मेरे द्वारा अपनी विभूतियों को गिन सकना असम्भव है । अर्थात् मैं कैसा हूँ, इस बात की मुझे स्वयं ही खबर नहीं है । इसलिए मैं अपनी मुख्य-मुख्य और प्रसिद्ध विभूतियों को ही तुझे बतलाता हूँ । हे किरीटी ! इन विभूतियों के जानने से ही तुझे अन्य सब विभूतियों का पता चल जायेगा । जिस प्रकार वृक्ष का बीज हाथ में आने से ऐसा लगने लगता है कि मानों वृक्ष ही हाथ में आ गया है, अथवा

बाग के मिल जाने से फल-फूल स्वयं प्राप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार इन मुख्य विभूतियों को समझ लेने से समस्त विश्व देखा और समझा हुआ सा प्रतीत होने लगता है। हे धनुर्धर वास्तव में तो मेरे विस्तार का अन्त ही नहीं है, क्योंकि तू इतना ही समझ ले कि आकाश के समान महा विशाल तत्व भी मेरे स्वरूप में समा जाते हैं। (२१४)

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०

हे गुडाकेश ! हे धनुर्विद्या में शिवजी के समान निष्णात अर्जुन ध्यान देकर सुन कि प्रत्येक प्राणी में जो आत्मा है वह मैं ही हूँ। शरीर के भीतर जो अन्तःकरण है वह मैं हूँ और शरीर के ऊपर जो अच्छादन है वह भी मैं ही हूँ। समस्त प्राणियों का आदि अन्त और मध्य मैं ही हूँ। जिस प्रकार मेघ के नीचे, ऊपर, अन्दर तथा बाहर सर्वत्र आकाश ही होता है, बादल आकाश में उत्पन्न होकर आकाश में ही रहते हैं, और जब वे विलीन होते हैं तब भी आकाश रूप हो जाते हैं, इसी प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और लय ये तीनों ही गतियाँ प्राणिमात्र को देने वाला मैं ही हूँ। इस प्रकार मेरा अनन्तत्व और व्यापकत्व मेरी विभूतियों द्वारा ही समझा जा सकता है। इसलिए अपने हृदय को ही कान बनाकर और पहली बातों का ध्यान रखकर सुनो। हे सुभद्रापते ! मैंने तुझको विभूतियाँ सुनाने के लिए जो कहा था, उसमें से मुख्य विभूतियों को अब श्रवण करो। (२२०)

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१

'फिर कृपासिन्धु श्रीकृष्ण बोले'—'बारह आदित्यों में विष्णु मैं हूँ, तेजस्वी वस्तुओं में किरणों से युक्त सूर्य मैं हूँ, उनञ्चास मरुद्गणों में मरीचि मैं हूँ और आकाश के नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं हूँ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२

श्री गोविन्द बोले—वेदों में सामवेद मैं हूँ, देवताओं में मरुद्बन्धु जो इन्द्र हैं, वह मैं ही हूँ, इन्द्रियों में ग्यारहवाँ मन कहा जाता है, वह मैं ही हूँ । इसी प्रकार प्राणियों में जो मूल जीव-कला है वह मैं ही हूँ ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४

एकादश रुद्रों में शंकर मैं हूँ, यक्ष तथा राक्षसों में धन का स्वामी कुबेर मैं हूँ, अष्ट वस्तुओं में अग्नि मैं हूँ और शिखर वाले पर्वतों में मेरु पर्वत मैं हूँ ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५

इन्द्र का प्रधान सचिव, समस्त ज्ञान का मूल स्थान और पुरोहितों में श्रेष्ठ वृहस्पति मैं ही हूँ । हे अर्जुन ! जो शंकर के वीर्य से, अग्नि के सहयोग से कृतिका के उदर से उत्पन्न हुआ और जो तीनों भुवनों में सर्वोच्च सेनापति माना जाता है ऐसा जो कार्तिकेय स्वामी है, वह मैं ही हूँ, जलाशयों में सबसे महान जो समुद्र है, वह मैं ही हूँ । महर्षियों में तपोराशि जो भृगु कहे गये हैं वह मैं हूँ । वैकुण्ठवासी भगवान् ने कहा कि वाणी के समस्त व्यवहारों में जिस सत्य का प्रयोग होता है वह सत्य अक्षर मैं हूँ । समस्त यज्ञों में कर्मकाण्ड को त्याग कर ॐकार द्वारा जिसे जपा जाता है वह जप-यज्ञ मैं ही हूँ । नाम रूप जप यज्ञ मैं ही हूँ । नाम रूप जप यज्ञ श्रेष्ठ होने से उसमें स्नानादि कर्मों का बन्धन नहीं रहता और जिसके नाम मात्र से धर्म और अधर्म दोनों पवित्र होते हैं और वेदों में भी जिसे परमात्मा

के नाम से अभिहित किया गया है वह जप यज्ञ मेरा ही रूप है। स्थावर पर्वतों में जिसे पुण्य राशि कहा जाता है वह हिमालय मैं ही हूँ।
(२३४)

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानांकपिलो मुनिः ॥२६
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐराबतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७

कल्पवृक्ष, पारिजात, चन्दन के गुणों की बात तो सर्वत्र प्रसिद्ध है पर सब वृक्षों में भी मेरी विभूति पीपल का वृक्ष है। हे अर्जुन ! सब देवर्षियों में तू मुझको नारद ऋषि जान और सब गन्धर्वों में चित्ररथ हे ज्ञानवन्त ! समस्त सिद्धों में मैं कपिलाचार्य हूँ और प्रसिद्ध अश्वों में उच्चैश्रवा हूँ। राजाओं के लिए भूषण रूपी हाथियों में मैं ऐरावत हूँ। देवताओं क्षीरसागर को मथकर जो सर्वश्रेष्ठ रस निकाला वह अमृत रस भी मैं ही हूँ। सब लोग आज्ञा पालन करते हुए जिसकी सेवा करते हैं और जिसे सबसे श्रेष्ठ माना जाता है वह 'राजा' भी मेरी विशेष विभूति है।
(२३५)
(२३९)

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९

हे अर्जुन ! जिसने सौ यज्ञ पूर्ण किए हैं, उस इन्द्र के हाथ में जो सर्वश्रेष्ठ आयुध वज्र रहता है वह मैं हूँ। जिनके चारों तरफ सेनायें खड़ी हैं, ऐसे श्रीकृष्ण भगवान् कहने लगे कि गौओं में मैं कामधेनु हूँ और जगत् में प्राणियों की उत्पत्ति करने वालों में जो मदन माना गया, वह मैं ही हूँ। हे कुन्तीसुत ! सर्प कुलका नायक वासुकि मेरी ही विभूति है और समस्त नागों में जो सर्वश्रेष्ठ है वह अनन्त (शेषनाग) मैं ही हूँ।

श्रीकृष्णजी कहते हैं कि समस्त जल देवताओं में पश्चिम दिशा का अधिपति जो वरुण है वह मैं हूँ और समस्त पितृदेवों में अर्यमा हूँ। इस बात को मैं यथार्थ रूप में तात्विक दृष्टि से कहता हूँ। जो जगत् के शुभाशुभ कर्मों को लिखकर रखता है, जो प्राणियों के मानसिक और शारीरिक कर्मों की जाँच करता है और जो कर्मानुसार भोगों का फल देता है, ऐसे नियन्त्रण करने वालों में प्राणियों के कर्मों का साक्षीभूत यम भी मेरी प्रधान विभूति है—इस प्रकार श्री रमापति आत्मपति बोले। (२४६)

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०

दैत्यों में जिस प्रह्लाद नामक भक्तराज दैत्य का अवतार हुआ, वह मैं ही हूँ। इसी कारण वह दैत्य के स्वभाव में लिप्त नहीं हुआ। श्री गोपाल कृष्ण कहते हैं कि ग्रसने वालों में मैं महाकाल हूँ और पशुओं में सिंह हूँ, ऐसा जानो। हे अर्जुन ! फिर सुनो कि समस्त पक्षियों में मैं गरुड़ हूँ, इसी से वह मुझे अपनी पीठ पर उठा सकता है। (२४९)

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१

हे धनुर्धर ! जो एक घड़ी से भी कम समय में पृथ्वी के चारों तरफ चक्कर लगा लेती है और एक दौड़ में सातों समुद्रों की प्रदक्षिणा कर लेती है, ऐसी वेगवान तत्वों में सर्वश्रेष्ठ, वायु मैं हूँ। और हे अर्जुन ! समस्त शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ जो श्रीराम वह भी मैं हूँ। जिन राम ने त्रेता युग में संकट-ग्रस्त धर्म की रक्षा के लिए केवल एक धनुष लेकर विजयश्री से अपना वरण कराया था और सुवेल पर्वत पर खड़े होकर लंकापति रावण के मस्तकों की पंक्ति आकाश में जय-जय कार करने वाले भूतों को बलिस्वरूप दे दी थी, जिस राम ने देवों के मान की रक्षा की, धर्म का जीर्णोद्धार किया, जो सूर्य वंश में द्वितीय सूर्य के रूप में ही प्रकट हुए थे, वह शस्त्र धारण करने वालों में सर्व श्रेष्ठ

राम भी मैं ही हूँ। पुच्छ वाले जलचरों में मैं मगर हूँ। जिस गंगा को राजा भागीरथ जगत् के प्राणियों के कल्याण के लिए स्वर्ग से पृथ्वी पर ला रहे थे और मार्ग में जह्नु ऋषि जिसे पी गये थे और फिर अपनी जाँघ फोड़ कर बाहर निकाला था, वह तीनों लोकों को समस्त नदियों में मुख्य जाह्नवी मैं ही हूँ। हे अर्जुन! इसी प्रकार की और बातें भी समझलें। अगर इस प्रकार सृष्टि में समस्त विभूतियों का वर्णन करने लगूँ तो हजार जन्मों में भी पूरा न हो सकेगा। (२५८)

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यंचैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३

जिस प्रकार यदि कोई समस्त नक्षत्रों को बीन लेना चाहे तो उसके लिये आवश्यक है कि आकाश की गठरी बाँध ली जाय, अथवा पृथ्वी के परमाणुओं का हिसाब करना हो तो पृथ्वी को ही बगल में दबा लिया जाय, इसी प्रकार यदि मेरा विस्तार जानने की इच्छा हो तो पहले मुझ को जान लेना चाहिए, जिससे सब कुछ दृष्टिगोचर हो जायगा। शाखा, फल-फूलों सबको इकट्ठा लेना हो तो पेड़ को ही उखाड़ लेना चाहिए। उपाधि रहित स्वरूप को ही जान लेना उचित होगा। अन्यथा हे अर्जुन! मेरी भिन्न-भिन्न विभूतियों का वर्णन तू कहाँ तक सुनेगा? इसलिए यहाँ एक बार तू मुझको जान लेगा तो समस्त विभूतियाँ अपने आप तेरे जानने में आ जायेंगी। इसीलिए तू इतना ही समझले कि मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ। (२६३)

हे किरीटी! तू समस्त सृष्टि का आदि, मध्य और अन्त मुझको ही समझ ले। जिस प्रकार वस्त्र में आड़े और खड़े सूत भरे रहते हैं, उसी प्रकार मैं सर्वत्र व्यापक हूँ, इस बात को जो जानता है उसे मेरी विभूतियों को जानकर क्या करना? परन्तु अभी तेरी इतनी सामर्थ्य नहीं है,

अतएव इस बात को छोड़ देते हैं। हे सुभद्रापते ! तुमने मेरी विभूतियों के विषय में पूछा है तो सुनो कि आत्मज्ञान कराने वाली समस्त विद्याओं में मैं वेदान्त विद्या हूँ। और भाषण कर्त्ताओं में जो यह वाद है जिसमें समस्त शास्त्रों की एक वाक्यता नहीं होती और न जिसका कभी अन्त होता है। निर्णय करते हुए जो उल्टा वृद्धि को प्राप्त होता है, जिससे तर्कों की पुष्टि होती है और उन पर वक्ताओं के मधुर भाषण होते हैं, इस प्रकार चर्चायुक्त वाद मैं हूँ। अक्षरों में सबसे प्रथम और मूल अक्षर 'अ' मैं हूँ। व्याकरण के समासों में द्वन्द्व समास मुझको जानले। मच्छर से लेकर ब्रह्मा तक को ग्रसने वाला जो काल है, वह भी मैं ही हूँ। मेरु, मन्दराचल आदि पर्वतों सहित पृथ्वी का जो नाश करता है और प्रलय-काल में जलमय हुए जगत् को जो उसी जगह सुखा देता है, समस्त पवन को निगल जाता है और जिसके उदर में आकाश तक समा जाता है, ऐसा महाकाल मैं ही हूँ। इस प्रकार लक्ष्मी के साथ विलास करने वाले श्री कृष्ण ने कहा और अन्त में बोले कि सृष्टि को उत्पन्न करने वाला मैं ही हूँ। (२७३)

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४

उत्पन्न होने वाले समस्त प्राणियों का धारण पोषण करने वाला मैं हूँ, सबका पालन करने वाला मैं हूँ। और सबका संहार अर्थात् मृत्यु भी मैं हूँ। अब नारी जाति में मेरी जो सात विभूतियाँ हैं उनका वर्णन करता हूँ वह सुन। हे अर्जुन ! नित्य नवीन जैसी कीर्ति मेरी ही मूर्ति है। उदारता युक्त जो सम्पत्ति है, वह भी मैं ही हूँ। न्याय सिंहासन पर बैठ-कर विवेक के मार्ग पर चलने वाली जो वाणी होती है, वह भी मैं ही हूँ। पदार्थ को देखकर जो स्मृति हो जाय वह स्मरण शक्ति मैं हूँ। इस लोक में स्वहित के अनुकूल बुद्धि मैं हूँ और त्रिभुवन में धृति मैं ही हूँ। संसार रूपी गजेन्द्र को नाश करने के लिए सिंह के समान

भगवान् श्रीकृष्ण कहने लगे कि इस प्रकार स्त्री जाति की जो सात शक्तियाँ हैं, वे सब मैं ही हूँ। (२८०)

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५

लक्ष्मीपति भगवान् बोले, हे सखा अर्जुन वेदों में से सामवेद का 'बृहत्साम' मैं ही हूँ। समस्त छन्दों में गायत्री छन्द मैं हूँ, अर्थात् वह मेरा ही स्वरूप है। समस्त महीनों में मैं मार्गशीर्ष हूँ और समस्त ऋतुओं में वसन्त हूँ। (२८१)

द्यूतं छलयतामस्मि, तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७

हे विद्वान् अर्जुन ! दूसरों को फँसाने की जो तरकीबें हैं उनमें जुआ भी मैं हूँ, इसी कारण यह जुआ रूपी चोरी खुले आम चलती रहती है पर कोई उसे रोक नहीं पाता। समस्त तेजस्वी पदार्थों का तेज मैं ही हूँ और समस्त आरम्भ किये हुए कार्यों में जिसकी इच्छा रखी जाती है वह विजय भी मुझको ही समझो। देव श्रेष्ठ श्रीकृष्ण जो कहने लगे कि सर्व उद्योगों में जो नीति युक्त व्यवसाय है वह मैं ही हूँ। सत्ताधीशों में सत्व मैं ही हूँ। यादवों में वासुदेव मैं हूँ; ऐसा श्री अनन्त ने कहा जो देवकी तथा वासुदेव के लिए जन्म धारण करके यशोदा की कन्या के बदले गोकुल में गया, जिसने स्तनपान करते हुए पूतना राक्षसी के प्राण हरणकर लिये, वह मैं ही हूँ। जब तक बाल्यावस्था की कली पूरी तरह विकसित नहीं हुई थी तभी जिसने पृथ्वी को दैत्य रहित करके, हाथ में गोवर्धन पर्वत धारण किया और इन्द्र के गर्व को मिटाया, जिसने जमुना में कालिय नाग का मर्दन करके यमुना के हृदय के दुःख का निवारण किया। ब्रह्माजी ने जब गोप बालिका और बड़ों को हर लिया

तो उनको नये बनाकर उसे पागल बना दिया, जिसने बाल्यावस्था में कंस, चाणूर आदि बड़े-बड़े योद्धाओं को मार दिया, ऐसी कितनी बातें तुझे सुनाऊँ। तू ने स्वयं ऐसी अनेक बातें सुनी और देखी हैं। इसी प्रकार पांडवों में अर्जुन मैं ही हूँ और इसीलिए तेरे और मेरे प्रेम भाव में कभी अन्तर नहीं पड़ता। तू संन्यासी का भेष धर कर मेरी बहिन सुभद्रा को चुरा ले गया तब मेरे मन में कोई संशय उत्पन्न नहीं हुआ। मुनियों में श्रेष्ठ व्यासजी तथा कवियों में उशनाचार्य मैं ही हूँ। (२६५)

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८

जो चींटी से लेकर ब्रह्माजी पर समान रूप से शासन करता है, वह दम मैं ही हूँ। शास्त्रों में धर्माचरण के निमित्त वर्णित नीति शास्त्र मैं ही हूँ। हे अर्जुन ? गुह्य विषयों में मौन और ज्ञानियों में जो ज्ञान है वह मैं ही हूँ। अब विभूतियों का अधिक विस्तार नहीं करूँगा क्योंकि उनका कभी अन्त नहीं आ सकता। (२६६)

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति बिना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०

हे अर्जुन ! चाहे वर्षा की धाराओं और पृथ्वी के तृणों की गिनती कर ली जाय, पर जैसे समुद्रों की तरंगों की गिनती नहीं की जा सकती वैसे ही मेरी विभूतियों की गिनती की जा सकनी असम्भव है। फिर भी मैंने तुझे अपनी जो मुख्य विभूतियाँ सुनायीं वह भी मुझे तो व्यर्थ ही जान पड़ती हैं। मेरी विभूतियों का तो इतना अधिक विस्तार है कि न मैं कह सकूँ न तू सुन सके। इसलिये अन्त में मैं तुझे एक बात समझा देता हूँ कि जिस बीज में से सब भूतों का अंकुर प्रकट होता है वह मैं ही हूँ। इसलिए किसी को छोटा-बड़ा या ऊँचा-

नीचा मानना व्यर्थ है। इसलिए तुझे एक ऐसा चिन्ह बतलाता हूँ कि तू मेरी विभूति को तुरन्त पहिचान लेगा। (३०६)

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ।।४१

हे धनंजय ! वह चिन्ह यही कि जहाँ पर सम्पत्ति और दया दोनों दिखलाई पड़ती हों, उसी में मेरा अंश है, यह समझ ले। (३०७)

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।।४२

आकाश में जिस प्रकार सूर्य एक ही होता है, पर उसकी प्रभा तीनों लोक में फैल जाती है, उसी प्रकार जिस प्रकार किसी अकेले की आज्ञा का पालन सब कोई करता है उसे तुम अकेला मत समझो, न उसे साधन-रहित मानो। दूसरों की इच्छा पालन करने के लिये क्या कामधेनु को कुछ सामग्री साथ में रखनी पड़ती है ? उसी प्रकार मेरी विभूति में भी सब ऐश्वर्य भरे रहते हैं। हे अर्जुन जिनकी आज्ञा को सब लोग शिर झुकाकर मानते हैं, उसे तू मेरा ही रूप समझना। मेरी विभूतियों में साधारण और विशेष का अन्तर करना बड़ा दोष है, क्योंकि इस विश्व में अकेला मैं ही व्याप्त हूँ। घी को फिर मथने की क्या आवश्यकता ? क्या वायु में दाहिना और बाँया अंग होता है ? क्या सूर्य बिम्ब में अगला पिछला भाग होता है ? इसी तरह मेरे स्वरूप में साधारण और विशेष का भेद नहीं है। मैं ही इस समस्त विश्व में एक अंश से व्याप्त हूँ, ऐसी अभेद बुद्धि से मेरा भजन कर। ज्ञान रूपी वन को बसन्त ऋतु की तरह आनन्द प्रदान वाले और विरक्तों को समागम सुख देने वाले भगवान् कृष्ण नें इस प्रकार कहा। (३१०)

तब अर्जुन ने कहा—"हे प्रभो ! आपने जो कहा कि मेरी विभूतियों में भेद न मानना। इसका कारण यही हो सकता है कि ऐसा करने से

'भेद' तथा 'भेद करने वाले' में भिन्नता जान पड़ती है। पर यह विचार ठीक नहीं। क्या सूर्य को उदय होने से पहले संसार से यह कहना पड़ता है कि मैं निकल रहा हूँ, अतएव अन्धकार को एक तरफ हटा दो। प्रभो ! आपका नाम तो यदि एक बार मुख से उच्चारण किया जाय तो हमारे मन का भेद-भाव स्वयं ही दूर हो जाता है। मुझको तो भाग्यवश आप स्वयं ही मिले फिर मेरे आपके बीच भेद कैसे ठहर सकता है ? चन्द्रमा के समीप पहुँचने पर गर्मी का कष्ट कैसे हो सकता है ? पर आप तो सब प्रकार से समर्थ हैं, इसलिए चाहे जो कह सकते हो।"

अर्जुन की बात सुनकर भगवान् को बड़ा सन्तोष हुआ और वे उसको बड़े प्रेम से आलिंगन करके बोले—"मेरे कहने का बुरा न मानना। भेद की परम्परा का वर्णन करते हुए विभूतियों का जो वर्णन तुमको सुनाया वह अभेद रूप से तेरे मनमें धँसा नहीं। इसी की जाँच करने को मैंने इस तरह कहा था। अब मालूम पड़ गया कि विभूतियों के विषय का तुझे यथार्थ ज्ञान और अनुभव हो गया है।" इस पर अर्जुन कहने लगा—"हे देव ! यह सब तो आप ही जान सकते हैं पर मुझे तो यही दिखाई पड़ता है कि समस्त विश्व में आप ही व्यापक हो रहे हो।"

उधर संजय ने राजा धृतराष्ट्र से कहा—"महाराज ! इस प्रकार अर्जुन को आत्मानुभव होने लग गया।" पर यह सुनकर भी धृतराष्ट्र चुपचाप बैठा रहा। यह बात संजय को बुरी लगी और वह विचार करने लगा कि मैं तो इसे ज्ञान दृष्टि वाला समझता था, पर यह तो बाहर की आँखों की तरह भीतर की आँखों से भी अन्धा ही निकला। अस्तु, इस प्रकार आत्म कल्याण के लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए अब अर्जुन के मनमें यह एक और अभिलाषा उत्पन्न हुई और वह कहने लगा—समस्त जगत् ईश्वर है, इस प्रकार का जो अनुभव मेरे अन्तःकरण में हुआ है, वह आपकी ही कृपा का फल है।

अर्जुन बड़ा भाग्यवान् है, जो उसके मन में ऐसा विचार आया। इस समय उसे श्रीकृष्ण जैसे सद्गुरु मिल गये हैं, जो प्रत्येक इच्छा को सत्य करके दिखला देते हैं। श्री निवृत्ति शिष्य ज्ञानदेव कहते हैं कि विश्वनाथ रूप दर्शन कराने के लिए अर्जुन ने भगवान् से किन शब्दों में प्रार्थना की यह आगामी अध्याय में वर्णन किया जायगा। (३३९)

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां
दशमोऽध्यायः ॥१०॥

॥ अथ एकादशोऽध्यायः ॥

इस ग्यारहवें अध्याय की कथा शान्त और अद्भुत इन दो रसों से परिपूर्ण है। इसमें अर्जुन को भगवान का विश्वरूप दृष्टिगोचर होता है। इस अवसर पर शान्त रस के घर में अद्भुत रस अतिथि के रूप में आया है और उसके साथ अन्य रसों को भी सम्मान का लाभ मिला है। बारात में जिस प्रकार बारातियों को भी वस्त्रालंकारों का उपहार दिया जाता है, उसी प्रकार इस मायारूपी आसन पर रसों को शोभायमान होने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। पर उनमें प्राप्त शान्त और अद्भुत रस की शोभा तो ऐसी लगती है जैसे शंकर और विष्णु, परस्पर बड़े प्रेम से आलिंगन कर रहे हों। अथवा जिस प्रकार अमावस्या के दिन सूर्य और चन्द्रमा के बिम्ब एक ही समय पर मिल जाते हैं उसी प्रकार शान्त और अद्भुत रस का ऐक्य हो गया। इन दोनों रसों के संगम पर गीता रूपी तीसरी धारा सरस्वती गुप्त है, जिससे ग्यारहवें अध्याय में त्रिवेणी संगम का ही योग बन जाता है, ऐसा समझना चाहिए। मेरे गुरू निवृत्तिनाथ ने इस तीर्थ में श्रवणेन्द्रिय द्वारा प्रवेश सुलभ कर दिया है। इस गीता रूपी तीर्थ के संस्कृत भाषा रूपी किनारे बहुत कठिन थे, उनको छाँटकर देशी भाषा रूपी सीढ़ियाँ बना दी हैं। इससे सब कोई तीर्थ में पहुँच कर स्नान का लाभ ले सकता है। और जिस प्रकार प्रयाग में वेणी माधव का दर्शन होता है। उसी प्रकार इस गीता तीर्थ में भगवान् के विश्वरूप का दर्शन करके जन्म-मरण रूपी संसार को तिलाञ्जलि दे दी जाती है। अधिक क्या कहूँ, ग्यारहवें अध्याय में सब रस इस प्रकार मूर्तिमन्त होकर उपस्थित हो गये हैं, मानो श्रवणानन्द का राज्य ही मिल गया हो। अरे भाई

उसे मैं आँखों से भी प्रत्यक्ष देख सकूँ तो कैसा अच्छा हो। निस्सन्देह इस जगह तो प्रत्यक्ष मोक्ष सुख ही प्राप्त हो रहा है। यह अध्याय स्वयं भगवान् कृष्ण का निवास स्थान है। अर्जुन भाग्यवानों का मुकुटमणि है, ऐसे जो अलौकिक-स्थान में पहुँच गया। परन्तु यह क्यों कहें कि अकेला अर्जुन ही वहाँ पहुँचा है? गीतार्थ का देशी भाषा में विस्तार हो जाने से अब तो सभी मनुष्यों को वहाँ पहुँचना सुलभ हो गया है। आप जैसे सन्तजनों की सभा में इतनी स्वतन्त्रता से बोलना उचित नहीं है, पर आप मुझे प्रेमपूर्वक अपना बालक ही समझें। तोते को हम स्वयं पढ़ाते हैं और जब वह हमारे सिखाये शब्द बोलता है तो खुशी से माथा हिलाते हैं। उसी प्रकार हे प्रभु! मैं जो कुछ कहता हूँ वह आपने ही मुझे सिखाया है, इसलिए आप अपना सिखाया कथन स्वयं ही श्रवण कीजिए। मेरा भाषण आपके ही बोये हुएं ज्ञान का एक मीठे फल देने वाला वृक्ष है, अतएव एकाग्र अन्तःकरण के जल से सींच कर इसे बड़ा बनाइए तब आपके इस कर्म से समस्त जगत् को सुख प्राप्त होगा। श्री ज्ञानेश्वर के इस कथन को सुनकर सन्तजन कहने लगे—"अब आप वह बात कहो जो अर्जुन ने भगवान् से कही थी।

तब निवृत्ति का दास ज्ञानदेव बोला कि श्रीकृष्णार्जुन सम्वाद मेरे जसे सामान्य मनुष्य से कैसे कहा जा सकता है? पर जो आप लोग शक्ति प्रदान करोगे तो मैं कह सकूँगा। वन के पत्ते खाने वाले बन्दरों द्वारा क्या रामचन्द्र जी ने लंकाधीश रावण को नहीं हराया था, अथवा केवल अर्जुन द्वारा कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना को पराजित नहीं किया था। संसार में समर्थ पुरुष जो कुछ करना चाहे, वह पूरा न हो, यह कैसे सम्भव है? अब वैकुण्ठनाथ श्रीकृष्ण के मुख से प्रकट हुआ गीता का भावार्थ बतलाता हूँ। वेद जिस परमात्मा का निरूपण करते हैं, उन्हीं परमात्मा कृष्ण ने अपने मुखसे उसका निरूपण किया। अस्तु फिर

अर्जुन ने विश्वरूप का दर्शन करने की इच्छा को श्रीकृष्ण के सम्मुख किस चतुराई के साथ प्रकट किया, वह सुनो। (२८)

अर्जुन को यह प्रतीति तो हो ही चुकी थी कि यह समस्त जगत् ईश्वर-रूप है, पर वह चाहता था कि इस बात को बाह्य नेत्रों से भी देख सके। तो भी ऐसी बात एकाएक भगवान के सामने करने की उसकी हिम्मत नहीं पड़ी। उसने विचार किया कि जब अभी तक किसी भक्त ने यह बात आज तक नहीं पूछी तो वह कैसे ऐसे प्रश्न कर बैठे ? उसने कहा कि मैं भगवान् का प्रेमपात्र अवश्य हूँ, पर क्या यशोदा माता, गरुड़ सनकादि, गोप-गोपी कम भक्त थे, पर आज तक कोई इस तरह की माँग नहीं कर सका, तो भी विश्वरूप देखे बिना मुझे तो चैन नहीं पड़ेगा और मेरा मन सदा उसी में अटका रहेगा, जिससे जीवन कठिन हो जायगा, इसलिए मैं तो किसी तरह से यह प्रयत्न करूँगा ही, आगे भगवान् की इच्छा। इसलिए डरते-डरते बोलने लगा पर ऐसा खूबी से बोला कि भगवान् कृष्ण अर्जुन के लिए ऐसा करें तो इसमें क्या आश्चर्य है। बछड़े को देखते ही गाय उठकर खड़ी हो जाती है, और उसका मुख थन से लगते ही उनमें दूध उतर आता है। श्रीकृष्ण भगवान् स्वभाव से ही प्रेममूर्ति हैं और उस प्रेम को अर्जुन रूपी पात्र मिला तो भेदभाव कैसे रह सकता है ? अर्जुन के पूछते ही भगवान स्वयं विश्वरूप दिखाने को उद्यत हो जायेंगे, इसलिए अब आरम्भ की कथा सुनो। (४३)

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ।।१

फिर पार्थ बोला—हे कृपा-निधे ! आपने केवल मेरे हितार्थ उस गुह्य रहस्य का निरूपण कर दिया जो शब्दातीत है। जिस समय पंच-

भूत ब्रह्म में लय हो जाते हैं और जीव तथा माया भी उसी में समा जाते हैं, उस समग्र परमात्मा का जो अन्तिम स्वरूप होता है, उसे आपने कृपण की तरह वेदों से भी गुप्त रखा था। आज मेरे सामने उसे हृदय खोलकर प्रकट कर दिया। जिस अध्यात्म ज्ञान के लिये श्री शंकर जी ने अपना ऐश्वर्य त्याग कर श्मशान में वास किया था, वह ज्ञान हे प्रभु! आपने मुझे क्षणमात्र में दे दिया। मैं महामोह की बाढ़ में सतर्क डूबा हुआ था पर आपने कूदकर मुझे बाहर निकाल लिया। अब मेरे लिये जगत में आपके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है। पर मेरा भाग्य ही ऐसा है कि सब कुछ सुन लेने पर भी मुँह से यही निकलता है कि "मैं देह हूँ।" मैं सोचता था कि मैं जगत् में कोई अर्जुन नाम का हूँ, ये कौरव मेरे सम्बन्धी हैं, अगर मैं इनको मारूँगा तो उस पाप के लिए मुझे पर-लोक में न जाने कैसा दण्ड भोगना पड़ेगा। मैं ऐसा खराब स्वप्न देख रहा था; पर आपने मुझे जगा दिया। हे भगवान्! अभी तक मैं सच्चे निवास स्थान को त्याग कर काल्पनिक गन्धर्व नगर में रह रहा था, पानी पीने की इच्छा से मृगजल को पी रहा, कपड़े से बने साँप के सम्पर्क में आने से भय के कारण मुझे विष की लहरें आने लग गई थीं पर आपने अज्ञान के कारण मरते हुए मुझे जीवन दान दिया। अन्यथा मेरा तो अभी तक यही निश्चय था कि चाहे सातों समुद्र एकाकार क्यों न हो जायें और यह संसार उसमें डूब जाय या आकाश ही टूट पड़े तो भी मैं सगोत्रों के साथ युद्ध नहीं करूँगा। ऐसे अहं भाव के कारण मैंने आग्रह रूपी कुण्ड में डुबकी मारी थी। वह तो आप मेरे समीप थे, नहीं तो उसमें से मुझे कौन बाहर निकलता? हम लाक्षागृह में जलने वाले थे तब भी आपने ही उसमें से निकाल कर हमारी रक्षा की थी। पर उस समय तो केवल देह का भय था, पर इस दूसरे लाक्षागृह में तो मेरा चैतन्य नष्ट होने का अवसर आ गया था। दुराग्रह रूप हिरण्याक्ष दैत्य मेरी बुद्धि रूपी पृथ्वी को बगल में दाब समुद्रतल में ले गया था, पर

आपके भ्रम भंजन कर देने से मैं होश में आ गया। इस प्रकार आपने मेरे लिए दूसरी बार वाराह का अवतार धारण किया। यह मेरे ऊपर आपकी महान कृपा है। अधिक क्या कहूँ आपने मुझे पाँचों प्राण अर्पण किये हैं। आपके इस श्रम से मेरा अज्ञान समूल नष्ट हो गया है। महाराज! जिस पर आपकी कृपा दृष्टि हो, उसे मोह कैसे ग्रस सकता है? अब मैं आपके कृपा-मन्दिर में प्रविष्ट होकर ब्रह्म ज्ञान का पूरा अनुभव ले रहा हूँ। मैं सत्य ही आपके चरणों की शपथ खाकर कहता हूँ कि अब मेरा उद्धार हो गया। (६८)

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२

हे कमल नयन! हे महेश! आज मैंने आपके मुख से ज्ञान का निरूपण सुना। जिस माया से सब भूत उत्पन्न होकर उसी में लय हो जाते हैं उसका रहस्य भी आपने समझा दिया। इस प्रकार माया का मूल बतलाकर मुझे परमात्मा का मूल भी बता दिया है। जिस परमात्मा को महिमा रूपी वस्त्र का परिधान करके वेद वस्त्र-युक्त अथवा आच्छादित कहलाते हैं, वह सब आपके तेजोमय चरणों का ही प्रताप है। हे देव आपका जो अगाध माहात्म्य सब प्रकार से जानने योग्य है और जो आत्मानुभव से परिपूर्ण है, वह आपने मुझे ऐसे स्पष्ट रूप से बता दिया है; जैसे बादलों के हट जाने से सूर्य दिखाई देने लग जाता है। ज्ञान को आवरण से ढक देने वाली माया को अपने हाथ से दूर कर दिया जिससे मैं ब्रह्मत्व से भेंट करने में समर्थ हो सका इसलिए अब इस सम्बन्ध में मुझे पूरा विश्वास हो गया है। पर अब मेरे मन में एक अन्य शंका उत्पन्न हो गई है। अगर मैं उसे संकोचवश न कहूँ तो फिर किससे पूछूँगा? क्योंकि आपके सिवाय मेरा कोई अन्य स्थान है ही नहीं। फिर मछली अगर पानी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के उद्देश्य से बाहर रहने का विचार करे अथवा बालक माता

के स्तनपान करने में लज्जा करे, तो फिर जीवित कैसे रह सकता है ? इसलिए मुझे सङ्कोच त्यागकर सब बातें आपसे पूछनी ही पड़ेंगी। अर्जुन की बात को सुनकर श्रीकृष्ण बीच में ही बोल उठे—तू अपना भाषण रहने दे और जो इच्छा उत्पन्न हुई है वह कह। (८०)

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३

फिर अर्जुन कहने लगा हे देव ! आपने मुझ से जो-जो बातें कहीं उनका अनुभव करके मेरी दृष्टि शान्त हो गई है अब जिसकी इच्छा से इस जगत् की उत्पत्ति और लय होता है और जिस स्थान को आप अपने स्वरूप की तरह बताते हैं, वह अपना मुख्य स्वरूप कृपा कर दिखायें। जहाँ से अब देवों का सङ्कट निवारण करने के लिए दो भुजी चतुर्भुजीरूप धारण करके पधारते हो, मत्स्य, कूर्म आदि अवतार धारण करते हो और वहीं चले जाते हो, जिस स्थान का गुणानुवाद उपनिषद् करते हैं, योगीजन जिसका ध्यान धरते हैं, और सनकादि ऋषि जिसे सदा हृदय से लगाये रहते हैं, ऐसे आपके अगाध विश्वरूप की कीर्ति हम सुनते रहते हैं। उसका दर्शन करने के लिए मेरे मनको बहुत अधैर्य हो रहा है। मेरी यही सबसे बड़ी इच्छा हैं। मेरा मन एक मात्र अभिलाषा लगाये है कि आप का विश्वरूप मुझे दृष्टिगोचर हो सके। (८१)

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४

'हे शार्ङ्गधर ! मेरे मन में अभी तक यह शंका है कि मुझ में आपका विश्वरूप देखने की योग्यता है भी या नहीं। कारण यही है कि रोगी स्वयं अपने रोग की पहचान और उसका निदान नहीं कर सकता। फिर जिस प्रकार आसक्ति के प्रबल होने से मनुष्य अपनी योग्यता को भूल जाता है, और प्यासे व्यक्ति को बहुत विशाल जल-

राशि भी अपर्याप्त लगती है उसी प्रकार मैं भी अपनी प्रबल इच्छा को दबाकर नहीं रख सका'। पर जिस प्रकार माता अपनी सन्तान शक्ति को समझकर उसी प्रकार उसकी इच्छा की पूर्ति करती है, उसी प्रकार हे जनार्दन ! आप मेरे अधिकार का विचार करके विश्वरूप दिखाने का निर्णय कीजिये, अगर आप मेरा वैसा अधिकार ठीक समझें तो मुझ पर कृपा करो अथवा स्पष्ट इन्कार कर दो। पञ्चम-स्वर युक्त उत्तम संगीत का बहरे के लिए क्या उपयोग हो सकता है ? चातक को मेघ-जल की तृषा रहती है, पर क्या मेघ समस्त जगत के लिये वर्षा नहीं करते ? पर वह वर्षा चट्टान पर होती है तो व्यर्थ जाती है। चन्द्रमा के प्रकाश से चातक को अमृत की प्राप्ति होती है, पर क्या दूसरों को उससे रोका जा सकता है ? मुझे विश्वास है कि आप मुझे विश्वरूप दिखायेंगे, क्योंकि ज्ञानी और अज्ञानी सभी के लिए आपका स्वरूप अद्‌भुत ही है। आपकी उदारता भी निराली ही है और जब आप किसी को कुछ देने का विचार कर लेते हों तो पात्र और अपात्र का भी विचार नही करते, आपने अपने शत्रुओं को भी मोक्ष जैसी दुर्लभ वस्तु प्रदान की है।

पूतना स्तनों में विष लगाकर आपको मारने के लिए आई थी पर आपने उसे भी सनकादिक के समान सायुज्य मुक्ति प्रदान की। जिस शिशुपाल ने राजसूर्य यज्ञ में तीनों लोकों के देव, ऋषि और राजाओं के सामने आपका महा अपमान किया, उस महा अपराधी को अपने सारूप्य मुक्ति का अधिकारी बना दिया। क्या ध्रुव को अचल पद की इच्छाथी? वह तो अपने पिता की गोदी में बैठने आया था। पर आपने उसे चन्द्र-सूर्य से भी श्रेष्ठ स्थान पर बैठा दिया; इस प्रकार दीन जनों को उदारता पूर्वक दान देने वाले एक आप ही हैं। भृगुने आपको लात मारी तो आपने उनका पदचिन्ह श्रीवत्स के रूप में अपनी छाती पर धारण कर लिया। शंखासुर आपका शत्रु था, पर उसके शरीर को आपने हाथ में रखा। बलिराजा के पास दान माँगने गये तो उसके द्वारपाल बन गये।

जब आप ऐसे नाम मात्र के कारणों से अपने स्वरूप की प्राप्ति करा देते हो तो मेरे साथ अन्य प्रकार व्यवहार कैसे किया जायगा ? जो कामधेनु अपने दूध की अधिकता से जगत् का हित साधना करती है तो उसका अपना बछड़ा कभी भूखा रह जाता है क्या ? इसलिये मैंने जिस विश्व-रूप दर्शन के लिये प्रार्थना की वह तो आप पूर्ण करेंगे ही पर यदि मेरी आँखों में उसे देखने की योग्यता न हो तो वैसी ही शक्ति मुझे प्रदान करें। (१२१)

अर्जुन की इस प्रार्थना को सुनते ही षड्गुणैश्वर्य के अधिपति श्रीकृष्ण से तनिक भी विलम्ब सहन न किया जा सका। उस समय मानो श्रीकृष्ण कृपारूप अमृत से भरे मेघ और अर्जुन वर्षा ऋतु था अथवा अर्जुन वसन्त ऋतु और श्रीकृष्ण उसमें मंजुल शब्द करने वाली कोकिल थे। जिस प्रकार पूर्णचन्द्र को देखकर क्षीर-सागर उमड़ने लगता है उसी प्रकार श्रीकृष्ण का हृदय दुगुने वेग से उछलने लगा और वे परम प्रसन्न होकर बोल उठे—"हे पार्थ ! मेरे अगणित रूपों को देख।" अर्जुन के मन में तो केवल एक विश्वरूप देखने की चाह थी परन्तु श्रीकृष्ण ने तो उसे यह दिखा दिया कि यह समस्त जगत् ही विश्वरूप है। धन्य है प्रभु की उदारता को। वे मांगने वालों को उनकी याचना से हजार गुना देते रहते हैं। अहो ! जो विश्वरूप शेष-नाग चारों वेद, और लक्ष्मीजी को भी दिखाया नहीं गया था—वह पार्थ को दिखा दिया। धन्य है अर्जुन के भाग्य को ! भगवान कृष्ण अभी तक अज्ञान का आवरण पड़ा रहने से मनुष्य रूप में दिखाई पड़ते थे। अब उन्होंने उस पर्दे को हटाकर अपनी सम्पूर्ण योगशक्ति प्रकट कर दी। अर्जुन उस रूप को देख सकेगा या नहीं इसका विचार त्याग कर प्रेमावेश में एकाएक कह दिया—'अर्जुन मेरा ! विश्वरूप देख।' (१२२)

श्रीभगवान् उवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५

हे अर्जुन तुमने मेरा एक ही विश्वरूप देखने की इच्छा प्रकट की थी । पर मैं केवल एक ही रूप दिखलाऊँ तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? इसलिए मेरे स्वरूप में ही समस्त जगत भरा है वह देख ! मेरे रूप कैसे हैं यह जानने की तेरी इच्छा हो तो उसे तृप्त करले । मेरे कितने ही रूप दुबले, कितने ही मोटे, कितने ठिगने, कितने ही ऊँचे, कितने ही अमर्याद, कितने ही विस्तृत, कितने ही उद्योगी, कितने ही आलसी, कितने ही सुन्दर, कितने ही सावधान, कितने ही उदार, कितने ही कृपण, कितने ही क्रोधी, कितने ही सौम्य कितने ही लोभी, कितने ही रोते रहने वाले, कितने ही जाग्रत, कितने ही निद्रित, कितने ही सशस्त्र, कितने ही निःशस्त्र, कितने ही भयंकर, कितने ही चित्र-विचित्र कितने ही समाधिस्थ कितने ही प्रीति के पालन करने वाले कितने ही क्रोध से संहार करने वाले— इस प्रकार अनेक तेजस्वी और भिन्न-भिन्न वर्णों के मेरे रूप हैं । कितने ही तपे सुवर्ण के समान, सैकड़ों पीले रंग के, कितने ही अस्ताचलगामी सूर्य के तुल्य, कितने ही रक्त वर्ण के, कितने ही माणिक्यखचित ब्रह्माण्ड के समान शुभ्र, नीले, हरे, काजल की तरह काले, मेघ वर्ण और कितने ही चन्द्रमा की तरह अत्यन्त श्वेत अनेकानेक रूपों को देख । जिस प्रकार ये विभिन्न रंग हैं उसी प्रकार पृथक्-पृथक् आकृतियाँ भी हैं । उन आकृतियों के आगे कामदेव भी लज्जित होकर शरणागत होता हैं । उनमें से कितनी ही मूर्तिमान सौन्दर्य, कितनी ही तेजस्वी और कितनी ही ऐसी मनोहर हैं मानो शृंगार-लक्ष्मी का भण्डार ही खुल गया हो । कितनी ही पुष्ट, कितनी ही शुष्क, कितनी ही विलाकार कितनी ही ऊँचे गले वाली, कितनी ही प्रचण्ड मस्तक वाली भयंकर हैं । अर्जुन ! इस तरह मेरे रूपों की सैकड़ों आकृतियां हैं । इनमें से

एक-एक रूप के एक-एक अवयव में समस्त जगत भरा हुआ है, उसे देख । (१४०)

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ।।६

मेरी दृष्टि खुलते ही बारह आदित्यों की सृष्टि हो जाती है औरबंद होते ही वे सब लोप हो जाते हैं । मेरे मुख की श्वासोच्छ्वास के साथ सर्व ज्वालामय हो जाता है तब अष्ट वसु उत्पन्न होते हैं और मेरी भृकुटियों के किनारे जब क्रोध से मिलने लगते हैं, तब ग्यारह रुद्र प्रकट होते दिखते हैं । हे पाण्डव ! मेरे कान में से अनेक वायु प्रकट होती हैं । इस प्रकार मेरे एक-एक अवयव से देव और सिद्धों के कुल उत्पन्न हो जाते हैं । उन अपार और विशाल रूपों को यहाँ पर देख । जिन रूपों का वर्णन करने में काल की आयु भी व्यतीत हो जाती है, ब्रह्माजी भी असमर्थ हो जाते हैं और जिनका नाम तीनों वेदों ने भी कभी नहीं सुना, मेरे उन आश्चर्य कारक रूपों को यहाँ प्रत्यक्ष देख । (१४७)

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ।।७

हे किरीटी ! इन रूपोंके प्रत्येक रोम के मूल में जो सृष्टि भरी पड़ी है वह मानो कल्पवृक्ष की जड़ में अनगिनती रेशे निकली हों, ऐसीलगती हैं । जिस प्रकार झरोखे में से आती हुए किरणों में परमाणु उड़ते दिखाई देते हैं, वैसी ही इन रूपों के सन्धि स्थानों में ब्रह्माण्ड भरे है । अगर तुझको इस विश्व से बाहर की वस्तुओं को देखने की इच्छा हो तो इसमें भी कोई कठिनाई नहीं है । मेरे शरीर में सब कुछ सुख पूर्वक देखा जा सकता है । इस प्रकार कहकर उन्होंने अर्जुन की तरफ दृष्टिपात किया कि वह सब देख रहा हैं कि नहीं, पर वह जैसे का वैसा बैठा था । (१५३)

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।।८

तब वे मनमें कहने लगे कि इसकी उत्कण्ठा जो अभी जैसी की तैसी बनी हुई है । इसको मैंने विश्वरूप का दर्शन कराया, पर यह उसे देख नहीं सका । ऐसा मन में विचार करके भगवान् हँसे और अर्जुन से कहने लगे "मैंने तो तुझे विश्वरूप दिखाया पर तू उसे देखता ही नहीं यह बात क्या है ? यह सुनकर बुद्धिमान् अर्जुन कहने लगा "महाराज ! यह किसका दोष है ? आप बगुला को चन्द्रामृत पान कराया चाहते हो ? अन्धे मनुष्य को दर्पण दिखाना चाहते हो । बहरे के आगे शास्त्रीय गायन सुनाने बैठे हो ? वह विश्वरूप इन्द्रियोंसे अगोचर है ऐसा शास्त्रोंमें कहा गया है । उसे केवल ज्ञान दृष्टि से ही देखा जा सकता है । उस रूप को अगर मेरे चर्म चक्षुओं के सम्मुख उपस्थित करो तो मैं उसे किस प्रकार देख सकता हूँ ! यह सुनकर भगवान् कहने लगे—भाई अर्जुन ! तेरा कथन में स्वीकार करता हूँ । अगर मैं तुझे विश्व रूप दिखाना चाहता हूँ तो पहले उसकी सामर्थ्य भी देना चाहिए । पर प्रेमसे बोलते हुए मैं उस बात को भूल ही गया । अब मैं तुझे वह दृष्टि देता हूँ जिसके प्राप्त होने पर तू मेरे विश्वरूप को अच्छी तरह देख सकेगा । फिर हे पाण्डुसुत ! उस दृष्टि से मेरा समस्त ऐश्वर्य योग देखकर उसे अपने अनुभव में उतारना जो केवल वेदों से ही जानने योग्य है, जो सब लोगों के आदि पुरुष हैं और जो समस्त जगत् के परम पूज्य हैं, वे श्रीकृष्ण भगवान् इस प्रकार बोले । (१६४)

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ।।९

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा—हे कौरवकुल के प्रतापशाली राजन् ! मुझे बारम्बार यही आश्चर्य होता है कि इन तीनों लोक में लक्ष्मी से बढ़कर भाग्यशाली कौन है ! अथवा आत्मज्ञान के विषय में वेदों से

बढ़कर कौन है ? अथवा सेवा-भाव की दृष्टि से शेषजी से अधिक किसे बताया जा सकता है ? भगवान् की प्राप्ति के लिए आठों पहर योगी के समान सेवामें तत्पर गरुड़के समान कौन हो सकता है ? पर ये सब तो एक तरफ पड़े रह गये, जिस दिन से पाण्डवों का जन्म हुआ उस दिन से श्रीकृष्ण का समस्त सुख उनको ही मिल गया। फिर पाँचों पांडवों में से अर्जुन ने उन्हें पूरी तरह वशीभूत ही कर लिया। कोई पढ़ाया तोता भी इस तरह न बोलता होगा, खेल करने वाला हिरन भी इस तरह आज्ञामें नहीं चलता होगा, जैसे कृष्ण अर्जुन की प्रत्येक बात को तुरन्त मान लेते हैं। न जाने दैव अर्जुन के कितना अनुकूल हो गया है। आज पूर्णब्रह्म श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य को देखने के लिये अर्जुन के नेत्र ही भाग्य शाली हो रहे हैं। भगवान् उसकी छोटी सी बात को भी पूरी करने को तत्पर हो जाते हैं और अर्जुन क्रोधित हों तो वे चुपचाप सहन कर लेते हैं। अगर वह रूठ जाय तो वे उसे मनाते हैं। न जाने वे उसके पीछे क्यों पागल हो रहे हैं ? जिन शुकदेवजी ने बारह वर्ष तक माता के उदर में रहकर विषयों को जीता, वे भी कृष्ण जी की रास लीला का वर्णन करते-करते इनके स्तुति पाठक बन गये। हे राजन् ! जो भगवान् कृष्ण योगियों की समाधि के लक्ष्य होते हैं, वे इस इस प्रकार अर्जुन के अधीन हो गये यह मुझे एक बड़ा चमत्कार जान पड़ता है।' पर कुछ ठहर कर संजय पुनः कहने लगा—अथवा इसमें आश्चर्य की कोई खास बात भी नहीं है। श्रीकृष्ण जिसको अंगीकार कर लेंगे उसका ऐसा भाग्योदय होगा ही। इसीलिए देवाधिदेव ने पार्थ से कहा-"मैं तुझे दिव्य दृष्टि देता हूँ उसके प्रभाव से तू मेरा सम्पूर्ण विश्वरूप देख सकेगा। भगवान् के मुख से ये शब्द निकलते ही अर्जुन के सामने अज्ञान अन्धकार नष्ट होने लग गया। (१७७)

ज्ञानेश्वर कहते हैं कि तुझे दिव्यदृष्टि देता हूँ"—ये अक्षर नहीं थे वरन् ब्रह्म ऐश्वर्य को दिखलाने वाली एक मशाल ही भगवान ने

प्रदीप्त कर दी थी। उस दिव्य प्रकाश के फैलते ही अर्जुन की ज्ञानदृष्टि का चारों तरफ विस्तार होने लगा। इस प्रकार भगवान् ने अर्जुन को अपने ऐश्वर्यका दर्शन कराया। बाल्यावस्था में जब श्रीकृष्णने एक बार मिट्टी खाई थी और माता यशोदा ने क्रोधित होकर हाथ पकड़ा था तो उन्होंने अपनेको निर्दोष सिद्ध करने के लिए अपना मुंह खोला तो माता को उसमें चौदहों भुवन दिखाई पड़े। इसी प्रकार जब भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देना आरम्भ किया तो माया न जाने भाग कर कहाँ चली गई। एक-एक ऐश्वर्य तेज का प्रकाश फैलते ही समस्त चमत्कार दिखाई पड़ने लगे और उसका चित्त आश्चर्य में डूब गया। (३८६)

वह कहने लगा—उस जगह कितना बड़ा आकाश दिखाई पड़ता था वह न जाने कहाँ गया? इसी प्रकार स्थावर-जंगम महाभूत कहाँ गये, दिशायें कहाँ गईं, आकाश-पाताल कहाँ है, यह कुछ समझ में नहीं आता। जिस प्रकार स्वप्न में दिखाई पड़ते हुए पदार्थ जाग्रत होते ही लुप्त हो जाते है, अथवा सूर्य के तेजसे जिस प्रकार चन्द्रमा और तारा-गणों का पता नहीं लगता, उसी प्रकार क्या सृष्टिकी समस्त रचनाविश्व-रूप के प्रभाव से लोप हो गई? इस समय अर्जुन के मन की स्मृति, बुद्धि की विचार शक्ति, इन्द्रियों की वृत्तियाँ कहीं जाकर छुप गई थीं। उसे ऐसा लगने लगा कि उसके समस्त ज्ञान पर मोहिनी अस्त्रका प्रयोग किया गया है। वह आश्चर्य चकित होकर चारों तरफ देखने लगा तो ऐसा जान पड़ा कि उसके सांमने जो चतुर्भुज मूर्ति थी वही बढ़कर अनेक रूपों में चारों तरफ फैल गयी है। इस प्रकार विश्वरूप को देखने की अर्जुन की जो इच्छा थी वह कृष्ण भगवान् ने पूर्ण की।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०

फिर अर्जुन ने उस विश्वरूप में अनेक मुख देखे जो मानो

विष्णुजी के परम सुन्दर राजमहल थे। साथ ही अनेक मुख ऐसे भयंकर भी थे मानो कालरात्रि की सेना ही निकल आई हो अथवा भय के किले ही खड़े हो गये हों, ऐसे अद्भुत और भयंकर मुख अर्जुन ने देखे।अपनी ज्ञान-दृष्टि से देखते हुए भी वह उन मुखो का अंत नहीं पा सका। तब ढूँढ़ने लगा कि आँखें कहां है? रङ्ग बिरंगे कमलों के समान सूर्य के तेज के समान चमकती आँखोंकी कतारों की कतारें दिखाई पड़ीं। जिस प्रकार श्याम वर्ण के मेघ समुदाय में बिजली चमकती है, उसी प्रकार भृकुटि के नीचे पीले वर्ण के नेत्र अग्नि की तरह चमक रहे थे। फिर विश्वरूप के पैर कहाँ है, मुकुट कहां है, तथा भुजाएँ कहाँ है, यह सब देखने की जिज्ञासा बढ़ती गई। क्या भाग्यवान् अर्जुन का मनोरथ कभी निष्फल हो सकता था? क्या शंकरजी के तरकसमें कभी व्यर्थजाने वाले बाण हो सकते हैं! वैसे हो अर्जुन ने उस अपरिमित विश्वरूप का आदि से अन्त तक निरीक्षण कर लिया। जिस रूप की थाह वेदों को भी नहीं लग सकी उसके सर्व अंगों को अर्जुन ने अल्प समयमें अपनी आँखों से देख लिया। वह विश्वरूप अनेक रत्नों, अलंकारों से सुशोभित था। परब्रह्म जब स्वयं ही अलंकार बनकर उसको धारण कर ले तो उसकी शोभा किस प्रकार कही जा सकती हैं। जिस महातेज से सूर्य और चन्द्र-मण्डल प्रकाशित होता है और जिससे अखिल विश्व प्रकाशित होता है, उस ब्रह्म रूपी अलंकारों का वर्णन कौन कर सकता है? फिर वह विश्व रूपके हाथ देखने लगा तो वे सादे और सरल जान पड़े। उनमें कल्पना की ज्वालाओं का भेदन करने वाले शस्त्र चमक रहे थे। स्वयं ही शरीर स्वयं ही उस अंग पर धारण किये अलंकार स्वयं ही हाथ स्वयं ही हथियार, स्वयं ही जीव और शरीर भी स्वयं ही इससे अधिक क्या होसकता है? उस रूप की किरणों के तेज से मानो नक्षत्र फट रहे थे और अग्नि भागकर समुद्रमें छिपजाने की इच्छाकर रहा था। मानो महा विद्युतका जंगल ही पैदा हो गयाहो, ऐसे आयुध हाथों में रखे थे। ऐसे अनेक ऊँचे

उठे हुए हाथ उसे दिखाव दिये। (२१७)

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११

हाथ में लिये हुए उन असंख्यों शस्त्रों के भय से अर्जुन ने अपनी निगाह उधर से फेर ली और कण्ठ तथा मुकुट की तरफ देखने लगा। उसको जान पड़ा कि कल्पतरु की उत्पत्ति यहींसे हुई होगी महासिद्धियों का अधिष्ठान रुक्मिणी लक्ष्मी श्रमित होकर जहाँ विश्रामकरती हैं,उन्हीं अति उत्कृष्ट कमलोंकी सुगन्ध भगवान ग्रहण कर रहे हैं,ऐसा उसेदिखाई दिया। मुकुट पर पुष्पों के गुच्छे सजे थे और कण्ठ में अवर्णनीय पुष्प मालायें धारण कर रखी थीं। मानों स्वर्गमें सूर्य का तेज बिछा होअथवा मेरु पर्वत को सुवर्णसे मढ़ दिया हो ऐसा पीताम्बर झलक रहा था। जिस प्रकार शंकरजी को कपूर मल दिया गया हो अथवा कैलाश को पारा से पोत दिया गया हो उसी प्रकार शरीरमें अति शुभ चन्दन का लेपहो रहा था। जिसके संयोग से प्रकाश दायक वस्तुओं में तेज उत्पन्न होता है, जिससे स्वयंमेव शीतल ब्रह्मानन्दका भी दाह शीतल हो जाता है,जिसकी सुगन्ध से गन्ध स्वभाव वाली पृथ्वी भी सुगन्धित बन जाती है,उससुगन्ध के महत्व का कौन वर्णन कर सकता है ? इस प्रकार एक-एक अलंकार की शोभा देखकर अर्जुन भ्रम में पड़ गया और भगवान बैठे हैं, याखड़े हैं या लेटे हैं यह भी नहीं समझ सका। उसे सर्वत्र विश्वरूप ही दिखाई पड़ने लगा। उसने आँखें बन्द करके चुपचाप बैठना चाहा तो भीतर भी वही विश्वरूप दिखायी दिया। सामने भयंकर रूप देखकर डर से पीछे की तरफ निगाह कर ली तो वहाँ भी विश्वरूप के मुख, हाथ पैर वैसेही दिखाई पड़े। प्रभु के अनुग्रह का ऐसा प्रभाव है कि अर्जुन देखे चाहे न देखे उसे सर्वत्र श्रीकृष्ण ही व्याप्त जान पड़ते है। अर्जुन एक आश्चर्य में से निकल कर किनारे पर आता है कि इतने में चमत्कार के दूसरे महासागर में गिर जाता है। इस प्रकार भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को

विश्वरूप दिखाकर उसी में निमग्न कर दिया। ये सर्वव्यापी और विश्वतो मुख हैं और इसी को देखने की अर्जुन ने प्रार्थना की थी, इससे वही उसे दिखा दिया। भगवान ने अर्जुन को जो दिव्य दृष्टि दी, यह ऐसी न थी कि दीपक का अथवा सूर्य का प्रकाश हो तभी दिखाई दे। वह तो ऐसी थी कि अर्जुन आँखें बन्द कर ले तब भी सब दृश्य दिखाईदेता रहे। वह वर्णन हस्तिनापुर में बैठे संजयने धृतराष्ट्र को सुनाया। और कहा-राजन् ! नाना अलंकारों से भरा और जिसके सब ओर आँखें हैं, ऐसा विश्वरूप अर्जुन ने देखा। (२३६)

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ।१२

हे राजन् ! उस विश्वरूप का तेज किसके समान था, यह कैसे बतलाऊँ ? प्रलयकाल में जब द्वादश सूर्य एक साथ एकत्र हो जाते हैं, वैसे हजारों सूर्य जो एक समय में उदय हों, तो भी वे विश्वरूप के तेज की बराबरी नहीं कर सकते। यदि जगत्की समस्त बिजली इकट्ठी कीजायँ और उनमें प्रलयकाल की अग्नि की सामग्री भी मिलाई जाय तो कदाचित् विश्वरूप के तेज की कुछ बरावरी हो सके। संजय ने कहा ऐसा भगवान का तेजस्वी विश्वरूप महर्षि व्यास की कृपा से मुझे दिखाई दिया। (२४१)

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ।।१३

और उस विश्वरूप में समस्त जगत् एक स्थान पर ही दिखाई पड़ रहा था। जैसे समुद्र की लहरों पर पानीके बुलबुले उठे हों या चींटियों के बिल पर सूक्ष्म मिट्टी का ढ़ेर लगा हो उसी प्रकार भगवान् कृष्ण के शरीर में अर्जुन ने समस्त जगत् को देखा। (२४४)

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत ।।१४

फिर जो थोड़ा बहुत द्वैत-भाव रह गया था कि विश्व और हम पृथक् हैं, वह भी लोप होने लगा और जिस प्रकार वर्षा होने पर पर्वत का सब मल बहकर घास उगने लग जाती है, उसी प्रकार अर्जुन के समस्त शरीर पर रोमांच हो आया। चन्द्र किरणके स्पर्श से जिस प्रकार चन्द्रकान्त मणि से जलबिन्दु निकलते हैं उसी प्रकार अर्जुनके शरीर पर पसीने की बूँदें लगीं। अन्तर सुख की लहरों से अर्जुन का शरीर काँपने लगा और आँखों से आनन्दाश्रु की धारा बहने लगी। समुद्र भरा रहता है तो भी चन्द्रोदय होने पर उसका जल ऊपर उठने लगताहै उसी तरह आन्तरिक आनन्द के कारण वह अस्थिर होने लगा। इस प्रकार उसके हृदय में अष्ट सात्विक भावों की स्पर्धा होने लगी तब उसके हृदय में मानों ब्रह्मानन्द का राज्य ही स्थापित हो गया। फिर वही द्वैत का आश्रय लेकर, श्वास भरकर बाहर देखने लगा। जिस तरफ श्रीकृष्ण बैठे थे उसी तरफ माथा नवाकर हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगा (२५३)

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ।।१५

अर्जुन बोला—हे प्रभो! आपका जय जयकार हो। आपकी हम प्राकृतजनों पर बड़ी कृपा हुई कि हमें विश्वरूप के दर्शन हो सके। समस्त सृष्टि आपके आश्रय में ही हैं, इसको मैंने प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देख लिया। जिस प्रकार पहाड़ों में जगह-जगह पशुओं से युक्त जङ्गल होते हैं उसी प्रकार आप की देह में सैकड़ों इन्द्रलोक, चन्द्रलोक इस मेरी दृष्टि में आये। जिस प्रकार आकाश में तारागण का समुदाय दिखाई पड़ता है, विशाल वृक्षों पर पक्षियों का समूह दिखाई देता है, उसी प्रकार हे प्रभो! आपके इस विश्वरूप शरीर में देवों सहित स्वर्ग मौजूद है। पंच महाभूतों और उससे उत्पन्न प्राणि मात्र को मैं आपके शरीर में देख रहा हूँ। उसमें सत्यलोक, और ब्रह्मलोक

भी है। दूसरी तरफ कैलाश पर शंकर और पार्वती भी आप के एक अंश में दिखाई दे रहे हैं। आप स्वयं भी अपने इस शरीरमें दिखाई पड़ रहे हैं। कश्यपादि-ऋषियों के सभी वंशु और सर्पों सहित पातालभी इस विश्वरूप में दिखाई पड़ते हैं। हे त्रिलोकीनाथ ! आपके एक-एक अङ्गमें चौदहों भुवन चित्र की तरह खिचे हुए दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार मैं आपकी अलौकिक विशालता को देख रहा हूँ। (२६८)

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादि पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६

आपकी दी हुई दृष्टि से मैं ऐसा दृश्य देख रहा हूँ, मानो आप की भुजाओं में से आकाश के अंकुर फूट रहे हैं। आपके हाथों द्वारा एक ही समय में अनेक कार्य होते दिखाई देते हैं। आपके सहस्रों मस्तकों में करोड़ों मुख दिलाई देते हैं और वैसे ही नेत्रों की अनन्त पंक्तियाँ दिखाई पड़ रही है। इतना ही नहीं स्वर्ग पाताल, मृत्युलोक, दिशा आकाश—के सब भेद मिटाकर सब कुछ विश्वमूर्ति लग रहा है। कुछ समय पहले यह जगत् नाना प्रकार के पदार्थों और प्राणियों से भरा जान पड़ता था, अब वे समस्त आप में व्याप्त जान पड़ते हैं। आप कहाँ से प्रकट हुए, आप यहाँ हों या खड़े हों, आपका रूप कैसा है, आपके दूसरी तरफ क्या है—इन बातों को मैं जैसे-जैसे देखने लगा, वैसे-वैसे ही मुझे यह जान पड़ने लगा कि आप सर्वत्र हो, आप ही अपने अधिष्ठान हो और आप जन्म रहित तथा स्वयंभू हो। हे देव ! आप न खड़े हैं, न बैठे हैं और आपकी वायु आपके ही समान है। आपकी पीठ और पेट भी आप स्वयं ही हैं। जैसे-जैसे मैं अधिक देखने लगा वैसे-वैसे ही मुझे आपकी यही विशेषता जान पड़ी कि अपने जैसे केवल आप स्वयं ही हो। परइस रूपमें मुझे एक कठिनाई यह जान पड़ती है कि इसमें आदि, तथा अन्त का कहीं पता नहीं चलता है। हे आदि-मध्य-अन्त-रहित ! हे अपरिमित

जगदीश ! वास्तव में इस प्रकार मैं आपका विश्वरूप ही देख रहा हूँ। (२८२)

आपके विश्वरूपमें सैकड़ों प्रकार की अनेक रङ्गों की मूर्तियाँ दिखाई पड़ती हैं जिनसे ऐसा आभास होता है मानो आपने रंग-बिरंगा अंगरखा पहिन रखा है। हे देव ! आप मानो महासमुद्र हो और मूर्तिरूपी तरंगों से डोलते रहते हैं। अथवा एक विशाल वृक्ष हो और मूर्तिरूपी फलों से लदे हों। इनसे एक-एक मूर्ति के शरीर में ये तीनों लोक उत्पन्न हो रहे हैं और फिर भी उसी में समा जाते हैं। इस प्रकार जगत् का विस्तार करने वाले आप कौन हो और कहाँ से उत्पन्न हुए हो, अब मैं यह देखने लगा कि जो मेरा सारथी था वही आप हो। तो हे मुकुन्द ! आप सदैव ऐसे हो, सर्व व्यापक हो, केवल भक्तों पर कृपा करने को सगुण रूपधारण कर लेते हो। आपकी चतुर्भुज मूर्ति देखने से मन और आँख कैसे तृप्त होते हैं। पर दूषित दृष्टि से आपके उस रूप को सामान्य मनुष्य, रूप की तरह ही मान लेते हैं। आपने दिव्य दृष्टि प्रदान करके मेरे उस दृष्टि दोषको दूर कर दिया है, उसीसे आपकी यथार्थ महिमा मुझे दृष्टिगोचर हो सकी है। अब मुझे पूर्णतः यह निश्चय हो गया है कि मेरे रथ में हाँकने के स्थान पर बैठने वाले, आपका ही रचा हुआ यह सारा खेल है। (२८३)

किरीटनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वांदुर्निरीक्ष्यंसमन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७

हे श्रीहरि ! आपने मस्तक पर जो मुकुट धारण कर रखा था, क्या अब भी आपके मस्तक पर वही शोभा दे रहा है परन्तु इस समय उसका तेज और आकार बहुत बढ़ गया है। ऊपर के हाथ में फिरता हुआ चक्र भी क्या पहला ही नहीं है ? दूसरे हाथ की गदा भी ज्योंकी त्यों है। हे विश्वेश ! विश्व रूप देखने की मेरी इच्छा को पूर्ण करने के लिए ही आपने यह रूप धारण कर लिया है। पर

इस महान आश्चर्य पर विस्मय करने की शक्ति मुझ में नहीं हैं, क्यों कि इसमें मेरा चित्त मोहित हो गया हैं। आपका यह विश्व रूप यहाँ पर है भी या नहीं यह भीमैं विचार नहीं कर सकता, क्योंकि उसकातेज इतना अधिक है कि वह सर्वत्र भरा ही जान पड़ता है। यह तेज इतना प्रखर है कि इससे अग्निकी ज्योति क्षीण हो जातीहै,सूर्य खद्योतसा लगने लगता है। ऐसा जान पड़ताहै कि समस्त सृष्टि महातेज के समुद्रसे डूबी हुई है। अथवा कल्पान्त समय की बिजली ने समस्त आकाश को ढक लिया है। मैं तो आपके इस तेज को देख भी नहीं सकता और उससे शरीर में दाह उत्पन्न हो रहा है। हे महाराज ! प्रलयके अवसर पर जो कालाग्नि रुद्र में गुप्त भाव से रहती है, वही मानो इस अवसर पर प्रकट हो गई है। इसी प्रकार आपके विश्वरूप के तेज की अग्नि में पंचभूतात्मक अग्नियों की भंवरें पड़ रही हैं और उसमें जलकर ब्रह्माण्ड कोयला बन रहा है। आपके रूप की अद्‌भुत विशेषताओं तथा तेज का कहीं अन्त ही नहीं हैं। ऐसा विलक्षण रूप और तेज मैंने यावज्जीवन नहीं देखा था।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्तासनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८

हे देव ! आप अविनाशी है, आप ॐकार की साढ़े तीन मात्रा से परे हैं। आपका स्थान खोजते हुए श्रुतियाँ थक गईं, पर उसका पता नहीं चला। प्राणीमात्र आप ही में लय पाते हैं आप ही में विश्व का समावेश दिखलाई पड़ता है। आप धर्म के भी जीवन हैं, अनादि सिद्ध हैं, नित्य नवीन हैं और छत्तीस तत्वों से भी परे सैंतीसवें 'पुरुष' अथवा इस जगत् के ईश्वर हैं। (३०६)

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसाविश्वमिदं तपन्तम् ॥१६

आपआदि,अन्त और मध्यसे रहित,अपार पराक्रम वाले हैं। आपके चारों तरफ असंख्य हाथ पैर हैं। सूर्य और चन्द्रमा आपकी आँखें हैं

जिनसे आप शान्ति और क्रोधकी लीला करते हो। आप कोप रूपी नेत्र से एक को दण्ड देते हैं और कृपा रूपी नेत्र से दूसरे का पालन करते हैं। वास्तवमें इस प्रकार अनेक रूपोंमें आप मुझे दृष्टिगोचर होते हैं। जिस प्रकार प्रलयाग्नि के जलने पर चारों तरफ प्रकाश फैल जाता है वैसे ही आपका मुख महा तेजस्वी दिखाई दे रहा है। जैसे पर्वत पर दावाग्नि भड़क उठने से सब पदार्थ जलने लगते हैं वैसे ही आपकी जीभ दाढ़ों दाँतों को चाटती दिखाई पड़ती है। इस अग्नि से और विश्वरूप के तेज से समस्त विश्व तपकर व्यथित हो रहा है। (३१४)

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०

अथवा स्वर्ग, पाताल, पृथ्वी और अन्तरिक्ष, और समस्त दिशायें भी आपके रूप से व्याप्त होकर भर गये हैं। आकाश सहित समस्त विश्व आपके रूप में डूबता-सा लगता है। अथवा आपके इस अद्भुत रूपकेरस की लहरोंमें चौदहों भुवन पड़े हुए हैं। इसे किस प्रकार देखा जा सकता है! आपके इस रूपकी कल्पना नहींकी जा सकती,इसको सहननहीं किया जा सकता और इस रूपसे सुखकी प्राप्ति तो दूर रही जगतही इसके कष्ट से मरा जा रहा है। हे देव! आपके इस अद्भुत रूपकोदेखकर बड़ा भय लगता है,क्योंकि इसे देखकर तीनों लोक दुख में डूब रहे है। अन्यथाआप जैसे महात्माके दर्शनसे भय और दुःख का होना कैसे संभव था! जब-जब आपका यह रूप देखने में नहीं आया था तब तक दुनिया वालों को यहाँ का सुखही उत्तम लगता था, पर अब इस रूपको देख लेने पर विषय वासनाओं की तरफ से मन में उद्वेग उत्पन्न होता है। ऐसे भयङ्कर रूप को देखकर क्या आपको प्रेम से आलिंगन किया जा सकता है? अगर पीछे हटें तो जन्म मरण रूपी संसार का दुःख सहन करना पड़ता है और आगे बढ़ते हैं तो इस प्रचण्ड विश्व रूप को देखकर आपको कैसे आलिंगन करें? इस प्रकार दोनों सङ्कटों के बीच में त्रिलोक पिसा

जा रहा है। आपका विस्वरूप देखने की तीव्र उत्कण्ठा का परिमाण ऐसा निकला कि कोई मनुष्य अग्नि की जंलन को बुझाने के लिए समुद्र की तरफ जाने पर उसकी प्रचण्ड तरंगों को देखकर और भी डर जाय। इसी प्रकार आपको देखकर जगत् तड़फड़ाने लगा हैं। (३२५)

अमी हित्वांसुरसंघा विशन्ति केचिद्भीता: प्राञ्जलयोगृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वामहर्षिसिद्धसंघा:स्तुवन्तित्वांस्तिभि:पुष्कलाभि: ।।२१

अब दूसरी ओर जो देवों के समुदाय खड़े हैं वे तप के तेज में सब कर्मों के बीज को जलाकर स्वरूपमें लीन हो रहे हैं। इनके अतिरिक्त जो अन्य भयभीत हो रहे हैं वे हाथ जोड़कर आपकी प्रार्थना कर रहे हैं कि हे देव ! हम अज्ञान रूपी समुद्र में पड़े विषय जाल में फँस रहे हैं और स्वर्ग तथा संसार के बीच में दबे हुए है। इस संकट में से कौन हमको बचा सकता है, हम आपकी शरण आये है।' कश्यपादि महर्षि कपिल आदि सिद्ध और विद्याधर तथा गन्धर्वों के समुदाय 'आपका' कल्याण हो, कहकर आपकी प्रार्थना कर रहे हैं। (३३१)

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ।।२२

हे प्रभो ! ये ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, साध्य नामक देवगण, अश्विनीकुमार, उनञ्चास मरुद्गण ये सब अपने वैभव सहित और पितर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षसगण, इन्द्रादिक मुख्य देव तथा समस्त सिद्ध अपने-अपने लोक से उत्कण्ठा पूर्वक आपके विश्वरूप को देख रहे हैं। वे आश्चर्य से भरकर आपको मस्तक नवा रहे हैं। वे सब मीठे शब्दों में आपका जय जयकार कर रहे हैं। और जोड़े हुए हाथों को मस्तक पर रखकर नमस्कार कर रहे हैं। उस विनय रूपी उद्यान में मानो बसन्त ऋतु आया है और वृक्षों के कर संपुट

रूपी पत्ते निकलकर फल रूप में आपकी प्राप्ति हुई है। (३३७)

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाःप्रव्यथितास्तथाहम्।२३

इन देवताओं ने आज आपके विश्वरूप के दर्शन पाये, मानों इनके नेत्रों का भाग्योदय हो गया। त्रिलोक को व्याप्त करने वाले आपके इस रूप को देख देवगण भी चकित हो रहे हैं, क्योंकि इसे किसी तरफ से देखा जाय वह अपने सामने ही दिखाई पड़ता है। इस प्रकार यह रूप एक होने पर भी विचित्र और भीषण है, इसके बहुसंख्यक मुख नेत्र और अनन्त हाथ हैं, जिनमें शस्त्र धारण किये हैं। इसी प्रकार उसमें अनन्त बाहु, पग और उदर हैं। प्रत्येक मुख ऐसा भयंकर लगता है मानो महा-प्रलय के अवसर पर यम ने क्रोधित होकर जगह-जगह होली जलादी है। जिस प्रकार सिंह गुफा में समाता नहीं उसी प्रकार आपके दाँत मुख में न समाकर बाहर निकले हुए हैं और बड़े भयंकर लगते हैं। आपकी दाढ़े प्रलयकाल में संहार किये प्राणियों के रक्तसे सनी हैं। काल जिस प्रकार युद्ध का आमंत्रण दे कि सब जीवों का संहार कर दिया जाय वैसा ही भयंकरपन आपके मुखोंका जान पड़ता है। यह देखकर सब जगत बहुत व्यथित हो रहा है जैसे दुःख रूपी यमुना के तट पर खड़ा कोई वृक्ष जान पड़ता हो। कदाचित् आप कहें कि तुझे लोगों के भय की चर्चा करने से क्या प्रयोजन,अभी जो विश्व रूप देखा उसका ध्यान रखकर सुखोपभोग कर। तो सच्ची बात तो यह है कि लोगों के भय का तो मैंने केवल बहाना किया है वास्तव में डर के मारे ही प्राण काँप रहे हैं। यद्यपि प्रलय काल का रुद्र भी मेरे सामने भयभीत होता है, और मेरे डर से मृत्यु भी छुप जाती है, पर आपके इस भयंकर रूप को देखकर तो मैं कम्पायमान हो रहा हूँ। क्या आपके इस महाभयानक रूप को विश्वरूप कहना उचित है। सचमुच यह तो एक महामारी ही है। (३५२)

नभः स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४

आपके कितने ही क्रोधित मुख तो मानों महाकाल के साथ स्पर्धा करके लड़ रहे हैं और आकाश की अपेक्षा भी विशाल जान हैं। तीनों लोकों की पवन से भी उनको ढका नहीं जा सकता। इनसे निकलने वाली भाप से आग भी जल जाती है। ये सब एक से नहीं हैं, ये तरह-तरह के हैं और ऐसा जान पड़ता है कि प्रलयकाल की अग्नि इन्हीं मुखों की सहायता लेकर पृथ्वी पर प्रलय करती होगी। इन मुखों में और भी मुख हैं, उनमें भी दाढ़ें हैं। मानों वायु को ही धनुर्वात हो गया हो अथवा समुद्र ने मर्यादा छोड़कर एक महाबाढ़ उत्पन्न कर दी हो, अथवा वड़वानल की सहायता से विश्व रूप अग्नि जगत् का संहार करने में प्रवृत्त हुआ हो। ये मुख कितने बड़े हैं ये बताना हो तो समझ लो कि अन्तरिक्ष ने टूटकर मानो आकाश को ही घेर लिया हो। अथवा हिरण्याक्ष दैत्य पृथ्वी को बगल में दबाकर जिस पाताल-गुफा में घुसा था वैसे ही ये मुख हैं। पाताल के नागों की फुंकार से जिस प्रकार विष की ज्वाला निकल कर आकाश को छूती रहती है, उसी तरह आपके मुखों में चलती हुई जिह्वा जान पड़ती है। आपके कपाल में घुसी आँखें ऐसी हैं मानों मृत्यु का प्रवाह अँधेरे में छुप कर बैठा हो।

इस तरह भय का दृश्य दिखाकर आप कौन सा उद्देश्य पूरा करना चाहते हो यह मेरी समझ में नहीं आता। मुझे तो इससे केवल मृत्यु का भय ही उत्पन्न होता है। हे देव! विश्व रूप देखने की मैंने जो अभिलाषा की थी वह फलीभूत हो गई और मेरी आँखें उससे तृप्त हो गईं। मेरा यह जड़ शरीर नष्ट हो जाँय इसकी तो मुझे परवाह नहीं है, पर मुझे तो अपने चैतन्य के बचे रहने का भी भरोसा नहीं होता। इन्द्रियों से भिन्न और आनन्द स्वरूप आत्मा है वह भी काँप रहा है। मैं इस विश्वरूप की महिमा का बखान किस प्रकार करूँ

कि जिसके दर्शन से मेरा ज्ञान भी भाग गया और मेरा आपका जो गुरु शिष्य का सम्बन्ध था वह भी इस जगत में बच पायगा या नहीं, इसका भी संशय उत्पन्न हो गया। मुझमें पहले ही धैर्य का अभाव था, उस पर आपके इस विश्वरूप का दर्शन मिल गया तो अब पूछना ही क्या ? आपने इस प्रकार मुझे अच्छा उपदेश दिया। जीवात्मा विश्राम पाने के लिये चारों तरफ दौड़ता फिरता है, पर उसे कहीं ठिकाना मिलता नहीं। प्रभु ! इस प्रकार विश्वरूप महामारी से चराचर का जीवव नष्ट हो रहा है। अगर मैं यह सब बात न लहूँगा तो बचूँगा भी कैसे ? (३७४)

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५

जिस प्रकार महाभय रूपी कोई घड़ा फूटा हो वैसे ही आपके अति विशाल प्रचण्ड मुख फैले दिखाई पड़ते हैं। उनके भीतर दांतों और दाढ़ों की ऐसी भीड़ लगी है कि वे होठों के भीतर समाते नहीं हैं, और प्रलयकाल के शस्त्रों को बाढ़ के समान दिखाई पड़ते हैं। तक्षक नाग पूर्ण विष से भरा होने पर जैसे उनके मुख में विष का और भंडार भरा जाय, अथवा अमावस्या की काली रात में भूतों का संचार हो, उसी प्रकार आपके मुखों से आवेश निकल रहा है और वह मृत्युकाल की बाढ़ के समान हम पर चढ़ा आ रहा है। ब्रह्माण्ड को नाश करने के लिए प्रलयाग्नि भड़के और प्रचण्ड पवन उसकी सहायता करे, उसी तरह के आपके संहारक मुखों को देखकर मेरा धैर्य एकदम लोप हो गया है, मुझे दिशाभ्रम हो गया है और मैं अपने आपको भूल गया हूँ। मैंने आपका विश्वरूप पूरी तरह देखा भी नहीं था, कि इतने में तो उससे उत्पन्न होने वाले समस्त सुख का नाश हो गया। इसलिये महाराज ! अब आप इसका सम्वरण कर लीजिये। अगर मैं जानता कि आप मुझे इस तरह डरायेंगे तो क्या मैं कभी विश्वरूप दिखाने की बात कहता ? इसलिए आप इस प्रलयाग्नि से मेरे प्राण बचाओ।

हे अनन्त ! आप जो हमारे सच्चे स्वामी हो तो प्राण हरण करने वाले विश्वरूप का संकोचन कर लो। क्या आप सर्व जगत् के पालनकर्ता होकर उसका संहार करना चाहते हो ? अतएव हे देव ! शीघ्र प्रसन्न होकर अपनी इस माया को समेट लो। जिस समय अमरावती में राक्षसों का आक्रमण हुआ था उस समय मैंने अकेले ही उनको हटा दिया था। मैं काल के मुख में जाते हुए भी भयभीत नहीं होता, पर आपका यह विश्वरूप तो मृत्यु से भी बढ़कर विश्व सहित हमारा भक्षण करने को उद्यत है। यद्यपि अभी प्रलय का समय नहीं आया, पर आपके अकस्मात् काल रूप होने से त्रैलोक्य की आयु के सौ वर्ष अभी पूरे हो गये। दैव-गति कैसी विपरीत है। मैंने तो शांति मिलने की आशा से विश्वरूप दिखाने की प्रार्थना की थी, पर उससे उल्टे विघ्नों की उत्पत्ति हो गई आप मुख फैलाकर समस्त सेनाओं का भक्षण कर रहे हो यह मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। (३६१)

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मोद्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६

अरे ! यह तो कौरव कुल के वीर और धृतराष्ट्र के पुत्र हैं न ? अरे ! ये तो सब गये ! मरे ! परिवार सहित वे तुम्हारे मुख में गायब हो गये और अन्य देशों के जो राजा भी उनकी सहायता करने को आये थे, उनके मरण का सन्देश घर ले जाने वाला भी कोई नहीं बचा। इस प्रकार आप सबको निगल जाते हो। बड़े-बड़े हाथियों को भी आप गटागट मुख में डालते जाते हो। रथ वाले और पैदल सेना के झुण्ड भी आपके मुख में अदृश्य होते चले जाते हैं। काल के समान समस्त संसार का नाश करने वाला एक ही शस्त्र, वैसे करोड़ों शस्त्रों को आप निगलते चले जा रहे हो। चतुरङ्ग सेना, घोड़े जुते हुए रथों को आप बिना दांत लगाये ऐसे ही निगल जाते हैं। भीष्म जैसा सत्यवादी और शौर्यवान् अन्य कौन ? पर उनका और द्रोण जैसे ब्राह्मण का आपने ग्रास कर लिया। ओहो ! सूर्यपुत्र

महावीर कर्ण भी गया। और अब हमारे पक्ष के वीरों को आपने मुख में डाल ही लिया। हाय ! यह कैसी घटना हो गई। मैं प्रभु से प्रार्थना करके जगत के संहार का कारण बन गया। पहले प्रभु ने अपनी थोड़ी बहुत विभूतियाँ कह सुनाई थीं। पर उससे मुझे संतोष नहीं हुआ और मैंने विश्वरूप देखने का दुराग्रह किया। इस प्रकार जो अपनी मृत्यु का ठीकरा मेरे शिर पर फोड़ें, ऐसा ही विधाता का विधान था तो वह मिथ्या कैसे होता ? समुद्र मन्थन से जब अमृत मिल जाने पर सन्तोष न किया गया अन्त तो हलाहल विष हाथ में आया, पर वह संकट से कम था और उसका निवारण भी शिवजी ने कर दिया। यह विश्वरूप स्वयं ही जलती हुई पर्वत है इसका प्रतिकार कैसे किया जाय ? ज्ञानेश्वर कहते हैं कि अर्जुन इस प्रकार दुःखी होकर मन में शोक करने लगा पर भगवान् का अभिप्राय उसकी समझ न आया। अर्जुन अपने को मारने वाला और कौरवों को मरने वाला मानकर मोह में पड़ गया था। श्रीकृष्ण ने विश्वरूप के बहाने उसको बतलाया कि कोई किसी को मारता नहीं सबका संहार करने वाला मैं ही हूँ। अर्जुन की समझ में यह बात न आने से वह व्यर्थ ही व्याकुल हो रहा था।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥२७

अर्जुन ने फिर कहा--अरे ! दोनों पक्षों की सेनाएँ तलवारों और कवचों के सहित आपके मुख में उसी प्रकार समा गईं जिस प्रकार बादल आकाश में लुप्त हो जाते हैं। महाप्रलय के समय यम के कुपित होने पर जिस प्रकार वह इक्कीसों स्वर्ग और पातालों की सम्पदा अकस्मात् विलीन हो जाती है उसी प्रकार कर्म की गति से यह समस्त एकत्रित सेना इस मुख में चली गई और उनमें से एक भी सैनिक बाहर नहीं निकल सकता। जिस प्रकार ऊँट अशोक के पत्तों

को चवाता है उसी प्रकार ये सब लोग मुखमें जाकर मुकुटों सहित दाढ़ों से पिससे दिखाई पड़ रहे हैं। उनमेंसे जो मस्तक अधिक भारी थे उनके रक्त से दाढ़ का कुछ भाग भी लिपटा हुआ दिखाई देता है। अहो! कैसा चमत्कार है। इस जगत् में जन्म लेने वालों के लिए मरणके सिवाय और कोई रास्ता ही नहीं है? इसी से समस्त जगत् स्वयं ही इस मुख रूपी महाविशाल कुँआ में पड़कर डूब रहा है। सृष्टि के सभी प्राणी सुख के मार्ग पर चले जा रहे हैं और परमात्मा जहाँ का तहाँ बैठा उन्हें निगलता जा रहा है। ब्रह्माजी जैसे बड़े-बड़े देव ऊपर के मुख में दौड़ रहे हैं शेष लोग अन्य मुखों के भीतर जा रहे हैं। अन्य प्राणी तो जहाँ जन्म लेते हैं, वहीं नाश को प्राप्त हो जाते हैं। इस विश्वरूप की पकड़ से कोई बचकर नहीं निकल सकता। (४२०)

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्जलन्ति॥२८

जिस प्रकार बड़ी नदियों के बहते हुए जल स्वाभाविक रूपसे समुद्र की तरफ जाते हैं, उसी प्रकार यह जगत् चारों तरफ से आकर आपके मुख में प्रवेश कर रहा है। सभी प्राणी आयुष्य मार्ग पर दिन रात रूपी सीढ़ियों पर शीघ्रता से चढ़कर मुख में प्रविष्ट होने की साधना कर रहे हैं। (४२४)

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥२९

जिस प्रकार पर्वत पर जलती हुई दावाग्नि में पतंग कूद-कूदकर गिरते रहते हैं, उसी प्रकार प्राणी आपके मुखमें गिरते हैं और गर्म हवा पर पड़ी पानी की बूँदों की तरह भस्म हो जाते हैं। इस प्रकार जिस किसी ने आपके मुख में प्रवेश किया है, वे सब नाम, रूप और व्यवहार की दृष्टि से पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं। (४२६)

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ।।३०

और इस प्रकार जगत् को खा लेने पर भी आपकी भूख कम नहीं होती । आपकी जठराग्नि इतनी तीव्र कैसे हो गई ? जिस प्रकार रोगी मनुष्य को ज्वरमुक्त होने पर असाधारण भूख लगती है, तो कितना भी खा लेने पर भी उसकी तृप्ति नहीं होती उसी प्रकार इतना खाकर भी आप जिह्वा से इधर-उधर चाटते ही रहते हैं । आपकी प्रखर क्षुधा की महिमा कैसे वर्णन की जाय ? समुद्र को भी पी जाऊँ, या पर्वतों का ग्रास कर लूँ या ब्रह्माण्ड को दाढ़ के नीचे दबा लूँ । जिस प्रकार भोग का अधिक सेवन करने से काम की वृद्धि होती होती है, अथवा जैसे २ आग में लकड़ियाँ जल जाती हैं वह और भी तीव्र होती है उसी प्रकार इतने लोगों को खा जाने पर भी आपके मुख "खाऊँ-खाऊँ" ही करते रहते हैं । है तो एक ही मुख पर वह इतना फैला हुआ है कि उसकी जीभ की नोंक पर पड़ा हुआ त्रिभुवन बड़वाग्नि में पड़े कैथ की तरह जान पड़ता है । जब आपके मुख का यह हाल है तो फिर आपके अगणित मुखों के लिये उतने त्रिभुवन कहाँ से लाये जा सकेंगे ? जिस प्रकार जङ्गल की जलती हुई अग्नि के बीच में हिरन फँस जाता है, उसी प्रकार वह जगत् आपकी मुखाग्नि में पड़ा हुआ है । यह देव का विश्वरूप नहीं है, वरन् यह लोगों के कर्मफल ही प्रकट हुए हैं । अथवा काल ने जलचरों के लिए एक जाल फैलाया है । ये आपके मुख नहीं हैं, वरन् जगत् को भस्म करने वाले लाक्षागृहों का ही निर्माण किया गया है । अग्नि के प्रखर तेज से प्राणीमात्र के शरीर किस प्रकार जलते हैं, यह बात इसे स्वयं ज्ञात नहीं नहीं होती, पर जिसे वह लगती है उसका तो तो मरण ही होता है । हे देव ! जिसको जगत् की आत्मा कहा जाता है, जब आप वहीं हैं, तो फिर हमारा नाश करने में क्यों प्रवृत्त हुए हो ? हे भगवन् ! आप अपने जगत् के पालन

कर्त्ता होने का ख्याल कीजिए और कम से कम मेरे ऊपर तो कृपा करें। (४३३)

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥३१

"हे वेदों के जानने योग्य त्रिभुवन-पति! मेरी एक विनती सुनिए" यह कहकर अर्जुन ने भगवान् के चरणों पर मस्तक रख दिया। वह फिर कहने लगा—"मैंने तो आपसे विश्वरूप दिखाने को कहा था पर आपने जो त्रिभुवन को निगल जाने के लिए महाभयंकर रूप धारण कर लिया। प्रभु! आप कौन हैं? इतने अधिक मुख आपने क्यों धारण किये हैं? हाथों में ये शस्त्र क्यों ले रखे हैं? आकाश भी ऊँचे होकर लौर लाल आँखें करके आप मुझे क्यों भयभीत करते हैं? ऐसा उग्र रूप क्यों धारण कर रहे हैं?" यह सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा—मैं कौन हूँ और किसलिए यह उग्र रूप धारण किया है, यदि तू यह जानना चाहता है तो सुन!"

श्रीभगवानुवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः
॥३२

"मैं सचमुच ही महाकाल हूँ, लोगों का संहार करने के लिए ही यह प्रचण्ड स्वरूप धारण किया है और अभी इस जगत् को निगल जाऊँगा।" यह सुनकर अर्जुन बोला—"अरे रे! मैंने पिछले संकट से घबराकर छुटकारे की प्रार्थना की तो यह उल्टी दुगुनी आपत्ति पैदा हो गई।" इस पर कृष्णजी ने कहा—"पर तुम पाण्डव इस लाक्षागृह से कुशलतापूर्वक बच जाओगे। तुम पाण्डव तो मेरे अपने ही हो, इस बात पर विश्वास रखो। अन्यथा शेष सबको निगल जाने को मैं तैयार हूँ। जिस प्रकार तीव्र अग्नि में डालने से मक्खन का गोला जल जाता है उसी प्रकार इन सबका नाश होना अब सुनिश्चित है। यहाँ पर

इकट्ठी हुई सब सेना वीरता के गर्व में आकर कह रही है कि यमराज भी हमारे आगे तुच्छ हैं। वे कहते हैं कि जगत् का संहार कर डालेंगे पृथ्वी को निगल जायेंगे और बाणों द्वारा वायु का चलना बन्द कर देंगे। इस प्रकार चतुरङ्ग—सेना के बल पर जो कूद रहे हैं, पराक्रम के घमण्ड में जो आठवें आकाश पर चढ़ गये हैं, जिनके वस्त्र शस्त्रों से भी अधिक तीक्ष्ण है, उन सबको तू गंधर्वनगरों के वैभव या चित्र-लिखित पुतलियों की तरह निर्जीव ही समझ ले। (४६५)

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवेते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३

जिस बल से शरीर की चेष्टाएँ होती हैं सेनाओं के उस बल का तो मैंने पहले ही हरण कर लिया है। अब तो यह सेना कुम्हार के घर में रखे मिट्टी के खिलौने की तरह निर्जीव हैं। इसलिए हे अर्जुन तू शीघ्र खड़ा हो और होश में आ। ये सेनाएँ तो शक्ति से शून्य हो चुकी हैं, इनके संहार करने में ज्यादा परिश्रम नहीं करना पड़ेगा। इससे तुमको इस बात का यश मिलेगा कि अकेले अर्जुन ने शत्रुओं को जीत लिया और साथ ही राज्यलक्ष्मी की भी प्राप्ति होगी। इसलिए तू संग्राम में निमित्त मात्र बन जा। (३७१)

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ।३४

तू द्रोण की परवाहैं मत कर, भीष्म का भय त्याग दे, कर्ण पर कैसे हथियार चलता इससे फिकर मत कर, जयद्रथ को मारने की भी चिन्ता न कर। इनके अतिरिक्त अन्य जो प्रसिद्ध योद्धा हैं उनको भी चित्र में बने सिंह की तरह निर्जीव समझ ले। चाहे जब उनको हाथों से ही पौंछ डाल सकते हो। जब तुमने इनको मेरे मुख में जाते देखा तभी इनका आयुष्य पूरा हो गया। इसलिए अर्जुन तुम शीघ्र उठकर मेरे मारे हुए इन लोगों का संहार कर डालो। व्यर्थ के शोक-संकट मे मत पड़ा रह। जिस प्रकार एक लक्ष्य को ताक कर हम उसका भेदन

कर देते हैं,बाण तो केवल निमित्त मात्र होता है। उसी प्रकार इन सबका नाश करने के लिए तू केवल निमित्त मात्र है। अरे ! जो तेरे साथ वैर भाव रखते थे, उनको जन्म लेते ही काल ने समाप्त कर दिया है। स्वभावतः उन्मत्त, अपने को सर्वाधिक बलवान् मानने वाले,दुष्ट और विष का प्रयोग करने वाले जो तुम्हारे चचेरे भाई हैं, "उनको अर्जुन ने देखते-देखते मार गिराया" यही बात अब सारी दुनियाँ की जबान पर होनी चाहिए। अब तू इस युद्ध में बिना विलम्ब विजय प्राप्त कर। (४८१)

संजय उवाच—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्‌गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५

ज्ञानदेव कहते हैं कि यह कथा संजय ने अपूर्ण मनोरथ धृतराष्ट्र को कह सुनाई। फिर वह बोला कि जिस प्रकार गङ्गा का प्रवाह प्रचंड ध्वनि करता हुआ बहता है, उसी प्रकार गंभीर वाणी से श्रीकृष्ण जो कुछ बोले उसे अर्जुन ने थोड़ा ही सुना। पर इससे उसका सुख बढ़ा या दुःख बढ़ा यह मैं नहीं जान सका। परन्तु उसका शरीर काँपने लगा और उसने दोनो हाथ जोड़कर भगवान् के चरणों में मस्तक नवाया। वह कुछ कहने लगा, पर उसका कण्ठ भर आया। यह स्थिति सुख से हुई या दुःख से इसका निर्णय श्रोताजन स्वयं ही करें। मैं तो श्लोक के अर्थ के आधार पर ही उसकी दशा का वर्णन कर रहा हूँ। उसने फिर डरते-डरते भगवान् के चरणों में मस्तक नवाया और कहा कि आपका यह कहना सर्वथा सत्य है कि 'हे अर्जुन! मैंने काल रूप होकर इन सबको ग्रस लिया है। यह तो मेरा खेल ही है।' (४८२)

अर्जुन उवाच—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६

आप काल रूप परमात्मा इस प्रकार शांति के समय में जगत् की प्रलय करने को उद्यत हो, यह बात मेरी समझ में नहीं आती। किसी मनुष्य की युवावस्था को दूर करके उसे तुरन्त वृद्ध कैसे बना दिया जाय? हे अनन्त ! दिन के चार प्रहर होते हैं, उनके पूरे हुए बिना दोपहर में ही सूर्यास्त हो जाय क्या यह कभी हो सकता है ? इतना ही नहीं, काल रूप भगवान की तीन अवस्थायें कही गई हैं जिनमें से प्रत्येक अपने-अपने समय बलवान होती है। जिस समय उत्पत्ति होती है, उस समय स्थिति और प्रलय लुप्त अवस्था में रहती हैं। यही हालत स्थिति और लय के अवसर पर होती है, अभी तो स्थिति की अवस्था चल रही है, इतने में आप कहते हैं कि मैंने सबको ग्रस लिया यह बात मुझे ठीक लगती नहीं। तब भगवान् संकेत से कहने लगे —"अरे ! इन सेनाओं का आयुष्य तो जैसा मैंने दिखाया, समाप्त हो चुका किन्तु तुमने भ्रम वश सेनाओं को पूर्ववत् खड़े देखा" तो उसने कहा—"हे देव ! आप विश्व के संचालक और सूत्रधार हो, इससे आपके कहने पर यह जगत् पुनः पूर्व स्थिति को प्राप्त हो गया। श्रीहरि ! आप दुःख सागर में डूबे हुओं को बाहर निकालते हो आपकी ऐसी कीर्ति सुनी है। हे भगवन् ! यदि यह जगत् जीवित रहता है तो आप पर प्रेम रखते हुए सुखपूर्वक रहता है और जो दुष्ट हैं उनका तो आप नाश करते ही हैं। राक्षसगण आपके भय से दशों दिशाओं में भागते हैं। परन्तु देव, मनुष्य, सिद्ध यक्ष ही नहीं, समस्त स्थावर और जंगम आपको सप्रेम वन्दना करते हैं।" (५०६)

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७

हे नारायण ! राक्षस आपको नमस्कार न करके दूर क्यों भागते हैं ? इसका कारण यही है कि जिस प्रकार सूर्योदय होने पर अन्धकार नहीं ठहर सकता उसी प्रकार आपके सम्मुख राक्षस किस

प्रकार टिक सकते हैं ? आप प्रकाश के मुख्य स्थान हैं, आपको देखते ही निशाचर स्वभावतः नष्ट हो जाते हैं। हे राम ! इतने से यह बात हमारी समझ में नहीं आई थी, पर अब हम जिस माया-केन्द्र (महत्तत्व) से सृष्टि की पंक्तियों और प्राणिमात्र की बेलें प्रसारित होती हैं, वह आपकी इच्छा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। हे देव ! आप में निस्सीम और अनन्त गुण भरे हैं। आप देवों के भी देव हैं। हे सदाशिव ! आप समस्त ब्रह्मांड के मूल और और अविनाशी हैं। आप ही व्यक्त और अव्यक्त हो, वरन् उससे भी परे जो तत्व है वह भी आप ही हो। (५१३)

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।।३८

आप शिव (पुरुष) तथा शक्ति (प्रकृति) के भी अधिकरण और माया की भी सीमा हो। आप पुरातन हैं और आपसे प्राचीन और कुछ नहीं है। आप ही विश्व के संचालक और जीवों के अधिष्ठान हो, तथा भूत और भविष्य के ज्ञाता हो। वेद रूपी नेत्रों को आपके ही दर्शनों से सुख मिलता है और आपके भेद रहित स्वरूप ही माया के प्रभाव से सर्वत्र व्याप्त हैं वह माया भी आपके ही आश्रित है। इस प्रकार आप समस्त सृष्टि के आश्रय स्थान होकर परम श्रेष्ठ हो। ब्रह्मांड का अन्त होने पर जगत का विस्तार करने वाले आप ही हैं, आपका वर्णन करने में कौन समर्थ है ? (५१८)

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपिताभहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमोनमस्ते ।।३९
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।।४०

जिसमें आप न हों ऐसी इस जगत् में कोई वस्तु है ? इसलिए आप जहाँ कहीं हों वहीं-वहीं आपको मेरा नमस्कार है। हे अनन्त !

आप ही वायु हो, आप ही शासनकर्ता यम हैं, प्राणिमात्र में रहने वाली जठराग्नि भी आप हो, आप ही वरुण, चन्द्र तथा सृष्टि रचयिता ब्रह्मा हो। ब्रह्मा के उत्पन्न करने वाले भी आप ही हो। हे जगन्नाथ! इनके सिवाय आपकी जो विभूतियाँ साकार हों या निराकार हों, उनको मेरा नमस्कार हैं। इस प्रकार अर्जुन ने प्रेम भरे हृदय से नमस्कार किया और फिर—"हे प्रभो! आपको नमस्कार करता हूँ—हे प्रभो! आपको नमस्कार करता हूँ"—यही कहने लगा। वह फिर भगवान की मूर्ति को ऊपर से नीचे तक देखकर कहने लगा—"हे प्रभो! आपको नमस्कार हो—प्रभो! आपको नमस्कार हो।" वह एक-एक अङ्ग को देखकर मन में समाधान पाता और "प्रभो! आपको नमस्कार हो" "प्रभो! आपको नमस्कार हो" कहने लगता। स्थावर जंगम पदार्थ और प्राणियों को भगवान् का रूप ही देखकर "प्रभो! आपको नमस्कार करता हूं प्रभो! आपको नमस्कार करता हूँ" इसी प्रकार बोलने लगा। इस तरह वह प्रेम और भक्ति के ऐसे आवेश में आ गया कि और सब स्तति करना तो भूल गया और बार-बार यही कहता गया "हे प्रभो! आपको नमस्कार करता हूँ।" इस प्रकार उसने हजारों बार नमस्कार किया। फिर उसने कहा—"स्वामिन्! आपके पेट और पीठ कहाँ है यह ढूँढ़ने से क्या लाभ? तथापि आप जो मेरी पीठ के पीछे खड़े हो उसे नमस्कार है। आप पीठ के पीछे खड़े हैं, इससे आपको पृष्ठ रक्षक कहा जा सकता है। यों, वैसे तो आप समस्त जगत् की पीठ के पीछे हो या आगे यह कहा ही नहीं जा सकता। हे देव! आप अनन्त बल के भंडार हो, अमित पराक्रमशाली हो, सर्व काल में समान हो, सर्व व्यापी हो—नमस्कार करता हूँ। हे देव! अब मुझे प्रतीत हो गई कि आप समस्त पदार्थों से अलग नहीं है, इसलिए सर्वत्र आप ही हैं। (५३६)

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१

परन्तु हे प्रभो ! आपके इस स्वरूप को अब तक मैं तनिक भी नहीं जान सका था और आपके साथ सगे सम्बन्धी की तरह चाहे जैसा बोलता रहता था। अरे ! यह तो मैंने बड़ा बुरा किया। मैंने अमृत का उपयोग आँगन में छिड़काव के लिए किया और घोड़े के बदले में कामधेनु को दे दिया। पारस पत्थर का पहाड़ मिल गया, पर हमने उसको रोड़ा बनाकर नींव में भर दिया। इसी प्रकार आपके सान्निध्य से जो लाभ मिल सकता था, उसे खो दिया। आज का ही उदाहरण देखो कि इस युद्ध की क्या बात थी, पर आप परब्रह्म को अपना सारथी बनाया। दुष्ट कारवों की सभा में आपको दूत बनाकर भेजा। इस तरह हे जगदीश्वर ! हमने स्वार्थ के लिए आपका उपभोग किया। आप तो योगियों के समाधि-सुख हैं, पर मुझ मूर्ख ने इस बात को न समझा और आपसे विनोदात्मक बातें ही करता रहा। (५४३)

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२

आप विश्व के आदि पुरुष हैं, पर आप जब सभा में बैठते थे तो आप हमारे सम्बन्धी हैं,यह समझकर हर तरह का व्यवहार करता रहा। जब आपके घर जाता तो आपकी बराबरी का सम्मान पाता और उसमें त्रुटि हो जाती तो रूठ जाता जिससे आप मुझे मनाते थे। हे शार्ङ्गपाणि ! इस प्रकार मैंने बहुत-सी ऐसी बातें कीं जिनके लिये मुझे अब आपके चरण पकड़ कर क्षमा माँगनी चाहिये। बड़प्पन के घमण्ड से हम आपसे पीठ फेर के भी बैठे हैं, पर वह हमारी भूल थी। हे देव ! आपके साथ पटाबाजी खेलते, कुश्ती लड़ते, शतरंज खेलते, आपका तिरकार करके खूब झगड़ा किया है। जो सबसे उत्तम वस्तु हो वह सबसे पहले हमको दो,यह कहकर माँग लेता था और आप सर्वज्ञको अनेक बार सिखावन देने लगता और कहता कि हम आपके कौन होते हैं, इस प्रकार

हमने घोर अपराध किये हैं, पर मैं आपके चरणों को छूकर कहता हूँ कि वह अनजाने ही किया गया था। जब आप प्रेम-पूर्वक भोजन के लिए मुझे बुलाते तो मैं रूठ जाता, आपके साथ एक शैया पर सो जाता, आपको "ओ कृष्ण !" कह कर बुलाता। अति परिचय के कारण मैं अनेक बार आपके आसन पर बैठ गया हूँ और आपके शब्दों की अवमानना की है। हे अनन्त ! मैं अपने इस प्रकार के अपराधों को कहाँ तक कहूँ ? हे प्रभो ! आपके सम्मुख अथवा पीठ पीछे मेरे द्वारा जो अनुचित कार्य हुआ हो अथवा इससे भी आगे हो तो उसे उसी प्रकार पेट में रखना जैसे माता पुत्र के अपराधों को पेट में डाले रहती है। कभी नदी का पानी गन्दा होकर समुद्र में पहुँचता है, तो भी उसे अंगीकार करने के सिवाय समुद्र पास अन्य उपाय नहीं होता। इसी प्रकार प्रेम से या भूल से जो कुछ कहा तो हे मुकुन्द ! उसे क्षमा करो। मैं आपकी जितनी भी विनती करूँ वह कम है। पर मैं आपका ही कहलाता हूँ, आपकी शरण आया हूँ इसलिये मेरे सब अपराध क्षमा करो। (५६०)

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥४३

हे भगवान् ! मैंने आपकी यथार्थ महिमा अभी जानी है। आप चराचर के उत्पत्ति स्थान हो, विष्णु, शिव आदि देवों के भी परम् देव हो। ब्रह्माजी को वेद पढ़ाने वाले मूल गुरु आप ही हैं। श्रीराम् ! आपकी सबके प्रति समदृष्टि रहती है आप सब गुणों में अनुपम और अद्वितीय हो। आपकी समानता का और कोई नहीं है। आपने जो आकाश उत्पन्न किया है उसमें समस्त जगत् समा जाता है, फिर कोई आपकी बराबरी कैसे कर सकता है, फिर आपसे कोई अधिक है यह तो कहा ही कैसे जा सकता है ? त्रिभुवन में आप ही एक हैं, आपकी महिमा अगाध है, उसका वर्णन करने में हम असमर्थ हैं। (५६६)

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ।।४४

इस प्रकार कहकर उसने भगवान्को साष्टाङ्ग नमस्कार किया और तब अष्ट सात्विक भाव उत्पन्न हो गये । वह गद्गद् स्वर से कहने लगा "प्रसन्न हो ! प्रसन्न हो, मुझे अपराध रूपी समुद्र से बाहर निकाल लो । आपको सम्बन्धी मानकर हमने कभी आपको जगत का मित्र नहीं समझा । अगर कोई कहता कि आप सर्वनियन्ता ईश्वर हैं तो हम उस पर आश्चर्य ही प्रकट करते थे । सभा में भी जब मेरा गुणानुवाद करते तो मैं बड़बड़ाता रहता । हे मुकुन्द ! हमसे जो ये अपराध हुए हैं उनसे हमारी रक्षा करो । छोटा बालक जिस प्रकार लाड़ में पिता से बोलता है,वैसे ही मैं आपसे बोलता हूँ । हे प्रभो ! पुत्रसे अनेक अपराध हुए हों तो पिता द्वैतभाव न रखकर उनको सहन करता है, उसी प्रकार आप मेरे सब अपराधों को सहन कीजिए । हे देव ! मित्र के उद्धत व्यवहार को मित्र शांति से सहन करता है, वैसे ही आप मेरे अपराधों को सहन करें । जिस प्रकार प्रिय मित्रों से कोई सम्मान की माँग नहीं करता उसीं प्रकार आपने राजसूय यज्ञमें हमारी जूँठन उठाई, उसके लिए मुझे क्षमा करें । जैसे प्रिय स्नेही से भेंट होने पर अपने बीते संकट उससे कहने में संकोच नहीं होता, वैसे ही हे प्रभो ! मैंने आपसे अपने अपराधों को क्षमा करने की विनती की है । इसके सिवाय मैं एक बात और भी कहना चाहता हूँ । (५७८)

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ।।४५

हे कृष्ण भगवान् ! मैंने आपसे विश्वरूप दिखाने का हठ किया और आपने अत्यन्त दयालुता से उसे पूरा कर दिया । आँगन में कल्प तरु लगाने और कामधेनु के बछड़े से खेलने का शौक माता की तरह पूर्ण कर दिया । जिस अमृत का थोड़ा-सा बरसना भी असम्भव है उसकी वर्षा आप चार महीना तक करते रहे । इस प्रकार हे प्रभो !

आपने मेरी बाल इच्छा पूरी कर दी जिससे मैं कृतकृत्य हो गया। जो विश्वरूप आपने मुझे दिखाया उसका नाम भी शिवजी और ब्रह्माजी ने नहीं सुना है। उपनिषदों को भी उसका पता नहीं है। कल्प के आदि से आज तक मेरे जितने जन्म हुए हैं, उनमें से किसी में मैंने ऐसे स्वरूप की बात सुनी भी नहीं थी। विश्वरूप के समीप बुद्धि की कल्पना भी नहीं पहुँच सकती फिर देखने की तो बात ही क्या? हे देव! आपने जो यह विश्वरूप दिखाया उससे मेरा मन चकित हो गया है, पर अब मेरे मन में यही इच्छा पैदा हो रही है कि आपके साथ वार्तालाप करूँ, आलिंगन करूँ। पर इस समय तो मैं आपसे किस मुख से बातें करूँ, किसका आलिंगन करूँ। क्योंकि आपके रूपों और मुखों का तो पार ही नहीं है। जिस प्रकार पवन के साथ दौड़ना, आकाश को आलिंगन करना, समुद्र में जलक्रीड़ा करना सम्भव नहीं, उसी प्रकार आपके विश्वरूप का उपयोग नहीं हो सकता, उल्टा भय लगता है। अतः हे देव! अब आप इस रूप का संवरण कर लो। कौतूहल से चराचर अवलोकन तो किया जाता है, पर अन्त में घरमें रहने की ही इच्छा होती है, उसी प्रकार हमारा विश्राम स्थल तो आपका चतुर्भुज रूप ही है। योग-अभ्यास से भी इसी स्वरूप की प्रतीति होती है, शास्त्रों से भी इसी का प्रतिपादन होता है, यज्ञों का फल भी यही है, इसी के लिये तीर्थ भ्रमण किया जाता है। उसी चतुर्भुज रूप के दर्शन करने के लिये मेरे मन में तीव्र उत्कण्ठा हो रही है। सबके मनोगत भाव को जानने वाले हे जगन्निवास! हे देवाधिदेव! प्रसन्न हों! प्रसन्न हों!! (५६६)

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ।४६

हे भगवान्! जिसके आगे नीलमणि की प्रभा भी मन्द पड़ जाय ऐसी आपकी अंग कांति का कहाँ तक वर्णन करूँ। जिस प्रकार मरकतमणि में सुगन्ध पैदा हो जाय उसी प्रकार आपका कटि प्रदेश

मदन की शोभा को भी बढ़ा देता है। आपने जो मुकुट धारण कर रखा है वह आपके मस्तक के सौन्दर्य से और भी शोभायमान लग रहा है। गले में धारण की हुई बैजयन्तीमाला इन्द्र धनुष के समान शोभा देती हैं। राक्षसों को भी मोक्ष देने वाले आपके हाथों में गदा और चक्र कैसे सौम्य जान पड़ते हैं ? इसलिए हे प्रभु ! अब आप उसी चतुर्भुज रूप को धारण करो, विश्वरूप के दर्शन से तो अब नेत्र तृप्त हो चुके हैं। इस समय पहले कृष्ण रूप को देखने के सिवाय और कोई इच्छा नहीं है। हमको आपकी उस मूर्ति के अतिरिक्त भक्ति और मुक्ति देने वाला और कुछ नहीं है। इसलिए आप इस रूप को समेटकर माधुर्य पूर्ण चतुर्भुज रूप में ही दर्शन देने की कृपा करें।

श्रीभगवानुवाच—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ।४७

अर्जुन की ऐसी बात सुनकर भगवान् कृष्ण को बड़ा आश्चर्य हुआ और कहने लगे—तेरे जैसा अविचारी मैंने कहीं नहीं देखा। मुझे जो यह अद्वितीय लाभ प्राप्त हुआ उससे सन्तुष्ट न होकर भयभीत हो रहा हूँ और व्यर्थ की बात कर रहा हूँ। मैं दूसरे लोगों पर तो बाह्यरीति से ही प्रसन्न होता हूँ, पर तुम्हारे लिए आंतरिक प्रसन्नता होने से ही मैंने अपना सब रहस्य प्रकट करके इतना विशाल रूप धारण किया है। मैं स्वयं नहीं समझ पाता कि तेरी प्रेम भक्ति से मेरा मन ऐसा मुग्ध कैसे हो गया कि मैंने अपने गुह्य रूप की ध्वजा जगत् में खड़ी कर दी। यह मेरा अखण्ड और अनादि रूप है जिसमें सेकृष्ण आदि अवतार उत्पन्न होते हैं। हे अर्जुन ! तेरे सिवाय आज तक इसके विषय में किसी ने कुछ सुना भी नहीं था, क्योंकि यह रूप साधन द्वारा नहीं देखा जा सकता।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ।४८

इस रूप का पता लगाते हुए वेद भी मौन हो जाते हैं। यज्ञ करने वाले भी स्वर्ग से पीछे लौट आते हैं। साधकोंने बहुत अधिक श्रम समझ कर योगाभ्यास छोड़ दिया। अध्ययन द्वारा भी इस स्वरूप तक नहीं पहूँचा जा सकता। नित्य नैमित्तिक कर्मों ने अपनी श्रेष्ठता समझकर प्रयत्न किया पर वे सत्य लोक तक ही पहुँच सके। तपस्वियों ने भीअपनी पराजय स्वीकार कर ली। किन्तु भक्तोंको इसका ऐश्वर्य सहज में दिखाई दे गया, वैसा मनुष्य-लोको में और किसी को नहीं होता। आज जगत् में इस ध्यान-सम्पदा का योग पात्र तू ही है। ब्रह्माजीके भाग्यमें भी इस ध्यान सम्पदा का योग पात्र तू ही है। ब्रह्माजी के भाग्य में भी इस स्वरूप के दर्शन का लाभ नहीं है।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ।४९

हे अर्जुन ! विश्वरूप के दर्शन से आज तू धन्य हो गया। अरे ! इस रूप से डरना क्या ? इससे श्रेष्ठ तो कुछ और है ही नहीं। अगर अमृत का समुद्र मिल जाय तो क्या कोई डूबने के भय से उसका त्याग कर सकता है ? अथवा सोने के पर्वत को बहुत भारी समझ कर कोई उसे छोड़ सकेगा ? कामधेनु मिल जाने पर क्या कोई यह कहकर उसे अस्वीकार कर देगा कि इसका पालन कैसे करेंगे ? यदि चन्द्रमा घर पर आ जाय तो क्या कोई कहेगा कि तुम हट जाओ, तुमसे सर्दी लगने लगेगी ?" इस प्रकार विश्वरूप का ऐश्वर्य सहज ही मिल जाने पर इतनी घबराहट क्यों पैदा होती है ? पर हे धनञ्जय ! तुम बड़े नासमझ हो कि ये बातें तेरी समझ में आती ही नहीं। तू वास्तविक शरीर को त्यागकर छाया को आलिंगन करना चाहता है। तू मेरे साकार चतुर्भुज रूप से प्रेम रखता है, पर वह मेरा सच्चा स्वरूप नहीं है। इसलिए तू उसकी आस्था त्याग कर विश्वरूप को ही वास्तविक समझ। यह रूप यद्यपि भयंकर और विशाल है पर यही मेरा सत्वरूप है, इसका तू पूर्ण निश्चय करले। जिस प्रकार कृपण व्यक्ति

अपना मन द्रव्य-भण्डार में रखकर केवल शरीर से सांसारिक व्यवहार किया करता है, अथवा जिस प्रकार गाय पहाड़ पर चरती रहती है पर उसका चित्त घर पर बँधे बछड़े में लगा रहता है, उसी प्रकार भीतर से अपना प्रेम विश्व रूप के साथ ही रख, चाहे ऊपर से चतुर्भुज मूर्ति का ध्यान करते रहो। हे पाण्डव! मेरी इस बात को कभी मत भूलना और इस स्वरूप के भाव को अन्यत्र मत जाने देना। यह स्वरूप तुमने कभी देखा नहीं था, इसी से डर लग रहा है उसे छोड़ दे। भगवान् फिर कहने लगे — अर्जुन तेरे कथानुसार मैं पुनः चतुर्भुज का रूप धारण कर रहा हूँ, उसे तू सुख पूर्वक देख। (६२९)

संजयउवाच–

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ।५०

इतना कहकर भगवान् ने फिर मनुष्य रूप धारण कर लिया। पर इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। भगवान् भक्तों की इच्छानुसार चाहे जो रूप धारण कर सकते हैं। भगवान् कृष्ण ने अपना जैसा विश्व-रूप अर्जुन को दिखाया, वह उसे पसन्द न आया। जैसे कोई माँगी हुई चीज पाकर भी उसे फेंक दे या किसी सुन्दर कन्या को देखकर कह दे कि "यह पसन्द नहीं आई" ऐसी ही बात यह हुई। भगवान् ने अर्जुन को अपनी महिमा का सर्वोत्तम भाग 'विश्वरूप' दिखला दिया, इससे अधिक वे क्या प्रेम भावना प्रकट करते? सुवर्ण के डेलेसे आभूषण बनाया जाता है, अगर यह पसन्द न आये तो पुनः डेला ही बना दिया जाता है। इसी प्रकार अर्जुन के प्रेम के लिए भगवान् ने विश्वरूप धारण किया था, पर जब वह उसे न भाया तो पुनः पहला ही रूप धारण कर लिया। शिष्य के हठ को इस प्रकार सहन करने वाला गुरु कहीं अन्यत्र देखने में आया है? संजय ने कहा कि इस प्रकार भगवान् अपने भक्त पर

कितनी प्रीति रखते हैं उसका वर्णन कर सकना कठिन है। भगवान् ने जो विश्वव्यापी दिव्य तेज प्रकट करके विश्व रूप दिखलाया फिर उसका समावेश कृष्ण रूप में कर लिया। (६४७)

जिस प्रकार परमात्मा रूप में समस्त जीवरूप समा जाते हैं, उसी प्रकार भगवान् ने फिर कृष्णरूप ही धारण कर लिया। श्रीकृष्ण रूपी आकृति में जो विश्वरूप वस्त्र का थान रखा था, उसे खोलकर दिखा दिया गया, पर जब उसकी लम्बाई, चौड़ाई और रंग आदि देख कर अर्जुन रूपी ग्राहक को उसे खरीदने की इच्छा नहीं हुई तो व्यापारी कृष्ण ने पुनः थान को लपेटकर रख दिया। विश्वरूपकी अत्यन्त विशालता से समस्त जगत् भर गया था पर, अब उसी विराट रूप का मोहक और मधुर चतुर्भुज रूप बन गया। उन्होंने पुनः लघु रूप धारण करके अर्जुन को आश्वासन दिया। जैसे कोई मनुष्य प्रपंच ज्ञान से छुटकारा पाकर परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त कर ले वैसी ही स्थिति अर्जुन की हुई। अर्जुन को ऐसा लगा कि इस चतुर्भुज मूर्ति के सम्मुख जो विश्वरूप का पर्दा पड़ गया, वह बहुत अच्छा हुआ। सूर्य के अस्त हो जाने पर जिस प्रकार आकाश में नक्षत्र पुनः दृष्टिगोचर होने लगते हैं, वैसे ही अर्जुन को समस्त लोक समुदाय के साथ समस्त पृथ्वी, कुरुक्षेत्र का मैदान दोनों पक्षों की सेनायें दिखाई देने लगीं। उसने यह भी देखा कि दोनों ओर के वीर एक दूसरे पर वाण वर्षा कर रहे थे, कृष्णजी रथ के जुए पर बैठे थे और स्वयं अर्जुन नीचे खड़ा था। (६६२)

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ।५२

उस वीर श्रेष्ठ अर्जुन ने अब जैसी इच्छा की थी, वैसे ही रूप को देखकर वह कहने लगा—"हे महाराज ! अब मेरे जी में जी आया।" उसका ज्ञान, बुद्धि मन इन्द्रियों की शक्ति, जो सब निश्चेष्ट

हो गये थे, वह मिटकर वह पुनः सचेष्ट हो गया। उसने कहा—हे देव! आपने जो यह मानव रूप धारण कर लिया, वह ऐसा ही है जैसे अपराधी बालक को माता पुनः स्तन पान करती है, विश्वरूप के समुद्र में मैं हाथों से पानी को चीर रहा था सो अब चतुर्भुज मूर्ति रूपी तीर पर आ लगा। आपने मुझे दर्शन ही नहीं दिया हैं, बरन सूखते हुए वृक्ष पर मेघ वृष्टि की है। हे महाराज! थोड़ी सी प्यास लगने पर मुझे अमृतसिन्धु की ही प्राप्ति हो गई है। अब मेरा मृत्युभय दूर हो गया, मेरे हृदय रूपी आँगन में हर्ष रूपी लता लग गई और मुझे आनन्द तथा ज्ञान की प्राप्ति हो गई। (६७२)

श्री भगवान् उवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिण: ।५२

अर्जुन की बात सुनकर भगवान् ने कहा—'अरे! यह कैसी बात करता है? मैंने तुझे समझाया था कि नहीं कि विश्वरूप में प्रेम रख कर चतुर्भुज रूप से भेंट करने को केवल शरीर द्वारा आओ। हे अर्जुन! अन्धे को यदि सोने का मेरु पर्वत दे दिया जाय तो उसे वह छोटा ही लगता है, वही हाल तेरा हो रहा है। पर यह भूल मानसिक भावना की है। अरे! मैंने तुझे जिस विश्वरूप का दर्शन कराया वह तप करने पर शिवजी को प्राप्त नहीं हो पाता अष्टांग योग साधन करने वाले योगी चाहें अपनी काया को क्षीण कर डालें तो भी विश्वरूप के दर्शन नहीं पा सकते।" "यह विश्वरूप क्षण भर को ही देखने को मिल जाय"—यही विचारते हुए देवों की आयु पूरी हो जाती है। चातक जिस प्रकार मेघ की राह देखता है, उसी प्रकार देवता और मनुष्य जिसके लिए आठों प्रहर इच्छा करते रहते हैं, फिर भी उस स्वरूप का दर्शन नहीं पा सकते, वही विश्वरूप तुमको प्रत्यक्ष महा आनन्द के साथ प्राप्त हो गाया। (६८१)

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।५३

हे अर्जुन ! इस विश्वरूप के दर्शन कर सकने का कोई उपाय नहीं है । इस विषय में चारों वेद और षट् शास्त्र ने हार मान ली है । हे धनुर्धर ! मेरे स्वरूप के लिए अनेक तपस्यायें भी समर्थ नहीं हैं । जिस प्रकार उस रूप का तुझे दर्शन हो गया, उसे प्राप्त करना दान और यज्ञ वालों के लिए भी सम्भव नहीं है। इसका केवल एक ही उपायहै कि मनुष्य का अन्तःकरण भक्ति से सराबोर हो जाय, तभी इस रूप की प्राप्ति सम्भव होती है ।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।५४

परन्तु वह भक्ति ऐसी होनी चाहिए जैसे वर्षा की धारा आकाश से चलकर सीधी पृथ्वी पर आती है । इस प्रकार जो भक्ति एकनिष्ठ होती है अथवा गंगा के प्रवाह की तरह कहीं भी न रुकती हुई समुद्र में ही पहुँचती है, वैसे ही वह भक्ति मेरी तरफ अनन्य वेग वाली होती है । उसी प्रकार जो नर सात्विक भाव से सर्वत्र समान प्रेम रखता है वह मेरे स्वरूपका अंग बन जाता है। जैसे क्षीर सागर सर्वत्र एक-साही मीठा है, उसी प्रकार मैं भी हूँ । अतएव मुझे वही मनुष्य जान सकता है जो द्वैत भाव को त्यागकर ब्रह्म से लेकर चींटी तक में एक मात्र मेरा ही भजन करे । वही विश्वरूप देखने के योग्य हो सकता है । जिस प्रकार लकड़ी में से अग्नि प्रकट होने पर लकड़ी का नाम नहीं रहता, सब अग्नि रूप हो जाता है, अथवा सूर्य-चन्द्र के उदय होने पर अन्धकार से पूर्ण आकाश में सर्वत्र प्रकाश हो जाता है, उसी प्रकार मेरे विश्वरूप से मेरे भक्तों का अहंकार नष्ट हो जाता है फिर द्वैत भाव जाता रहता है । अर्थात् अब 'मैं' और 'वह' का समस्त भाव दूर होकर सर्वत्र 'स' ही उपस्थित हूँ, ऐसा भाव चित्त में दृढ़ होता है और तभी मेरे साथ ऐक्य होता है ।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वं भूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।५५

जो मुझको ही अपने किये समस्त कर्म अर्पण कर देता है, जिसको जगत् में मेरे अतिरिक्त और प्रिय नहीं है, जो मुझको ही परलोक का फल मानता है, जो निर्वैर होकर जगत् में प्रत्येक वस्तु को मेरा रूप समझकर भजता है, ऐसा भक्त इस कफ, चित्त और बात से बने भौतिक देह को त्यागने पर मुझको ही प्राप्त होता है । संजय ने कहा—हे राजा धृतराष्ट्र ! जिनका पेट समस्त विश्व से भरा हुआ होने के कारण मोटा जान पड़ता है, ऐसे भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन के प्रति करुणायुक्त वाणी से ऐसा भाषण किया । कृष्ण की भक्ति करने में चतुर अर्जुन ने भगवान् की दोनों मूर्तियों के दर्शन करके विश्वरूप की अपेक्षा चतुर्भुज रूप को ही लाभ दायक माना । भगवान् कृष्ण ने अर्जुनकी इस मान्यता को प्रसंशनीय नहीं बतलाया, क्योंकि व्यापकरूप सत्य नहीं कहा जा सकता । इस बात को सिद्ध करने के लिए भगवान् ने दो उत्तम दृष्टांत दिये । उनको सुनकर अर्जुन मन में कहने लगा कि इन दोनों रूपों में कौन उत्तम है यह अब पूछूँगा । अर्जुन कैसा प्रश्न करता है, यह ज्ञानदेव के मुख से सरस 'ओवी' छन्दों में आनन्द पूर्ण अन्तःकरण से सुनिये । (७६८)

❀ इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायाँ
एकादशोऽध्यायः ।११। ❀

।। अथ द्वादशोऽध्यायः ।।

हे गुरु कृपादृष्टि ! तेरी जय जयकार हो । तू निर्मल, उदार और निरन्तर अज्ञान रहित आनन्द की वृष्टि करने वाली है । विषयरूपी सर्प के लिपट जाने पर मूर्छित हुए मनुष्य का विष आपके ही प्रभाव से उतर जाता है । जब आपकी कृपा की लहर आती है तो संसार के ताप और शोक का सब कष्ट मिट जाता है । हे स्नेह मूर्ति ! तेरे द्वारा सेवक को योग सुख के चमत्कारों की प्राप्ति होती है । 'मैं ब्रह्म बन जाऊँ" ऐसी उत्कण्ठा की पूर्ति करने वाली तुम्हीं हो । भक्त को तू अपनी मूलाधार रूपी गोदी में बैठाकर हृदयाकाश रूपी पालने में झुलाती है । मन को विषयों से विमुख करके उन्हें मन और प्राण के खेल खिलाती है । सेवक के आत्मसुख का उपभोग करती है । जीवन कला का अमृतपान कराके 'सोऽहं, की ध्वनि का गीत गाती है और समाधि सुख से शान्त करके सुला देती है । इस प्रकार तू साधकों की माता है और तेरे चरणों की शरण लेने से समस्त ज्ञानकी प्राप्ति होती है, इसलिए मैं आपका आश्रय नहीं छोड़ता । (८)

हे सद्गुरु कृपादृष्टे ! जिस पर तेरी दया होती है वह समस्त विधाओं का उत्पादक (ब्रह्मा) बन जाता है । अतः हे अम्बे ! हे सेवक का मनोरथ पूर्ण करने वाली कल्पलता ! इस गीता के अर्थ का विस्तार करने की मुझे आज्ञा दे । हे माता ! मेरे इस ग्रन्थ में नव रस के सागर अलंकारों की खानें और भावार्थ के पर्वत निर्माण कर दे । देश भाषा रूपी जमीन में अलंकार रूपी सुवर्ण की खानें खुदवा, विचार रूपी

लताओं को लगवाओ। उन सम्वाद रूपी फल और मार्मिक अर्थों के उद्यान लगा दे, पाखण्ड रूपी टेकरियों, वितण्डावाद रूपी टेढ़े तिरछे रास्तों तथा कुतर्क रूपी हिंसक पशुओं का उन्मूलन कर दे। मुझे सदा श्रीकृष्ण के गुण गाने को तत्पर रख और श्रोताओंको श्रवण रूप राज्यासन पर आरूढ़ कर। देश भाषा रूपी नगर में ब्रह्म विद्या का सुकाल हो और लोग ब्रह्मविद्या रूप सुखको ही लेने-देने लगें,ऐसी कृपा कर। हे गुरु कृपा दृष्टि माता! यदि तू अपने आँचल की छाया मेरे ऊपर करेगी तो इस प्रकार के ग्रन्थ की रचना मैं अवश्य कर लूँगा। इतनी विनती सुनते ही श्री गुरुदेव ने कृपा दृष्टि से ज्ञानेश्वर की ओर देखकर कहा—अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है, अब गीतार्थ का कहना आरम्भ कर।' यह मुझको महा प्रसाद मिल गया, उससे आनन्द पाकर गीता का अर्थ बताने वाली कविता को बोल।। हूँ उसे ध्यान देकर सुनिये। (१६)

अर्जुन उवाच—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।१

वीरश्रेष्ठ और चन्द्रवंश विजयध्वज स्वरूप पांडुपुत्र अर्जुन कहने लगे—हे भगवान्! मेरी बात सुनिये। आपके अद्भुत विश्वरूप को देखकर मुझे भय लगा आपकी इस सगुण मूर्ति को देखने की इच्छा हुई। आपने इसका निषेध किया। पर वास्तविक दृष्टि से देखने पर तो साकर और निराकर दोनों रूप आपके ही हैं। भक्ति से आपके सगुण रूप की ओर योग से निर्गुण रूप की प्राप्ति होता है। हे बैकुण्ठनाथ! आपको प्राप्त करने के दो मार्ग हैं। सोने के बड़े टुकड़े से जो कस उतरता है वही कस उसके जरा से टुकड़े से भी उतरता है। इस प्रकार आपके व्यापक और एक देशीय रूपकी महत्ता एक समान ही है। अमृत

के समुद्र में जो सामर्थ्य है वही सामर्थ्य उसमें से एक अंजलि भर में भी होती है। मेरा अपना अनुभव तो यही है, पर हे भगवन् ! आपने क्षण भर के लिए जो विश्वरूप धारण किया था, वही आपका सच्चा रूप है अथवा वह लीला मात्र थी ? जो समस्त कर्म केवल आपके ही लिये करता है, जिसके लिए आपके सिवाय अन्य कोई वस्तु श्रेष्ठ नहीं है और जो आपकी मूर्ति को हृदय में धारण करके आपकी ही उपासना करता है इस प्रकार के भक्त और उन ज्ञानियों में जो आपके ॐकार से भी परे निराकार, अविनाशी, स्थल रहित नाम रहित रूप की उपासना करते हैं, सच्चा योगी आपको जानने वाला कौन हैं ? अर्जुन के वचनों से जगद्बन्धु श्री कृष्ण को सन्तोष हुआ और वे कहने लगे—'वाह-वाह प्रश्न करने की शैली तो तुमने बहुत अच्छी सीख ली है। (३०)

श्रीभगवान् उवाच–

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ।२

यह देख कि अस्त होते समय सूर्य बिम्ब के साथ उसकी किरणें भी प्रयाण कर जाती हैं, अथवा, हे अर्जुन ! वर्षा ऋतु में नदी जिस प्रकार अधिक बड़ी हो जाती है, उसी प्रकार मेरी भक्ति करते हुए जिनके हृदय में नित्य नवीन श्रद्धा दिखाई देती रहती है, अथवा पवित्र गङ्गाजी की तरह जिनके हृदय में पूर्ण प्रेमभाव उमड़ता ही रहता है, जो दिन रात्रि का विचार न करके काय-वचन और मन से मेरे ही ध्यान में, उपासना में लगा रहता है और इस प्रकार जो मुझ में ही मिल जाता है, उन भक्तों को मैं 'परम' योग युक्त मानता हूँ।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।३
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।४

- और हे अर्जुन ! जो मेरे ज्ञानी भक्त हैं वे 'हम ब्रह्म ही हैं' ऐसी वृत्ति रखकर निराकार परमात्मा को प्राप्त करते हैं। पर जो ब्रह्म मन से अचिन्त्य और बुद्धि से अग्राह्य है उस तक इन्द्रियाँ कैसे पहुँच सकती हैं ? जिसका ध्यान भी बड़ा गूढ़ है, जो किसी एक स्थान पर मिल नहीं सकता, जिसका कोई आकार नहीं, जो न कभी हुआ, न होगा और न है, जो चलता है न हिलता है, जिसे न पूर्ण कहा जा सकता है न अपूर्ण ऐसे ब्रह्म को प्राप्त करना महा कठिन होता है। जिन्होंने विषय रूपी सेना को वैराग्य रूपी प्रचण्ड अग्नि से जला डाला है, उन्होंने उत्तेजित इन्द्रियों को महा कष्ट पूर्वक वशीभूत कर रखा है, जिन्होंने योगाभ्यास में अपानवायु के द्वार पर आसन की मुद्रा लगाकर मूलवन्ध का मीनार खड़ा किया है, जिन्होंने आशा से सम्बन्ध त्याग निराशाकी चट्टानों को तोड़ निद्रा के अन्धकार को दूरकर दिया है, जिन्होंने शरीर स्थित सातों धातुओं की होली जलाकर व्याधि के मस्तक को षट्चक्र से तोड़ दिया है, फिर आधार चक्र पर कुण्डलिनी की मशाल जलाकर उसी प्रकाश में सहज ही मस्तक तक चले जाते हैं, जो इन्द्रिय रूपी नौ द्वारों पर निग्रह की कीलें ठोंक कर केवल सुषुम्ना की खिड़की को खुला रखते हैं, जो प्राण शक्ति रूपी चामुण्डा देवी को संकल्प रूपी अज की बलि देकर मन रूपी महिषासुर का मस्तक चढ़ाते हैं, जो सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से चलकर ब्रह्मरन्ध्र तक जा पहुँचते हैं, इस प्रकार हे अर्जुन ! जो सर्वत्र समान बुद्धि रखकर योगसिद्धि करके उसके बदले में निराकार ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं, ये भी मुझ में आ मिलते हैं। पर ऐसे कठिन योग मार्ग के कारण कुछ अधिक प्राप्ति नहीं होती, उल्टा अधिक कष्ट उठाना पड़ता है (५९)

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।५

प्राण मात्र का प्रिय, निराश्रय और अत्यन्त ब्रह्म को बिना भक्ति के प्राप्त करने वाले के मार्ग में इन्द्र की पदवी और ऋद्धि-सिद्धि आदि बाधायें उपस्थित करती हैं। काम क्रोध के अनेक उपद्रव सहन करने पड़ते हैं और शून्य वस्तु के सङ्ग झगड़ना पड़ता है। उन्हें अपनी प्यास को प्यास से, भूख को भूख से ही मिटाना पड़ता है और रात-दिन हाथों द्वारा वायु नापनी पड़ती है। उन्हें दिन में ही सोना, इन्द्रियों का निरन्तर निरोध करना, वृक्षों के साथ खेलना, ठण्ड को पहिनना, गर्मी को ओढ़ना, जलवृष्टि घर में निवास करना पड़ता है। हे अर्जुन ! अधिक क्या कहूँ यह योग बिना पति वाली स्त्री के भस्म हो जाने के समान है। इस मार्ग में नित्य नृत्य के साथ युद्ध करना पड़ता है और इस प्रकार यह मृत्यु से भयंकर उबलता हुआ विष है। इसे कौन निगल सकता है ? अरे, जो पहाड़ को लीलना चाहेगा क्या उसका मुख नहीं फट जायेगा ? इसलिए जो इस प्रकार के योग मार्ग को अंगीकर करते हैं उनके भाग्य में दु:ख रूपी शुष्क भाग ही होता है। यदि पोपले मनुष्य को लोहे के चने खाने को दिये जाँय तो क्या उसका पेट भर सकेगा। क्या कोई मनुष्य हाथों से समुद्र को पार कर सका है ? आकाश में कोई पैरों से चला है। हे अर्जुन ! जिस प्रकार लंगड़ा आदमी वायु के साथ दौड़ने की स्पर्धा नहीं कर सकता, उसी प्रकार देहाभिमानी जीव को निराकार की प्राप्ति नहीं हो सकती। ऐसा होने पर भी जो अव्यक्त ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ही चेष्टा करते रहे, वे कष्ट को सहन करते हैं। पर जिन्होंने भक्ति मार्ग को स्वीकार किया, उन्हें ऐसे कष्ट सहन नहीं करने पड़ते। (७५)

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।६

अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुसार जो कर्म अपने हिस्से में आते हों उन सबको कर्मेन्द्रियों द्वारा सुख पूर्वक करे। उन सब कर्मों को

विधिपूर्वक मुझे अर्पण करे और निषिद्ध कर्मों को त्याग दे । इस तरह जो मुझे कर्मार्पण करके नष्ट इनको कर डालता है और जिनके कायिक वाचिक, तथा मानसिक कर्मों की दौड़ भी मुझ तक ही होती है, जो निरन्तर मेरी सेवा में रहकर सत्यपरायण हो जाते हैं,वे ध्यान के निमित्त मेरे निवास स्थान ही बन जाते हैं। उनका प्रेम केवल मेरे लिए ही होता है, मुक्ति और भुक्ति को भी वे त्याग देते हैं । इस प्रकार जिन्होंने अनन्त भाव से अपना मन, बुद्धि और शरीर तक मुझे अर्पण कर दिया है, उनकी समस्त इच्छाये मैं ही पूर्ण किया करता हूँ ।

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।७

हे पार्थ ! जो बालक माता के गर्भ से जन्म लेता है, वह माता का कितना प्रेमपात्र होता है। इसी प्रकार मेरे भक्त, वे चाहे कोई हों और कैसे भी हों, तो मुझे प्रिय हैं और मैं उनको प्यारा हूँ । मैं यह प्रतिज्ञा कर ही चुका कि भक्तों को सागर की चिन्ता तो कभी करनी नहीं पड़ेगी । क्या श्रीमन्त व्यक्ति की पत्नी को कभी भीख माँगने की जरूरत पड़ती है ? इसी प्रकार जो मेरे भक्त हैं, वे मेरे ही कुटुम्बी-जन हैं, उन पर कोई संकट आ पड़े तो मुझे ही लज्जित होना पड़ेगा अपने भक्तों को भवसागर की जन्म-मृत्यु रूपी तरंगों में डूबते देख मुझे ऐसा ही लगता है । भवसागर की तरंगों से मेरे भक्त भी भयभीत होते हैं इसलिए उनके उद्धार के लिए मैं रामकृष्ण आदि का रूप रखकर जगत् में आता हूँ । अपनी हजारों नाम रूपी नौकायें तैयार करके मैं उनको संसार सागर से पार कर देता हूँ । जो घर बार रहित होते हैं उन्हें ध्यान करने की प्रेरणा देता और परिवार वालों को नाम रूपी नाव पर बिठाता हूँ । कितने ही भक्तों को कमर में तूम्बा बाँधकर मुक्ति रूपी किनारे पर ले आता हूँ । पर जिसने अपने को मेरा भक्त घोषित कर दिया वह फिर चाहे पशु योनि में ही हो, उसको बैकुण्ठ का

अधिकारी बना देता हूँ। इससे मेरे भक्तों को कभी किसी बात की चिन्ता नहीं होती क्योंकि उनको पार लगाने को मैं सदा तैयार रहता हूँ। जब भक्त अपनी चित्तवृत्ति मुझे अर्पण करता है, उसी समय उनमें मेरा प्रवेश हो जाता है। इसीलिए हे भक्तराज धनंजय ! जो भक्त मार्ग ग्रहण करने की तेरी इच्छा हो तो समस्त चित्त वृत्ति मुझे अर्पण करने का मन्त्र सीख लें।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशय ।८

मन और बुद्धि को मेरे स्वरूप से सर्वदा स्थिर करके रख। ये दोनों जब प्रेम पूर्वक मुझ में प्रविष्ट हो जायें तो तू तुरन्त मुझमें आकर मिल जायेगा, क्योंकि इसके पश्चात् तुझ में और मुझ में द्वैतभाव रहना संभव नहीं। जिस प्रकार दीपक के बुझ जाने पर उसका प्रभाव भी लुप्त हो जाता है, सूर्यास्त होने पर उसका भी तेज जाता रहता है, अथवा जैसे प्राण निकलने पर इन्द्रियों को भी प्रयाण करना पड़ता है, उसी प्रकार जब मन और बुद्धि दोनों एक साथ निकल जाते हैं तो उनके साथ अहंकार स्वयमेव ही चला जाता है। इसलिए हे अर्जुन ! जैसे ही तू मन और बुद्धि को मेरे स्वरूप में स्थिर करेगा, वैसे ही सर्व व्यापक बन जायगा, यह मैं अपनी शपथ पूर्वक कहता हूँ।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ।९

यदि तू मन और बुद्धि सहित अपना चित्त सम्पूर्णतः अर्पण करने में समर्थ न हो तो दिन के आठ प्रहरों में थोड़े समय के लिए ही मन और बुद्धि को मुझमें लगा। इससे जितनी तेरे मन को मेरे समागम का सुख मिलेगा उतनी देर तो विषयों के विष से अवश्य अरुचि रहेगी। जिस प्रकार शरद ऋतु आरम्भ होते ही नदियों का पानी घटने लग जाता है, उसी प्रकार जैसे-जैसे तेरा मन लगता जायगा, वैसे-वैसे तू

प्रपंच से मुक्त हो जायेगा। अथवा जैसे चन्द्रमा का बिम्ब धीरे-धीरे न्यून होकर अमावस्या को अदृश्य हो जाता है, उसी प्रकार यह चित्त धीरे-धीरे विषय भोगों से निकलकर मुझ में लगते-लगते अन्त में मेरा रूप ही बन जाता है। यही अभ्यास-योग कहा जाता है। इससे प्राप्त न हो सके ऐसी कोई वस्तु नहीं हैं। अभ्यास-बल से मनुष्य अन्तरिक्ष में भ्रमण करता हैं, बाघ और सर्प को निर्वैर कर लेता है, इसी से वेदों को भी हस्तगत कर लेता है, अर्थात् अभ्यास द्वारा कोई वस्तु अप्राप्त नहीं रह सकती। तू भी अभ्यास योग द्वारा मुझमें मिल सकता है। (११)

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ।१०

अथवा अभ्यास करने की शक्ति तुझ में न हो तो जिस प्रकार अब तक आचरण करता आया है उसी प्रकार करता रहा। इन्द्रियों का निरोध, भोगों का त्याग अहंकार का छोड़ना, न हो सके तो मत करना। अपने कुल धर्म और कुलाचार का ही नियमित पालन करते रहना। उचित कर्म करते रहना, अनुचित मत कराना। इस प्रकार काम करने को तू स्वतन्त्र है, परन्तु मन, वाणी और काया द्वारा जो भी कार्य हो उसमें यह भाव मत रखना कि 'मैं करता हूँ।' विश्व—संचालक परमात्मा यह अच्छी तरह जानता है कि कर्म का कर्ता कौन है और अकर्त्ता कौन है? कौन सा काम कम हो गया और कौन-सा अधिक हो गया, इसके लिए भी खेद मत करना, क्योंकि जैसे प्राचीन संस्कार होंगे वैसे कर्म होंगे। पर मन में किसी प्रकार का आग्रह नहीं रखना और समस्त अहंकार परमात्मा में सम्मिलित कर देना। माली पानीको जिस मार्ग से ले जाना चाहता है, वह उसी तरफसे नम्रतापूर्वक चलता जाता है। उसी प्रकार तू मनका कर्तव्य अभिमान छोड़ देना। इससे प्रवृत्ति-निवृत्ति का बोझा बुद्धि के ऊपर नहीं पड़ता। चित्तवृत्ति मुझमें अखण्ड भाव से बनी रहती है और शुभाशुभ कर्म का फल प्राप्त

नहीं होता। हे अर्जुन ! क्या रथ को इस बात की चिन्ता होती है कि मार्ग सीधा हे या टेढ़ा है ? उसी प्रकार तू जो कर्म करे वे एकनिष्ठा से मुझे अर्पण करदे। इस प्रकार सब कर्मों में मुझे अर्पण करने की भावना रखने से तू अन्त में मेरा ही पद पावेगा। (१२४)

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६

यदि तुझ को कर्म समर्पण करना भी कठिन जान पड़े, अर्थात् मैं "हूँ" यह अभिमान न त्यागा जा सकता हो तो तू एक और उपाय कर, कर्म करने की प्रेरणा के पहले अथवा पीछे अथवा कर्माचरण के पहले अथवा पीछे मेरा स्मरण किया कर। अथवा कर्म करते समय फल की आशा बिल्कुल न रखो और सब कुछ निष्काम भाव से करो। जिस प्रकार वृक्ष और वेलें फल लगते ही उनकी आशा त्याग कर उन्हें छोड़ देते हैं, इसी प्रकार जो कर्म करते जाओ उनके फल की आशा त्याग दो। उस अवसर पर स्मरण करने की अथवा मेरे प्रीत्यर्थ कर्म करने की भी आवश्यकता नहीं है। बस-तुम कर्मफल की आशा मत रखो, सब कुछ निष्काम भाव से करो। जिस प्रकार चट्टान पर वर्षा होने अथवा अग्नि में बीज बोने से कोई परिणाम नहीं निकलता, उसी तरह कर्मों को करो--उनको स्वप्नवत् मानो। जिस प्रकार पिता अपनी कन्या के प्रति निष्काम रहता है, उसी प्रकार तू कर्म कर। जिस प्रकार अग्नि की ज्वाला आकाश में व्यर्थ जाती है उसी प्रकार तू कर्मों के फल का ध्यान भी न कर। हे अर्जुन ! कर्म करके फल की इच्छा न रखनी यह सामान्य मार्ग लगता है, पर यह समस्त योगों में श्रेष्ठ हैं। फलका त्याग कर देने पर वे कर्म पुनर्जन्म का कारण नहीं बनते जिस प्रकार बाँस एक बार फटने के पश्चात् फिर नहीं फलता उसी प्रकार ऐसी कर्म-प्रणाली से आगामी देह धारण करने की प्रक्रिया बन्द हो जाती हैं। हे अर्जुन ! अभ्यास-योग से ज्ञान उत्पन्न होता है, ज्ञान मिलने से ध्यान किया जा सकता है। फिर जब सब मनोवृत्तियाँ ध्यान के अधीन

हो जाती है तब कर्म अपने आप दूर हो जाते हैं। इससे फल की इच्छा भी मिट जाती है और पूर्व शान्ति प्राप्त हो जाती है। हे सुभद्रापते! शान्ति प्राप्त करने का एक यही मार्ग है, पहले इसी का अभ्यास करना आवश्यक है। (४४०)

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२

हे पार्थ! अभ्यास से ज्ञान कठिन है, ज्ञानकी अपेक्षा ध्यान अधिक कठिन है, पर कर्मफल की इच्छा का त्याग इन सब से भी उत्तम है। कर्म फल के त्याग से शान्ति श्रेष्ठ है, इस प्रकार आगे बढ़ने से ब्रह्म-सुख की प्राप्ति सुलभ हो जाती है। (१४६)

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३

जो किसी प्राणी के प्रति द्वेषभाव नहीं रखता, अपना-पराया का भाव नहीं रखता, जिस प्रकार पृथ्वी यह विचार नहीं करती कि सज्जन पुरुष का ही भार वहन करना दुर्जनों का नहीं करना, जिस प्रकार पानी यह भेद भाव नहीं करता कि गाय की प्यास को तो मिटाना और सिंह के लिये जहर बन जाना उसी प्रकार जो प्राणीमात्र में मैत्री भाव रखता है सब पर कृपा रखता है, जिसको सुख-दुःख दोनों समान हैं और जिसने सन्तोष को अपना रखा है वही सच्चा योगी है। (१५६)

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४

वर्षा के बिना ही समुद्र किस प्रकार सदैव परिपूर्ण रहता है, उसी प्रकार जो बिना चेष्टा किये ही सदा आनन्द में मग्न रहता है जो दृढ़तापूर्वक मन को वश में रखता है, और जिसे मन की शक्ति से सत्य की प्राप्ति अधिक प्रिय है, जिसके हृदय मन्दिर में जीव और परमात्मा एक ही आसन पर विराजमान होते हैं—इस प्रकार योग सम्पन्न बन

कर जो मन तथा बुद्धिको मुझे समर्पित कर देता है, और अन्तर में ध्यान योग से तथा वाह्य अष्टांग योग से सिद्ध होता है, तो भी प्रेम पूर्वक मुझ में तल्लीन रहता है, हे अर्जुन ! मेरा इसी प्रकार का भक्त योगी और मुक्ति का अधिकारी होता है। वह मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारा होता है यह कहना भी अपूर्ण है। परन्तु हे अर्जुन ! अब इस बातको रहने दो, क्योंकि प्रेमी भक्त की बात चलने पर प्रेम दुगना ही नहीं चौगुना हो जाता है। फिर श्रोता कोई प्रेमी मनुष्य हो तो उसके माधुर्य को किस की उपमा दी जाती है ? हे अर्जुन ! तू ही मेरा प्रिय है और श्रोता भी तू ही है, फिर भक्तों की चर्चा हो गई, तो जब जो होना हो मैं तो अपने मन की बात कहूँगा ही, ऐसा प्रसङ्ग सद्भाग्य से ही कभी मिलता है। जिस भक्त को मैं अपने हृदय में बैठाता हूँ अब उसके लक्षण सुन। (१४६)

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।।१५

जिस प्रकार समुद्र के क्षुब्ध होने पर भी जलचर भयभीत नहीं होते और जलचर बहुत बढ़ जायें तो समुद्र नहीं ऊबता, उसी प्रकार लोक की उन्मत्तता से जो नहीं घबड़ाता और जिससे लोगों को त्रास नहीं होता वह मेरा प्रिय है। अधिक क्या कहूँ शरीर जिस प्रकार अपने अङ्गों से नहीं ऊबता उसी प्रकार जो अपने को भव प्राणियों की आत्मा समझकर किसी से दुःख नहीं मानता, समस्त जगत् को अपना शरीर मानने से जिसको प्रिय-अप्रिय का भेद नहीं रहता, जिस पर सुख-दुःख का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जो भय उद्वेग आदि से रहित होता है, और इन सब बातों के साथ मेरी भक्ति करता है, वह मुझे प्रिय लगने लगता है, उस प्रेम का वर्णन कैसे करूँ। अरे ! वह तो मेरे प्राणों का भी प्राण है। जो आत्मानन्द से तृप्त हुआ है, जिससे पूर्णता पाकर स्वभावतः जन्म ले लिया है, वही मेरा परम प्रिय है। (१७१)

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११

हे अर्जुन ! ऐसे मनुष्य में कामना का सर्वथा अभाव होता है और उसकी वृत्ति में निरन्तर सुखकी वृद्धि होती रहती हैं । काशी क्षेत्र मुक्ति प्रदान करने के लिये प्रसिद्ध है, पर वहाँ बिना देहान्त हुए मुक्ति नहीं मिलती । हिमालय में जाने से दोष दूर होते हैं, पर वहाँ की ऋतु अनुकूल न होने से प्राण की हानि होती है । पर सज्जन के समागमसे कोई भी हानि न होकर पवित्रताका लाभ होता है । गङ्गाजी की धारा परम पवित्र और पाप-ताप को दूर करने वाली है, पर उनमें डूब जाने का भय बना रहता है । पर भक्ति रूपी नदी में प्रवेश करने से न तो कोई डूबेगा, न प्राण हानि होगी, वरन् अखण्ड मुक्ति मिलेगी । जिस सन्त-समागम से गङ्गा भी पवित्र बनती है, उस सन्त समागम से पवित्रता मिलेगी या नहीं, ऐसा संशय रखना ही व्यर्थ है । सन्त तो सूर्य की तरह भीतर बाहरसे निर्मल होते है और उनको ब्रह्म तत्व उसी प्रकार प्रत्यक्ष दिखाई देता है जिस प्रकार पायल (पैरों में दृष्टि शक्ति रखने वाले) भूमि में गढ़े खजाने को देख लेते हैं । जिस प्रकार आकाश सर्व व्यापक होने पर भी सबसे अलिप्त होता है उसी प्रकार सन्त संसार की चिंता से अलिप्त बने रहते हैं । अग्नि जिस प्रकार बिना ईंधन के बुझ जाती हैं, उसी प्रकार मोक्ष प्राप्ति का एक अङ्ग उपशम (शांति) उसे प्राप्त हो जाता है । हे अर्जुन इस प्रकार आत्म स्वरूप से ओत-प्रोत मनुष्य द्वैत-भाव से ऊपर उठकर उस पार पहुँच जाता है अथवा भक्ति-सुख भोगने के लिए दो भागों में बँट जाता है अर्थात् सेवक और देव दोनों स्वयम् बन जाता है । इस प्रकार अभक्तों को भक्ति का आचरण करके बतलाता हूँ । मैं उसे प्यार करता हूँ, वह मेरा ही आत्म स्वरूप होता है । उससे मिलने पर मुझे आनन्द होता है, उसी के लिये साकार बनकर मैं यहाँ आता हूँ । (१६८)

योन हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्य: स मे प्रिय: ।।१७

जो संसार में ब्रह्म प्राप्ति से बढ़कर और किसी वस्तु को उत्तम नहीं मानता, उसे भोग में आनन्द नहीं आता, स्वयं ब्रह्म होने से द्वैत-भाव को भूल जाता है जिसका द्वेष नष्ट हो जाता है, जो गई हुई वस्तु का शोक नहीं करता, जो किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता, जिसे कोई पदार्थ भला या बुरा नहीं लगता, उसको शुद्ध ज्ञानमय ही समझना चाहिये । तो भी वह अपना समय भजन में व्यतीत करता है । मैं तेरी शपथ खाकर कहता हूं उस भक्त के जैसा प्रिय मुझे और कुछ भी नहीं लगता । (१९६)

सम: शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयो: ।
शीतोष्णसुखदु:खेषु सम: सङ्गविवर्जित: ।।१८

हे अर्जुन ! जिसके मन में विषमता का नाम भी नहीं होता और जो शत्रु तथा मित्रको समान समझता है, अथवा जैसे दीपक अपने परापे सबको प्रकाश पहुँचाता है, जैसे वृक्ष अपने को लगाने वाले तथा काटने वाले को समान रूप से छाया देता है--ऐसा मनुष्य सब में समबुद्धि रखने वाला होता है । आकाश जैसे तीनों ऋतुओं में समान रहता है वैसे ही जो शीत और उष्णको एक-सा मानता है, मेरु पर्वत जैसे उत्तर और दक्षिण की पवन को एक सा मानता है, वैसे ही जो सुख-दुःख में अपने सन्तुलन को डगमगाने नहीं देता, राजा से रंक तक के लिये जिस प्रकार चन्द्र किरण सुखकर होती है, उसी प्रकार जो प्राणी मात्र से सम भाव रखता है, पानी को जिस प्रकार संसार भर चाहता है उसी प्रकार तीनों लोक जिसे चाहते हैं, जो भीतरी और बाहरी विषयों को त्याग कर आत्मा में ही स्थिर होकर रहता है, वही मेरा परमप्रिय है । (२०६)

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेत: स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नर: ।।१९

किसीने अपनी निन्दा की तो उस पर क्रोधित नहीं होता और स्तुति करने से फूल नहीं जाता, जो चाहे संसार हो और चाहे वन में पर अपनी वृत्ति को समान रखकर व्यवहार करता है, जो सत्य अथवा मिथ्या न बोलकर मौन ही रहता है,जो सदा ब्रह्म स्थिति का ही उपभोग किया करता है, न लाभ से प्रसन्न होता है और न हानि से दुःखी, जैसे वायु एक स्थान में नहीं रहती, उसी प्रकार जो किसी विशेष स्थान का आश्रय लेकर नहीं रहता, जिसके मन में यह निश्चय होगया है कि समस्त विश्व मेरा घर है—जो ऐसी अवस्था को पहुंच कर भी मेरे भजन में लगा रहता है, उसे मैं अपने मस्तक पर मुकुट की तरह धारण करता हूँ। ऐसे उत्तम पुरुष के सम्मुख मस्तक झुकाने में आश्चर्य क्या ? तीनों लोक के स्त्री-पुरुष मेरे चरणों का तीर्थोदक लेकर अपने को धन्य मानते हैं, पर इस प्रकार के मेरे भक्त को तो मैं स्वयं मस्तक पर धारण करता हूँ। उसका आदर-सत्कार किस प्रकार करना यह तभी विदित हो सकता है जब स्वयं शिवजी ही गुरु हों। परन्तु अब इस बात को रहने दो क्योंकि शंकर जी की प्रशंसा करना आत्म स्तुति के समान ही होगा। इसलिये हे अर्जुन ! इस विषय पर अधिक कहना ठीक नहीं,तू इतना ही समझ ले कि अपने भक्तों को मैं मस्तक पर धारण करता हूँ। वह चौथे पुरुषार्थ (अर्थात् मोक्ष) का अधिकारी बनकर जगत् को भक्ति का पाठ पढ़ाता है। फिर भी वह पानी जैसा नम्र बना रहता है। इसीसे मैं उसे नमस्कार करता हूँ, उसे मस्तक पर धारण करता हूँ, उसके चरणों को हृदय में धारण करता हूँ। ऐसे भक्तोंके दर्शन के लिये मैं बिना नेत्रवाला होने पर नेत्रवान् बन जाता हूँ, उनका आलिंगन करने के लिये मैं देह-धारी बन जाता हूँ, वही मेरा परम मित्र हैं यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं। इतना ही नहीं जो उन भक्तों के चरित्र को श्रवण करताहै उनकी प्रशंसा करता है, उसे भी मैं प्राणप्रिय मानता हूँ। हे अर्जुन! यह जो सम्पूर्ण योग मैंने तुमको सुनाया यही भगवत् प्राप्ति करने वाला 'भक्ति योग है। इसका महत्व सबसे अधिक समझो। (२२०)

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया: ।।२०

जो इस रम्य और अमृत की वर्षा करने वाली धर्मानुकूल योग कथा को सुनकर उसे पूर्ण श्रद्धा से हृदय में स्थान देंगे और विचार पूर्वक उस पर आचरण करेंगे; उनको उत्तम फल प्राप्त होगा इसमें सन्देह नहीं । जो मुझे सर्वस्व मानकर मुझसे प्रेम रखते हैं वे ही संसार में सच्चे भक्त और योगी हैं और इसलिये हे पार्थ ! उनके लिये मेरे हृदय में बड़ा स्नेह रहता है । जिनको भक्ति-कथा में आन्तरिक अनुराग है, मैं उनको ही तीर्थ, पुण्य-क्षेत्र और पवित्रात्मा मानता हूँ। मैं स्वयं उनको अपना इष्ट-देव मानकर उनका ध्यान करता हूँ । अधिक क्या कहूँ, उनके दर्शन बिना मुझे शांति प्राप्त नहीं होता ।

संजय ने कहा-हे राजा धृतराष्ट्र ! समस्त जगत् को आनन्द देने वाले सबको उत्पन्न करने वाले, लोगों पर कृपा करने वाले शरण देने वाले श्रीमुकुन्द इस प्रकार बोले । देवों (सत्पुरुषों) की सहायता करना जिनका स्वभाव है, लोकों का लालन जिनकी लीला है, जो धर्म -कीर्ति से शोभित हैं, दान देने में सरल हैं, अनुपम बलवान् होने पर भी जो राजा बलि के प्रेम बन्धन में बँध गये, सत्य आचरण वालों को तारने वाले हैं, जो चौदह विद्या और चौसठ कलाओं के भण्डार है, ऐसे भगवान् कृष्ण अर्जुन से कह रहे थे और वह सुन रहा था । ज्ञानदेव कहते हैं कि मैं उसी कथा को प्राकृत भाषा में कहता हूँ, उसे ध्यान पूर्वक सुनो । हे श्रोताजनों ? मेरे गुरु निवृत्तिदास की यही शिक्षा है कि मैं आप जैसे सन्तों की शरण में जाकर उनकी सेवा करता रहूँ । [२४७]

इति श्रीज्ञानदेवविरंचितायां भावार्थदीपिकायां
द्वादशोऽध्याय: ।।१२।।

॥ अथ त्रयोदशोऽध्याय: ॥

आत्मरूप गणेशका स्मरण करके सर्व विद्याओं के आश्रयस्थान गुरु चरणोंको नमस्कार है। उनके स्मरण करने से समस्त काव्यशक्ति प्राप्त होती और सब विद्या जिह्वाग्र पर आजाती हैं। भाषण भी ऐसा मधुर हो जाता है जो अमृत को भी अरुचिकर बना दे। तब मुख से निकलने वाला प्रत्येक अक्षर रसयुक्त होता है, अर्थ इतना बढ़ जाता है कि एक के बाद दूसरा अर्थ सूझता जाता है और आत्मज्ञानका रहस्य तुरन्त समक्ष में आ जाता है। जिन गुरुचरणों के प्रताप से इस प्रकार का भाग्योदय होता है, उनको मैं नमस्कार करता हूँ। फिर जगत के पितामह, लक्ष्मी-पति भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा— (६)

श्रीभगवानुवाच—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१

हे पार्थ ! सुनो, इस मानव देहको क्षेत्र कहा जाता है और जो इस क्षेत्र को भली प्रकार जानता है वह क्षेत्रज्ञ है। (७)

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२

और जिसे क्षेत्रज्ञ कहा जाता है, जो सब क्षेत्रों का पोषण करता है, वह निश्चय पूर्वक मुझको ही जानो। जिस ज्ञान के द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को यथार्थ रूप में जाना जा सकता है, उसी को श्रेष्ठ ज्ञान कहा जा सकता है।

तत्क्षेत्रं मच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३

अब इस शरीर को जिस उद्देश्य से 'क्षेत्र' कहा, उसे समझाता हूं। इसको क्षेत्र किस लिये कहा जाता है ? यह किस प्रकार और कहाँ उत्पन्न होता है ? किन-किन विकारोंसे इसकी वृद्धि होती है ? यह साढ़े तीन हाथ का छोटा-सा होने पर भी कितना बड़ा और कितना भारी हैं, कितना उपजाऊ अथवा अनुपजाऊ है? इत्यादि इसकी जितनी विशेषतायें हैं, उनका वर्णन करता हूं,उसे ध्यान देकर सुनो। इसी 'क्षेत्र'के सम्बन्ध में श्रुति विविध बातें कहती रहती हैं, तर्क शास्त्र बहस करते रहते हैं, इसी की चर्चा करते-करते षट्शास्त्र थक जाते हैं और उनमें अभी तक एकता नहीं हो सकी है। यह क्षेत्र किसका है, इसे कोई नहीं जानता, पर अहिंसा की महत्ता इतनी अधिक है कि घर-घर इसी का झगड़ा होता रहता हैं नास्तिकों का मुख बन्द करने के लिए वेदों का खूब विस्तार किया गया है उधर पाखण्डी वेदों के सम्बन्ध में और ही तरह की बक-बाद करते रहते है। वे कहते हैं कि वेद निरर्थक शब्द जाल फैलाया करतें हैं अगर किसी को शङ्का हो तो हम सिद्ध करने को तैयार हैं। ऐसे पाखण्डियों के अनेक समूह दिखाई देते हैं। कोई दिगम्बर होकर केशोंका लुंचन करते हैं, पर उनका वितण्डावाद स्वयमेव मिट्टीमें मिल जाता है। यह 'क्षेत्र' मृत्युके पंजोंमें पकड़कर नष्ट हो जायेगा, इसलिये योगी योग-साधन द्वारा इसकी रक्षा का प्रतिपादन करते हैं। वे लोग मृत्यु से डरकर यम-नियम आदि का समुदाय एकत्रित करते हैं। इस क्षेत्र का विचार करते हुए शङ्करजी राज्य को छोड़कर श्मशानका वास करने लगे। ऐसी प्रतिज्ञा करके जंगल में रहने लगे और काम को योग-भ्रष्ट करने वाला जानकर उसे जला डाला। इसी क्षेत्रका निश्चय करने के लिये ब्रह्माजी के चार मुख उत्पन्न हुए, पर उनसे भी 'क्षेत्र' का ज्ञान प्राप्त न किया जा सका।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ।।४

कर्मवादी कहते हैं कि यह सम्पूर्ण क्षेत्र जीव के ही अधिकार में है और उसकी सब व्यवस्था प्राण के हाथ में दी गई है। उस प्राण के घरमें मेहनत करने वाले चार भाई (अपान, व्यान, समान उदान) हैं और मन देख-रेख रखने वाला कर्मचारी है। उस जीवके पास पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेंद्रियाँ मिलकर दस बैलों की जोड़ी है। उनके द्वारा वह दिन-रात श्रम कर के विषय रूपी खेत में काम कराया करता है। इसमें जब अन्याय का बीज बोया जाता है तो वैसे ही फल आकर करोड़ों वर्ष पर्यन्त जीव को दुःख भोगना पड़ता है। इसके विपरीत सत्कर्म रूपी बीज बोने से करोड़ों वर्ष तक सुख प्राप्त होता है। (३२)

पर सांख्य वाले कहते हैं कि जीव इस खेत का अधिकारी नहीं हैं। जीव तो एक राहगीर है जो इस क्षेत्र में कुछ समय के लिये टिक गया है। पर प्राण इसका पहरेदार है जो सदा सावधान रहकर क्षेत्र की रक्षा करता है। सांख्य के अनुसार जिसे प्रकृति कहते हैं वह इस क्षेत्र की अधिकारिणी है और अपने उदर से उत्पन्न तीनों गुणों—सत्व, रज और तम से खेती का सब काम कराती है। पर संकल्पवादी कहते हैं कि वे सब तो आजकल की ही कल्पनायें हैं। ब्रह्मा के आगे प्रकृति की क्या गिनती ! इस खेत का असली हाल हमको मालूम है। लय रूप पलंग की शून्य रूपी शैया में शक्तिशाली सङ्कल्प सो रहा था। अकस्मात् वह जाग्रत हुआ और उद्यमी होने के कारण उसने इच्छानुसार धन एकत्र कर लिया। परमात्मा का त्रिभुवन रूपी उद्यान उसकी चेष्टा से हरा-भरा हो गया। उसने विभिन्न पंचभूतों को एकत्र करके चार भागों में बाँट दिया—जरायुज, स्वेदज, अण्डज और उद्भिज्ज। उसने जन्म और मृत्यु की दो सुरंगे बना दीं जिससे आने-जाने में कोई कठिनाई नहीं हो। इस प्रकार चिदाकाशमें सङ्कल्प रूपी शाखा

की वृद्धि होने से सब सांसारिक प्रपंच का मूल वही आदि सङ्कल्प है। (५०)

इस प्रकार सङ्कल्पवादियों के मुक्ता फल श्रवण करके दूसरे सिद्धान्त वाले सामने आकर कहने लगे—आप तो बहुत भारी विद्वान हैं इसलिए अपना विचार अपने ही पास रखिये। परब्रह्म के गाँव में अगर सङ्कल्पके शयनागार की ही कल्पना करनी हो तो सांख्यों की प्रकृति को ही क्यों न मान लिया जाय ? पर वस्तु स्थिति वैसी नहीं है जैसी आप समझ रहे हैं। यह कैसा खेल है इसको हम ही समझा सकते हैं, आकाश के मेघों में पानी कौन भरता है ? आकाशमें लटके नक्षत्रों का आधार कौन है ? पवन को नियमित रूप के बहते रहने की आज्ञा कौन देता है ? शरीर के ऊपर रोगों को कौन बोता है ? समुद्र कौन भरता है ? वर्षा कौन करता है ? इन सब प्राकृतिक घटनाओं की तरह 'क्षेत्र' भी स्वभाव सिद्ध ही है। जो उसमें रहकर परिश्रम करेगा वही फल पायेगा जो श्रम से पीछे हटेगा वह फल से वंचित ही बना रहेगा। (५७)

इतने में एक अन्य (कालवादी) गुस्सा होकर कहने लगे कि यदि आपकी बात ही ठीक है, तो खेत पर काल की सत्ता ही क्यों चलती है? हम काल की शक्ति को प्रत्यक्ष देख रहे हैं। सिंहकी गुफा की तरह मृत्यु भयङ्कर है यह जानकर भी तुम बक-बक लगाये रहोगे तो उससे क्या काम चलेगा ? यह काल सत्यलोक को भी नहीं छोड़ता। स्वर्गके अरण्य में प्रवेश करके वहाँ नये-नये अष्ट लोकपाल उत्पन्न करता है। इस काल ने जगत् रूपी गजराज को अपने पंजे में पकड़ ही रखा है। हे अर्जुन ! इस प्रकार इस क्षेत्र (खेत) के विषय में अनेक मतभेद हैं। (६५)

नैमिषारण्य में ऋषियों ने इस विषय में बड़ा विवाद किया था, वेदों में भी इसकी बहुत चर्चा की गई है, अब भी इस पर ग्रन्थ रचे जाते हैं, अन्य भी बहुसंख्यक दूरदर्शी महाकवियों ज्ञानियों ने इस

पर वाद-विवाद किया है, पर यह ऐसा विकट है कि अभी तक यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह किसका है ? इसलिए इस विषय को आदि से अन्त तक विचार करके मैं तुझे समझता हूं। (७१)

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६

पंच महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, प्रकृति, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मन, दस, इन्द्रियों के विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, संघात चेतना और धृति—इस प्रकार इस क्षेत्र के छत्तीस तत्व है। अब तुमको इनका पृथक्-पृथक् विवरण सुनाता हूं। पाँच-महाभूत तो पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश जानते ही हो। अब अहंकार का रहस्य सुनो। जाग्रत अवस्था में जैसे स्वप्न गुप्त रहता है, अमावस्या को चन्द्रमा गुप्त रहता है, छोटे बालक में जैसे युवावस्था गुप्त रहती है, पुष्पमें सुगन्ध गुप्त रहती है,काष्ठ में अग्नि गुप्त होती है, उसी प्रकार मायाके भीतर अहंकार गुप्त रहता है। जब पंच महाभूतों के संयोग से देह का आकार बन जाता है उस समर्थ देह को जो सब तरफ नचाता है वही 'अहंकार' है। इसकी विशेषता यह है कि वह अज्ञान की अपेक्षा सज्ञान पीछे अधिक लगता है और उसे तरह-तरह के संकटों में फँसा देता है। अब बुद्धि के लक्षण सुनो। इन्द्रियों की सहायता से जब विषयों के समुदाय एकत्रित होते हैं, तब यह निर्णय करना कि उसमें से कौन सुख रूप और कौन दुःखरूप कौन पुण्य है, कौन पाप हैं, कौन सत्कर्म है कौन दुष्कर्म है—यह बुद्धि का ही कार्य हैं। जिसके द्वारा उच्च-नीच, छोटा-बड़ा जाना जाय, जो ज्ञान-तत्व का मूल है, जो आत्मा और जीव की सन्धि में बसती है वही बुद्धि है। (७२)

जिस सांख्य वाले 'अव्यक्त' कहते हैं। उस प्रकृति का वर्णन

सुनो। जैसे आकाश में नक्षत्र अदृश्य हो जाते हैं, सूर्यास्त होते ही प्राणि मात्र की हलचल बन्द हो जाती, देह नष्ट होने पर समस्त विकार कर्मों में गुम हो जाते हैं—जैसे वृक्ष बीज में अदृश्य रहता है,जैसे सूत के अन्तर्गत वस्त्र होता है, उसी प्रकार सब अपना स्थूल रूप त्यागकर सूक्ष्म बन कर सब जिसमें अन्तर्धान हो जाते है,हे अर्जुन वही 'अव्यक्त'है। कान, आँख, चर्म, नाक, जिह्वा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और वाणी हाथ, पैर गुदा और शिश्न—ये कर्मेन्द्रियाँ कही जाती हैं। प्राण की स्त्री रूपी क्रिया शक्ति है जिनके द्वारा कर्मेन्द्रियाँ अपना व्यवहार चलाया करतीहैं। इस प्रकार इन दस इन्द्रियों के अतिरिक्त मन अलग है, उसको भी समझ लो।

(१०३)

जो इन्द्रियों तथा बुद्धि के संगम पर रजोगुणके कन्धे के ऊपर चढ़-कर खेलता है वही मन हैं। वीर्य और रज का संयोग होकर जब पंच-तत्व का आकार बनता है तब वायु तत्व एक से बढ़कर दस हो जाता है पाँच प्राण और पाँच उपप्राण। ये दस प्राण शरीर के अलग-अलग भागों में रहते हैं। उनमें चंचलता ही विशेष होती है जिससे वह रजोगुण का बल रखता है। वह बुद्धि के बाह्य भाग पर और अहङ्कार के मध्य भाग में बलवान् रहता हैं—उसी को 'मन' कहा जाता है, पर वस्तुत: यह नाम व्यर्थ ही रखा गया है। अथवा वह केवल कल्पना रूप है। जिसके कारण वासना उत्पन्न होती है जिससे इच्छायें बढ़ती जाती हैं, आशा प्रबल होती है, भय अधिक होता है, जो द्वैतभाव उत्पन्न करताहै,जिससे अज्ञानका जोर बढ़ता है, इन्द्रियों का विषयोंमें प्रवेश होता है, जो भ्रमों का भंडार और वायुतत्व का सार हैं, जो बुद्धि की कोई बात चलने नहीं देता, हे अर्जुन ! उसी को 'मन' कहा जाता है। अब विषयोंके भेदसुनो।

(११६)

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध—ये पाँच ज्ञानेन्दियों के पाँच

विषय है। जिस तरह पशु हरी घास की तरफ दौड़ता है उसी तरह इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के द्वार से ज्ञान बाहर दौड़कर जाता है। फिर स्वर और वर्णों का उच्चारण, वस्तु का ग्रहण और त्याग, चखना और मल-मूत्र का त्याग—ये पाँच कर्मेन्द्रियोंके पाँच विषय हैं, जिनके द्वारा क्रिया दौड़ कर बाहर जाती है। इस प्रकार ये ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के दस विषय हुए। अब इच्छा के विषय में सुनो। (१२१)

पहले जिस पदार्थ का उपभोग किया हो उसका स्मरण होना, कान में शब्द पड़ते ही चैतन्य हो जाने वाली वृत्ति, इन्द्रियों और विषयों का मिलाप होते ही उत्पन्न होने वाली वृत्ति, उद्भव होने पर मन इधर-उधर दौड़ने लगता है और जहाँ न जाना चाहिये वहाँ भी इन्द्रियाँ मुँह मारती है, जिस बुद्धि से वृत्ति उन्मत्त बन जाती है और जिसकी विषय में प्रीति होती है, वही 'इच्छा' कही जाती है। इच्छा उत्पन्न होने पर इन्द्रियों के उपभोग के लिये विषय प्राप्त न होने पर जो वृत्ति उत्पन्न होती है उसको 'द्वेष' कहा जाता है। सुख का लक्षण यह है कि उसके प्राप्त होने पर जीव अन्य सब वस्तुओंको भूल जाताहै,काया वाणी और मनकों अपनी शपथ देकर स्मृति का नाश कर देता है,जिसके प्राप्त होते ही प्राण अकर्मण्य बन जाता है। जो इन्द्रियों की सर्व वृत्तियों को थपकी देकर निद्राग्रस्त करता है, वही 'सुख' है और जहाँ इस प्रकार का लाभ न हो वही दुःख है। जहाँ वासना उत्पन्न होती है, वहाँ सुख नहीं होता। इसलिए वासना लुप्त हुई अथवा उत्पन्न हुई यह सुख-दुःख का आधार होता है। (१३३)

अब हे अर्जुन ! अलिप्त और साक्षीभूत ब्रह्म (चैतन्य) की जो इस देह में सत्ता है, उसे चेतना कहा जाता है। मानव देह में जो नख से शिखा तक सर्वदा जाग्रत रहती है, और जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं में जिसमें अन्तर नहीं पड़ता, जिसके योग से मन, बुद्धि आदि चैतन्य रहते हैं जो माया रूपी वन को सदा प्रफुल्लित

रखती है, उसे चेतना कहते हैं। जैसे राजा अपने सैनिकों को नहीं पहिचानता पर उसकी आज्ञा से ही शत्रु को जीत लिया जाता है। लोह और चुम्बक की समीपता से ही जैसे लोहे में चंचलता आ जाती है, स्तन से दूध न पिला कर भी कछुई जिस प्रकार केवल दृष्टि द्वारा ही अपने बच्चों का पोषण करती है, उसी प्रकार हे अर्जुन ! जो जड़ वस्तुओं में भी सजीवता का भाव ला देती है, वही चेतना है। [१४२]

अब 'धैर्य' का भेद बतलाता हूँ। पाँचों तत्वों में स्वभावतः ही एक दूसरे के साथ बैर होता है। पानी पृथ्वी का नाश करता है, तेज पानी का शोषण करता है। तेज वायु के साथ युद्ध होता रहता है, और आकाश वायु का सहज में भक्षण कर जाता है। जिस प्रकार आकाश सर्वत्र भरा हुआ होने पर भी कभी किसी वस्तु के साथ नहीं मिल जाता उसी प्रकार पाँचों महाभूत एक दूसरे के विरुद्ध होते हुए भी देह में एकत्र रहते हैं और पारस्परिक विवाद त्याग कर एक-दूसरे का पोषण करते हैं। इस प्रकार विरोध रहने पर भी जिसके प्रभाव से पाँचों में मित्रता हो जाय और धैर्य बना रहे उस वृत्ति को 'धृति' कहा जाता है और हे पांडव ! जीव के साथ छत्तीस तत्वों का जो ऐक्य हो, उसी को संघात कहा जाता है। इस प्रकार मैंने जो छत्तीस भेद स्पष्ट बतलाये उन सबके समुदायको ही क्षेत्र कहा जाता है। हे अर्जुन ! जिस प्रकार रथ के सब भागों के मिलनेसे रथ नाम की उत्पत्ति होती है, जिस प्रकार पैर से मस्तक पर्यन्त सब अवयव मिलकर ही देह बनते हैं, उसी प्रकार ये छत्तीस तत्व एक स्थान पर मिल जाते हैं तो उसका नाम 'क्षेत्र' हो जाता है। जगत् में समस्त प्राण पाप या पुण्य की कमाई करते हैं, उन्हीं को फसल मानकर मैंने विनोद में इसका नाम 'क्षेत्र' रख दिया है वैसे इसके अनेक नाम हैं। ब्रह्मा से लेकर स्थावर-जङ्गम तक जो कुछ बनता दिखाई पड़ता है, वह सब क्षेत्र ही है। [१५८]

हे अर्जुन ! देव, मनुष्य, पशु जैसी योनियोंका विभाजन करने वाले तीनों गुणों का वर्णन मैं फिर करूँगा । इस जगह तो यह बतलाना चाहता हूँ कि जिस ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त होती है उसका स्वरूप क्या है ? जिस ज्ञान के लिए योगी जन स्वर्ग का टेढ़ा मार्ग छोड़कर ब्रह्मरन्ध्र रूपी आकाश को निकल जाते हैं और सिद्धियोंकी परवाह न करके कठिन योग साधना करते हैं । कितने ही यह समझ कर कि गुरु सेवा से ज्ञान प्राप्ति होगी अनेक जन्म तक उसी में लगे रहते हैं । जिन ज्ञान के प्राप्त होनेसे अज्ञान का लोप होकर जीव और आत्मा का ऐक्य होता है, जो ज्ञान इन्द्रियों की इच्छा नहीं होने देता, जो कर्मों की उत्कण्ठा को दूर कर देता है, जिस ज्ञान के प्रकाशसे बुद्धि प्रौढ़ होकर जीव आनन्दमय बनता है, ऐसा ही ज्ञान पवित्रता का भंडार हैं और उसीके द्वारा विषयों से भरा हुआ मन निर्मल बनता है । आत्मा को जीव-भाव की बीमारी लगी हुई है वह इस ज्ञान से ही मिलती है। इस ज्ञान का निरूपण करना असम्भव हैं, तो भी मैं तुझे समझा देता हूँ । जब यह ज्ञान शरीर में उत्पन्न होता है तो वह इन्द्रियोंके आचरण पर से दिखाई देता है जैसे वृक्षों की प्रफुल्लता देखकर ही वसन्त के आगमन का अनुमान हो जाता है: उसी प्रकार इन्द्रियों के व्यवहार से ज्ञान प्राप्ति का पता चल जाता है । जिस प्रकार कुलीन मनुष्य के व्यवहार से उसकी श्रेष्ठता प्रकट हो जाती है, केला में उत्पन्न हुआ कपूर जिस प्रकार उसकी गन्ध से मालूम पड़ जाता है, उसी प्रकार ज्ञान की प्राप्ति होनें पर शरीर में उसके लक्षण दिखाई देने लग जाते हैं उन्हीं को अब मैं बतलाता हूं । (१८०)

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७

जिसे किसी लोक व्यवहार के विषय में तल्लीन होना अच्छा नहीं लगता, जिसे बड़प्पन एक बोझा सा लगता है, जो अपने गुणों के

वर्णन, सम्मान अर्थात् प्रशंसा से ऐसे घबराता है, जैसे हिरन जाल में फँस गया हो जो अपने पास महत्व को नहीं आने देता, अपनी कीर्ति को नहीं सुनना चाहता, जो चाहता है कि लोग उसकी याद भी न करें, उस पुरुष के आदर सत्कार का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है ? जो बृहस्पतिके समान सर्वज्ञता प्राप्त होने पर भी अपना महात्म्य न बढ़ने देनेके उद्देश्य से उन्मत की तरह रहता है, जो अपनी चतुरता प्रकट नहीं करता और श्रेष्ठता का त्याग कर देता है, जो शास्त्रीय वाद-विवाद से बचकर चुप-चाप बैठा रहना पसन्द करता है, जिसे अपमान अथवा सम्बन्धियों द्वारा अनादर की कुछ भी चिन्ता नहीं होती। जो अत्यन्त विनय और दीनता पूर्वक व्यवहार करता है, जो चाहता है कि कोई प्राणी मुझसे न डरे, मेरे नाम रूप का भी लय हो जाय, जो सदा एकान्तवास का सेवन करता और निर्जन स्थान में आनन्द पाता है। जो वायु से मेल रखता है, आकाश से वार्तालाप करता है और वृक्ष जिसे प्राण प्रिय लगते हैं—ऐसे लक्षण जिसमें दिखाई पड़ते हों, उसे समझलो कि वह ज्ञान के मंच पर विराजमान है। (२०२)

अब अदम्भिता के लक्षण सुनो। जिस प्रकार कृपण मनुष्य अपना छुपा कर रखा धन किसी को नहीं बताता उसी प्रकार दम्भ-रहित अपने उत्तम कर्मों का कभी वर्णन नहीं करता, चाहे प्राण संकट ही उपस्थित हो जाय। हे अर्जुन ! जैसे खराब गाय अपना दूध भीतर ही छिपा लेती हैं, जैसे धनवान जग में फँस जाने पर अपनी धनाढ्यता को छिपाता है, जैसे कुलीन स्त्री अपने अवयव छुपाती है अथवा जैसे किसान अपना बोया हुआ बीज छिपाता है, उसी प्रकार अदाम्भिक मनुष्य अपने दान-पुण्य को किसी पर प्रकट नहीं होने देता, जो अपने शरीर को सुशोभित नहीं करता, किसी की खुशामद नहीं करता, अपने किये उपकारों की चर्चा नहीं करता, जो अपनी विद्या को प्रकट नहीं करता रहता, न अपने ज्ञान को बेचकर प्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा रखता है, अपने ऐश आराम के लिए कंजूसी करता है, पर जहाँ धर्म,

परोपकार का कार्य आवे तो दोनों हाथों से खर्च कर डालता है। चाहे घर में दरिद्रता जान पड़े और शरीर क्षीण हो जाय पर जो दान का अवसर आने पर कल्पवृक्ष को भी मात कर देता है, जो स्वधर्माचरण में दृढ़ है, आवश्यकता पढ़ने पर अति उदार है, आत्म-चर्चा में बहुत निपुण है, अन्यथा पागल जैसा जान पड़ता है उसको दम्भहीन समझना चाहिए। केला का पेड़ वैसे पोला और हल्का दिखाई देता है पर उसका फल जैसे दमदार और मधुर होता है। इसी प्रकार किसे पूर्णता की दृष्टि से देखा जाय तो मन भर जाय, पर लौकिकता की दृष्टि से जो नगण्य ही जान पड़े, वही प्रशंसनीय है और उसी में ज्ञान का आविर्भाव हुआ। ऐसे ही लक्षण वाले को अदाम्भिक कहा जाता है। (२१६)

अब अहिंसा के सम्बन्ध में सुनो ! इसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की जाती है, पर वह ऐसा ही कार्य है जैसे वृक्ष की शाखाओं को काट कर तने के चारों तरफ उसी लकड़ी का घेरा बनाया जाय, अथवा भूख मिटाने को अपने ही अङ्गों का भक्षण कर लिया जाय अथवा देवालय को तोड़कर देवता के वैठने का चबूतरा बनाया जाय। इसी प्रकार कर्मकाण्ड वालों ने यज्ञ में हिंसा करके फिर उसमें से अहिंसा करने का जो निर्णय किया है, वह विचित्र ही है। ये याज्ञिक लोग अनावृष्टि की आपत्ति से रक्षा करने के लिए 'पर्जन्येष्टि यज्ञ' कराते है पर उसमें पहले अन्य जीवों का वध कर डालते हैं। तो क्या इस प्रकार हिंसा का बीज बोने से अहिंसा की फ़सल उत्पन्न हो सकती है ? इसी प्रकार वैद्यक ग्रन्थ भी ऐसी बातों से भरे हैं कि एक जीव की रक्षा के लिए दूसरे जीव का नाश करना। अनेक प्रकार के रोगों से ग्रस्त होकर अनेक व्यक्ति कष्ट भोगते हैं। इसके निवारण के लिए औषधि की योजना की जाती है कि अमुक वृक्ष की जड़ को खोद लाओ, अमुक को जड़से उखाड़ लाओ, उस वृक्ष की शाखा काट लाओ, उसकी छाल निकाल लाओ अमुक जीव को संपुट में तपाकर भस्म कर डालो। इस प्रकार अनेक

स्थावर और जंगम प्राणियों की हिंसा करके अन्य प्राणियों की जीवन रक्षा की जाती है। यह तो ऐसा ही है जैसे कि लोगों के निवास गृह तोड़कर मन्दिर बनाना, मस्तक को ढक कर शेष अङ्ग नंगा कर देना, कपड़े जलाकर तपाना बैल को बेचकर कोठा बनाना या तोता गिरवी रखकर पिंजरा खरीदना। इनका नाम कर्म है या खेल? इस पर रोया जाय या हँसा जाय? बहुत से लोग हिंसा बचाने को पानी छान कर पीते हैं, पर छानने में बहुत से जीवों की हिंसा हो जाती है। बहुत से लोग हिंसा के भय से अन्न को पकाते नहीं, पर इससे उनके प्राणों को जो कष्ट होता है, वह भी हिंसा ही है। इसलिए हे अर्जुन? कर्म-काण्ड में हिंसा को ही अहिंसा मानने का जो सिद्धांत निकाला गया है, उसे तू अच्छी तरह समझ ले। जब हमने अहिंसा के लक्षण बतलाने का विचार किया तो यही उचित जान पड़ा कि पहले वास्तविक अहिंसा का स्वरूप बतला दिया जाय। इसलिए मुझे इन मतों का वर्णन करना पड़ा, नहीं तो आड़े टेढ़े मार्गों से दौड़ने की क्या आवश्यकता? और हे अर्जुन! अपना मत स्थापित करने से पहले अन्यों का मत कैसा है उस पर भी विचार करना पड़ता है। अब इस विषय में हमारा जो मत है, उसे सुनो। (२४२)

अपना मत स्पष्ट कह कर फिर अहिंसा के लक्षण कहूँगा। जिसमें ये लक्षण दिखाई पड़ें, उसको सत्य-ज्ञान प्राप्त हो चुका है यह मान लेना चाहिए। जिसके मन में अहिंसा का पूर्ण विस्तार हो चुका होगा वह उसकी शरीर-रचना और आचरण द्वारा प्रकट हो जायेगा। जैसे सुवर्ण को कसौटी पर कसते ही उसका मूल्य मालूम हो जाता है, इसी प्रकार जब मन और ज्ञान का मेल होता है तभी अहिंसा की छाप लग जाती है। वह किस प्रकार लगती है वह भी सुन लो। जिस प्रकार बगुला जल की लहरें न तोड़ते हुए मछली पर धीरे से नजर रखता है, अथवा फूल की केसर टूटने के भय से भौंरा कमल पर अत्यन्त धीरे पैर रखता है, उसी प्रकार जो मनुष्य जानता है कि परमाणुओं में भी

बहुत से जीव भरे है, और यह विचार कर वह करुणा-भावसे जमीन पर बहुत ही सँभालकर पैर रखता हैं, जिस मार्ग पर चलता है उसे कृपा से भर देता है जिस दिशा में देखता है उसी तरफ स्नेह भाव रखताहै, अपने जी से अधिक अन्य जीवों की सँभाल रखता है। अर्जुन! जो इस प्रकार चलता है उसकी अहिंसा का वर्णन शब्दों से नहीं किया जा सकता। जब स्नेह के कारण बिल्ली बच्चे को मुँह में दाब कर चलती है तो उसको दाँत का स्पर्श भी नहीं होने देती; उसी प्रकारजो मनुष्य अपना पैर जमीन पर धीरे से रखकर चलता है, तो उसके पैरों से किसी जीव को दुःख के बजाय सुख ही मिलता है। इस प्रकार चलने वाला यदि किसी कीड़े को भी रास्तेमें देख लेता है तो तुरन्त वहाँ से हट जाता है, क्योंकि पैर जोर से पड़ेगा तो उसको हानि पहुँचेगी। इसी भय से वह घास पर भी नहीं चलता क्योंकि वह भी जीव ही है। ऐसा व्यक्ति किसी प्राणी की परवाह न करके रास्ते में चलता जायेगा यह तो सम्भव नहीं है। जैसे चींटी मेरु पर्वत को नहीं लाँघ सकती, मच्छर समुद्र को पार नहीं कर सकता उसी प्रकार वह किसी प्राणी को देखकर उसे उलाँघ नहीं सकता। उसके व्यवहार में कृपा रूपी फल-फूल लगे रहते हैं और वाणी में मूर्तिमान दया प्रकट होती रहती हैं। वह श्वासोच्छवास से भी अन्यको कष्ट नहीं पहुँचाता। उसका मुख केवल प्रेम का भंडार ही जान पड़ता है, और दाँत ऐसे लगते हैं मानों माधुर्य के अंकुर निकले हों। प्रथम तो किसी से बोलता ही नहीं और बोलना ही पड़े तो उसे सदा यह ख्याल बना रहता है कि अपने बोलने से किसी को दुःख न पहुँचे। उसका कथन श्रोता को माँ-बाप के भाषण की तरह आनन्ददायक जान पड़ता है। पर जो शब्द व्यंग पूर्ण हों, विवाद और छल पैदा करने वाले हों, त्रासदायक, निन्दा करने वाले हों, दम्भ, दुस्साहस, कपट आशा, शंका और ठगी से भरे हों—ऐसे शब्द वह कभी बोलता ही नहीं। हे अर्जुन! उसकी दृष्टि स्थिर होती है, वह किसी को क्रोध के भाव से नहीं देखता

क्योंकि सभी प्राणियों में ब्रह्म व्याप्त है। अगर किसी को आंख खोल देखता भी है तो ऐसा लगता है मानो चन्द्रमा से अमृत धारा निकलकर पड़ रही है। उसकी दृष्टि में जितना प्रेम होता है उतना प्रेम कछुवी को अपने अण्डे के प्रति दृष्टि में भी नहीं होता। उसके हाथ भी ऐसे ही प्रेम पोषक होते हैं। जिस प्रकार ब्रह्म प्राप्ति वाले मनुष्यके सब मनोरथ पूर्ण होते हैं, उसे किसी प्रकार प्रकार इच्छा न होने से उसके हाथ निष्क्रय रहते है। जिस प्रकार जन्मान्ध देखने को ही त्याग देता है अथवा जैसे काष्ठ बिना अग्नि बुझ जाती हैं उसी प्रकार वह अकर्त्ता बनकर चुपचाप बैठा रहता है। हे किरीटी ? उसे हाथ में दण्ड अथवा लकड़ी लेना भी पसन्द नहीं होता फिर यह शस्त्र तो रख ही कैसे सकता है ? प्रथम तो उसका नियम हाथों से कोई क्रिया करने का होता ही नहींपर फिर आवश्यकता पड़ जायतो हाथ जोड़कर नमस्कार करना अथवा हाथ उठाकर आशीर्वाद देना, कोई गिर रहा हो तो उसे हाथ का सहारा देना, कोई पीड़ित हो तो उसके शरीर पर धीरेसे हाथ फेर देना इसके सिवाय और कुछ नहीं करता। ये क्रिया भी उसे महा संकट की तरह जान पड़ती हैं, पर उससे दुःखी प्राणी का कष्ट दूर होता है, इसलिए वह अत्यन्त कृपा-भाव से करता हैं। वे हाथ सदैव मुक्त रहते हैं और जिस प्रकार चन्दन के वृक्ष में फल न लगने पर भी कोई उसे निरर्थक नहीं समझता उसी प्रकार उसके निष्क्रिय हाथ भी निष्फल नहीं होते। पर अब यह वाक्पांडित्य रहने दो, क्योंकि सज्जनों का शील और स्वभाव जैसा होता हैं, वैसे ही उसके हाथ होते हैं। (२६१)

अब उसका मन कैसा होता है ? इस समस्या पर तत्व विचार करने पर सबसे पहले यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या वृक्ष का अस्तित्व अपनी शाखाओं से पृथक होता है पानी के बिना समुद्र हो सकता है अथवा धूप से पृथक् सूर्य हो सकता है ? इसी प्रकार अब तक जो इन्द्रियों के व्यापार कहे गये हैं वे सब मन की प्रेरणा से ही होते हैं। मन में अगर

अहिंसा का उदय नहीं हुआ हो तो वह इन्द्रियों द्वारा कैसे प्रकट हो सकेगी ? हे अर्जुन ! कोई भी वृत्ति पहले मन में ही उत्पन्न होती है तब वह वाणी से दृष्टि से तथा हाथ से कार्य रूप में दिखाई देती है। क्या बीज के बिना जमीन से अंकुर उपज सकता है ? अथवा सूत्रधारके बिना कठपुतली तमाशा करके दिखा सकती है। इसलिए जब तक किसी कार्य के करने में प्रवृत्त नहीं होता, तो इन्द्रियाँ पहले से ही निर्बल पड़ जाती हैं। यदि पानी का स्रोत ही सूख जाय तो नदी में बाढ़ कैसे आ सकती है ? प्राण निकल जाने पर देह कोई काम कर सकती है क्या ? इसी प्रकार हे पार्थ ! मन ही इन्द्रियों के कार्यों का मूल आधार है। मन में जिस समय जो वासना उत्पन्न होती है, उस समय इन्द्रियाँ उसी तरह का व्यापार करने लगती हैं। अतएव पक्के फल की गन्ध जिस प्रकार स्वयं ही चारों तरफ फैलती है, उसी प्रकार जब मन में अविचल श्रद्धा उत्पन्न होती है तो उसका प्रभाव इन्द्रियों के कार्यों में स्पष्ट दिखाई पड़ता हैं। (३०५)

आशय यह है कि इन्द्रियाँ केवल अहिंसा को अपनी सम्पत्ति समझ कर लेन-देन का कार्य करने लगती हैं। जिस प्रकार ज्वार के पानी से खाड़ियाँ भर जाती हैं उसी प्रकार जब मन में अहिंसा की वृद्धि होती है तो वह हाथ, पैर आदि इन्द्रियों के कार्य कलापों में भी दिखाई पड़ने लगती है। ऐसे अहिंसा व्रतधारी को हे अर्जुन ! सच्चा ज्ञानी अथवा ज्ञान का घर ही समझना चाहिए। अगर अहिंसा के प्रत्यक्ष दर्शन करने की आकांक्षा हो तो ऐसे व्यक्तिके दर्शन करने चाहिए। (३१३)

ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—भगवान् कृष्ण ने जो बात अर्जुन से कही थी वह एक ही शब्द में कही जा सकती थी। पर उसका बहुत विस्तार हो गया उसके लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ। तुम कहोगे कि पशु घास चरते-चरते आगे निकल जाय और घर का रास्ता ही भूल जाये, अथवा पक्षी उड़ते-उड़ते ऊपर ही उड़ते चला जाये उसी प्रकार प्रेमावेश में मैं भी अपनी बुद्धि पर नियन्त्रण नहीं रख सका। पर बात ऐसी नहीं

हैं। 'अहिंसा' शब्द तो तीन अक्षरों का ही है, इसलिए उनका वर्णन थोड़े में ही हो सकता है। पर जब तक हिंसा को ही अहिंसा कहने वाले अनेक मतों का खण्डन किया जाय तब तक उसका वास्तविक रूप समझ में नहीं आ सकता। हिंसा के सम्बन्ध में आजकल जो अनेक मत प्रचलित हैं उनको जैसा का तैसा छोड़कर यदि मैं अहिंसा का वर्णन करूँ, तो वह तुम्हारे चित्त में नहीं बैठेगा। यदि जौहरियों के पास जाये तो क्या उनके सामने शालिग्राम (कसौटी पत्थर) रखना चाहिए? अथवा जहाँ आटा भी न बिक सकता हो वहाँ कपूर की दुकान खोलने में क्या बुद्धिमत्ता है? हे श्रोतागण! अगर मैं अपने मन में यह अभिमान करूँ कि मैं बड़ा वक्ता हूँ, तो मेरा कथन आपको कभी पसन्द नहीं आ सकता। अगर किसी वस्तु का सत्य रूप में वर्णन करने में त्रुटि रह जायगी, तो आप अब तक मेरी बातों को जिस प्रकार सुनते हैं फिर उस तरह नहीं सुनेगें। अगर अहिंसा के सम्बन्ध में विविध मतों और आक्षेपों का समाधान न किया जाय तो मेरा विवेचन आपको कदापि पसन्द न आ सकेगा। फिर जो कुछ प्रतिपादन करता हूँ वह इसलिए होता है कि आप सन्तगण प्रसन्न रहें। वास्तव में आप ही गीता के उपभोक्ता हैं, इसलिए मैंने इस भाषा कार्य को लगातार अपना रखा है। आप भी सब तरह की हानि सहकर इस गीता प्रवचन को सुनते रहेंगे। यह तो एक प्रकार से आपकी धरोहर है। अगर आप अपना ज्ञान मुझे देकर इसे ग्रहण न करेंगे तो गीतार्थ और मेरी एक ही गति होगी। सारांश यह है कि आप सन्तों की कृपा प्राप्त करने के लिए मैंने इस गीता प्रवचन को एक निमित्त बना लिया है। इसीलिए अपनी रुचि का ख्याल करके मैंने अहिंसा की व्याख्या को इतना लम्बा बना दिया और इस सम्बन्ध में विभिन्न सम्प्रदाओं के मत आपको सुना दिये। इससे कथा का अधिक विस्तार हो गया और श्लोक का अर्थ एक तरफ रह गया। पर मैं तो आपका बालक हूँ, यह आप अच्छी तरह समझते हैं और मुझे पहले से ही

क्षमा कर चुके हैं। अब श्रीकृष्ण ने अर्जुन से क्या कहा उसे सुनिये। (३१८)

श्री भगवान् ने कहा—हे ज्ञानोत्तमनयन अर्जुन! सावधान हो जा! तुझको अब मैं ज्ञान का पूरा परिचय करा देता हूँ। जिस स्थान में दुःख रहित क्षमा निवास करती है उसी जगह ज्ञान भी रहता है। जिस प्रकार, सरोवर में कमल होते हैं, अथवा सौभाग्यशाली के यहाँ लक्ष्मी रहती है, उसी प्रकार हे अर्जुन! ज्ञान वही है, जिसके द्वारा क्षमा की वृद्धि हो। ऐसे ज्ञान और ज्ञानी के लक्षणों को मैं तुझे बतलाता हूँ। अपने प्रिय बालक को माँ-बाप जो आभूषण पहिनाते हैं उनके प्रति बालक जैसे उदासीन रहता है उसी प्रकार जितने भोग सहन करने पड़ते हैं उन्हें ज्ञानी भी बिना चिन्ता किये रहता रहता है। आध्यात्मिक,आधिदैविक, आधिभौतिक इन तीनों प्रकार के उपद्रवों से भी जो दुःख अनुभव नही करता, जो इष्ट और अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति में, मान और अपमान में निन्दा और स्तुति में समभाव रखता है, जिसे ग्रीष्म ऋतु में ताप का और जाड़ों में शीत का कष्ट नहीं होता, जिसे कोई वस्तु असह्य नहीं होती, शरीर के सम्बन्ध में जो घटनायें होती हैं उन्हें निरभिमान भाव से सहन करता रहता है, इस प्रकार की क्षमा हे अर्जुन! जिस पुरुष में निवास करती है, उसके द्वारा ज्ञान का महत्व भी बढ़ता है। (३५३)

अब आर्जव (सरलता) का वर्णन करते हैं, उसे सुनो! जैसे प्राण समस्त बातों के प्रति सौजन्यता का भाव रखता हैं, जैसे सूर्य सबको समान भाव से प्रकाश देता है, जैसे आकाश सब में बिना भेद भाव के अपना विस्तार करता है, उसी प्रकार जिसका मन विभिन्न प्राणियों में भेदभाव नहीं करता और सबके साथ परिचित का-सा भाव रखता है, जिसको अपने-पराये का ख्याल भी नहीं होता, जो सबसे मेल रखता है, जो पानी के समान नम्र रहता है, जिसमें शंका तथा इच्छा नहीं पाई जाती, हे अर्जुन जिस प्रकार विकसित कमलसे अपनी सुगन्ध गुप्त नहीं

रखी जा सकती, उसी प्रकार जिसके मन में बाहर और भीतर के विचारों में भिन्नता नहीं होती, जिसकी दृष्टि कपटी और वाणी संदिग्ध नहीं होती पर साथ ही किसी के लिए खोटा विचार नहीं करता, वही पुरुष मूर्तिमान आर्जव है और उसी में ज्ञान ने कुटुम्ब सहित अपना घर बनाया है।

हे बुद्धिमान अर्जुन ! अब मैं तुझे गुरु-भक्ति के विषय में बतलाता हूँ। यह गुरु-सेवा सम्पूर्ण भाग्य की जन्मदात्री है, क्योंकि यह शोक ग्रस्त जीव को ब्रह्म स्वरूप बनाती है। जिस प्रकार गंगा समस्त जल लेकर समुद्र से मिलती है, अथवा पतिव्रता स्त्री अपना समस्त जीवन पति को अर्पण कर देती है उसी प्रकार जो व्यक्ति अपना सर्वस्व गुरु को अर्पण कर देता और जिसने अपने शरीर को गुरु भक्ति का निवास बना लिया है, जिस देश में गुरु रहते हैं उसी देश में जिसका मन बसा करता है, उस तरफ से जो पवन आता है उसे भी जो नमस्कार करता है, जिसका केवल देह मात्र ही गुरु का आदेश पालन करने के लिये अपने ग्राम में रहता है, पर जो हमेशा गुरु से मिलने की बात सोचा करता, जो गुरु के कुल का नाम सुनते ही महासुख का अनुभव करने लगता है जो अपने शुद्ध हृदय-मन्दिर में अपने गुरु रूपी भगवान् की स्थापना करके सदैव पूजा किया करता है, जो अपने गुरु रूपी विष्णु के नाभि-कमल से ब्रह्मा बनकर उनका ध्यान करता रहता है, जो ज्ञान रूपी वृक्ष के नीचे गुरु को गाय मानकर स्वयं उसके बछड़े की तरह बन जाता है अथवा गुरु-कृपा के स्नेह रूपी जल में स्वयं मछली ही बन गया हो, ऐसी भावना किया करता है, जो गुरु कृपा की अमृत रूपी वर्षा समझकर अपने को गुरु सेवक रूपी पौधे मानता है, अथवा अपने को बिना आँख और पंखों का पक्षी-शावक समझकर गुरु रूपी पक्षिणी-माता के मुँह से चारा लेता है, अथवा गुरु को नौका समझकर उनका सहारा लेता है—इस प्रकार गुरु की मूर्ति को हृदय में

धारण करके ध्यान करता है, वही गुरु भक्त ध्यान-सुख का यथार्थ अनुभव प्राप्त करता है।

वह मन में ऐसा निश्चय करता है कि मैं गुरु की ऐसी उत्तम सेवा करूँगा कि गुरु सन्तुष्ट होकर कहेंगे कि 'चाहे जो माँग ले।' तब मैं कहूँगा कि हे प्रभो! आपका जितना परिवार है और आपके उपभोग के जितने साधन हैं वह सब मैं ही बन जाऊँ। तब गुरु देव कहेंगे—'अच्छा ऐसा ही करो।' तब मैं उनका पूरा परिवार तथा काम आने वाली वस्तुएँ बनकर उनकी ऐसी सेवा करूँगा कि गुरु सेवा का चमत्कार दिखाई पड़ने लगेगा। मैं गुरु भक्ति की दासी बन जाऊँगा, गुरु स्नेहरूप वृष्टि के नीचे पृथ्वी बनूँगा, गुरु का निवास गृह बनकर उसमें दास के रूप में उनकी सेवा करूँगा। मैं गुरु की पादुका बनकर उसे स्वयं ही पहिनाऊँगा। मैं ही उनका छत्र चोबदार, चँवर लेने वाला, मसाल वाला, सुराही ले चलने वाला, स्नान कराने वाला, आसन अलंकार वस्त्र, चन्दन आदि धरूँगा। उनका रसोईया बनकर थाली परोसूँगा। मैं ही उनका सिंहासन बनूँगा और जब गुरु उस पर बैठ जायेंगे तो मैं अपनी सेवा पूर्ण समझूँगा। इस प्रकार सब प्रकार से गुरु बाह्य सेवा करके गुरु की आवश्यकता का प्रत्येक पदार्थ बनकर मैं अपने को पूर्णतः गुरु सेवा से व्याप्त कर लूँगा। (४३०)

ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि ऐसा मनुष्य जब तक जीवित रहता है तब तक ऐसी ही गुरु सेवा करता है। देह का अन्त हो जाने पर भी उसको गुरु सेवा की कैसी आस्था रहती है, इस आश्चर्यजनक चर्चा को अब श्रवण करो। उसका जीवात्मा कहता है कि इस देह की मिट्टी को उस स्थान में मिला दूँ जहाँ श्री गुरुदेव के चरणों का स्पर्श होता है। मेरा जलांश उस पानी में मिल जायेगा जो गुरु के कार्य में प्रयुक्त होता हो। जिस दीपक से लोग गुरुजी की आरती उतारें मैं अपना तेज उसी में मिला दूँगा। जहाँ पंखा या चँवर से गुरुजी की

हवा की जाती हो उसमें मैं अपनी प्राण वायु मिला दूँगा। जहाँ गुरु निवास करते होंगे वहाँ के आकाश में मैं शरीर का आकाश तत्व मिला दूँगा। इस प्रकार मैं जीवित अथवा मरणोपरान्त अवस्था में एक पल भी गुरु की सेवा बिना नहीं रहूँगा। इस प्रकार की भावना और धैर्य जिसके मन में हैं वह गुरु की सेवा करने में न तो रात दिन का ख्याल करता है और न कभी यह कहता है कि "अब तो बहुत सेवा हो गई।" अगर गुरु काम करने की आज्ञा देते हैं तो उसे ऐसी अभिलाषा होती है कि वह गगनके समान विशाल बन जाय और समस्त कामों को अकेला ही पूरा करले। किसी अवसर पर वह गुरु के खेल के लिए अपना जीवन ही निछावर कर देता है। गुरु की परम्परा से चला आने वाला धर्म ही उसके लिए वर्णाश्रम धर्म बन जाता है। गुरु ही उसका तीर्थ है, गुरु ही उसका देव हैं गुरु ही माता-पिता हैं और वह गुरु सेवा के अतिरिक्त अन्य किसी बात को जानता ही नहीं।

गुरु का द्वार ही उसके लिए सब धर्मों का सार है और गुरु के सेवक से वह अपने सगे भाई की तरह प्रेम रखता है। उसकी वाणी दिन-रात गुरु नाम का ही जाप करती रहती है और वह गुरुवाक्य के अतिरिक्त किसी अन्य शस्त्र को हाथ नहीं लगाता। गुरु के चरणों से स्पर्श किया जल चाहे जैसा भी हो तो भी उसे तीनों लोकों के तीर्थ-जल से अधिक पवित्र मानता है। गुरु के उच्छिष्ट प्रसाद के सम्मुख उसे समाधि सुख तुच्छ जान पड़ता है गुरु के चलने से जो रजकण उड़ते हैं, उन्हें वह मस्तक पर धारण करता है और इसे मोक्ष से भी बड़ा लाभ मानता है। उसकी गुरु भक्ति की महिमा का कहाँ तक वर्णन करूँ, क्योंकि उसका पार नहीं है। पर मेरे भीतर गुरु भक्ति की उमंगे आने से इतना कहना पड़ा। जिसको गुरु भक्ति की इच्छा होती है, प्रेम होता है, जिसे गुरु सेवा से बढ़कर मधुर और कोई वस्तु नहीं लगती, उसी को ब्रह्म ज्ञान की वास्तविक प्राप्ति होती है। गुरु सेवा

करने वाला देवता होता है और उसका ज्ञान भक्त। जिसे सच्ची गुरु भक्ति होती है उसका ज्ञान इतना अधिक होता है कि समस्त संसार को व्याप्त कर देने पर भी शेष रह जाता है।

ज्ञानेश्वर महाराज कहते कि मेरे मन में गुरु सेवा की अत्यन्त उत्कण्ठा होने से ही मैंने उसका इतने विस्तार से वर्णन किया। अन्यथा मैं तो हाथ होते हुए भी लूला, नेत्र होते हुए भी अन्धा, पैर होते हुए भी लंगड़ा और ज्ञान की प्रशंसा करने में गूँगा हूँ। इतने अवगुण होने पर भी गुरु व्यर्थ ही मेरा पालन करते हैं। पर मुझे ऐसी भक्ति की उत्कट इच्छा अवश्य है, इसी से मुझे शरीर की रक्षा करनी पड़ती है। मैंने गुरु सेवा के सम्बन्ध में जो बहुत अधिक वर्णन कर डाला उसके लिये मुझे क्षमा करें जिससे मैं गीतार्थ को उत्तम रीति से कह सकूँ।

हे साधुजनो ! सुनिये ! सुनिये !! समस्त भूतों का भार वहन करने वाले भगवान विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण बोलने वाले हैं और अर्जुन सुनने वाला है। कपूर जैसे बाहर-भीतर से शुद्ध होता है, अथवा रत्न जैसे बाहर-भीतर चमकते रहते हैं,सूर्य जिस प्रकार सर्वत्र झलझलाता रहता है उसी प्रकार कर्मयोग और ज्ञानयोग के साधक का भी अन्तः बाह्य प्रकाशमान हो जाता है। वेद मन्त्रों,मिट्टी और जल के प्रयोग से बाहरी शुद्धि होती है, बालू से दर्पण और रीठा से वस्त्र स्वच्छ हो जाते हैं, उसी प्रकार जिसके अन्तर में ज्ञान का प्रकाश होता है उसे अन्तः बाह्य शुद्ध ही समझना चाहिए। अन्यथा हे अर्जुन ! जो अन्तर की शुद्धता बिना केवल बाहरी (दिखावटी) कर्म करते हैं उनकी तो सर्वत्र विडम्बना ही होती है। जिस प्रकार मृत देह को आभूषण पहिनाना, गधा को तीर्थ स्नान कराना, कड़वी तूम्बी पर गुड़ का लेप करना, उजाड़ घर पर तोरण बांधना, भूखे मनुष्य के पेट पर अन्न का लेप करना—ये सब कार्य व्यर्थ हैं, वैसी ही गति केवल बाह्य शुद्धि करने वालों की होती है। घटिया

वस्तु का अधिक मूल्य नहीं मिल सकता, मदिरा से भरे घड़े को गङ्गाजी के भीतर रखा जाय तो भी वह पवित्र नहीं बन सकता। अगर अन्तर में ज्ञान हो तो बाह्य शुद्धि अपने आप हो जाती है। अन्तर में शुद्ध वासना उत्पन्न होने से वह बाह्य इन्द्रियों में इस प्रकार झलकने लगती है जैसे स्फटिक के घर में जलते हुए दीपक का प्रकाश बाहर भी चमचमाता रहता है। जिन गीतों के कारण संशय विकार, कुकर्म उत्पन्न होते हैं उनको देखते सुनते हुए भी ऐसे ज्ञानी पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जिस प्रकार बादलों के रंगों के कारण आकाश की शुचिता में कोई अन्तर उत्पन्न नहीं होता। वह सामान्य रूप मे सांसारिक व्यवहारों को करता रहता हैं, पर इन्द्रिय विकारों को मन पर जमने नहीं देता। जिस प्रकार कोई स्त्री पति का आलिगन करती है और पुत्रको भी भेंटती है, पर पुत्र को भेंटते समय उसके मन की स्थिति सर्वथा भिन्न होती है। इसी प्रकार जिसका मन निर्मल होता है, जिसमें बुरे और भले को परखने का विवेक होता है, वह विकारों से उसी प्रकार प्रभावित नहीं होता जिस प्रकार हीरा पानी में नहीं भीगता और उबलते पानी में कंकड़ नहीं गलते। हे पार्थ ! इसी का नाम शुचित्व अथवा पवित्रता है और जहाँ यह पाई जाय वहाँ ज्ञान का निवास अवश्य होता है। (४८४)

जिसके मन में पूर्ण स्थिरता आ गई हो, उसे भी सच्चा ज्ञानी ही समझो। उसका शरीर चाहे जहाँ भ्रमण करता रहे, पर मन का आसन तो अविचल ही रहता है। जैसे गाय जंगल को जाती है तो बछड़ों का प्रेम उसके साथ वहाँ भी जाता है अथवा कृपण अपने घर को छोड़कर दूर चला जाय, तो भी उसका मन घर में गाड़े हुए धन में रहता है, वैसे ही ज्ञानी शरीर से सांसारिक कार्य करता रहे पर उसका चित्त अविचल ही रहता है। जिस प्रकार दौड़ते हुए बादलों के साथ आकाश नहीं दौड़ता भ्रमण करते नक्षत्रों के साथ ध्रुवतारा नहीं घूमता, जिस प्रकार यात्री

के साथ मार्ग नहीं चलता, उसी प्रकार इस पंचभूतात्मक शरीरके किसी भी विकार से वह चल-विचल नहीं होता, जिस प्रकार तूफान के जोरसे पृथ्वी नहीं हिल सकती, उसी तरह विकारोंके कारण ज्ञानी का मन नहीं डोल सकता। वह दुःख दारिद्रय से संतृप्त नहीं होता, भय और शोक से व्याकुल नहीं होता और मृत्यु आती ही तब भी नहीं डरता। वृद्धावस्था तक सर्वाङ्ग में व्याधि लग जाने पर उसका चित्त घबड़ाता नहीं। निन्दा, अपमान, दण्ड, काम तथा लोभ का प्रबल आक्रमण होने पर भी उसके मन पर जरा भी असर नहीं पड़ता। आकाश टूट पड़े या पृथ्वी फट जाय, तो भी उसकी चित्तवृत्ति बदलती नहीं। हाथी को फूल से मारा जाय तो उसे उसका कुछ भी पता नहीं लगता, उसी प्रकार हृदय को छेद डालने वाले शब्दों से उसका तन दुखित नहीं होता। क्षीर सागर की तरंगों से जैसे मंदराचल चलायमान नहीं होता अथवा दावानल की ज्वाला से जिस प्रकार आकाश नहीं जल सकता, वैसे ही इन्द्रियों के विषय विकारो की चाहे कैसी भी लहरें उठें और टकरायें तो भी उसका मन डगमगाता नहीं और कल्पान्त होने पर भी धैर्य का त्याग नहीं करता।

हे अर्जुन! स्थिरता के ये ही लक्षण है। ऐसा अविनाशी स्थैर्य जिसके भीतर रहता है, वह ज्ञान का भंडार ही है। अन्तःकरण के निग्रह के लक्षणों को बतलाता हूँ। पिशाच जैसे कष्ट देने के घर को, योद्धा जैसे अपने हथियार को अथवा कृपण जैसे अपने धन को नहीं भूलता, माता जैसे इकलौते बेटे के मोह को, मधुमक्खी शहद के लोभ को नहीं भूलती, इसी प्रकार वह अपने अन्तःकरण की बल पूर्वक रक्षा करता है और उसे इन्द्रियों के द्वार पर खड़े नहीं होने देता। जीवितावस्था में वह देह की चिन्ता न करके देह को कृश करके इन्द्रिय का निग्रह करता है। मूलबन्ध, उंड्डियान बन्ध और जालन्धर बन्ध— को स्थिर करके इड़ा और पिंगला के मध्य में रहने वाली सुषुम्ना में अपना चित्त लगाता है, समाधि रूपी शय्या के पास वह ध्यान को बाँधे रखता है, जिससे

आत्मा को ऐक्य होने तक चित्त स्थिर बना रहता है। जिस चित्त की ऐसी स्थिति हो उसे ही अन्तःकरण कहा जाता है और उसी में ज्ञान की ध्वजा फहराती है। जिस साधक की आज्ञा को उसका मन सिर झुकाकर मानता है, वह चाहे मनुष्य के आकार में जगत् में विचरण करता हो, तो भी वह मूर्तिमान ज्ञान है, यह निश्चय जान ले। (५३२)

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

और जिसके मन में विषयों के विरुद्ध पूर्ण वैराग्य रहता है, वमन किये अन्न को जिस प्रकार जिह्वा ग्रहण नहीं करती, मुर्दा को आलिंगन करने की इच्छा नहीं होती, जलते घर में घुसा नहीं जा सकता, बाघ की गुफा में कोई बैठ नहीं सकता, पिघले हुए लोहे में कोई कूद नहीं सकता, अजगर का तकिया नहीं लगाया जा सकता उसी प्रकार हे अर्जुन! जिसको विषय की वार्ता अच्छी नहीं लगती, वह इन्द्रियों और विषयों का मिलाप होने ही नहीं देता। जिसके मन में विषय-सेवन के लिए आलस्य बना रहता है और जो विषयों से ऊब गया है, जिसके मन की इन्द्रिय निग्रह से मैत्री हो गई है, जो सदा तप तथा व्रतों का पालन करता रहता है, जिसे बस्ती में आना बड़ा क्लेशदायक मालूम होता है, जिसकी योगाभ्यास के लिए तीव्र इच्छा होतीहै और जिसे अरण्यवास बहुत अच्छा लगता है, जिसको लौकिक भोग बाण शैया पर लेटने या पीव कीचड़ में गिर जाने के समान जान पड़ते हैं और जो स्वर्ग को तो कुत्ते के सड़े मांस की तरह मानता है, उस पुरुष का आचरण ही विषय-वैराग्य कहा जाता है। इस प्रकार जिसमें दोनों लोकों के सुखोपभोग के प्रति पूर्ण विरक्ति हो, वही ब्रह्मानन्द के योग्य होता है और उसी में ज्ञान का निवास समझो। (५२४)

अब निरभिमानता का वर्णन करते हैं। जो श्रद्धापूर्वक यज्ञ

करता है तथा तालाव, बगीचा आदि बनवाने का सत्कर्मभी करता रहता है, पर इनके कर्तृत्वाभिमानी को मनमें तनिक भी नहीं आने देता, जिस प्रकार वायु स्वभावतः सर्वत्र चलती है, सूर्य सब तरफ प्रकाश फैलाता है, गंगा सम्पूर्ण देश को जल देती है, इसी प्रकार जिसका व्यवहार स्वाभाविक और अभिमान रहित होता है, वही निरहंकारी है। वृक्षोंमें यथा समय फल आते हैं पर वृक्ष को उनकी याद भी नहीं रहती, इसी प्रकार उसकी वृत्ति कर्म फल के विषय में उदासीन ही रहती है। बादल का आकाश से कोई सम्बन्ध न होने पर भी जिस प्रकार वह आकाश में ही जान पड़ता है, वैसे ही वह देह से कर्म करते रहने पर भी उससे अलिप्त रहता है। जैसे चित्र में चित्रित शस्त्रों का कोई उपयोग नही होता उसी प्रकार वह अपने देह विषयक अभिमान से रहित होता है। उसीको निरहंकार कहा जा सकता है और उसी में ज्ञान का निवास होता हैं।(५२५)

जन्म, जरा, दुःख, व्याधि, वृद्धावस्था और पातक की प्राप्ति से जो पहले ही सावधान रहता हैं, उसे दोषों के सम्बन्धमें दूरदर्शी मानना चाहिए। जैसे साधक पहले ही पिशाच की व्यवस्था करता है, योगी यह सावधानी रखता है कि अन्य मनुष्य का रोग उसको न लग जाय, अथवा कारीगर जैसे गुनिया लाकर दीवार के सीधे टेड़ेपन को जाँच लेता है, उसी प्रकार वह पुनर्जन्म के दुःखों का स्मरण करके फिर से जन्म न लेने का उद्योग करता है, जिस तरह आँख में किरकिरी पड़ जाने से उसका कष्ट सहना कठिन होता है अथवा घाव में भाले की चोट सहन नहीं की जा सकती उस प्रकार उसको पुनर्जन्म में होने वाले दुःख भूल नहीं पाते। वह कहता है कि जिन कर्मों से मुझे फिर जन्म लेना पड़े उनको मैं कदापि नहीं करूँगा। जिस प्रकार सम्मानित पुरुष अपकीर्ति सहन नहीं कर सकता उसी प्रकार उसे जन्म लेना घोर लज्जाजनक बात जान पड़ती है। हे अर्जुन ! जिस प्रकार नदी के पार जाने वाला यह सुनकर कि नदी के बीच में गहरा पानी है, पहले से

ही अपनी कमर में तूमा बाँध लेता हैं, जिस प्रकार युद्ध में घाव लगने से पहले ही ढाल को सामने किया जाता है, मरने के पहले ही औषधि की योजना की जाती है। इसी प्रकार सावधान मनुष्य भी पहले से ही प्रत्येक साधन की व्यवस्था कर लेता है। जिस प्रकार घर में आग लगने पर कुँआ खोदना व्यर्थ होता हैं उसी प्रकार पीछे से साधनों की योजना करना व्यर्थ हैं। नदी के मध्य फेंके गये पत्थर की तरह संसार में डूबता है, उसकी पुकार वहाँ कौन सुन सकता है ?- सन्यास लेने के पश्चात् जिस प्रकार मनुष्य सदैव मरने को तैयार रहता है उसी प्रकार वह जीवितावस्था में ही निरन्तर मृत्यु का विचार करता रहता है। इस प्रकार जो जन्म लेकर जन्म का निवारण करता है और ब्रह्मरूप में अधिष्ठित रहता है, उसके यहाँ ज्ञान की कमी नहीं रहती। (५५४)

उसी प्रकार अपनी युवावस्था में ही वह आने वाली वृद्धावस्था का विचार करके कहता है—आज मेरा जो शरीर शक्ति सम्पन्न है वह वृद्धावस्था में सूखी हुई कचरी के समान हो जायगा। मन्त्री हीन राजा की जैसी हालत है वैसी ही मेरे हाथ पैरों की हो जायेगी। मेरे जिस मस्तक को फूलों का इतना शौक है, वह ऊँट के घुटने के समान हो जायेगा। जिस प्रकार वर्षा ऋतु में पशुओं के खुर सड़ जाते हैं, वैसी गति मेरे शरीर की हो जायगी। जो आँखें आज कमल पत्रों से स्पर्धा करती है वे शीघ्र ही पके हुए चिबड़े के समान हो जायेंगी, भौंहे सूखी हुई छाल की तरह लटकने लगेंगी, और नेत्रों से जल बहने के कारण वक्षःस्थल सड जायगी। जिस प्रकार कर्ज होने से खेती बाड़ी डूब जाती है और किसान कभी उसके फन्दे से नहीं छूट सकता, उसी प्रकार जिह्वा बहुत प्रयत्न करने पर भी स्पष्ट बोल नहीं सकेगी। जिस प्रकार सूखी घास के तिनके हवा से उड़ जाते हैं वैसी ही हालत माथे और दाड़ी के बालों की होगी। मुख से शब्दोच्चारण नहीं होगा और

न कानों से सुनाई देगा। इस प्रकार शरीर की दशा बूढ़े बन्दर की सी हो जायगी। खेत में पक्षियों को डराकर उड़ाने के लिए जो एक मनुष्याकार पुतला खड़ा किया जाता है वह जिस प्रकार पवन से हिलता है उसी प्रकार मेरा शरीर भी हिलने लग जायेगा। मल मूत्र के द्वार भी फटे बर्तन की तरह शक्ति से बाहर हो जायेंगे और कुटुम्बी जन मेरे शीघ्र अन्त होने के लिए देवी देवताओं की मनौती करने लगेंगे। मेरी ऐसी हालत देखकर दुनियाँ मुझे धिक्कारने लगेगी, स्त्रियाँ पिशाच कहेगी और यह सुनकर बालक भयभीत होने लगेंगे। अधिक क्याकहूँ इस तरह मैं सबकी घृणा का पात्र हो जाऊँगा। मेरी खाँसी की आवाज को रात भर सुनकर सोने वाले लोग कहेंगे कि 'यह बुड्ढा न जाने कब तक लोगों को तङ्ग करता रहेगा ? इस प्रकार वृद्धावस्था की स्थिति का युवावस्था में ही विचार करके, वह पहले से ही सावधान होने लगता है कि जब भविष्य में मेरी यह दशा होने वाली है तो इस समय भोगों में लिप्त होने से क्या लाभ हो सकेगा ? (५७७)

इसलिए वह बधिरता आने के पहले ही आत्म चर्चा की सब बातें सुन लेता है। लंगड़ापन आने से पूर्व ही तीर्थ यात्रा कर लेता है, जब तक नेत्र ठीक हैं, तभी तक दर्शनीय वस्तुओं को देख लेता है और जब तक वाणी स्थिर है उसी समय तक ईश्वर का गुणानुवाद गा लेता है। आगे चलकर हाथलूले हो जायेंगे यह विचारकर सब दान-धर्म कर लेता है। ऐसा दशा आने पर मन भी भ्रमित हो जायगा इससे पहले ही आत्मज्ञान का भी पूरा विचार कर लेता है। आगे चलकर हमको चोर लूट लेंगे यह विचार कर जिस प्रकार पहले ही रक्षा की व्यवस्था करली जाती है, अथवा दीपक बुझाये जाने के पहले ही घर की सब वस्तुओं को ढङ्ग से रख दिया जाता है, उसी प्रकार वृद्धावस्था आने से पूर्व ही ज्ञान प्राप्त न कर लेने से पुनःजन्म-मृत्युके चक्र में पड़कर यह जन्म व्यर्थ ही चल जायगा, इसलिए बुद्धिमत्ता इसी में हैं कि ऐसा समय आने से पहले

ही जन्म-मृत्यु देने वाली सब बातों को पृथक् कर दिया जाय। जो यात्री यह समझकर कि आगे रक्षा का प्रबंन्ध नही है, जोखम की वस्तुओं को अपने पास नहीं रखता उसे चोर किस प्रकार लूट सकेंगे ? इसी प्रकार यह सोचकर कि आत्मज्ञान प्राप्त किये बिना जीवन की सार्थकता नहीं है जो व्यक्ति युवावस्था में ही आत्म चिंतन कर लेता है वही वृद्ध अर्थात् ज्ञानवान है, ऐसा क्यों न माना जाय ? तिल निकाल लेने के पश्चात् यदि उन डंठलोंको फिर झाड़ा जाय तो तिल नहीं निकल सकते। अग्नि के प्रचण्ड हो जाने पर भी वह राख को नहीं जला सकती, इसी प्रकार जिसने यह समझकर कि आगे चलकर बुढ़ापा आने वाला है, पहले से ही तैयारी कर रखी है उसे हानि नहीं पहुँच सकती। ऐसे व्यक्ति में ज्ञान का निवास है, यह निश्चित मान लेना चाहिए। तरह-तरह के रोगों ने जब तक शरीर को नहीं घेरा है, तब तक शारीरिक स्वास्थ्य का उपयोग आत्म-ज्ञान में कर लो। जिस प्रकार सर्प के मुख से लगे भोज्य पदार्थ को जानकर मनुष्य त्याग देता है, उसी प्रकार जिस सुख के परिणाम स्वरूप दुःख विपत्ति और शोक प्राप्त होता हो, उस शारीरिक मोह को पहले से ही त्याग कर उदासीन वृत्ति रहना ही ज्ञानी पुरुष का कर्तव्य है, हे अर्जुन ! अब मैं तुझको ज्ञानवान का एक और अलौकिक लक्षण बतलाता हूँ। (५६३)

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।९

जिस प्रकार कोई यात्री उस धर्मशाला से, जिसमें थोड़ी देर के लिए टिकता है महत्व नहीं रखता, उसी प्रकार जो अपनी देह से भी उदासीन रहता है, अथवा जिस प्रकार किसी वृक्ष की छाया में सुस्ता लेने की तरह जो अपने घर के प्रति भी उतना ही महत्व रहित भाव

रखता है, उसे ही ज्ञानी कहना चाहिए । ज़िसे अपनी पत्नी, पुत्र, सम्पत्ति में आसक्ति नहीं होती और अपने को इनका एक संरक्षक मानता हैं, अथवा पिंजड़े में बन्द तोता जिस प्रकार पालने वाले की आज्ञानुसार व्यवहार करता है, उसी प्रकार जो वेदाज्ञा का पालन करता रहता है, वह ज्ञान का अधिष्ठानरूप है । जिस प्रकार विस्तृत समुद्र ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में एक सा ही रहता है उसी प्रकार जो हानि-लाभ के प्रति समान भाव रखता है, जिस प्रकार सूर्य तीनों काल में एक जैसा ही रहता है उसी प्रकार जिसके मन में सुख-दुःख से भेद-भाव उत्पन्न नहीं होता और जिसके चित्त में आकाश के समान कभी न्यूनता नहीं आती, उसी में शुद्ध ज्ञान प्रत्यक्ष विद्यमान है ऐसा तू जान ले । (६०३)

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०

जिसने मन, वाणी काया से निश्चय कर लिया है कि संसार में परमात्मा से श्रेष्ठ, दर्शनीय और प्राप्त करने योग्य और कुछ नहीं है, जिसने अपने चित्त को मेरे साथ संलग्न कर दिया है, उसी ने मेरे साथ अपना एकीकरण किया है और मेरे स्वरूप को शैया बना लिया है । जिस प्रकार अपने पति के सामने जाते हुए स्त्री को जरा भी शंका नहीं होती, उसी प्रकार मेरे साथ ऐक्य करने में उसे लेशमात्र संशय उत्पन्न नहीं होता । जिस प्रकार गङ्गा का जल समुद्र में मिलकर उसी में मिला रहता है, उसी तरह जो मेरे साथ ऐक्य पाकर भी मुझे भजता रहता है वही ज्ञानी है । सूर्य की प्रभा का उदय सूर्य के साथ ही होता है और उसी के साथ वह अन्त होती है तो ऐसा ऐक्य प्रभा को ही शोभा देता है । अथवा पवन के आघात से जब पानी पर पानी उछल कर ऊपर आता है तब लोग उसे तरङ्ग कहते हैं, परन्तु वह वास्तव में पानी ही होता है । इसी प्रकार जो एकनिष्ठ होकर मेरी सेवा करता है, वही मूर्तिमान् ज्ञान है । अथवा जो मनुष्य तीर्थों, उत्तम तपोवनों तथा

गुफाओं में रुचि रखता है सरोवर आदि के तीर पर रहना जिसे प्रिय लगता है, घने नगर जिसे नापसन्द होते हैं और एकान्त रुचिकर प्रतीत होता है वह मनुष्य भी ज्ञान की मूर्ति ही है। अर्जुन ! ज्ञान के स्पष्टीकरण के लिए अभी मैं कुछ अन्य लक्षण तुझे आगे बतलाता हूँ। (६१५)

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११

जिस ज्ञान से परमात्मा रूपी तत्वका परिचय मिलता है वही वास्तविक है। उसके बिना संसार तथा स्वर्ग को प्राप्त करने वाला सब ज्ञान अज्ञान ही है। इस बात को जिसने अच्छी तरह समझ लिया है, जो सब इच्छाओं को त्याग कर संसार से विरक्त हो गया और अध्यात्मज्ञान में डुबकी लगाता है; जिस प्रकार यात्री आड़े-टेड़े मार्गों को छोड़कर सरल राजमार्ग पर चलता, उसी प्रकार जो सब प्रकार के ज्ञानों पर विचार करके अन्य ज्ञानों को छोड़कर अपनी बुद्धिको अध्यात्मज्ञान में ही संलग्न करताहै, उसमें ज्ञान अवश्य निवास करताहै और वह अन्तमें मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार भोजन के लिए पत्तल पर बैठा मनुष्य तब तक 'भोजन करता हुआ' नहीं कहा जा सकता कि जब तक खाना आरम्भ न करदे, इसी प्रकार ज्ञान प्राप्ति की इच्छा होते हुए भी किसी को तब तक 'ज्ञानी' नहीं कहा जा सकता जब तक वह वास्तव में उसे प्राप्त न करले। तत्वज्ञान प्राप्त होनेपर उसकी सीधी दृष्टि अध्यात्म रूपी फल पर ही रहती हैं। अन्यथा ज्ञान प्राप्त होने पर भी अगर ज्ञेय वस्तु न मिले तो उस ज्ञान को व्यर्थ ही समझना चाहिए। अन्धे मनुष्यके हाथ में दीपक का क्या उपयोग? इसी प्रकार यदि केवल ज्ञान का निश्चयकर लिया जाय और आत्मदर्शन न हो तो उस ज्ञान को व्यर्थ ही कहा जायगा जब ज्ञानी मनुष्य जहाँ देखे वहाँ उसे परमात्मा ही दिखाई पड़े,तभी उसकी बुद्धिको निर्मलतथा ज्ञानको निर्दोष माना जायगा। जिस

व्यक्ति का ज्ञान जितना अगाध होता है, उसकी बुद्धि भी उतनी ही विशाल होती है और उसी को ज्ञान सम्पन्न कहा जाता है। जिसकी बुद्धि ज्ञान का प्रकाश मिलते ही 'ज्ञेय' का आलिंगन कर लेती है वह हाथों हाथ परमतत्व को प्राप्त कर लेता है। हे अर्जुन ! ऐसे पुरुष को ज्ञान रूप कहना आश्चर्यजनक नहीं है। सूर्य कहकर नवीन ढङ्ग से दिखाना नहीं पड़ता।

तब श्रोता कहने लगे—अब रहने दो ज्ञान के विषय को अधिक स्पष्ट करने की जरूरत नहीं है। गीतार्थ में अधिक विलम्ब क्यों करते हो ? अध्यात्मज्ञान का निरूपण सुनकर हमको तुम्हारी वक्तृत्व शक्ति का अच्छा लाभ मिल चुका है। अन्य कवि किसी वस्तु के मूल रूप का सीधा वर्णन करके उसके उपायों के सम्बन्ध में व्यर्थ का अधिकाधिक वर्णन करते रहते हैं। तुम उन कवियों की नकल क्यों करते हो ? कोई व्यक्ति यदि अपने मित्रों को भोजन के लिए बुलाये और उनके बैठने को बढ़िया चौकी सजावट तो करे पर तैयार भोजन सामग्री को लेकर भाग जाय, तो ऐसा आतिथ्य सत्कार किस काम का ? इसी प्रकार यदि कोई गाय सब तरह से अच्छी हो, पर दूध दुहते समय लात मारे, दूध न निकलने दे तो उसे कौन पालेगा ? अतः तुमने अन्य कवियों की तरह इधर-उधर की बातों का वर्णन न करके सत्य ज्ञान का जो परिचय कराया है वह बहुत ठीक है। जिस ज्ञान की अल्प प्राप्ति के लिए भी मनुष्य अनेक कठिनाइयाँ सहकर योगाभ्यास आदि करते हैं, उसका वर्णन करते हुए तुमने अमृत की झड़ी लगा दी। अगर ऐसी अमृत-वर्षा सदा होती रहे तो भी कोई ऊब नहीं सकता। पूर्णमासी की रात्रि यदि एक युग तक कायम रहे तो क्या चकोर उससे विरक्तता प्रकट कर सकता है ? उसी प्रकार तुम्हारा जैसा कुशल वक्ता यदि ज्ञानोपदेश करे तो कौन यह कहेगा कि—'बस' बहुत हो गया। भाग्यवान मेहमान को यदि सुघड़ परोसने वाला मिल जाय तो ऐसा जान पड़ने लगता है कि रसोई की सामग्री समाप्त ही नहीं होती। इसी प्रकार आज की कथा में हमको

सुनने का प्रेम हैं और तुमको कहने की रुचि है, इससे तुम्हारी व्याख्यामें चौगुना बल आ जाता है इसमे हमें यह कहना ही पड़ता हैकि तुम 'ज्ञान के भण्डार' हो। अब अपनी बुद्धि के बल से ज्ञान के विरुद्ध अज्ञान के लक्षणों का निरूपण करो।

सन्तों के ऐसे वचन सुनकर निवृत्ति महाराज के दास श्री ज्ञानदेव कहने लगे—मेरी भी अज्ञान का वर्णन करने की मनोभावना थी। अब हे गुरो ! आपने उसी के लिए आज्ञा दे दी तो वृथा बात बढ़ाने की क्या आवश्यता ? श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इस प्रकार ज्ञान के लक्षण समझाकर कहा—हे महांबुद्धिमान् अर्जुन—मैंने हस्तामलकवत् तुझको ज्ञान का दर्शन करा दिया अब तुझको अज्ञान का वर्णन सुनाता हुँ। हे धनंजय ! ज्ञान का विषय समझ लेने पर अज्ञान को सहज में जाना जा सकता है, क्योंकि ज्ञान का अभाव ही अज्ञान कहा जाता है। दिन के बीत जाने पर रात्रि ही आती है, क्योंकि इन दो के सिवाय तीसरी स्थिति सृष्टि में ही नहीं। इसी प्रकार जहाँ ज्ञान नहीं वहाँ अज्ञान का निवास है तो भी तुझे अज्ञान के कुछ लक्षण सुनाता हूँ। जो अपनी प्रतिष्ठा के लिए राह देखता रहता है, लोग सम्मान करते हैं तो बहुत प्रसन्न होता है और गर्व के शिखर पर चढ़कर वहाँ से नीचे उतरना ही नहीं चाहता, तो समझ लो कि उसमें पूर्ण अज्ञान निवास कर रहा है। अथवा जो अपने धर्माचरण को प्रकट करने के लिए बन्दनवार की तरह टाँग देता है अथवा मन्दिर का चँवर जिस प्रकार ऊपर को मस्तक के लिए ही रखा रहता है वैसे ही अपने कार्यों का, विद्या का, परोपकार का ढिंडोरा पीटता रहता है और इस प्रकार जिन कामों से नामवरी हो उन्हीं में लगा रहता है, वह अज्ञानी है। वह सम्मान प्राप्ति के लिए ठाट-बाट तो खूब करता है, पर मानव जाति की सेवा करने की कुछ इच्छा नहीं रखता। जिस प्रकार जंगल में आग लगने से स्थावर जंगम सभी प्राणी भस्मीभूत हो जाते हैं। उसी प्रकार जिसके स्वाभाविक

व्यवहार से जगत् को दुःख होता है, मामूली बात करें तो भी ऐसा लगता है कि मनुष्य के हृदय में भाला मार दिया हैं, जिसकी योजनायें अन्य लोगों के लिए विष से भी अधिक घातक सिद्ध होती हैं वह अज्ञान का घर ही है। (६६३)

अधिक क्या कहूँ—ऐसे व्यक्ति का जीवन हिंसा का आश्रय ही है। जिस प्रकार धोंकनी फूँकने से फूल जाती है और हवा निकल जाने से पिचक जाती है, उसी प्रकार वह लाभ हानि से होता रहता है। हवा के बबूला से जिस प्रकार धूल आकाश में चढ़ जाती है उसी प्रकार वह अपनी प्रशंसा सुनकर फूल जाता है। और थोड़े से पानीसे जिस प्रकार कीच ढीली हो जाती है अथवा हवा लगने से सूख जाती है, उसी प्रकार थोड़ी निन्दा हो जाने पर वह सर पीटने लगता है। इस तरहसे जो मान अपमान को सहन नहीं कर सकता वह पूर्ण अज्ञानी हैं। जो मन में कुछ हो और मुख से दूसरी बात कहे,एक को वचन देकर उसके विरुद्ध दूसरे की मदद करे, श्रेष्ठ व्यक्तियों के साथ भी हार्दिक शत्रुता रखे, जिनके कर्म केवल, बाहर से उत्तम जान पड़ते हों, वह निश्चय ही अज्ञानी है। है। गुरुकुल का नाम लेते जिसे लज्जा जान पड़े, गुरु के पास से विद्या प्राप्त करके भी जो उसे स्वीकार न करता हो, ऐसे मनुष्य का नाम लेना नीच मनुष्य के अन्न खाने के समान है, पर अज्ञान के लक्षण वतलाने के लिए हमें उसका उच्चारण करना पड़ा। मैं इसके लिए सूर्य के समान तेजस्वी गुरु भक्ति का नाम लेकर प्रायश्चित करता हूँ।

अब अज्ञान के अन्य लक्षण सुनो। जो आलस्य के कारण कर्म नहीं करता तथा मन में संशय करता रहता है, वह जङ्गल के काँटों से भरे कुँए की तरह है। जैसे कुत्ता खाते समय यह नहीं देखताकि खाना ढका रखा हैं या खुला है, उसी प्रकार अज्ञानी धन के सम्बन्ध में अपने और पराये का विचार नहीं रखता। कुत्ते की ही तरह वह स्त्रियों की सङ्गत करने में निर्लज्ज होता है। नित्य नैमित्तिक कर्मों का समय बीत जाय

तो पुण्य कर्म में जिसे उत्साह नहीं होता, उसे केवल अज्ञान का ही पुतला समझ लेना। जिसकी बुद्धि अल्प लाभ के लिए डिग जाती है, नाम मात्र के भय से घबड़ा जाती है, जो मनोरथों के बहाव में तुरन्त बह जाता है, दुःख की बात सुनते ही व्याकुल हो जाता है, कहीं पर स्थिर होकर नहीं रहता, उन्मत्त की तरह व्यर्थ घूमता रहता है, जो मकड़ी की तरह अति चपल होताहै, उसमें अज्ञान पूर्ण मात्रामें उपस्थित है। हे अर्जुन! जिसके अन्तरमें संयम का अंश नहीं होता, बालूका बांध जिस प्रकार नाले की बाढ़ में तुरन्त टूट जाता है, उसी प्रकार स्वेच्छाचार का व्यवहार करता है और शास्त्र निषिद्ध कर्म करते डरता नहीं जो व्रतों का पालन नहीं करता, स्वधर्म को ठोकर मारकर हटा देता है जिसे भले-बुरे कर्मों का विवेक नहीं होता, दागे हुए सांड़ की तरह मनमाना फिरता है। मदोन्मत्त हाथी की तरह अन्धा हो जाता है, दावानल की तरह चारों तरफ जलाता रहता है, वह पूरा अज्ञानी होता है। घूरे पर क्या नहीं डाला जाता ? जंगली पशुओं की रोक-थाम कौन कर सकताहै ? अन्न क्षेत्र में कौन नहीं खा लेता ? बनिये की दुकानपर कौन ग्राहक नहीं जाता ? इसी प्रकार जिसका अन्तःकरण चंचल हो, उसमें अज्ञान ही भरा समझना चाहिए।

जो जीवित और मृत अवस्था में भी विषयों की बासना को नहीं त्याग सकता, इस लोक में ऐसे कर्म करता है जिससे स्वर्ग में भी विषय भोग प्राप्त हो सके, जिसे सकाम कर्मों के सिवाय अन्य कर्म अच्छे ही नहीं लगते, जिसे किसी विरक्त के दर्शन करने से इतना बुरा लगता है कि वह सचैल (वस्त्र सहित) स्नान करता है, जिससे विषय उकता जायें पर वह विषयों से कहीं उकताता, जो कामुक गधा की तरह गधी की लातें खाकर भी पीछे नहीं हटता और विषयों की प्रज्वलित अग्नि में कूदता है, जो अपने व्यसनों को दूषण के बजाय भूषण मानता है, मृग-मरीचिका के भ्रम में दौड़ने वाले हिरन की तरह जो आजन्म विषयों के लिए कष्ट सहने पर भी उन्हीं में आसक्त बना रहता है, जो

स्त्री, बेटे, नाती आदि के मोह को अन्तिम समय तक नहीं छोड़ सकता उसे प्रथम श्रेणी का अज्ञानी समझो। (७११)

अब अन्य प्रकार के अज्ञान के विषय में सुनो। जो अपने शरीर को ही आत्मा समझकर कर्म करता है, अपने छोटे बड़े सभी कर्मों के लिए गर्व से फूला रहता है, मस्तक पर भगवान् का प्रसाद रखकर भक्त जैसे प्रसन्न हो उठता है उसी प्रकार जो अपनी विद्या और अवस्था के कारण छाती तानकर चलता है और कहता है कि "समस्त जगत् में मैं विद्वान् हूँ, मैं ही सम्पत्तिशाली हूँ, मेरे समान चाल चलन किसका है, मैं ही सबसे बड़ा हूँ, सर्वज्ञ हूँ," इस तरह प्रत्येक विषय में अभिमान करता है। जैसे रोगी मनुष्य कोई उपभोग नहीं कर सकता उसी प्रकार उससे दूसरे की भलाई सहन नहीं हो सकती। दीपक जिस प्रकार गुण (बत्ती) स्नेह (तेल) को खा जाता है और जहाँ रखा रहता है वहीं काजल से काला कर देता है, हवा से झट बुझ जाता है पर यदि जरा भी भभक उठे तो समस्त घर को जला कर राख कर देता है, इसी प्रकार जिसमें विद्या कम और दोष अधिक होते हैं, उसमें अज्ञान का ही निवास होता है, जैसे नया ज्वर दूध पीने से कुपित होता है। अथवा सर्प को दूध पिलाने से उसका विष ही बन जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुषमें गुण भी मत्सरता का दोष उत्पन्न करते हैं, वद्या अहङ्कार पैदा करती है, तपस्या के कारण अपार अभिमान पैदा हो जाता है। ऐसा मनुष्य ठूँठ समान कभी झुकना नहीं जानता, पाषाण के समान कठोर हृदय होता है, दयार्द्र नहीं होता, जो गुणी मनुष्यों को भी कुछ नहीं समझता, उसका अज्ञान निश्चय ही दिन पर दिन बढ़ता चला जाता है।

हे धनंजय ! जो अपनी सम्पत्ति घर-बार और शरीर की चिन्ता ही सदा करता है, भूल कर भी पिछले अथवा आगामी जन्मों का विचार नहीं करता, वह अज्ञानी है। कृतघ्न के साथ किया गया उपकार, चोर के हाथ दिया गया धन, निर्लज्ज को दी गई चेतावनी जिस प्रकार कोई

अच्छा परिणाम पैदा नहीं करती, वही गतिऐसे अज्ञानी की होतीहै। जैसे निकम्मे कुत्ते को कान-पूँछ काट कर बाहर निकाल दिया जाय तो भी वह फिर घर में घुस आता है, अथवा मेंढ़क साँप के ख में पकड़ा हुआ हो तो भी मक्खियों को खाता रहता है, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष गर्भ-वास के क़ष्टों को सुनते हुए भी उस तरफ कुछ ध्यान नहीं देता और जीवन के मद में अन्धा होकर भविष्य में अनिवार्य रूप से आने वाली मृत्यु की भी कुछ फिकर नहीं करता। गड्ढे का पानी कभी नहीं सूखेगा, यह विचार कर वहाँ की मछली अगाध जल वाली झील में नहीं जाती अथवा शिकारी के गाने से मुग्ध होकर हिरन उसकी ओर दृष्टिपात नहीं करता, अथवा दीपक की लौ से जलने की बात समझकर पतङ्गा उस पर गिरकर जल जाता है, घर जलता होने पर भी कोई मूर्ख निद्रा के वशीभूत हो उधर ध्यान ही नहीं देता अथवा जैसे कोई विष मिश्रित अन्न को अनजाने खा जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी विषय सुख में मग्न होता हुआ यह विचार ही नहीं करता कि मेरे ऊपर मृत्यु का वार होने ही वाला है।

इसी प्रकार वह शरीर की पुष्टता विषय-सुख की वृद्धि को ही सत्य मानता है और शेष सब बातों को मिथ्या समझता है। पर वह यह नहीं जानता कि वेश्या किसी मनुष्य को जो तन-मन देती है तो उसका वह प्रेम दिखावटी,डुबोने वाला और धन को लूटने का एक मात्र साधन ही होता है। इसी प्रकार मार्ग में जिन यात्री वेश धारी चोरों से अपनी मित्रता हो जाती है वह असली नहीं होती, वरन् उसका उद्देश्य जङ्गल में पहुँचने पर अपने प्राण देना ही होता है। पांडुरोग में शरीर मोटा होता जान पड़े तो वह पुष्टता का नहीं वरन् मृत्युके आने का ही चिह्न होता है। उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य आहार और निद्रा में तल्लीन होकर इस बात को भूल जाता है कि यह तो मेरा नाश हो रहा है। उसकी देह की ज्यों-ज्यों वृद्धि होती है और आयु भी बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे ही मृत्यु को निकट लाती जाती है। हे महाबाहु ? ऐसे

व्यक्ति को यदि अज्ञानरूपी देश का राजा कहा जाय तो इसमें कुछ भी मिथ्या नहीं है। (७५३)

जिस प्रकार ऐसा मनुष्य जीवन के सुखोंमें भूलकर भविष्य में आने वाली मृत्यु की तरफ ध्यान नहीं देता उसी प्रकार वह युवावस्थामें आगे चलकर आने वाली वृद्धावस्था की चिन्ता भी नहीं करता। जिस प्रकार पहाड़ की ढाल पर से फिसलने वाली गाड़ी अथवा ऊपर से गिरने वाला पत्थर यह ख्याल नहीं करता कि मेरा क्या परिणाम होगा इसी प्रकार वह यह कभी नहीं सोचता कि जब मुझे बुढ़ापा घेरेगा तब मेरी क्या दशा होगी ? अथवा जिस प्रकार नाले में जब बाढ़ आने लगती है अथवा भैंसे आपस में लड़ने लगते हैं तो उनको सामने को कोई चीज दिखाई नहीं देती, उसी प्रकार जो मनुष्य यौवन के मद में अन्धा हो जाता है वह अज्ञानी ही है। उसकी शारीरिक शक्ति घटने लगती है, तेज का लोप हो जाता है, गर्दन हिलने और मस्तक काँपने लगता है, बाल पक जाते हैं, तो भी जो आशा को बढ़ाये जाता है, वह अज्ञानी है। अन्धा आदमी जब तक सामने के खम्भे से जाकर टकरा न जाय तब तक उसे उसकी खबर नहीं पड़ती; अथवा घर में लगी हुई आग की चिनगारियाँ जब तक मुँह पर न गिरने लगें तब तक आलसी मनुष्य सोता ही रहता है। उसी प्रकार जो यौवन का उपभोग करते हुए आने वाली वृद्धावस्था का विचार नहीं करता वह अज्ञान की सजीव मूर्ति ही है, इसमें सन्देह नहीं।

किसी अन्धे या कुबड़े को देखकर जो उसे चिढ़ाने लगते हैं, वे यह विचार नहीं करते कि भविष्य में हमारी भी ऐसी स्थिति होने वाली है। बाघके जंगल मेंसे एकबार कोई बैल चरकर भाग्यवश सकुशल घर लौट आया, इससे समझकर कि बाघ मेरा कुछ नहीं कर सकता, वह फिर वहीं चला जाय, अथवा घरकी सम्पत्ति पर सर्प बैठा हो और उसमेंसे एकाध बार कुछ धन निकाल लाये तो सर्प की बात झूँठी कर फिर धन निकालने लगे अथवा बैरी को सोया हुआ देखकर जो समझ ले कि अब उससे

मुझे कोई डर नहीं है, पर बैरी के जगते ही उसका परिवार नाश करने को तैयार हो जाये, उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य जब तक सच्छी तरह खाता और सोता रहता है और जब तक उसे कोई खास रोग पैदा नहीं हो जाता तब तक इस बात को कभी सोचाँ नहीं करता कि किसी भी समय एक क्षण में स्त्री-पुरुष आदि का वियोग हो जायगा अथवा सब सम्पत्ति जाती रहेगी। हे अर्जुन ! इस मृत्युलोक में जो इन्द्रियों को यथेच्छा चरने देता है और सम्पत्ति के उन्माद से खाद्य-अखाद्य सब वस्तुओं का उपभोग करता है, न करने योग्य कामों को करता है, असम्भव बातों की आकांक्षा रखता है, जहाँ प्रवेश न करना चाहिए वहाँ पहुँच जाना है, जिन वस्तुओं को लेना चाहिए उनकी माँग करता है, जिस कर्म का विचार भी न करना चाहिए अथवा जिसको स्पर्श भी न करना चाहिए उसी को विचारता और स्पर्श करया है, जिसको देखना न चाहिए उसी को विचारता और स्पर्श करता है, जिसको देखना न चाहिए उसे देखता है, जिसकी संगत न करनी चाहिए ,उसी के साथ रहता है, जिससे बिल्कुल सम्बन्ध न रखना चाहिए उसीसे प्रगाढ़ संबन्ध रखता है, जिसका आचरण नहीं करना चाहिए उसी का अनुगमन करता है जो सुनना न चाहिए वह सुनता है, जो बोलना न चाहिए वैसा ही बकने लगता है, और जिस बात के करने से अपने को दोष लगता हो उसकी शंका भी मन में नहीं लाता। अपने मन में जो आवे और जो सुखकारक जान पड़े उसी की तरफ लक्ष्य रखता है और इसमें भलाई-बुराई का कुछ भी विवेक नहीं रखता। ऐसा काम करने से पाप होगा और नरक यातना भोगनी पड़ेगी, इस भावी परिणाम की जरा भी चिन्ता नहीं करता। ऐसे धर्म भ्रष्ट मनुष्यों के कारण समस्त जगत् में अज्ञानका अतिशय प्रचार होता है और उनकी इतनी अधिक वृद्धि होती है कि बस अपनी शक्ति से ज्ञान को भी पीछे हटा देता है। पर अब इसे रहने दो और अज्ञान के अन्य चिन्ह सुनो जिससे उसका स्वरूप पूर्णरूप से जान सको। (७८१)

जिस प्रकार कमल पुष्प के नये केसर की सुगन्ध पर भ्रमर आसक्त होता है, जैसे खाँड़ के ढेर पर मक्खियाँ बैठती हैं, उसी प्रकार जिसका मन स्त्री-बच्चों में ही संलग्न रहता है मेंढ़क जैसे पानी के कुंड में से बाहर नहीं निकल सकता, मक्खी नाक थूक में फँसकर फिर नहीं निकल पाती, ढोर कीचड़ में फँस जाने पर बाहर नहीं आ सकता, इसी प्रकार अज्ञानी का मन अपने घर से दूर नहीं जा सकता और मरने के बाद भी वह अपने घर में सर्प बनकर बैठा रहता है। जो अपने घर को हृदय से लगाकर रखता है, मधुमक्खी की तरह घर की रक्षा के लिए घोर सङ्कट सहता है, वृद्धावस्थामें प्राप्त होने वाले बालक पर माता-पिता का जैसा प्रेम होता है वैसा ही प्रेम घर पर रखता हैं, जो स्त्री को अपना प्राण समझकर प्रेम करता है और कभी यह विचार नहीं करता कि हम कौन हैं और हमारा जीवन कैसे सार्थक होगा। जिस प्रकार साधक ब्रह्म-स्वरूप में लीन हो जाने पर समस्त सांसारिक व्यवहार बन्द कर देता है उसी प्रकार ऐसा व्यक्ति अपना सर्वस्व स्त्री के हाथ बेच डालता है और अपनी हानि, लज्जा, निन्दा की कुछ भी चिन्ता नहीं करता। जिसप्रकार बन्दर मदारी के वश में हो इशारे पर नाचता है, उसी प्रकार जो स्त्री के प्रभाव में रहता है और उसकी एक भी बात नहीं टाल सकता, इस प्रकार के कार्यों से अपनी पुरानी कीर्ति में दाग लगता है। लोभी मनुष्य की तरह स्वयं कष्ट सहकर जितना सम्भव हो सकता है उतना अधिक धन इकट्ठा करता है, सगे सम्बन्धियों और मित्रों को भी दुःख देता है, कुछ भी दान-पुण्य न करके परिवार वालों के साथ भी धन के विषय में कपटपूर्ण व्यवहार करता है, पर स्त्री की माँगो को पूरी करने में किसी प्रकार की कसर नहीं रहने देता। वह अपने इष्टदेव की पूजा अर्चना भी शायद ही कभी करता है गुरु के साथ भी धोकाधड़ी करता है, माता-पिता रुपया माँगे तो कह देता है कि इस समय तो पास में कुछ भी नहीं है, ''पर स्त्री जो कुछ भी माँगती है, वह चाहे कितना भी बहुमूल्य हो, अवश्य लाकर दे देता है। स्त्री की कोई टेढ़ी निगाह से

देखे या उसके विरुद्ध व्यवहार करे, तो उसे ऐसा लगता है कि दुनिया ही खत्म हो गई। हे अर्जुन ! अधिक क्या कहूँ, जिसके लिए केवल स्त्री ही सब कुछ है और जो उससे उत्पन्न सन्तान से ही प्रेम रखता है और इसी कारण स्त्री के घर वालों को अपना प्रेमपात्र मानता है, ऐसा व्यक्ति अज्ञान का मूल ही है। (८०४)

जिस प्रकार अशांत समुद्र में नाव डोलने लगती है, उसी प्रकार जो प्रिय वस्तु के मिल जाने पर सुख के शिखर पर चढ़ जाता है और उसके न मिलने पर दुःख में डूब जाता है, इस प्रकार जिसके चित्त में थोड़े लाभ-हानि से चिन्ता उत्पन्न हो जाती है, वह अज्ञानी है।[?] हे अर्जुन ! जो मेरी भक्ति करता है पर बाहर विरक्तता दिखाकर फल की इच्छा रखता है, और जब विषयों की प्राप्ति नहीं हुई तो 'ईश्वर झूठा है' यह कहकर भगवान को मानना ही छोड़ देता है, अथवा जिस प्रकार किसान एक अनाज के कम पैदा होने पर दूसरे अनाज को बोता है, उसी प्रकार जो एक देवता को छोड़कर दूसरे देवता को पूजने लगता है, जिस गुरु के पास अधिक ठाट-बाट देखता है, उसी से दीक्षा लेता है। सच्चे सन्त की बात भी नहीं पूछता, जो कठिन शब्द बोल कर प्राणियों के हृदय को व्यथित करता है, साथ ही पाषाण की मूर्ति की पूजा करता है, वह अज्ञानी ही है। जिससे एक निष्ठापूर्वक मेरी भक्ति नहीं की जा सकती। वह मेरी मूर्ति स्थापित करके एक कोने में रख देता है और स्वयं अन्य देवों की पूजा करता फिरता है। इतना ही नहीं, वह रोज तो मुझे पूजता है, पर किसी मनोरथ को पूरा करने की बात हो तो वह कुल देवता को पूजता है, श्राद्धकाल में पितरों को पूजता है, नागपञ्चमी के दिन नाग की पूजा करता है, चतुर्थी को गणेश जी की भक्ति करता है, चतुर्दशी को देवी की पूजा करके कहता है—"हे अम्बे ! मैं तेरा आश्रित हूँ।" रविवार को भैरव के नाम की थाली परोसता है और सोमवार को जाकर

शङ्कर जी पर विल्व पत्र चढ़ा आता है। इस प्रकार वह अकेला ही अनेक देवों की भक्ति करना, हमेशा विषयों की प्राप्ति के लिए उनको पूजता रहता है और इसके लिए चारों तरफ दौड़ भाग करता रहता है वह अज्ञान का अवतार ही है। उत्तम एकान्त स्थानों, तीर्थों तथा तपोवनों को देखकर जिसका मन ऊब जाता है और शहरी चच-पिच में रहने से सुख जान पड़ता है, वह घोर अज्ञान में डूबा ही है। (८२५)

जो विद्वान् आत्म तत्व का ज्ञान प्रदान करने वाली विद्या की बातें सुनकर उनका उपहास करता है उपनिषदों की तरफ जो दृष्टिपात भी नहीं करता, योगशास्त्र जिसे नहीं रुचता, अर्थात् जिस बुद्धि से आत्म अनात्मक का निरूपण होता है उसे छोड़कर अन्य सब विषयों में जिसको आकर्षण होता है, जो कर्मकाण्ड को जानता है, पुराण जिसे कण्ठ होते हैं, ज्योतिष में निपुण होता है, शिल्पशास्त्र, पाकशास्त्र, जारण, मारण उच्चाटन, वशीकरण, कामशास्त्र में निष्णात होता है, कोई चर्चा शास्त्र आयुर्वेद, काव्य, नाटक स्मृति व्याकरण, न्यायशास्त्र आदि सभी विषयों से जिसकी मति गहन होते हुए भी केवल आत्मज्ञान के विषय में ही जन्मान्ध के समान हैं तो ऐसा व्यक्ति चाहे समस्त शास्त्रों का स्तम्भ रूप है, तो भी उसके ज्ञान को धिक्कार है। वह चाहे सब गुण सम्पन्न हो तो भी अशुभ नक्षत्र में उत्पन्न हुए बालक के समान उससे लेशमात्र मोह नहीं रखना चाहिए।

जिस प्रकार मोर पंखों मैं आँखें तो बनी रहती हैं, पर उनमें देखने की शक्ति नहीं होती, उसी प्रकार ऐसे मनुष्य की समस्त विद्यायें व्यर्थ हैं। मृतसंजीवनी बूटी अगर एक रत्ती भर भी मिल जाये अन्य गाड़ी भर जड़ी-बूटियों की क्या आवश्यकता है ? उत्तम गुण होने पर भी आयुष्य अल्प हो, अथवा मस्तक बिना अलङ्कार धारण किये

जायें, अथवा बिना वर-वधू के बारात निकाली जाय तो वह एक विडंबना ही है, उसी प्रकार हे पार्थ ! एक अध्यात्म ज्ञान बिना अन्य सब शास्त्र अप्रमाण हैं। इसलिए हे अर्जुन ! जिन पढ़े-लिखे मूर्खोंको आत्म-ज्ञान का बोध नहीं है तो उनकी मानवदेह अज्ञान का वृद्धिगत बीज ही है और उनकी विद्धत्ता अज्ञानकी बेलके समान है। वह जो कुछ बोलता है वह अज्ञान का फूल है और पुण्य-मार्ग में जो आचरण करता है वह अज्ञानका फल है जिसको अध्यात्मज्ञान पर श्रद्धा नहीं हैं उसे ज्ञानार्थ (तत्वार्थ) प्राप्त नहीं होता। जो मनुष्य नदी के इस किनारे तक भी न जाकर पीछे वापस आ जाता है वह किनारे का हाल तो जान ही कैसे सकता है ? उसी प्रकार हे अर्जुन ! जो अध्यात्मज्ञान से परिचित नहीं है वह ज्ञानार्थ जान ही कैसे सकता है, इस बात के लिए प्रमाण देने की कोई आवश्यकता नहीं। गर्भिणी स्त्रीको जो भोजन दिया जाता है, उसी से उसके गर्भस्थ बालक की तृप्ति हो जाती है, इसी प्रकार पहले ज्ञान के जितने लक्षण बताये हैं, उनके विरुद्ध जो-जो बातें हों वे सब अज्ञान ही हैं। (८४८)

अन्धे को निमन्त्रण देने से जैसे उसके साथ एक देखने वाला मनुष्य और आता है, उसी प्रकार ज्ञान के लक्षण बतलानेके साथही ज्ञान अज्ञान के लक्षण अपने आप समझे जा सकते है। पिछले श्लोक में श्री मुकुन्द ने स्वयं कहा है कि ये ज्ञान के लक्षण हैं, इससे उलटे अज्ञान के लक्षण होते हैं। इसीलिए मैंने अज्ञान के लक्षण भी विस्तार पूर्वक सुना दिये अन्यथा दूध में पानी मिलाकर उसे अधिक बढ़ाने से क्या लाभ ? मैंने जो कुछ मूल में है उसी का आशय आपको बतलाया है। यह सुनकर श्रोतागण बोले--'हे कवि पोषक ! तुम्हारे द्वारा ऐसा कौन बड़ा अन्याय हुआ है, जिसके लिये क्षमा याचना करते हो। तुमने तो भगवान् का अप्रकट मनोभाव ही हमको बतलाया है। इसलिए अब इन सब बातों को छोड़कर श्रीहरि ने जो कुछ कहा वही हमको सुनाओ ?

सन्तों के यह वचन सुनते ही निवृत्तिदास ज्ञानदेव बोले—सुनो भगवान ने कहा—हे अर्जुन ! ये सब लक्षण जो तुमने सुने अज्ञान के थे। इस अज्ञान की तरफ ध्यान न देकर तुम ज्ञान प्राप्ति का दृढ़ निश्चय करो। तब उस शुद्ध ज्ञान से तुझे ज्ञेय वस्तु की प्राप्ति होगी। ये वचन सुनते ही अर्जुन ने उस ज्ञेय को जानने की इच्छा की और सर्वज्ञों के राजा भगवान् ने उसका मनोभाव जानकर कहा, अब ज्ञेय के विषय में सुन। (८६७)

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२

ज्ञेयका अर्थ है परमात्म तत्व। वह ब्रह्मज्ञानके सिवाय और किसी उपाय से प्राप्त नहीं हो सकता। जब उसे जान लिया जाता है, तब उस मुमुक्षु के लिए और कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता, क्योंकि उसे तद्-रूपता प्राप्त हो जातीहै। उसको जान लेनेके पश्चात् मुमुक्षु जन संसार का त्याग करके नित्यानन्द में निमग्न हो जाता है। वह 'ज्ञेय' ऐसा है कि जिसका आदि नहींहै और जिसे सामान्यतः परब्रह्म कहा जाता है। यह कहें कि वह नहीं है, तो ठीक नहीं, क्योंकि विश्व ही परब्रह्म है विश्व तो एक प्रकार की माया है। उसका कोई रूप, वर्ण, आकार नहीं है, वह दिखाई नहीं पड़ता और किसी को देखता भी नहीं। ऐसी दशा में यह कैसे कहा जाय कि 'वह है'। पर यदि यह कहें कि वह 'नहीं है' तो प्रश्न उठता है महत्तत्व आदिका उद्भव किसमें से और क्यों हुआ? और यदि यह नहीं है तो इसके स्थान पर अन्य चीज कौन सी है? इस प्रकार ज्ञेय के विषय में वह 'है' या नहीं, यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार इस विषय में वेदों की वाणी मूक कही गई है। जिस प्रकार घड़ा, गागर, हाँडी वगैरह मिट्टी ही दिखाई देती हैं, पर वह पृथ्वी से भिन्न होता है। उसी प्रकार समस्त जगत् में जो ब्रह्म का विस्तार हुआ है, वह भी उससे भिन्न है। (८७?)

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३

सब स्थानों में, सब कालों में, स्थूल तथा सूक्ष्म वस्तुओं द्वारा जो क्रिया होती है, वह उसी सत्ता में होती है। यह हाथ उसका ही है, इसीलिये ब्रह्म को 'विश्वबाहु' कहा गया है। और हे अर्जुन ! वह एक ही समय में सब स्थानों में जा पहुँचता है इससे 'विश्वपाद' भी कहा जाता है। जिस प्रकार सूर्य का शरीर और नेत्र भिन्न-भिन्न दो अवयव नहीं होते। उसी प्रकार जो स्वप्रकाश से सबको देखता है उसको नेत्र न होने पर भी वेद ने 'विश्वचक्षु' कहा है। जो सबसे उच्च सब प्रकार से नित्य हैं उसको विस्वमूर्धा कहा जाता है। अग्नि की जो मूर्ति है और अग्नि ही जिसका मुख है, इसलिए श्रुति ने उसे 'विश्वतोमुख' कहा है। और आकाश जिस प्रकार सब वस्तुओं में ओत-प्रोत है वैसेही जिसे सब जगत् के सब शब्द सुनाई पड़ते हैं, उसे सर्वत्र सुनने वाला कहा गया है। हे महामते! ब्रह्मके इस प्रकार व्याप्त होने पर सुश्रुतिने उसको 'विश्वतश्चक्षु' कहा है। यह यह वर्णन इसलिए नहीं किया गया है कि परमात्मा में ये अवयव मौजूद हैं वरन् इसका उद्देश्य उसका व्यापकत्व बतलाना ही है। नहीं तो वहाँ नेत्र, हाथ, पैर आदि की सम्भावना ही कहाँ है ? क्योंकि वह सब शून्यका ही सार होताहै। एकाध भारी तरङ्ग हल्की तरङ्ग का नाश करती दिखाई देती है, पर पानी की दृष्टि से विचार करने पर क्या बड़ी तरङ्ग छोटी तरङ्ग से भिन्न होती हैं ? इसी प्रकार जब एक ही ब्रह्म सर्वत्र है तब उसमें व्याप्त और 'व्यापक' का भेद कैसे किया जा सकता है। अब यह प्रश्न उठता है कि शास्त्रों ने व्याप्य और व्यापक का निरूपण क्यों किया है ? इसका उत्तर यह है कि शिष्य को अच्छी तरह समझाने के लिये ही ऐसा वर्णन करना पड़ा है। जिस प्रकार हिसाब लिखते समय शून्य बताने के लिये एक छोटा सा गोल घेरा बना दिया जाता है उसी प्रकार अद्वैत के स्पष्टीकरण करने के लिए द्वैत को स्वीकार करके ही समझना पड़ता है।

अन्यथा हे अर्जुन ! सर्वत्र गुरु-शिष्यकी प्रणालीही समाप्त हो जाय और अद्वैत विषयक सब भाषण बन्द कर देने पड़ें। इसलिये श्रुति ने द्वैत विषयक स्पष्टीकरण करके ही अद्वैत के प्रतिपादन का राजमार्ग ढूँढ़ निकाला है। अतः अब वही ज्ञेय ब्रह्म हमारे नेत्रों से दिखाई पड़ने वाले आकारों में किस प्रकार व्यापक है, वह सुन। (८६१)

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४

हे अर्जुन ! जिसप्रकार शून्य स्थान में आकाश भरा हुआ है अथवा जिस प्रकार सूत वस्त्ररूप में रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी विश्व में ओत-प्रोत है। जिस प्रकार रस जल रूप से जल में रहता है, तेज जैसे दीपक रूप से दीपक में रहता है, सुगन्ध जैसे कपूर रूप में ही कपूर में रहती है, क्रिया जिस प्रकार शरीर में रहती है, सुवर्ण जिस प्रकार सोने के एक टुकड़े में रहता है, इसी प्रकार ज्ञेय ब्रह्म ही इस सब जगत् का आदि कारण होकर सब में मूर्तिमान् दिखाई देता है। वह सोना जब हमको टुकड़ों के रूपमें दिखाई देता है,तो भी वास्तव में 'सुवर्ण' ही है। हे अर्जुन ! पानी का प्रवाह टेढ़ा हो तो पानी भी टेढ़ा लगता है। पर वास्तव में वह वैसा नहीं होता। लोहेको तपाने पर उसका लाल (रङ्ग) दिखाई पड़ता है,वह वस्तुतः आग का नहीं लोहेका ही होता है। आकाश घड़े के आकार में गोल दिखाई पड़ता है और कमरे में देखा जाय तो चौकोर दिखाई देगा, पर घड़ा या कमरे का नाश होने पर आकाश का नाश नहीं होता। इसी प्रकार ब्रह्म माया की उपाधि के कारण विश्वमय दिखाई देता हैं,पर उसका अस्तित्व माया में नहीं होता। हे अर्जुन! वह ब्रह्म मन आदि इन्द्रियों जैसातथा सत्वादि गुणी जैसा जान पड़ता है, पर जैसे गुड़का मिठास उसके आकारमें नहीं होता, उसी प्रकार इन्द्रियों के गुण ब्रह्म के आकार नहीं हो सकते। हे कपिध्वज ! जिस प्रकार दूध की स्थिति में घी भी दूध के रूपमें रहता है, पर घी दूध नहीं है। इसी

प्रकार ब्रह्म विश्व में व्याप्त है पर वह विश्व नहीं है। इस प्रकार हे अर्जुन ! तू स्पष्ट शब्दों में यह समझ ले कि ब्रह्म गुणों और इन्द्रियों से पृथक् हैं। नाम, रूप, सम्बन्ध, जाति, क्रिया, भेद—ये सब शब्द आकार से ही सम्बन्धित हैं, ब्रह्म से नहीं। वह ब्रह्म कभी गुण नहीं हो सकता। परन्तु गुणों का आभास उसी के भीतर होता है, इसलिये अज्ञानी यही समझ लेते हैं कि वे गुण ब्रह्म में ही है। पर यह विचार ऐसा ही भ्रामक है जैसे बादलों को आकाश धारण करता है। प्रतिबिम्बको दर्पण धारण करता है। इसलिये ब्रह्म और गुणों में कोई सम्बन्ध न होने पर भी यह कहना कि ब्रह्म गुणों को धारण करता है, व्यर्थ है। जैसे भिक्षुक स्वप्न में राजा बनकर जो उपभोग करे,वह मिथ्या होता है उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म द्वारा गुणों का उपभोग भ्रान्ति के सिवाय और कुछ नहीं है। (६१२)

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५

हे पांडुसुत ! अग्नि के अङ्गारे यद्यपि छोटे बड़े अनेक प्रकार के होते हैं, पर उष्णता सब में एक ही है, उसी प्रकार चराचर प्राणियों में एक वह ही ब्रह्म व्याप्त है। इस प्रकार जो अविनाशी सूक्ष्म रूप से सब में समाया हुआ है, वह 'ज्ञेय' है। वह शरीर के भीतर भी है और बाहर भी है वह दूर भी है और पास भी है। वह एक और अद्वितीय है। क्षीर सागर में किनारे पर कम और मध्य में अधिक मिठास नहीं होती। इसी प्रकार वह सर्व व्यापक तथा परिपूर्ण है। जरायुज, अंडज, स्वेदज और उद्भिज्ज आदि भिन्न-भिन्न प्राणियों में वह अखंड रूप से समाया है। श्रोता शिरोमणि ! चन्द्रमा का बिम्ब हजारों घड़ों में प्रतिबिम्बित होता है पर वह एक ही होता है,अथवा नमक के अलग-अलग टुकड़ों में एक-सा ही खारापन होता है और गन्नों के टुकड़ों में एक सी ही मिठास होती हैं। (६१६)

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।।१६।।

उसी प्रकार अनेक प्राणियों में जो एक समान व्याप्त और विश्व रचना का आदि कारण है, वह प्राणीमात्र का उत्पन्न करने वाला और उनका आधार कहा गया है । बाल्यावस्था, तरुणावस्था तथा वृद्धावस्था का आधार एक ही शरीर होता है, उसी प्रकार उत्पत्ति, स्थिति तथा लय–तीनों अवस्थाओं का वही आधारभूत है । दिवस के प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल–तीनों भाग बीत जाते है तो भी आकाश में कोई अन्तर नहीं पड़ता, उसी प्रकार हे प्रियवर सृष्टि के उत्पत्तिकाल में जिसको हम ब्रह्म कहते हैं, स्थिति काल में विष्णु कहते हैं। और लय होने पर रुद्र कहते हैं, और जब ये तीनों कार्य समाप्त हो जाते हैं तब शून्य कहते हैं, तब वह आकाश के शून्यत्व को भी निगलकर श्रुति के कथनानुसार महाशून्य हो जाता है, वही ज्ञेय ब्रह्म है। (८२६)

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।।१७

जो ब्रह्म अग्नि का तेज है, चन्द्रमा में अमृत का प्रकाश और नेत्र हैं, जिससे तारागणों को प्रकाश मिलता है और जो महातेज का भी आधार है, जो जगत् के मूल पदार्थों का भी मूल हैं, जो बुद्धि की बुद्धि प्राण का प्राण, मन का मन, नेत्र का नेत्र, कान का कान वाणी की वाणी, गति की गति हैं। हे पांडुकुमार ! जिससे आकार, विस्तार और संहार को अपना-अपना रूप मिलता है, जो पृथ्वी को धारण करता है, जो जल का जीवन है, जिसमें तेज प्रकाशवान् बनता है, जो वायु को चलने की शक्ति देता है; जिससे आकाश का समावेश होता है, वही 'ज्ञेय' है । हे अर्जुन ! जिसमें द्वैतभाव का लेश भी नहीं है, जिसका दर्शन होते ही द्रष्टा, दृश्य और दर्शन सब एक में मिल जाते हैं और ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी बनकर ब्रह्म का ज्ञान होता है, वही

ब्रह्म अमना ज्ञेय है। जिस प्रकार हिसाब पूरा हो जाने पर सब अङ्क एक ही हो जाते है, उसी प्रकार ब्रह्मको प्राप्ति हो जाने पर साध्य और साधक इन दोनों भावों का लोप हो जाता है। वही ब्रह्म सबके हृदय में निवास करता है। (९३९)

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८

हे मित्र ! तुझको क्षेत्र का वर्णन समझा दिया, फिर स्पष्ट रूप से ज्ञान का विवेचन कर दिया,फिर अज्ञान का वर्णन भी खूब विस्तार से कह सुनाया और 'ज्ञेय' का रहस्य भी दृष्टान्त पूर्वक बतला दिया। हे अर्जुन ! इन बातों को जानकर मेरी प्राप्ति की इच्छा रखने वाले मद्रूपता प्राप्त करते हैं और देह तथा परिवार का झूठा मोह छोड़कर चित्त को मुझ में लगाते है। हे किरीट ! वे इस प्रकार मुझे जानकर अन्त में मुझ में ही मिल जाते हैं। मुमुक्षुओं के लिए मैंने यही सुलभ मार्ग तैयार कर रखा है। ऊँचे स्थान पर पहुँचने के लिए जिस प्रकार सीढ़ियाँ बनानी पड़ती हैं;वातावरण में जाना हो तो ऊँचा मचान बनाते हैं। गहरे पानीको पार करने के लिये नाव तैयार करनी होती है। ये सब मार्ग ब्रह्म की प्राप्ति के लिये ही है। अन्यथा यदि मैं तुमको केवल इतना कह देता कि सब कुछ आत्मा ही है' तो तुम्हारी समझ में कुछ नहीं आता। इसीलिए तुम्हारी बुद्धि की दृष्टि से ही मैंने एक के चार विभाग करके बता दिये। जिस प्रकार बालकको भोजन कराना हो तो अपने एक ग्रास के बीस टुकड़े करके एक-एक टुकड़े को उसके मुख में देते हैं, उसी प्रकार मैंने भी तेरी समझने की शक्ति को देखकर क्षेत्र, ज्ञान, ज्ञेय और अज्ञात–इस तरह ब्रह्म के चार भागकर दिये। (९५२)

हे पार्थ ! इतना करने पर भी यदि यह विषय तुमने पूर्णतः न समझा हो तो अब इसको आत्मा और अनात्मा–ऐसे दो भाग करके समझाऊँगा ! पर इसके लिए मैं जो कुछ माँगू वह तुझे देना होगा।

मैं यही माँगता हूँ कि जो कुछ कहा जाय उसे खूब ध्यान लगाकर सुन। भगवान् कृष्ण की बात सुनकर अर्जुन को रोमांच हो आया। उसको देखकर वे कहने लगे—हे अर्जुन! तुमको ब्रह्म की प्रकृति और पुरुष दो भाग स्पष्ट रीति से बतलाता हूँ। इस मार्ग को योगीजन साध्य मार्ग कहते हैं। इसी का पूर्ण वर्णन करने के लिए मैंने कपिल-अवतार धारण किया था। अब तू उस रहस्य को सुन। (९५९)

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९

पुरुष अनादि है और प्रकृति का अस्तित्व भी अनादिकाल से है, जैसे दिन और रात्रि की जोड़ी है। जिस प्रकार छाया का कोई रूप नहीं है पर वह रूप के साथ लगी रहती है। धनञ्जय! जिस प्रकार बीज बोने पर अन्न और भूसा की उत्पत्ति एक साथ होती है, उसी प्रकार पुरुष और प्रकृति का अनादि जोड़ा प्रसिद्ध है। जिसे क्षेत्र कहा गया है उसको सब किसी की प्रकृति समझो और जिसे क्षेत्रज्ञ कहा है उसे पुरुष समझलो। ये नाम अलग हैं, परन्तु इनके द्वारा जिस वस्तु का निरूपण किया है उसमें भिन्नता नहीं है, इसे अच्छी तरह हृदयंगम करलो। हे पाण्डुसुत? जिस सत्ता का कहीं नाश नहीं है, उसको पुरुष जान ले और जो उसकी क्रियायें हैं वही प्रकृति है। बुद्धि, इन्द्रिय और अन्तःकरण इत्यादि विकार तथा सत्, रज, तम—ये तीनों गुण भी प्रकृति से पैदा होते हैं, इन्हींसे सब कर्म होते हैं इसलिए यही सब प्रकृति है। (९६८)

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०

वह प्रकृति प्रथम अहंकार के साथ इच्छा और बुद्धि उत्पन्न करती है और फिर उन्हें फल प्राप्ति के लिए अपने-अपने कर्म में लगा देतीहै। फल के लिए जो उपाय किये जाते हैं उन्हें कार्य कहते हैं। इस तरह

प्रकृति प्रबल इच्छा द्वारा मन को प्रेरित कर उसी से सब कार्य कराती है। इस प्रकार कार्य, कारण, कर्तृत्वका मूल प्रकृति ही है—ऐसा सिद्धों के राजा भगवान् कृष्ण ने कहा। इस तरह इन तीनों के इकट्ठे होने से प्रकृति रूप बनती है, पर जिस गुण की प्रबलता होती है वैसे ही क्रिया भी प्रकट होती है। सत्वगुण में से सत्कर्म पैदा होते हैं रजोगुण में से मध्यम गुण होते हैं और तमोगुण से निषिद्ध और धर्म विरुद्ध कर्मों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार प्रकृति में से ही भले-बुरे कर्म उत्पन्न होते हैं और उनसे सुख-दुःख की उत्पत्ति होती है और पुरुष उन दोनों को भोगता है। पुरुष और प्रकृति का यह व्यवहार विचित्र है। स्त्री कमाती है और पुरुष चुपचाप बैठकर खाता है। स्त्री-पुरुष में कभी सम्बन्ध नहीं होता, तो भी स्त्री ही समस्त जगत् को उत्पन्न करती हैं। (९८०)

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१

वह ब्रह्म निराकार, निष्क्रय, निर्धन, अत्यन्त प्राचीन और वृद्ध की अपेक्षा भी अतिवृद्ध है। अतएव वह नामका ही 'पुरुष' है। अन्यथा वह स्त्री है या नपुंसक है अथवा कौन है यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। उसके आंख, कान, हाथ, पैर, रूप, वर्ण या नाम आदि कुछ भी नहीं हैं। हे अर्जुन ! ऐसा जो अवयव रहित है, वही प्रकृति का स्वामी है, वही सुख-दुःखका भोक्ता है। वह अकर्त्ता, उदासीन और अभोक्ता है, तो भी यह पतिव्रता प्रकृति उसे उपभोग में प्रवृत्त कराती है। वह प्रकृति उसे अपने गुण तथा रूप की जरा-सी झलक दिखाकर
१ अनोखे खेल कराती है। इसीसे 'गुणमयी' नाम प्राप्त हुआहै और वस्तुतः वह मूर्तिमान गुण ही है। वह सदैव नवीन बनी रहती है और जड़ पदार्थों को भी क्रियाशील बना देती है। नाम, प्रीति, इन्द्रिय आदि सब के कार्यों का आधार वही है। वास्तव में मन नपुंसक है पर वह उसे तीनों लोकों में दौड़ाती है। इस प्रकार उसके कर्म अलौकिक हैं।

वह भ्रम का महाद्वीप है, स्वयमेव व्याप्त हो जाने वाली है, कामरूपी लताओं का मंडप है, मोहरूपी वन की वसन्त ऋतु है और वही दैवी माया के नाम से प्रसिद्ध है। वह शब्द-सृष्टि का विस्तार करती है, और सदा प्रपंच का जाल फैलाया करती है। सब कलायें, विद्यायें इसी ने रची हैं और इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया इसी की सन्तानें हैं। यह नाद (ध्वनि) की टकसाल है और चमत्कार का घर है, ज्यादा क्या कहें यह समस्त जगत् इसी का खेल है। जगत्‌की जो उत्पत्ति-प्रलय होते है, वह इसी के प्रातः और सन्ध्याकाल है। वह अद्‌भुत मोहिनी, अद्वैत की प्रतिमा, असङ्ग की संङ्गिनी, शून्य में घर बसाने वाली है। यह उसके सौभाग्य की महिमा हीहै कि वह किसी प्रकार आकलन में न आने वाले 'पुरुष' को भी अवरुद्ध कर लेती है। वस्तुतः ब्रह्म में कोई विकार नहीं हो सकता, पर वह स्वयं ही उसका विकार भी बन जातीहै। वह उसकी उत्पत्ति, आकार, स्थिति इच्छा, जाति तथा गोत्र आदि सब कुछ स्वयं ही बन जाती है। उस अवर्णनीय सत्ताका लक्षण, उस अपार का प्रमाण मन रहितका मन, निःस्वरूप, निरङ्कार अहङ्कार भी स्वयं बनती है। जिस प्रकार अमावस्या की रात को चन्द्रमा का तेज लोप हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म का तेज प्रकृति के समक्ष लुप्त हो जाता है। उत्तम सुवर्ण में अगर राई भर अन्य धातु मिला दी जाय तो उस समस्त सोने का कस उतर जाता है,अथवा सदाचारी मनुष्य भी यदि अपवित्र स्थान में जाय तो उसे पिशाच बाधा लग जाती है, अथवा बादल दोपहर के समय भी आकाश में फैलकर सुदिन को दुर्दिन बना देते हैं, अथवा जैसे गाय के पेट में दूध और काष्ठ में अग्नि रहता है अथवा राजा पराधीन होने पर तथा सिंह रोगग्रस्त होने पर तेज को खो बैठते है उसी प्रकार जब पुरुष प्रकृति के अधीन हो जाता है तो उसका तेज दिखाई नहीं पड़ता। सामान्य पुरुष भी यदि स्त्री के अधीन हो जाय तो उसकी चालों में आकार बेबस हो जाता है, उसी प्रकार जो ब्रह्म अजन्मा और अवि-

नाशी है, वह जब प्रकृतिके अधीन हो जाता हैं तो उसमें गुणों का समावेश होता है और उसे जन्म-मरण के प्रहार सहन करने पड़ते हैं। लोग कहते हैं कि जब तपे हुए लोह को हथोड़े से पीटा जाता है तो वे चोटें अग्नि पर ही पड़ती हैं, अथवा दर्पण में मुख देखने पर जैसे दूसरा मुँह दिखाई पड़ता है, या रक्तवर्ण पदार्थ पर स्फटिक मणि लाल दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार गुणों की सङ्गति से गुण रहित पुरुष जन्म लेता जान पड़ता है पर वस्तवमें ऐसा नहीं होता। पुरुष उत्तम और अधम योनि में उत्पन्न होता जान पड़ता हैं, पर वह स्वप्न के समान मिथ्या ही होता है। इस सबका कारण प्रकृति का गुण सङ्ग ही होता है। (१०२१)

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२

इस प्रकार पुरुष यद्यपि प्रकृति के बीच में आ जाता है, पर उसे ऐसा ही समझना चाहिए जैसे जुही की बेल के नीचे एक खम्भा लगा दिया जाय। जिस प्रकार वह बेल के सब विकारों से अलिप्त होता है, उसी प्रकार वह प्रकृति से अलिप्त रहता है और उसमें तथा प्रकृति में जमीन आसमान का अन्तर होता है। हे अर्जुन ! यह पुरुष प्रकृति रूपी नदी के किनारे मेरु पर्वत की तरह अचल खड़ा रहता है। यद्यपि उसका प्रतिबिम्ब नदी में पड़ता है, पर वह उसके प्रवाह में बह नहीं जाता। प्रकृति का जन्म होता है और लय भी होता है, तो भी ब्रह्म तो कायम ही रहता है। इसलिए वही समस्त विश्वका शासक है। उसी के कारण प्रकृति जीवित रहती है और उसी की सत्ता में जगत् का निर्माण करती है, इसलिए वह प्रकृति का स्वामी है। वही ब्रह्माण्ड का सूत्रधार होकर अपनी महत्ता से प्रपञ्च को चलाता है, और इस देह में जिसे परमात्मा कहते हैं, वह भी वही है। हे पाण्डुसुत ! प्रकृति से परे जो एक पुरुष कहा जाता है वह वास्तव में यही है। (१०२६)

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३

जो इस प्रकार 'पुरुष' को पूर्ण रूपसे जानता है तथा सब गुण और सब कर्म प्रकृति के हैं, पुरुष रूप हैं और प्रकृति उसकी छाया है, पुरुष सच्चा जल है और प्रकृति मृग-जल है ऐसा निर्णय करता है और हे अर्जुन जो अपने मन में प्रकृति और पुरुष के स्वरूप को यथार्थ रीति से समझता है, वह इस संसार में सब कर्म करते हुए भी प्रकृति के गुणों से इसी प्रकार विकार ग्रस्त नहीं होता जिस प्रकार धूल के ऊँचे उड़ने से आकाश मलिन नहीं होता। जीवितावस्था में जो देह के मोह में पड़कर प्रकृति के आधीन नहीं होता है। वह देहत्यागके पश्चात् पुनः जन्म ग्रहण नहीं करता। प्रकृति-पुरुष सम्बन्धी यथार्थ ज्ञान जिसको होता है, वह उससे अलौकिक लाभ उठाता है। अब मैं उन उपायों को बतलाता हूँ जिनसे इसका प्रकाश अन्तःकरण में सूर्य के सदृश्य हो सकता है।

(१०३६)

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४

हे सुभट ! कोई विचार रूपी अँगीठी में श्रवण मनन निदिध्यासन रूपी पुट लगाकर अनात्म रूपी मैल को काट कर आत्मरूप सुवर्ण को शुद्ध बनाता है। छत्तीस प्रकारके भेद रूप घटिया कर्मोंको मिटाकर शुद्ध तत्वज्ञानके सुवर्ण को निकल लेते हैं। फिर हे अर्जुन! कोई इस आत्मा को कितने हो सांख्य विचार योगसे और कितने ही कर्मयोग के आधार पर आत्म स्वरूप का परिचय प्राप्त करते हैं। ऐसे भिन्न-भिन्न उपायों से जो लोग मुझ में मिल जाते हैं उनको संसार-सागर में डूबना नहीं पड़ता।

(१०४१)

अन्ये त्वेवमजानन्त श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५

परन्तु कोई ऐसा भी करते हैंकि सब प्रकार के अभिमान को त्यागकर श्रद्धापूर्वक एक के ही वचनों में विश्वास रखते हैं। इससे वे जान जाते हैं कि प्राणीमात्रका हित और अहित किस बात में है। वे लोगोंको कष्ट में देखकर द्रवित होते हैं और दुःखियों की देखभाल करके उनको सुख पहुँचाते हैं। तब ऐसे पुरुषों के मुख से जो-जो वचन निकलते हैं, उनको आदरपूर्वक सुनकर मनुष्य अपना तन, मन, धन उनको अर्पणकर देते हैं। उनके वचनों को दान, धर्म, तप का नाम देते हैं और उनको सुनने के लिए अन्य सब बातों को त्याग देते हैं। हे कपिध्वज ? ऐसे पुरुषों के कथनानुसार व्यवहार करने वाले भी अन्त में मृत्युरूपी समुद्रमें से अच्छी तरह बाहर निकल आते हैं। इस प्रकार सद्वस्तु (ब्रह्म) को जानने के अनेक मार्ग है पर यहाँ तो मैं उन सबका मन्थन करके सिद्धांत रूपी मण्डल ही तुझको देता हूँ। हे अर्जुन ! उससे तुमको सहज ही आत्मानुभव मिलेगा और ब्रह्म रूप की प्राप्ति में श्रम भी नहीं पड़ेगा। इसलिये मैं उस सिद्धान्तका विवेचन और मतवादियों का खण्डन करके केवल शुद्ध फलितार्थ तुझको बतलाता हूँ। (१०५०)

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६

'क्षेत्रज्ञ' शब्द से मैंने तुझे जो आत्म स्वरूप समझाया और 'क्षेत्र' नाम से जिस प्रकृति तत्व का वर्णन किया, उन दोनों के संयोग से ही ये समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार वायु के संयोग से जल में तरङ्ग पैदा होती है अथवा सूर्यकिरण और मरुभूमि के संयोग से मृगजल का प्रवाह दिखाई देने लगता है, अथवा वर्षा आरम्भ होते ही पृथ्वी में करोड़ों अंकुर निकल आते हैं, उसी प्रकार इस समस्त चराचर में जो जीव नाम से प्रसिद्ध है, वह सब प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही उत्पन्न होता है। हे अर्जुन ! पुरुष और प्रकृति से कोई भी पदार्थ या व्यक्ति भिन्न नहीं है। (१०५०)

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।२८

वस्त्र यद्यपि सूत नहीं होता तो भी वह सूत से ही बना है, इसी प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से पुरुष और प्रकृति के ऐक्य को समझना चाहिए। ये सब पदार्थ और प्राणी एक में से एक उत्पन्न हुए हैं। इसीलिए उनके नाम अलग-अलग हैं और व्यवहार में भी भिन्नता है और उनका वेष भी तरह-तरह का होता है। हे किरीटी ! इस दशा को देखकर जो तू मन में ऐसी गाँठ बाँध ले कि आत्मा और प्राणियों के बीच अवश्य ही भेद मौजूद हैं तो करोड़ों जन्ममें भी संसार से पार नहीं हो सकेगा। जैसे लोकी की एक बेल को जैसा आधार मिलता जाता है उसी प्रकार उसमें फल लम्वे, गोल, टेढ़े-मेढ़े अनेक आकृति के होते तो भी उनको लौकी कहा जाता है। अथवा बेरके टेढ़े-सीधे सभी फलों को बेर ही कहा जाता है, उसी प्रकार प्राणी और पदार्थ चाहे जैसे भले-बुरे हों पर उनका मूल तो ब्रह्म है वह तो एक ही है। जैसे अग्नि के सभी टुकड़ोंमें एक ही सा ताप रहता है, वैसे ही अनेक प्रकार के जीवों में आत्मा तो एक ही है। घट और मठ के आकाश में भिन्नता होती है, एक ही सोने के बने आभूषण विभिन्न आकृतियों के होते हैं उसी प्रकार सब प्राणियों में आकृति का अन्तर होते हुए भी उसके भीतर आत्मा तो एक सा ही है। इस प्रकार व्यवहार-दृष्टि से आत्मा जीव से भिन्न है, पर परमार्थ दृष्टि से वह दोनों एक ही हैं, जो इसे जानता है वही सब ज्ञानियों में उत्तम है। यह मैं उसकी झूँठी प्रशंसा नहीं कर रहा हूँ, वह निस्सन्देह परम भाग्यवान पुरुष हैं। (१०६८)

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।।२८

यह शरीर गुण और इन्द्रियों की थैली है। यह वात, पित्त और कफ आदि धातुओं से भरी है और पांचों तत्वों का भयंकर मिश्रण हैं।

ये प्रत्यक्ष पाँच डंकवाले बिच्छू ही हैं अथवा पाँच प्रकार की अग्नि जल रही है अथवा जीवरूपी पञ्चानन (सिंह) को शरीर रूपी हिरन के घर में प्रवेश मिल गया है तो भी कोई सदैव शरीर को त्यागने के लिए उद्यत नहीं होता। हे अर्जुन ! ज्ञानी पुरुष इस देह में रहकर भी ब्रह्म पदको प्राप्त करने में सफल हो जाता है। योग, ज्ञान के बल पर करोड़ों जन्मों को लाँघकर उस पद को प्राप्त कर लिया जाता है, जहाँ से पुनः जन्म लेने की कोई सम्भावना नहीं रहती। ऐसे योगीजन उस पद को प्राप्त करते हैं जो आकार और नाद के पार है और तुर्यावस्था का जन्म स्थान है। जिस तरह गंगा आदि सरितायें समुद्र में ही पहुँचकर विश्राम करती हैं, उसी प्रकार मोक्ष सहित सभी गतियाँ वहीं हर विश्रामके लिए आती हैं। जो मनुष्य प्राणियोंमें भेद-भाव की बुद्धि नहीं रखता वह इस देह में ही परब्रह्म के सुख को प्राप्त कर सकता है। जैसे करोड़ों दीपक जलते हैं, पर सबका तेज एक ही होता है। इसी प्रकार ईश्वरभी सर्वत्र एक ही है। हे पाण्डुसुत ! इस तरह जो जीवात्मा और परमात्मा में समताका भाव रखकर जीवनमें व्यवहार करता है वह निश्चय ही जन्म मृत्यु के चक्र में नहीं फँसता। जो इस साम्य रूपी शैया में शयन करता है उसको मैं भाग्यवान्-पूर्ण मुमुक्षु कहता हूँ। (१०८०)

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९

मन और बुद्धि जिनमें प्रमुख हैं ऐसी पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों के सब कार्य प्रकृति से ही सम्बन्धित हैं इस तथ्य को जो अच्छी तरह समझता है, वही आत्माज्ञानी है। जैसे घर में रहने वाले सब मनुष्य सब तरह के कार्यों को करते हैं पर घर स्वयं कुछ नहीं करता, अथवा जिस तरह आकाश में बादल दौड़ते दिखाई देते हैं, पर आकाश स्थिर रहता है, उसी तरह प्रकृति आत्मा द्वारा प्रकाशित होकर तरह-तरह के खेल करती है, पर आत्मा तो स्तम्भ की तरह

स्थिर ही बनी रहती है। इस तथ्य को जानने वाला ही आत्मा के अकर्त्ता स्वरूप को जानता है। (१०८३)

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०

हे अर्जुन! ऐसा मनुष्य भिन्न-भिन्न पदार्थों को एकही रूपमें देखता है, तभी उसे ब्रह्म सम्पन्न कहा जाता है, जिस प्रकार पानी की समस्त लहरें, जमीन पर के परमाणु सूर्य की किरणें, शरीर के अवयव, मन के तमाम भाव, आगमें से निकलने वाली चिनगारियाँ—ये सब वस्तुयें चाहे अपने उत्पत्तिस्थान से कुछ भिन्न जान पड़ें तो भी वे एक ही हैं। इसी प्रकार जिनके मन में यह धारणा दृढ़ हो गई है कि सभी प्राणी एक ही आत्मा से उत्पन्न हुये हैं, उसी को ब्रह्म रूपी सम्पत्ति का जहाज प्राप्त हुआ है,ऐसा कहा जा सकता है। फिर उसे सर्वत्र ब्रह्ममय दिखाई पड़ता है और अपार सुखकी प्राप्ति होती है। हे पार्थ! इस तरह प्रकृति और पुरुषकी अवस्था अनुभव सिद्ध दृष्टान्त सहित तुझको श्रवण करा दी, उसे तूने समझा या नहीं? जिस प्रकार अमृत प्राप्त हो जाय या द्रव्य-भण्डार दिखाई पड़ जाय, उसी प्रकार का यह लाभ है। हे सुभद्रापते! इस अनुभव से अपने मन में जो विचार कर रहा हो, वह अभी मत कर पर उसके सम्बन्ध में दो-एक स्थायी बातें कहनी हैं, उनको ध्यान लगाकर सुन।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१

जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब पानी में पड़ने पर भी उससे अलिप्त रहता हैं, उसी प्रकार परमात्मा शरीर में रहने पर भी शुद्ध रूप ही रहता है, हे किरीटी! सूर्य को पानी के उत्पन्न होने और उसके समाप्त हो जाने पर भी सदैव एक-सा था, पर अज्ञानी लोग पानी में उसकी परछाँही देखकर उसे ही सूर्य कहने लग जाते हैं। इस प्रकार यह कहना कि आत्मा शरीर में है, ठीक नहीं। वह तो शरीर के

उत्पन्न होने के पहले जहाँ था, बाद में भी वहीं रहता है। जिस प्रकार दर्पण में हमको अपना रूप दिखाई पड़ता है, वैसे ही आत्मा को भी शरीर में कहा जा सकता है। आत्मा और शरीर का सम्बन्ध बतलाना इसी प्रकार गलत है जैसे यह कहना कि वायु और बालू परस्पर सम्बन्धित हैं। जिसप्रकार अग्नि और कपास को मिलाकर रस्सी नहीं बनाई जा सकती, पूरब और पश्चिम दिशाओं में यात्रा करने वाले कभी आपस में मिल नहीं सकते, प्रकाश और अन्धकार का, मृतक और जीवित का जैसे सम्बन्ध नहीं हो सकता, वैसी ही बात आत्मा और शरीरके सम्बन्ध की समझनी चाहिये। वास्तव में तो शरीर पाँच तत्वों का बना है, कर्म चाहिये। वास्तव में तो शरीर पाँच तत्वों का बना है, कर्म की डोरी में पिरोया है और जन्म-मृत्यु के चक्र पर घूमता रहता है। काल रूपी अग्नि के मुख में यह मक्खन के डेले की तरह रखा है और मक्खी के पङ्ख के हिलने में जितना समय लगता है उसने भी कम समय में शरीर नष्ट हो जाता है। यह देह अग्नि में जलाई जाती है तो राख बनकर उड़ जाती है और यदि कुत्ता खा जाते हैं तो विष्ठा बन जाती है। हे कपिध्वज ! अगर इस प्रकार नष्ट न हो जाय तो इस देह में कीड़ा और जन्तु पैदा होकर सड़ जाती है। इस तरह अन्त में इस देहकी दुर्गति ही होती है। पर आत्मा तो सदैव स्थिर रहने वाला और स्वभाव से ही अनादि है। पर निर्गुण होने से भी निर्गुण नहीं है और अपूर्ण होते हुए भी अपूर्ण नहीं है। इसी प्रकार वह न कर्म का कर्ता है, न अकर्ता है, दुबला नहीं है और मोटा भी नहीं है, दृश्य भी नहीं है और अदृश्य भी नहीं है, तेजस्वी नहीं है और निस्तेज भी नहीं है, अल्प भी नहीं है और अधिक भी नहीं है। आत्म स्वरूप होने से वह आनन्दित नहीं है और शोकाकुल भी नहीं है। मुक्ति नहीं है तो बद्ध भी नहीं है। वह न तो सृष्टि की उत्पत्ति के साथ पैदा होता है और न संहार के साथ लय हो जाता है। हे अर्जुन ! आत्मा का ऐसा ही स्वरूप है और उसे देह के भीतर बतलाना ऐसा ही है जैसे आकाश को महाकाश के स्वरूप वाला बतलाना। इसलिए आत्मा देह धारण करने से न तो उत्पन्न होता है

और न उसके नष्ट होने से मर जाता है। वह अनन्तकाल से जैसा है वैसा ही बना रहता है। जिस प्रकार आकाश में दिवस और रात्रि आते जाते रहते हैं उसीप्रकार यह आत्मा शरीर में आता है और चला जाता है। इतना ही नहीं, देह में रहने पर भी वह उसके कार्यों में लिप्त ही रहता है। (१११६)

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२

हे अर्जुन ! आकाश कहाँ नहीं है परन्तु उसको अपने भीतर रहने वाली किसी वस्तु से कष्ट नहीं पहुँच सकता। इसी प्रकार आत्मा सर्वत्र समस्त शरीरों में रहता है, पर वह शरीर के कर्मोंमें लिप्त नहीं होता। इसलिए तुम हमेशा इस बातको ध्यान में रखो कि क्षेत्र (शरीर) से क्षेत्रज्ञ (आत्मा) सर्वथा भिन्न होता है। (११२२)

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३

चुम्बक अपनी आकर्षण शक्ति में लोहे को चलायमान करता है, पर इस२ लोहा चुम्बक नहीं बन जाता है। यही बात क्षेत्रज्ञ के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। दीपक के द्वारा घरके काम-काज किए जाते हैं,पर दीपक और घर में कोटिशः अन्तर है। किरीटी ! काष्ठके भीतर अग्नि होतीहै, परन्तु अग्निको काष्ठ नहीं कह सकते। तुम इसी दृष्टिसे आत्मा को देखो। आकाश में एक ही सूर्य जिस प्रकार भिन्न-भिन्न लोकों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक आत्मा ही सब देहों में प्रकाशित हुआ करती है। अब तू क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विषय में कोई शङ्का न करना। (११२८)

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४

हे शब्द तत्व के ज्ञाता ! प्रज्ञा उसी बुद्धि को कहा जा सकता है

जिससे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का अन्तर समझा जा सके। इसी अन्तर को समझने के लिए मुमुक्ष जन ज्ञानियोंके द्वारपर पड़े रहते हैं, शान्ति रूपी सम्पत्ति का उपार्जन करते है तथा शास्त्र रूपी दुधारू धेनुको पालते हैं। इसीके लिए वे योगरूपी आकाशपर चढ़ते हैं शरीर को तिनकेके समान समझते हैं और सन्तों की पादुकाओं को अपने मस्तक पर धारण करते हैं। इस प्रकार भगवान कृष्ण ने कहा कि ऐसे ज्ञानियों के ज्ञानपर मैं अपने ज्ञान को निछावर कर सकता हूँ, उसकी स्तुति करता हूँ। आज मिथ्या माया विभिन्न रूपों में संसार भर में व्याप्त है और जिस प्रकार तोता नली पर बैठ जाने से अपने को भ्रमवश ही पकड़ा हुआ समझ लेता है, उसी प्रकार यद्यपि वह किसी को पकड़ नहीं सकती तो भी प्राणी अपने को उसके द्वारा गृहीत मान लेता है। जैसे कोई रस्सी में सर्प का भ्रम न करके उसकी यथार्थता को समझ लेता है, अथवा सीप में से चाँदी का भ्रम नाश होने पर मालूम पड़ जाता है कि वह सीप ही है, इसी प्रकार जो प्रकृति को आत्मा से निश्चय रूप से पृथक् जान जाता है ब्रह्म स्वरूप हो हो जाता है। जो ब्रह्म आकाश की अपेक्षा भी अधिक व्यापक है, जो प्रकृति से भी परे दूसरे तटपर है, जहाँ सम विषम का भेद नहीं रहता, जहाँ आकार का लोप हो जाताहै, जीवात्मा की सत्ताभी समाप्त हो जाती है, द्वैत-भाव जाता रहता है, हे अर्जुन ऐसे परमतत्व के स्वरूप को वही लोग ग्रहण कर सकते हैं, जो आत्मा और अनात्म तत्व के भेद का निर्णय करने में हँस के समान क्षीर और नीर की विवेक शक्ति रखते हैं। (११४३)

ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण ने इस प्रकार अर्जुन को आत्मा और प्रकृति का सम्पूर्ण अनुभव करा दिया। जिस प्रकार एक बर्तन का पानी दूसरे बर्तन में डाल दिया जाता है, उसी प्रकार भगवान् ने अपने हृदय का ज्ञान अर्जुन के अन्तःकरण में डाल दिया। परन्तु इनमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि जो नर हैं वही नारायण

है, तो फिर ज्ञान किसने किसको दिया ? भगवान् ने स्वयं ही यह बात कह दी थी कि 'मैं ही अर्जुन हूं।" पर इस बात का विस्तार करने की क्या आवश्यकता, जब कि कोई इसका जिज्ञासु ही नहीं है, अधिक क्या कहूं, भगवान् ने अपना सर्वस्व अर्जुन को दे दिया। तो भी अर्जुन की तृप्ति नहीं हुई और भगवान् से विशेष कहने की प्रार्थना करता रहा। दीपकमें जैसे-जैसे अधिक तेल डाला जाताहै उसका प्रकाश बढ़ता जाता है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण जैसे-जैसे कहते गए, वैसे-वैसे ही अर्जुन की श्रवणेच्छा बढ़तीगई। जिस प्रकार भोजन परोसने वाला उदार हो तथा भोजन करने वाला चतुर हो तो दोनों बातें शौक से चलती हैं, उसी प्रकार अर्जुन का उत्साह देखकर भगवान् की इच्छा भी कहने की होती गई और उसका भाषण कई गुना बढ़ गया। (११५३)

संजय कहता है—हे राजा धृतराष्ट्र ! अर्जुन की इस प्रकार की इच्छा देखकर भगवान् समग्र विश्वको आनन्दसे भरने वाला जो भाषण करने वाले हैं, उसको सुनो। इस प्रकार महाभारत के भीष्म पर्व में श्री व्यासजी ने अपनी असीम बुद्धि से जो कथा कही है उस श्रीकृष्ण-अर्जुन सम्वाद को उत्तम मराठी भाषा में ओवी छन्द में वर्णन करता हूं। मैं केवल शान्त रसकी ही कथा कहूंगा, परन्तु यह शृङ्गार आदि रसोंसे भी उत्तम होगी। मैं ऐसी प्रेमपूरित देशी भाषा में कथा कहूंगा जो [illegible] को भी उच्च करने वाली और अपनी मधुरतासे अमृतको भी [illegible] देने वाली होगी। जैसे चन्द्रमा के उदय होने से चन्द्रक[illegible] जल बिन्दु निकलने लगते हैं, वैसे ही इसमें से रस प्रकट होने [illegible]। मेरी कथा से नाद ब्रह्म भी तन्मय हो जायगा, अज्ञानीजनों के हृदय में भी सात्विक भाव उत्पन्न होंगे, और जो अधिकारी हैं उनको श्रवण करतेही समाधि लग जायगी। गीता का अर्थ इस प्रकार सुनाऊंगा कि उसका समस्त जगत में प्रसार होगा और सबके लिए आनन्ददायक बन जायगा इससे विचार का दैन्य मिट जायगा, मन और काया जाग्रत होंगे और

जहाँ दृष्टि पड़ेगी ब्रह्मविद्या की खान दिखाई देगी। श्री निवृत्तिनाथ का मेरे ऊपर अनुग्रह होनेसे मैं ऐसा भाषण करूंगा कि आपको मेरे उपयुक्त कथन की प्रत्यक्ष प्रतीति होने लगेगी। मेरे गुरुने मुझे समस्त शास्त्रों में इतना निपुण कर दिया है कि मुझे आप जैसे सन्तों के समक्ष गीतार्थ पर भाषण करने की योग्यता प्राप्त हो गई है। आप जैसे सन्तों का चरण-दर्शन करनेसे मुझे इसमें कुछ भी कठिनाई प्रतीत नहीं होती। हे प्रभो! जो सरस्वती सबको बोलने की शक्ति देने वाली है उसके गूंगा बालक कैसे जन्म ले सकता है। उसी प्रकार आप सन्तों के समक्ष आने वाला कोई व्यक्ति अज्ञानी रह सके, यह कैसे सम्भव हो सकता है? इसलिए अब मैं अपने भाषण में नवरस की झड़ी लगा दूंगा। हे प्रभो! आप मुझे बोलने का अवसर दें कि मैं भली प्रकार कथा का निरूपण कर सकूँ—ऐसा श्री ज्ञानदेव ने कहा। (११७१)

इति श्रीज्ञानदेवविरिचितायां भावार्थदीपिकायां
त्रयोदशोऽध्याय: ॥१३

— — —

॥ अथ चतुर्दशोऽध्यायः ॥

हे गुरो ! सकल देवों में श्रेष्ठ ! हे बुद्धिरूपी प्रातःकाल के सूर्य ! हे आनन्द के उदय करने वाले ! आपका जय जयकार हो। आप सबके विश्रांतिस्थल है और सबके हृदय में 'अहं ब्रह्म' के तत्वका प्रवेश कराने वाले हैं। अथवा आप समुद्र रूप हो और चौदह लोक आपमे लहरों की तरह आन्दोलित हुआ करतेहैं। आपका जय-जयकार हो। हे दीनदयाल! हे करुणाके सागर! हे ब्रह्मविद्याके स्वामी जो आपको नहीं जानता उसे यह संसार सत्य जान पड़ता है, और जो आपके जानने वाले हैं उनको समस्त विश्वमें आपके अतिरिक्त अन्यकुछ दृष्टिगोचर नहीं होता ! बाजीगर नजरबन्दी के खेल में दूसरों की नजरको चुरा लेता है, पर आप तो अपने को ही संसार की दृष्टिसे चुरा लेते हैं। महाराज ! आप संसारमें किसी को ज्ञान प्रदान करते हैं और किसी को माया में फँसा देते हैं। आपका यह खेल सदा ही होता रहता है, आपको मेरा नमस्कार है। पानी में जो मिठास है, पृथ्वी में जो सहन शक्ति है, वह आपकी ही देन है। सूर्य चन्द्र रूपी सिपाही जो तीनों लोकों में प्रकाश करते हैं, वह आपकी शक्ति का ही प्रभाव है। चारों दिशाओं में विचरने वाला वायु भी आपकी शक्ति से ही गतिमान है और आकाश यद्यपि बहुत बड़ा दिखाई देता है पर उसका समावेश भी आपमें ही है। अधिक क्या कहूँ समस्त माया आप में ही है और ज्ञान भी आपकी शक्ति से अवलोकन करता है, पर आपके स्वरूप का पार न पाने से श्रुति भी उसका वर्णन कर सकने में समर्थ नहीं हो सकी। (१०)

वेद वर्णन करने में निपुण तो हैं पर जब तक आपका दर्शन नहीं होता तभी तकवे कुछ कह सकते हैं। दर्शन होनेके पश्चात् हमारी और उनकी स्थिति एक-सी ही होती है, अर्थात् दोनोंको मौन रह जाना पड़ता है। द्वैत भाव का लोप होकर परा सहित वैखरी वाणी स्तब्ध हो जाती है। इस प्रकार के होने से आपका वर्णन किस मुख से किया जा सकता है? इसलिए आपकी स्तुतिकी चेष्टा न करके आपके चरणों पर मस्तक रख देना ही ठीक है। तो हे गुरुराज! आप जैसे हो वैसे ही आपको मैं नमस्कार करता हूँ। मेरे गीतार्थ रूपी व्यापार में नफा कराने के लिए आप साहूकार बन जाइए। अपनी कृपा रूपी रुपयों की थैली का मुँह खोलकर मेरी बुद्धि रूपी थैली को भर दो। आप महान् हैं अतः मुझे ज्ञान-पद (ज्ञान रूपी नफा) प्राप्त कराइए और ज्ञान से भरपूर काव्य रचना का लाभ दीजिए। इससे सुन्दर विचार रूपी कर्णाभूषण तैयार कराके सन्तों के कानों को विभूषित करूँगा। हे महाराज! गीतार्थ रूपी गुप्त खजाने को बाहर निकालने के लिए मेरी आँखों में स्नेह रूपी अञ्जन लगा दीजिए। अपने करुणा रूपी सूर्य प्रकाश का ऐसा विस्तार करो जिससे मेरी बुद्धि रूपी बेल खूब बढ़े और उसमें काव्य रूपी फल आयें,इसके लिए आप बसन्त ऋतु बन जाइए। अपनी उदारताकी ऐसी वर्षा कीजिए जिससे मेरी बुद्धि रूपी गङ्गा में सिद्धान्तरूपी बाढ़ आ जाय। हे विश्वैकधाम! आपका कृपा रूपी चन्द्रमा मेरे लिए पूर्णमासी करदे, जिससे मेरे ज्ञान-समुद्र में सरलता का ऐसा ज्वार उठे कि नवरस उमड़ कर जगत् में फैल जायें। (२४)

ज्ञानदेव के वचनों से सन्तुष्ट होकर गुरु बोले—तू स्तुति करके व्यर्थ में द्वैतभाव का विस्तार कर रहा है। अतः अब इसको बन्द करके गीतार्थ का उत्तम रीति से वर्णन करो जिससे उत्कण्ठा की तनिक भी हानि न हो। (२६)

ज्ञानदेव कहने लगे—हे महाराज ! आप स्वसुख से ग्रन्थ निरूपण का आदेश दें, इसी का रास्ता मैं देख रहा था। दूब की जड़ वैसे ही अमर होती है, उस पर भी अमृत की वर्षा हो जाय तो फिर क्या कहना। मैं गीताके श्लोकों के प्रत्येक पदका ऐसा सविस्तार वर्णन करूँगा, जिससे सब संशय नष्ट होकर श्रवणकी इच्छा दुगनी हो जाय। मेरी वाणी से ही ऐसे मधुर शब्द निकलें, यही गुरु चरणों से मेरी याचना है। अस्तु, गत तेरहवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बतलाया था कि आत्मा और प्रकृति के संयोग से इस जगत का निर्माण होता है और माया की उपाधि से आत्मा को सुख-दुःख भोगना पड़ता है, और उससे छुटकारा पाकर (गुणातीत होकर) वह मुक्त हो जाती है। इसलिए अब यह प्रश्न पैदा होता है कि असंग रूप आत्मा को प्रकृति का संग क्यों लग जाता है,उसे फिर कैसे सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं ? प्रकृति के गुण कैसे हैं, कितने हैं ओर उनका बन्धन किस प्रकार होता है ? और गुणातीत पुरुष के लक्षण क्या हैं ? यही सब विषय इस चौदहवें अध्याय में हैं । इसके लिए उन्होंने कहा—हे अर्जुन ! श्रवण मात्र करने की सब सामग्री एकत्रित करके, तू इस ज्ञान को प्राप्त कर ले। मैंने तुझे बहुत तरह से स्पष्ट रूप से इस ज्ञान को समझाया है, पर मालूम होता है कि अभी तक मेरे अज्ञान का पूर्ण रूप से नाश नहीं हो सका है। (४१)

श्रीभगवानुवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ।।१

हे तात ! 'पर' शब्द की जो महिमा वेदों ने गाई है, वह मैं फिर बतलाता हूँ। हमारे ज्ञानकी तुलना से अध्यात्मज्ञान को 'पर' कहने का कारण यही है कि हमको सांसारिक वैभव और सर्व सुख के अतिरिक्त और किसी विषयसे प्रेम नहीं होता। मैं आत्मज्ञानको इसीलिए सर्वश्रेष्ठ

कहता हूँ कि यह अग्निरूप है और अन्य ज्ञान इसकी तुलना में तिनके के समान हैं के जिस ज्ञान की दृष्टि स्वर्ग से आगे पहुँचती ही नहीं,उसे यज्ञ-याग आदि कर्म ही अच्छे लगते है और द्वैत के सिवाय और किसी का परिचय नहीं होता। ऐसे सब ज्ञान इस आत्मज्ञान के सम्मुख स्वप्न की तरह जान पड़ते हैं। जिस प्रकार वायु की प्रचण्ड लहरें भी आकाश में लय हो जाती है, अथवा सूर्योदय होते ही नक्षत्रों का तेज जाता रहता है; अथवा प्रलयकाल के जल में नद-नदीका भेद नहीं रहता, उसी प्रकार आत्मज्ञान का उदय होते ही अन्य सब ज्ञान उसी में लय हो जाते हैं। हे अर्जुन ! इसी कारण मैं इस ज्ञान को उत्तम कहता हूँ। इस ज्ञान से हमारी अनादि मुक्ति हस्तगत हो जाती है। इसका अनुभव होनेसे जन्म-मृत्यु रूपी संसार मस्तक नहीं उठा सकता और मन को विषयों के पीछे रोककर एक जगह बैठा देता है। ऐसा होने पर वे देहधारी होने पर भी इन्द्रियों के प्रिय विषयों का आचरण नहीं करते और शरीर बन्धन का प्रभाव दूर करके मेरे समक्ष हो जाते हैं। (५१)

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२

हे अर्जुन ! जो मेरी नित्यता से नित्य और परिपूर्णता से परिपूर्ण रहते हैं, वे मेरे ही अनन्त, महानन्द रूप और सत्यसिद्ध बन जाते हैं और उनमें तथा मुझ में कुछ भी अन्तर नहीं रहता। जिस प्रकार एक दीपक से जलाई गई अनेक बत्तियाँ एकत्रित कर दी जायें तो उनका तेज मूल दीपक में ही मिल जाता है, उसी प्रकार हे अर्जुन ! द्वैत-भाव के मिट जाने पर 'मैं' और 'तुम' का भेद भी मिट जाता है। इसलिये जब सृष्टिकी फिर से रचना होती है तब ऐसे आत्मज्ञानियों को जन्म धारण नहीं करना पड़ता। जिनका सृष्टि के आरम्भ में जन्म ही न होगा तो प्रलय-काल में उनका नाश कैसे हो सकता है ? हे धनञ्जय ! इस तरह आत्म-ज्ञान के मार्ग पर चलकर जो मेरे स्वरूप को प्राप्त हो गये हैं, वे

जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ते। इस तरह भगवान् ने आत्मज्ञान का महत्व अर्जुन को सुनाया जिससे मन में भी इसकी रुचि उत्पन्न हो। इससे अर्जुन की ऐसी दशा हो गई मानो उसके अङ्गों में कान उत्पन्न हो गये हों। भगवान् ने भी जब देखा कि मेरा जो वचन आकाश से भी धारण नहीं किया जा सकता अर्जुन उसको धारणकर रहा है,तो उत्साह बढ़ गया और उन्होंने कहा कि आज मेरा भाषण सफल हुआ क्योंकि मुझे तेरे समान श्रोता मिल गया। अब मैं तुझको बतलाता हूँ कि मेरे एक होने पर भी निर्गुण रूपी बहेलिया मुझे अनेक रूपों (देहों) में कैसे फाँस लेता है और माया द्वारा यह जगत् मुझसे किसप्रकार उत्पन्न होता है। मेरे सान्निध्य रूपी बीज से यह समस्त जगत् कैसे प्रकट हो जाता है, इस रहस्य को ध्यान लगाकर सुनो। (६६)

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३

यह माया महत्तत्व आदिका लय-स्थान है इससे यह 'महद्ब्रह्म' कहलाती है। हे अर्जुन ! इसके संयोग से विकार और गुणों की वृद्धि होती है। इसी को अव्यक्त मतवादी 'अव्यक्त'-सांख्यमत वाले 'प्रकृति' और वेदान्ती 'माया' कहते हैं। फिर अज्ञान भी यही है। अपने आत्म-स्वरूप को भूल जाना ही अज्ञान है। दूसरी बात यह है कि यदि हम हाथ में दीपक लेकर 'अन्धेरे' को ढूँढ़ने जांय तो वह हमको नहीं मिलता,अथवा जब तक हम दूध को चलाते रहते हैं उस पर मलाई नहीं पड़ती, अथवा जैसे वायु न चलने पर आकाश रीता-सा बना रहता है, वैसी ही गति इस अज्ञान की भी है। दूर से किसी वृक्ष का ठूँठ दिखाई पड़ता है तो यह निश्चय नहीं हो पाता कि वह खम्भा है अथवा मनुष्य है, इतना ही अनुमान होता है कि कोई वस्तु है। उसी प्रकार जिस समय आत्मा का वास्तविक रूप दिखाई नहीं पड़ता और यह भी निश्चय नहीं होता कि अन्य अमुक वस्तु है, अथवा जिस प्रकार दिन और रात के मध्यवर्ती सायंकाल होता है, उसी प्रकार जब आत्मज्ञान नहीं होता और विपरीत

ज्ञान भी नहीं होता उस अवस्था को 'अज्ञान' कहा जाता है और जो चैतन्य (जीवात्मा), उस अज्ञान से आवृत होता है उसका नाम 'क्षेत्रज्ञ' होता है। अपना शुद्ध स्वरूप न समझकर अज्ञान को ही श्रेष्ठ समझना 'क्षेत्रज्ञ' का स्वरूप हैं। (८१)

माया और चैतन्य के इस योग को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। माया के अनुरोध से चैतन्य आत्म स्वरूप को भूल कर उसी प्रकार अनेकरूप धारण करता हैं जिस प्रकार किसी रास्ता चलते मनुष्य को मनुष्य कहने लगे—"यह देखो, यह देखो महाराजा की सवारी आ रही है।" इससे वह बड़े भ्रम में पड़ जाता है। अथवा कोई मूर्च्छा की अवस्था में अनुभव करे कि मैं स्वर्ग लोक में आ गया हूँ उसी प्रकार आत्म दृष्टि तिरछी पड़ जाने से तरह-तरह के दृश्य दिखाई पड़ने लगते हैं। यही गति इस सृष्टि की भी है। इस अवस्था को उत्पन्न करने वाला मैं ही हूँ। जैसे स्वप्न में मनुष्य अकेला होने पर भी हजारों लोगों को देखता है, वैसी दशा आत्म-स्मृति रति जीवात्मा की होती है। इस सिद्धान्त का वर्णन आगे चलकर विस्तार से किया जायगा। पर इतना निश्चय समझ लो कि 'अविद्या' भी मेरी शक्ति हैं। यह अनादि है, इसके गुण कहे जा सकते हैं, अभाव उसका स्वरूप है और इसकी आकृति विशाल है। यह अज्ञानियों के ही समीप रहती हैं। यह माया मेरे साथ ही सोती है और आत्म सत्ता के योग से अष्ट प्रकृति-विकृति रूपी गर्भ की वृद्धि करती है। इसके गर्भ से वृद्धि तत्व उत्पन्न होता है, फिर मन होता है, मन की स्त्री ममता है, जिससे अहङ्कार की उत्पत्ति होती और उससे महाभूत प्रकट होते हैं। भूतों का सम्बन्ध बिषयों और इन्द्रियों से होता हैं। विकारों का क्षोभ होने से त्रिगुण पैदा हो जाते हैं और उसी समय वासना भी प्रकट हो जाती है। जैसे जल का संयोग होते ही सूक्ष्म बीज में से अंकुर फूटकर वृक्ष का आकार नियत हो जाता है, उसी प्रकार मेरे और प्रकृति के संयोग से अनेक

प्रकार के विश्वांकुर फूटा करते हैं। हे सुजन श्रेष्ठ ! फिर यह गर्भ कैसे रूप धारण करता है, वह बतलाता हूँ। अण्डज स्वेदज, उद्भिज्ज और जरायुज जैसे अंकुर फूटते हैं उस गर्भ-रस की वृद्धि आकाश और वायु द्वारा होने से 'अण्डज' नाम होता है। तम और रज का जिसमें विशेष अंश होता है वह 'स्वेदज' कहा जाता है। केवल तमोगुण जिसमें दिखाई पड़े वह 'उद्भिज्ज' है और जिसमें मन तथा बुद्धि का जोड़ा हो वह 'जरायुज' कहा जाता है। इस प्रकार ये चारों प्रकार के प्राणी जिसके हाथ और पैर हैं, अष्टधा प्रकृति जिसका मस्तक है, प्रपंच जिसका मोटा पेट है, निवृत्ति पीठ है, नाभि से ऊपर के भाग आठ देवसर्ग हैं, स्वर्ग लोक कण्ठ हैं, मृत्यु लोक मध्य भाग है, पाताल लोक कमर से नीचे का भाग है—ऐसा एक बालक इस माया के हुआ। तीनों लोकों का विस्तार इसका पालना है, चौरासी लाख योनियाँ इसकी अँगुलियों की गाँठें हैं। वह बालक दिन पर दिन बढ़ता है। नाना प्रकार के देह, अवयव, नाम रूपी अलङ्कार धारण करके, वह माया के स्तनों से मोह रूपी दूध पीकर बड़ा होता हैं। भिन्न-भिन्न सृष्टियाँ इस बालक की अंगुलियाँ होती हैं और तरह-तरह के शरीर उनमें पहली अँगुलियाँ हैं। ऐसा एक विश्व-रूप बालक जब प्रकृति के उदरसे उत्पन्न हो जाता है तो माया अपने को भाग्यशाली मानती है, ब्रह्मा इस बालक का प्रातःकाल है और विष्णु मध्याह्न तथा शङ्कर सन्ध्याकाल है। यह महाप्रलय रूपी शैयापर खेल करता है और शान्ति पूर्वक सो जाता है। फिर जब कल्प का आरम्भ होता है तो वह विपरीत ज्ञान से जाग उठता है। हे अर्जुन ! इस प्रकार मिथ्या-दृष्टि के घर में कालपति के योग से यह बालक युग रूपी कदम रखता हुआ चलता है। सङ्कल्प जिसका प्रिय मित्र है और अहङ्कार सेवक है, ऐसा यह बालक आत्मज्ञान होने से मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार माया में से यह विश्व मेरी सत्ता द्वारा ही उत्पन्न होता है। (११५)

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।।४

इस प्रकार हे अर्जुन ! मैं पिता हूँ, माया माता है और यह विश्व हमारा बालक है । इस विभिन्न शरीरको देखकर शङ्का न करनीचाहिये, क्योंकि सब प्राणियों की उत्पत्ति तो मन,बुद्धि और समस्त इन्द्रियों द्वारा ही होती है । क्या एक शरीर में अलग-अलग अवयव नहीं होते । जिस प्रकार वृक्षकी ऊँची-नीची छोटी बड़ी सभी डालें एक बीज से पैदा होती हैं, वैसाही मेरा और इस जगत्का सम्बन्ध है । जैसे मिट्टी से बना घड़ा मिट्टी का पुत्र माना जाय, वस्त्र को रूईका नाती कहा जाय, तरङ्गोंको समुद्र की संतति माना जाय, वैसे ही चराचर से मेरा सम्बन्ध है । जिस प्रकार अग्नि और ज्वाला एक ही अग्नि के स्वरूप हैं, उसी प्रकार सब कुछ मैं ही हूँ, बाकी सब नाम, रूप तथा सम्बन्ध मिथ्या हैं । जगत् के उत्पन्न होने पर मेरा अन्त हो जाता है, यदि ऐसा कहा जाय, तो प्रश्न होता है कि फिर जगत् को प्रकाशित कौन करता है ? क्या सुँवर्ण के अलङ्कार बनानेसे उसका सुवर्णत्व नष्ट हो जाता है हे अर्जुन ! तुम इस बात पर विचार करो कि क्या अवयवों के धारण करने से धारण कर्त्ता ढक जाता है ? अथवा अवयवों के द्वारा उसकी शोभा वृद्धि होती है ? ज्वार का बीज बोनेपर जब उसका भुट्टा पैदा होताहै तो उससे न्यूनता होती है या वृद्धि ? अर्थात् जो जगत् को एक ओर हटाकर अकेला मुझ को ही देखने की आकांक्षा करे तो वैसा कभी देख न पायेगा, क्योंकि मैं ही समस्त जगत-रूप हूँ । हे वीर ! इस सिद्धान्त को तू अच्छी तरह समझ ले । चाहे अनेक शरीरोंके कारण मैं भिन्न-भिन्न जान पड़ता हूँ तो भी यह समझ लो कि सब शरीर एकही गुण द्वारा बँधे रहतेहैं । हे कपि-ध्वज ! जैसे मनुष्य स्वप्न में अपनी मृत्यु का अनुभव करता है अथवा जैसे पीलिया रोग वाले को सब वस्तुयें पीली दिखाई देती हैं, अथवा जिसप्रकार मनुष्य अपनी छाया से ही डर जाय,यद्यपि छाया उससे भिन्न

नहीं होती, इसी प्रकार चाहे संसार में अनेक पृथक्-पृथक शरीर दिखाई पड़ते है, पर वे सब मेरे स्वरूप में से ही प्रकट होते हैं। मोक्ष और बध दोनों मेरे उत्पन्न किये हैं। अज्ञानी अपने स्वरूप को नहीं समझ पाते इसलिए गुणों के बन्धन में पड़ जाते हैं हे अर्जुन ! अब मैं तुझको बतलाता हूँ कि मैं स्वयं भी अपने गुणों से किस प्रकार बन्धन में पड़ता हूँ। साथ ही यह भी बतलाता हूँ कि गुण कितने हैं, उनका धर्म तथा, स्वरूप कैसा है, उसके नाम क्या हैं और वे कहाँ से उत्पन्न होते हैं। (१३७)

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निवध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।।५

सत्व, रज और तम–ये तीनों गुण माया में से उत्पन्न हुए हैं। इनमें से सत्वगुण उत्तम, रजोगुण मध्यम और तमोगुण कनिष्ठ है। ये तीनों एक ही अन्तःकरण प्रवृत्ति में से पैदा होते हैं,इससे वह भी त्रिगुणमय जान पड़ती हैं, जिस प्रकार एक ही शरीर को बाल्य, तरुणाई और वृद्धावस्था प्राप्त होती हैं, अथवा सोने में मिलावट कर देने से उसका कस हलका हो जाता है, जिस आलस्य के प्रभाव से जागृति का लोप होकर निद्रा की वृद्धि होती है, उसी प्रकार अज्ञान में पड़ जाने पर जो वृत्ति बढ़ने लगती है, उसी को सत्व, रज तथा तम कहा जाता है। हे अर्जुन ! इस तरह जिनके संयोग से वृत्ति भिन्न-भिन्न प्रकार की हो जाती है, उन्हीं को गुण कहते हैं। अब ये गुण किस प्रकार जीवात्मा का बन्धन करते हैं, वह सुनो। यह आत्मा ही क्षेत्रज्ञ दशा में प्रवेश करके यह कल्पना करता है कि मैं देह रूप ही हूँ। (१४७)

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ।।६

जिस प्रकार मछली काँटेमें लगे माँसको मुँह में लेती है,और धीमर बंसी की डोरी को खींच लेता है, उसी प्रकार सत्वगुण रूपी व्याध सुख और ज्ञान रूपी पाश से इस आत्मा को भी खींचता है। फिर वह मृग

की तरह पकड़ा जाकर, ज्ञान से क्षुब्ध होकर सच्चे सुख को खो बैठता है। फिर कोई उसे विद्वान् कहकर सम्मान करे तो उसे तो आनन्द होता है। वह कहता हैं कि "समस्त जगत् में मेरे समान सुखी कोई नहीं है, मैं कैसी भाग्यशाली हूँ।" इस प्रकार वह अष्ट सात्विक भावों से अभिमानी हो जाता है। इतना ही नहीं वह यह भी विचार करने लगता है कि "दुनिया में मेरे समान विद्वान् कोई अन्य नहीं"—यह मिथ्या विचार उसके पीछे भूत की तरह लग जाता है पर आत्मा स्वयं ही ज्ञान रूप है और उस ज्ञान को भुला दिया है इस पर उसे कुछ भी खेद नहीं होता और सामान्य सांसारिक ज्ञान के गर्व से वह आकाशके समान फूल जाता है। जैसे कोई राजा स्वप्न में भिक्षुक बन जाये और एक मुट्ठी अन्न मिल जाने में बहुत प्रसन्न हो जाये, वहीं दशा शुद्ध देहातीत आत्मा की देहधारी हो जाने पर बाह्य ज्ञान के कारण होने लगती है। वह सांसारिक ज्ञान में निपुण होता है, यज्ञ विधान को जानता है, स्वर्ग के विषय में भी कथन कर सकता है, इसी आधार पर वह अपने को ज्ञानी शिरोमणि मानने लग जाता है। सत्वगुण जीवात्माको इसी प्रकार सुख और ज्ञानका बन्धन लगाकर लूले मनुष्य के बैलके समान बना देता है। फिर रजोगुण इस आत्मा को किस प्रकार बांधता है, यह आगे बतलाते हैं। (१६०)

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७

रजोगुण से जीवात्मा का सदा मनोरंजन होता रहता है, इसीलिए इसको रज कहा गया है। शीघ्र ही जीव को कामनाओं की धुन लग जाती है और फिर मन की इच्छायें हवा पर सवार होने लगती हैं। जिस प्रकार अग्निकुंण्ड की अग्नि घी डालने से दुगुनी बढ़ती है और छोटी-बड़ी सब वस्तुओं को जलाकर नष्ट करने लगती है, इसी प्रकार इच्छाओं के प्रबल हो उठने से दुःखदायक विषय भी उसे सुखदायक जान पड़ते हैं। उस समय इहलोक मिल जाने पर भी उसे सुखतृप्ति नहीं होती और सुमेरु पर्वत भी उसकी अभिलाषाओं की पूर्ति के

लिए अल्प जान पड़ता है। एक-एक कौड़ी के लिये वह जान देने लगता है और तिनका भर लाभ हो जाने पर भी अपने को भाग्यवान समझता है। अपने पास जो द्रव्य है वह आज समाप्त हो जायगा तो कल अपनी क्या दशा होगी, यह विचार करके वह बड़े-बड़े उद्योग आरम्भ करता है। वह यह भी कहता है कि मरने के बाद स्वर्ग में हम क्या खायेंगे ? इस प्रकार की शङ्का करके वह यज्ञ-भाग करता है, अनेक प्रकार के व्रत करता है। वह काक्ष्य व्रतीके सिवाय अन्य व्रत नहीं करता। जिसप्रकार ग्रीष्म ऋतुका पवन एक समान चलता रहता है उसी प्रकार हे अर्जुन ! वह तरह-तरह के कर्मों में रात-दिन लगा रहता है। मछली, तरुणी के नेत्र और विद्युत् को बहुत चञ्चल कहा जाता है पर रजोगुण की चंचलता इनसे भी अधिक होती है। स्वर्ग और संसार के लिए वह अग्नि ने भी कूदने को तैयार होता है। इस प्रकार रजोगुणी जीव देहधारी होने पर व्यापार रूपी साँकल अपने ही गलेमें बाँध लेता है। अब तमोगुण के लक्षण सुनो। (१७३)

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८

जिसका परदा पड़ जाने से मनुष्य की व्यावहारिक दृष्टि मन्द हो जाती है, जो मोह रूपी रात्रि में काले 'बादल की तरह की होती है, जो विश्व को अज्ञान से मत्त करके नचाती है, जो अविचार का महामन्त्र है, जो जीव को मोहित करने वाला मोहास्त्र ही है, हे पार्थ ! ऐसे लक्षण तमोगुण के होते हैं और जो लोग देह को ही आत्मा मानते हैं उनको वह वशीभूत कर लेता है। यह तमोगुण चर या अचर जिसके भीतर बढ़ने लगता है उसमें फिर किसी अन्यका प्रवेश नहीं होने देता। यह सब इन्द्रियों में जड़त्व लाता है और मनको मूढ़ बना देता है। इसके प्रवाह से आलस्य की उत्पत्ति होती है। ऐसा मनुष्य काम करना नहीं चाहता। तमोगुण से व्याप्त मनुष्य आँखे खुली रहने पर भी सामने

की चीज़ को देख नहीं सकता। कोई बड़ा पत्थर जिस प्रकार नीचे गिर कर एक तरफ से दूसरी तरफ नहीं लौटता उसी प्रकार ऐसा मनुष्य एक बार सो जाने पर करवट भी नहीं बदलता चाहे पृथ्वी पाताल को चली जाय और चाहे आकाश टूट पड़े, पर उसके मन में उठने की इच्छा ही नहीं होती। जब वह अच्छी तरह सो जाता है तो उसे सन्ध्या आदि नित्य कर्मों का भी ध्यान नहीं रहता। वह निद्रा को सर्वाधिक प्रेम करता है, उसके सम्मुख स्वर्ग-सुख को भी तुच्छ बतलाता है। "मुझे ब्रह्माजी के समान लम्बी आयु मिले और मैं सब समय सोता ही रहूँ" यही उसकी सबसे बड़ी अभिलाषा होती हैं। रास्ता चलते यदि कहीं पैर फिसल जाय, तो वहाँ भी उसे निद्रा आ सकती है। नींद के सामने वह अमृत को तुच्छ मानता है। अगर उसे कोई जबरदस्ती काम पर लगाता है तो वह क्रोध से भर जाता है। अन्धे मनुष्य के चलने की तरह उसका काम शिथिल और ज्ञानशून्य होता है, क्योंकि वह यह नहीं समझता कि किस समय कैसा व्यवहार करना चाहिए, किससे कैसे बोलना चाहिए, जिसके साथ लेन-देन करना है वह विश्वास पात्र है या धोखाधड़ी वाला, जैसे दावानल को जलता देखकर पतङ्गा के मन में उसे अपने पङ्खों से बुझा देने को इच्छा उत्पन्न हो, उसी प्रकार वह वेद वाह्य कार्यों में अग्रसर होने का उत्साह दिखाया करता है। इस प्रकार तमोगुण, निद्रा, आलस्य और प्रमाद इन तीन बन्धनों के रूप में जीव को जकड़ने वाला पाश होता है। जिस प्रकार अग्नि लकड़ी से संलग्न हो जाने पर उसी के आकार का दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार गुण पाशों में बँधा हुआ जीव उन गुणों के लक्षणों जैसा ही दिखाई देता है।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥९
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०

जिस प्रकार कफ और वात को दाबकर पित्त शरीर को सन्तप्त करता है, अथवा ग्रीष्म ऋतु तथा चौमासे के बीत जाने पर आकाश में सर्वत्र शीत व्याप्त हो जाता है, अथवा जागृत और स्वप्नावस्था के पश्चात् गाढ़ निद्रा के अवसर पर कुछ समय के लिये वैसी ही चित्तवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार जब रज और तम से सत्वगुण अधिक बढ़ता है तब उसके प्रभाव से जीव कहने लगता है कि "मैं सुखी हूँ।" इसी प्रकार जब सत्व और रज का लोप होकर तम की प्रबलता होती है, तो उस समय स्वभावतः प्रमाद ही होने लगता है। फिर जब रजोगुण बलवान हो जाता है तो देह के राजा जीवात्मा को कर्म के सिवाय और कोई बात दिखाई ही नहीं पड़ती। इस प्रकार तीन श्लोकों में तीन गुणों का निरूपण किया गया, अब सत्वादि गुणों की वृद्धि के लक्षणों को सुनो। (२०३)

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५

रज और तम—इन दो गुणों को जीतकर जब सत्वगुण की देह में वृद्धि होती है तब जिस प्रकार बसन्त ऋतु में कमलों की सुगन्ध चारों तरफ फैलती है, वैसे ही अन्तःकरण ज्ञान से लबालब भर जाता है और छलक कर बाहर निकलने लगता है। सब इन्द्रियों में विवेक उत्पन्न हो जाता है, मानो—हाथ पैरों में भी नेत्र उत्पन्न हो गये हों। कौन-सा

सत्कर्म है और कौन सा दुष्कर्म इस बात को इन्द्रियाँ स्वयं ही जान जाती हैं। जैसे राजहंस सहज में दूध और पानी को अलग कर देता है, उसी प्रकार इन्द्रियाँ स्वयम् ही बुरे और भले कार्य की परीक्षा कर लेती हैं। जो बातें सुनने योग्य नहीं होती उनको कान नहीं सुनते, न देखने योग्य वस्तुओं को नेत्र नहीं देखते, न बोलने योग्य बात को जीभ बोलती ही नहीं। जिस प्रकार अँधेरा दीपक के सामने नहीं आ सकता, उसी प्रकार निषिद्ध व्यवहार उसकी इन्द्रियों के पास नहीं आते। जैसे वर्षा ऋतु में नदी में बाढ़ आती है, वैसे ही उसकी वृद्धि में समस्त शास्त्रों का समावेश होने लगता है। पूर्णिमा की रात्रि को जिस प्रकार चाँदनी सर्वत्र फैल जाती है, वैसे ही उसकी वृत्ति समस्त ज्ञान में विकसित होती है। वासनाओं का लोप हो जाने से उसका मन प्रवृत्ति मार्ग की तरफ जाता ही नहीं और विषय उस को अरुचिकर लगते हैं, जब सत्वगुण केऐसे लक्षण प्रकट हो रहे हों, तब यदि मृत्यु हो जाय तो जैसे सुकाल प्राप्त होनें पर घरमें कोई पर्वोत्सव मानाया जाता हो और उसमें स्वर्ग से अपने पूर्वज अतिथि बनकर आ जाँय, अथवा घर में भरपूर सम्पत्ति हो और उदारतापूर्वक दान-पुण्य में उसको लगाया जाय तो उससे कीर्त्ति और स्वर्ग की प्राप्ति सुनिश्चित होती है। हे अर्जुन ! इसी प्रकार सतोगुणी आचरण वाले मनुष्य की परलोक गति सर्वोच्च होने में कभी सन्देह नहीं किया जा सकता। उसके भोग सम्बन्धी कर्म तो शरीर के साथ यहीं रह जाते हैं और वह शुद्ध सत्वगुण को लेकर ही चल देता है। ऐसा व्यक्ति देह त्याग के पश्चात् फिर ज्ञानियों में ही जन्म लेता है। अगर कोई राजा पहाड़ पर चला जाय तो क्या उसे वहाँ भी किसी बात की कमी रहती है इसी प्रकार सत्वगुण की वृद्धि होने से ज्ञानकी भी बढ़ती होती है। फिर वह अनात्म पदार्थों के विषय में विचार करके आत्म स्वरूप में निमग्न हो जाता है। पहले वर्णित छत्तीस तत्वों से पृथक् जो सैंतीसवाँ तत्व है अथवा चौबीस से पृथक पच्चीसवाँ तत्व है और तीन गुणों से भिन्न

चौथे तत्व (ब्रह्म) को जिन्होंने प्राप्त कर लिया है, उन्हीं के कुल में वह सतोगुणी व्यक्ति जन्म ग्रहण करता है। (२२५)

इसी प्रकार जब तमोगुण और सतोगुण को दबाकर रजोगुण बढ़ता है तो शरीर रूपी ग्राम में हलचल मचा देता है। आँधी जिस प्रकार सब वस्तुओं को इकट्ठी करके ऊपर उड़ाती है, उसी प्रकार सब इन्द्रियाँ विषयों की तरफ उन्मुक्त भाव से दौड़ पड़ती हैं। पर स्त्री से सम्पर्क उसे निषिद्ध कर्म नहीं जान पड़ता और बकरी जिस प्रकार चाहे जहाँ चरती है, उसी प्रकार वह मनमाने ढङ्ग से आचरण करता है। उसको इतना अधिक लोभ हो जाता है कि जो वस्तु उसकी घात में नहीं आती वही बचती है। हे अर्जुन ! ऐसे राजसिक पुरुष के सामने कोई भी कार्य आ जाय वह पीछे कदम नहीं हटाता जैसे कोई बढ़िया मन्दिर बनाना अथवा अश्वमेध करना, जैसे कठिन कामों में वह लगा रहता है। एकाध शहर बसाना, तालाब बनवाना, बाग-बगीचा लगवाना, ऐसे बड़े-बड़े कामों को ही वह हाथ में लेता है। इस प्रकार उसकी लोक-परलोक सम्बन्धी इच्छाओं में कमी नहीं पड़ती। उसकी आकांक्षायें इतनी प्रबल होती है कि समुद्र को भी उससे हार माननी पड़ती है। उसके मन की अपेक्षा उसकी इच्छा की दौड़ आगे रहती है और उसकी पूर्ति के लिए समस्त विश्व भी पूरा नहीं होता। रजोगुण के ऐसे ही लक्षण दिखाई दिया करते हैं और ऐसी स्थिति में देहावसान होने पर आगामी जन्म में भी वह ऐसे ही गुणों से युक्त मनुष्य बनता है। यदि कोई भिक्षुक सर्व-सुख सम्पन्न राजमहल में जा बैठे तो क्या वह राजा हो जायगा ? बैल चाहे किसी श्रीमान् की बारात में जाय तो उसे तो घास ही मिलेगी। इस प्रकार रजोगुण वाले को ऐसा ही समाज और वातावरण मिलेगा। जिसमें रात्रि दिन काम में जुटा रहा जाय और कभी विश्राम का नाम भी न मिले। (२४२)

जब रज और सत्व को नष्ट प्राय: करके तमोगुण की वृद्धि हो तब उसका मुख्य लक्षण अज्ञान का घटाटोप होता है। जैसे चन्द्र

और सूर्य दोनों से रहित अमावस्या की रात को सर्वत्र कालिमा ही छा जाती है उसी प्रकार मनुष्य का हृदय अज्ञान में इतना अधिक आसक्त हो जाता है कि उसमें विचार, विवेक का तो नाम ही नहीं रहता। बुद्धि ऐसी जड़ हो जाती है कि उसकी तुलना में पत्थर को भी कुछ समझ मानी जा सकती है। स्मरण शक्ति को देश निकाला ही मिल जाता है। उसके शरीर में बाहर भीतर अविचार ही भरा दिखाई पड़ता है और सब कार्य मूर्खतापूर्ण होते हैं। उसकी इन्द्रियों के सम्मुख अनाचार ही उपस्थित रहता है और मरते हुए भी वह उसी में लगा रहता है। जैसे घुग्घू अँधेरी रात में स्पष्ट देख सकता है उसी प्रकार दुष्ट कर्मों में वह सबसे अग्रसर रहता है। उसे निषिद्ध कर्मों की अभिलाषा होती है और उसकी इन्द्रियाँ भी उसी ओर प्रवृत्त होती है। वह मद्य न पीने पर भी उन्मत्त बना रहता है, सन्निपात न होने पर भी बड़बड़ाता है और प्रेम बिना ही पागल जैसा बना रहता है। उसका चित्त कभी ठिकाने नहीं रहता पर वह समाधि अवस्था नहीं होती, वरन् मोह के प्रभाव से ज्ञान शून्यता ही होती है। ऐसा व्यक्ति मरने के बाद भी तमोगुण के साथ ही जन्म लेता है। राई को बोने के बाद चाहे वह अपना रूप छोड़ दे पर उससे पैदा तो राई ही होगी। इसी प्रकार अग्नि से दिया जलाने के पश्चात् अग्नि बुझा दी जाये तो भी दीपक की लौ के रूप में तो वह कायम ही रहती है और चाहे जब सबको अग्निमय करती है। इसी प्रकार जिसने तमोगुण की गठरी बाँधकर इस संसार को छोड़ा है, वह फिर तमोगुण में ही जन्म लेगा। ऐसा व्यक्ति प्रायः पशु, पक्षी, वृक्ष अथवा कीड़े के रूप में ही जन्म ग्रहण करता है। (२५९)

कर्मणः सुकृतस्थाहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६

इसलिये जो वस्तुएँ सत्वगुण से उत्पन्न होती हैं उनको श्रुति ने 'सुकृत' कहा है। अर्थात् सतोगुण से स्वभावतः सुख और निर्मल

ज्ञान की प्राप्ति होती है। रजोगुण के कार्य इन्द्रायण की तरह बाहर से सुन्दर पर परिणाम में कवडे सिद्ध होते हैं अथवा नीम की निबौरी जैसे देखने में अच्छी-अच्छी लगती है पर स्वाद में खराब रहती है, वैसे ही रजोगुण के फल अनिष्टकारक ही होते हैं। वह सदैव विष की वेल की तरह अज्ञान रूपी फल ही उत्पन्न करता है। (२६४)

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७

इसलिए हे अर्जुन ! जिस प्रकार दिन का कारण सूर्य है वैसे ही ज्ञान का कारण सत्वगुण ही होता है। और जिस प्रकार आत्मस्वरूप को भूल जाने से द्वैत-भाव उत्पन्न होता है वैसे ही रजोगुण लोभ का उत्पत्ति कर्ता है। हे ज्ञानी अर्जुन ! मोह, अज्ञान, प्रमाद का कारण तमोगुण होता है। अब मैंने हथेली पर आँवले की तरह तीनों गुणों को स्पष्ट रूप से अलग-अलग समझा दिया। रज और तम को नरक का साधन माना गया है और सत्य के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए जिस प्रकार ज्ञानी जन अन्य सब भक्ति मार्गों को छोड़कर चौथी भक्ति (संन्यास) को स्वीकार करते हैं, वैसे ही अनेक मनुष्य आजन्म सात्विक व्रत का ही आचरण किया करते हैं।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८

इस प्रकार जो सदैव सात्विक वृत्ति का आचरण करते हैं वे देह त्याग करने पर स्वर्ग में निवास करते हैं। जो राजसिक आचरण करते हुये संसार को त्यागते है वे मनुष्य लोक में ही जन्म लेते हैं जहाँ सुख-दुःख की खिचड़ी एक ही थाली (शरीर) में खानी पड़ती है और मृत्युसे कभी छुटकारा नहीं मिल सकता। तमोगुण वाले मरने के पश्चात् नरक का परवाना पाते है। अर्जुन इस प्रकार तुझे तीनों गुणों का वर्णन सुना दिया। परन्तु इनसे वस्तु के रूप में परिवर्तन नहीं होता। हम

राजा हो गये हैं और हम पर किसी शत्रु ने चढ़ाई कर दी है, ऐसा स्वप्न देखने वाला मनुष्य अपनी जय-पराजय अपने मन में ही समझता रहता है। इसी प्रकार स्वर्ग मृत्यु-लोक तथा नरक का अनुभव तीनों गुणों के वृत्ति भेद के कारण ही जान पड़ता है, अन्यथा सर्वत्र एक मात्र ब्रह्म ही व्याप्त हैं। (२६९)

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।।१९

परन्तु अब इस बात को रहने दो। केवल इतना ही समझ लो कि इस जगत् में ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि ब्रह्म की सत्ता से ये तीनों गुण देह के निमित्त से उत्पन्न होते हैं। लकड़ी जलाने से जैसे अग्नि उसी आकार का दिखाई देता है, अथवा भूमि और जल का रस जिस प्रकार वृक्ष के रूप में दृष्टिगोचर होता है, जैसे दूध जमकर दही दिखाई पड़ता है, अथवा ईख से खाँड़ प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार अन्तःकरण सहित सूक्ष्म देह ही तीनों गुण बन जाती है। यही जीव के बन्धन का कारण है पर हे अर्जुन ! कैसा आश्चर्य है कि सूक्ष्म देह तथा गुण परस्पर में इतने मिले-जुले होते हैं, तो भी ज्ञानियों को मोक्ष प्राप्ति में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। तीनों गुण देह को जन्म-मृत्यु के चक्र में डाल देते हैं पर इससे ज्ञानियों के गुणातीत होने में कुछ कमी नहीं आती। इस प्रकार मुक्ति किस तरह प्राप्त हो जाती है, वह तुझको सुनाता हूँ क्योंकि तू ज्ञानरूपी कमल का भ्रमर है। (२९७)

चैतन्य का रूप गुणों से भिन्न होता है और वह उनसे अलिप्त रहता है। इसलिए जब ज्ञान होता है तो यह समझ में आ जाता है कि चैतन्य की सत्ता गुणों से पृथक् है। जिस प्रकार निद्रा भङ्ग हो जाने पर स्वप्न का पता लग जाता है, अथवा जल में अपनी परछाई देख कर मनुष्य उसकी असारता को जान लेता है अथवा अभिनय कर्त्ता स्त्री का वेष धारण करने पर भी स्त्री के गुणों

में नहीं फँसता, उसी प्रकार अपने स्वरूप में सत्य बुद्धि रखकर ही गुणों को साक्षी रूप में देखना चाहिये। जिस प्रकार आकाश में तीनों ऋतुयें आती जाती हैं, पर वह उनसे अलिप्त रहता है, उसी प्रकार गुणों में व्यवहार करते हुए जो आत्म स्वरूप का ध्यान रखता है, उसका मूल स्वरूप विषयक अहंकार स्थित रहता है। उसी स्थान से वह उपभोग तथा निरीक्षण करते हुए कहता हैं कि मैं कर्मों का कर्त्ता हूँ, केवल साक्षी भूत हूँ, इन सब क्रियाओं के करने वाले तो ये तीनों गुण-सत्व रज, तम ही हैं। जिस प्रकार वन की शोभा का कारण बसन्त होता है, पर वह उनसे अलग ही रहता है, उसी प्रकार सब कर्मों को करते हुए भी मैं पृथक् ही हूँ। जैसे सूर्योदय होने पर तारा गण छुप जाते हैं, सूर्यकांत मणि अग्नि उत्पन्न करने लगती है, कमल खिल जाते हैं, अन्धकार का नाश होता है—ये सब घटनायें होती हैं, पर सूर्य तो उनकी तरफ देखता भी नहीं। उसी प्रकार मेरी ही सत्ता से सब कर्म होते हैं, तो भी मैं उनका कर्त्ता नहीं हूँ। मेरी ही सत्ता से गुण प्रकाशित होते हैं, उनकी वृद्धि होती है, पर उनके नष्ट हो जाने पर जो कुछ शेष रहता है, वही मैं हूँ। जिस किसी के हृदय में इस प्रकार का ज्ञान उदय हो जाता है वही गुणातीत है। (२९९)

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।।२०

ऐसा गुणातीत फिर निर्गुण ब्रह्म को निश्चय जान लेता है। हे अर्जुन ! जैसे नदी समुद्र बन जाती है, वैसे ही वह मेरे भाव को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार तोता नली से उड़कर पेड़ पर बैठ जाता है तो समझ लेता है कि मैं बन्धन मुक्त हो गया, उसी प्रकार गुणातीत "अहं ब्रह्मास्मि" के मर्म को जान जाता है। हे ज्ञानी अर्जुन ! जो अज्ञान रूपी निद्रा में खर्राटे ले रहा था वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होते ही जाग्रत हो जाता है। जब दुःख-सुख रूपी दर्पण उसके हाथ से गिर जाता है तो वह सुख-दुःख के प्रतिबिम्ब से मुक्त हो जाता है। फिर

जब देहाभिमान रूपी पवन का चलना बन्द हो जाता है, तो जीव तथा ईशरूपी तरंग आत्मरूपी महासागर में जाकर मिल जाती हैं। जैसे वर्षा ऋतु के बीत जाने पर आकाश में उत्पन्न होने वाले बादल आकाश में ही लीन हो जाते हैं, मेह नहीं बरसाते, वैसे ही जो मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, वह देह में रहते हुए भी गुणों में लिप्त नहीं होता। जिस प्रकार कांच के महल में रखे दीपक का प्रकाश रोका नहीं जा सकता अथवा बड़वानल जैसे समुद्र के पानी से बुझ नहीं सकता, वैसे ही गुणों के आवागमन से उसका ज्ञान मलिन नहीं होता। आकाशस्थ चन्द्रमा की छाया चाहे पानी में पड़े पर तो भी वह पृथक् ही रहता है, उसी प्रकार देह में रहने पर भी वह बन्धन ग्रस्त नहीं होता। यद्यपि उसकी देह में तीनों गुण मौजूद रहते हैं, जो चाहे जैसा नीचे पर वह उनकी तरफ देखता भी नहीं। वह आत्मरूप में इतना सुदृढ़ होता है कि शरीर के धर्म को जानता ही नहीं। जैसे साँप जब केंचुली को त्यागर बिल में घुसता है तो यह चिन्ता नहीं करता कि "मेरी केंचुली का क्या होगा ?" उसी प्रकार गुणातीत अपने शरीर के विषय में निश्चिंत रहता है। कमल के विकसित होने पर जब उसकी सुगन्ध आकाश में उड़ जाती है तो वह पुनः कमल में वापस नहीं आती उसी प्रकार जब ज्ञान आत्म स्वरूप में मिल जाता है तो इस लोक के धर्माचरणों को त्याग देता है। अर्थात् जरा-जन्म-मरण आदि षड्गुणों का सम्बन्ध केवल देह से होता है, पर आत्म स्वरूप वाले ज्ञानी का उनसे कुछ सम्बन्ध नहीं रहता। घड़ा फूटने पर जैसे घटाकाश महदाकाश में मिल जाता है, उसी प्रकार जब देह बुद्धि का लोप होने पर आत्म स्वरूप का परिचय हो जाय तब उसके अतिरिक्त और किसी अवस्था की स्मृति कहाँ रह सकती है ? ऐसा श्रेष्ठ ज्ञान वाला पुरुष चाहे देहधारी हो तो भी वह गुणातीत है। मेघ की गर्जना सुनकर जिस प्रकार मोर को आनन्द होता है, वैसे ही श्रीकृष्ण के इस भाषण को सुनकर पार्थ आनन्दित हुआ। (३१०)

अर्जुन उवाच–

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ।।२१

यह सुनकर अर्जुन हर्षयुक्त अन्तःकरण से बोला कि जिसके हृदय में ऐसा बोध हो गया है, उसके लक्षण कैसे होते हैं ? ये गुणातीत व्यक्ति किस तरह का व्यवहार करते हैं और गुणों का निवारण किस प्रकार करते हैं ? हे देव ! कृपालु ! यह विषय स्पष्ट समझाइये । भगवान कृष्ण बोले—हे अर्जुन ! तुम्हारा प्रश्न सुनकर आश्चर्य होता है । जब हमने उसको 'गुणातीत' कह दिया तो फिर उसके सम्बन्ध में गुणों की चर्चा करना ही व्यर्थ है वह चाहे गुणों का व्यवहार करता दिखाई दे पर वह कभी उनके अधीन नहीं होता । अगर यह बात तुम्हारी समझ में नहीं आती तो मैं उसे और अच्छी तरह समझाये देता हूँ । (३२६)

श्री भगवानुवाच–

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ।।२२

यदि रजोगुण की प्रबलता होने से कर्मों में प्रवृत्ति हो और सफलता मिले तो 'गुणातीत' व्यक्ति को यह अभिमान नहीं होता कि मैं कर्म करने वाला हूँ' और असफलता होने पर किसी प्रकार का खेद नहीं होता । इसी प्रकार सतोगुण की प्रबलता से सब इन्द्रियों में ज्ञान प्रकाशित होता है तब वह प्रसन्नता से फूल नहीं जाता है । तमोगुण की वृद्धि से वह मोह और भ्रम में डूबता नहीं । वह न अज्ञान के कारण खेद करता है और न मोह होने पर ज्ञान के लिए चिन्तित होता है । ऐसे ही ज्ञानवान होने पर भी वह कर्म का आदर नहीं करता पर जो कर्म हो चुके हैं उनके लिए दुःखी भी नहीं होता । जिस प्रकार प्रातःकाल, मध्याह्न तथा सायंकाल की गिनती सूर्य नहीं करता वैसे ही गुणातीत

पुरुष गुणों के परिणाम को ध्यान नहीं देता । क्या ऐसे ज्ञानी पुरुष को किसी अन्य से ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा होती है । क्या समुद्र वर्षा के पानी से भरता हैं ? क्या हिमालय को ठण्ड से भय लग सकता है ? ऐसे ज्ञानी को मोह उत्पन्न हो तो क्या उससे उसका ज्ञान नष्ट हो सकता है ? ग्रीष्म काल क्या अग्नि को जला सकता है ? (३३५)

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव्र योऽवतिष्ठति नेङ्गते ।।२३

इस प्रकार जब वह यह समझ लेता है कि गुण और उनसे उत्पन्न शरीरादि हमसे भिन्न कोई चीज नहीं है तो उनके रहने अथवा चले जाने से किसी तरह का सुख-दु ख नहीं होता । जिस प्रकार कोई यात्री चलते-चलते किसी जगह ठहर जाय, उसी प्रकार उदासीन वृत्ति से वह शरीर में रहता है । जिस प्रकार दो लड़ने वाले पक्षों में किसी की हार जीत हो, रणभूमि को उससे हर्ष या शोक नहीं होता, उसी प्रकार वह गुणों के वशीभूत होकर कोई कर्म नहीं करता । वह अतिथि को परोसे गये भोजन की तरह किसी खाद्य पदार्थ का स्वाद नहीं देखता, अथवा सार्वजनिक बाजार के चबूतरे पर चाहे जो बैठें, उसकी तरफ से उदासीन ही रहता है, अधिक क्या कहें, जिस प्रकार वायु आकाश में सदा चलती है, पर उसके आघात से आकाश कभी चलायमान नहीं होता, अथवा जिस प्रकार अन्धकार कभी सूर्य को निगल नहीं सकता इसी प्रकार गुण-विचार ज्ञानी को कभी स्थ नच्युत नहीं कर सकते । वह कभी गुणों की तरफ आकर्षित नहीं होता परन्तु दूर से गुणों के खेल को देखता रहता हैं । उस समय गुण पुतलियों की तरह होते हैं और ज्ञानी दर्शक की तरह देखता रहता है । फिर चाहे सत्वगुण सत्कर्मों का आचरण करे, अथवा रजोगुण विषयों की कामना करे, या तमोगुण मोह-अज्ञान के कुँए में पड़े, उससे उसको कुछ कठिनाई नहीं होती । जो यह समझ लेता है कि इन सब गुणों की क्रियायें मेरी

ही सत्ता से हो रही है, वह सूर्य की तरह समस्त लोक व्यवहारों का साक्षी होने पर भी अलिप्त बना रहता है। चन्द्रमा के प्रभाव से समुद्र में ज्वार भाटा आता है, चन्द्रकान्त मणि को पसीना आता है और कुमुदिनी खिलती है। ये सब क्रियायें चन्द्रमा के प्रभाव से होती हैं, पर चन्द्रमा इन सब क्रियाओं से उदासीन ही बना रहता है। उसी प्रकार गुण चाहे जितनी उछल कूद मचायें पर गुणातीत की बुद्धि उनमें नहीं फँसती। हे अर्जुन! इस प्रकार तुझे गुणातीत के लक्षण सुना दिये, अब उनके आचरण कैसे होते हैं, यह सुनाता हूँ। (३४८)

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४

हे अर्जुन! जिस प्रकार वस्त्र के भीतर और बाहर सूत के सिवाय अन्य कुछ नहीं होता, उसी प्रकार मेरे स्वरूप को प्राप्त होने वाले को चराचर में उसके अतिरिक्त कुछ नहीं दिखाई देता। अर्थात् जिस प्रकार ईश्वर अपने भक्त और शत्रुओं को एक ही मुक्ति प्रदान करते हैं, उसी प्रकार दुःख और सुख में उनके मन का सन्तुलन जैसे का तैसा रहता है। जब तक देह रूपी जाल में मन रूपी मछली रमण करती है तब तक जो उसे स्वभावतया दुःख-सुख होते ही हैं। पर जिस प्रकार अन्न का परिपाक होने पर भूसा अलग करके उसे निकाल दिया जाता है, अथवा समुद्र में मिलने के पश्चात् गङ्गा का खलबलाना बन्द हो जाता है, उसी प्रकार जो आत्म स्वरूप में लीन हो चुका है उसको सुख-दुःख से कोई बाधा नहीं पड़ती। जैसे घर के खम्भे को दिन-रात समान होते है वैसे ही आत्मलीन को सुख-दुःख समान होते हैं। जिस प्रकार सोते हुए मनुष्य के एक ओर सर्प और दूसरी ओर उर्वशी अप्सरा हो तो भी उसके लिए दोनों समान हैं, वही हाल आत्म स्वरूप में लीन का होता है। उसके लिये सोना और मिट्टी एक जैसे हैं, रत्न और पत्थर में भी कोई अन्तर नहीं होता। चाहे उसे स्वर्ग-सुख प्राप्त हो और चाहे सिंह आक्रमण करे।

उसकी आत्मस्वरूप में स्थित बुद्धि भङ्ग नहीं होती। जैसे मृत

मनुष्य जीवित नहीं होता और भुना हुआ अन्न उग नहीं सकता, वैसे ही उसकी समबुद्धि में किसी प्रकार अन्तर नहीं पड़ता। अगर कोई उससे कहे, 'आप तो साक्षात् ब्रह्म ही हो' और दूसरा कहे 'तुम बड़े नीच हो' तो ऐसी स्तुति या निन्दा से उनको हर्ष या कोप उत्पन्न नहीं होता। सूर्य के घर में अन्धकार अथवा दीपक की कल्पना करना ही व्यर्थ है क्योंकि वह तो सर्वत्र स्वयं प्रकाशित होता है। (३६१)

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।।२५

चाहे ईश्वर समझकर उसकी पूजा की जाय अथवा चोर कहकर उसे दुःख दिया जाय, अथवा हाथी, घोड़ा, रथ से युक्त उसे राजा बना दिया जाय, उसके पास इष्ट-मित्र आकर बैठें अथवा शत्रु उसे घेरलें, तो भी प्रत्येक स्थिति एक-सी जान पड़ती है। जैसे सूर्य को रात्रि दिवस की जानकारी नहीं होती, अथवा जैसे आकाश विभिन्न ऋतुओं के आने-जाने से अलिप्त रहता है, वैसे ही उसकी बुद्धि में विषमत्ता का अंश ही नहीं होता। फिर उसका एक चमत्कार और देखो! वह व्यवहार करता रहता है। पर उससे किसी क्रिया का आरम्भ नहीं होता न वह कर्म-फल का भागीदार बनता है। उसके मन में इहलोक और परलोक के विषय में विचार भी नहीं आता, वरन् जो कुछ स्वभावतः मिल जाता है उसी का सेवन करता है। जिस प्रकार पत्थर न सुखी होता है और न दुःखी, उसी प्रकार वह अन्तःकरण से सुख-दुःख के विचार को ही त्याग देता है। मैं तुझसे कहाँ तक कहूँ? ऐसे आचरण वाले को ही गुणातीत समझ लो। अब मैं वह उपाय बतलाता हूँ जिससे गुण और धर्मों से पार जाया जा सकता है। (३७०)

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।२६

जो अभेद बुद्धि से मेरी भक्ति करता है वह इन गुणों को पारकर

सकता है। इसलिए मैं कौन हूँ, मेरी भक्ति कैसे करनी, अव्यभिचारी भक्ति कैसी होती है ? इन सब बातों को तुझे स्पष्ट रूप से समझाता हूँ। हे अर्जुन ! जिस प्रकार रत्न और उसकी चमक एक ही है, उसी प्रकार मैं और जगत् एक ही हैं। अथवा द्रवत्व और जल, आकाशत्व(पोल) और आकाश, मिष्ठता और खांड जिस प्रकार भिन्न नहीं होते वरन् एक ही होते हैं, वैसे ही मैं और संसार एक ही हैं। जिस प्रकार जमाया हुआ दूध दही कहा जाता है, उसी प्रकार 'विश्व' के नाम से मैं ही प्रकट हुआ हूँ। जैसे चाँदनी को चन्द्रमा से अलग नहीं किया जा सकता, घी जम जाय तो भी घी हीं कहा जाता है कङ्कणको गलाया न जाय तो भी वह सोना ही है वस्त्र को फाड़ा न जाय तो भी वह सूत ही है, घड़े को तोड़ा न जाय तो भी वह मिट्टी ही है, उसी प्रकार मैं ऐसा नहीं हूँ कि जिसे जगत् से अलग करके ही देखा जा सके। वरन् इस संसार में जितने रूप दिखाई पड़ रहे हैं, वह सब मैं ही हूँ, ऐसी ऐक्य बुद्धि रखकर व्यवहार करना ही अव्यभिचारिणी भक्ति कही जाती है। और मुझमें तथा इस विश्व में किंचित् मात्र भी भेद माना जाय तो वह व्यभिचारिणी भक्ति हो जाती है। इसलिए कुछ भी भेद न मानते हुए निष्ठापूर्वक यह समझ लो कि तू, मैं और यह समस्त जगत् एक ही है। हे पार्थ सुवर्ण के आभूषण का कुन्दा भी सोने का ही होता है, उसी प्रकार हम विश्व से भिन्न हैं, ऐसा तू कभी मत मानना। किरणें सूर्य से उत्पन्न होती हैं और उससे कदापि भिन्न नहीं हो सकती उसी तरह तू मेरे और विश्व के बीच ऐक्यभाव को समझ ले।

जैसे पृथ्वी की धूल के कण भूमि से अलग नहीं होते, वैसे ही यह समस्त विश्व मेरा ही रूप है। लहर चाहे छोटी हो, पर वह समुद्र से अलग नहीं है, उसी प्रकार जो यह विश्वास रखता है कि मैं ईश्वर से भिन्न नहीं, ऐसे दृष्टिकोण को ही मैं भक्ति कहता हूँ, यही योग का सार है। जिस प्रकार समुद्र और बादल अखण्ड वर्षा द्वारा एक हो रहे हों, वैसे ही भक्ति और भजन की त्रिपुटी परमात्मा रूप ही है। जिस

प्रकार सूर्य की प्रभा जल में पड़े प्रतिबिम्ब से सूर्य तक एक ही समान विस्तृत रहती है उसी प्रकार 'अहं ब्रह्म' की भावना उत्पन्न हो जाने परब्रह्म और विश्व में कोई भेद नहीं जान पड़ता। जब ऐसी वृत्ति मन में उत्पन्न हो जाती है तो वह आप ही ब्रह्म में लय हो जाता है। हे अर्जुन ! जिस प्रकार नमक का टुकड़ा समुद्र में मिल जाने पर उसका गलना बन्द हो जाता है अथवा घास को जला देने पर अग्नि स्वयं भी बुझ जाती है, उसी प्रकार जिस ज्ञान के द्वारा हमारा ब्रह्म के साथ योग होता है, वह ज्ञान भी अन्त में लोप हो जाता है। उस समय ईश्वर बहुत महान् है और भक्त (मनुष्य) बहुत छोटा है, यह अज्ञान नष्ट हो जाता है और भगवान् तथा भक्त का स्वाभाविक ऐक्य ही अवशिष्ट रहता है। हे किरीटी ! उस समय 'ऐक्य' है यह कह सकना भी सम्भव नहीं होता, और 'हमने गुणों को जीत लिया है' यह भी नहीं कहा जा सकता। अधिक क्या कहूँ इस दशा को ही ब्रह्मत्व कहा जा सकता है। ऐसे लक्षणों से युक्त इस जगत् में जो मेरा भक्त होता है उसी के गले में प्रकृति 'ब्रह्मत्व' की जयमाला डाल देती है। जिस प्रकार गङ्गा का पानी बहता चला जाय तो समुद्र में मिले बिना उसकी अन्य गति ही नहीं है, उसी प्रकार हे अर्जुन ! जो ज्ञान दृष्टि से मेरी भक्ति करता है वह ब्रह्मत्व के मुकुट का मणि बन ही जाता है। यह ब्रह्मत्व ही सायुज्य मुक्ति कहा जाता है और यही चौथा पुरुषार्थ (मोक्ष) है। मेरी आराधना इस ब्रह्मत्व को प्राप्त करने की निसैनी है। पर कभी यह मत समझ लेना कि मैं मोक्ष प्राप्त करने का साधन हूँ क्योंकि ब्रह्मत्व मेरे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। (४०३)

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।।२७

हे पाण्डव ! जिसको ब्रह्म कहा जाता है, वह मैं ही हूँ। इस

शब्द से मेरा ही वर्णन किया जाता है जिस प्रकार चन्द्रमा और उसका मण्डल दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं, उसी प्रकार हे मर्मज्ञ अर्जुन ! मुझमें और ब्रह्म में भेद नहीं है। वह नित्य, निश्चल अनावृत, धर्म रूप, अपार सौख्यदायक और अद्वितीय है। अज्ञान का नाश करके ज्ञान जिस स्वरूप में लय होता है, वह सिद्धान्त पूर्वक निश्चय किया गया अन्तिम स्वरूप मैं ही हूँ। भगवान् श्रीकृष्ण ने महावीर अर्जुन से इस प्रकार कहा। यह सुनकर धृतराष्ट्र कहने लगा कि—'सञ्जय ! यह बात तुझसे किसने पूछी थी ? बिना मतलब की व्यर्थ बात क्यों करता है ? मेरे पुत्रों की विजय की बात बताकर मेरी चिन्ता का निवारण कर।' तब संजय मन में कहने लगा —"अब विजय की बात को तो छोड़ ही दो " पर धृतराष्ट्र को तो युद्ध की ही लगन है, यह दैवकी विचित्र गति ही है। अब भगवान् कृपा करके इसको विवेक रूपी औषधि देकर इसके महा मोहरूपी रोग को दूर करें। संजय मनमें ऐसा विचारता था कि उसका ध्यान फिर श्रीकृष्ण-अर्जुन के सम्वाद की तरफ गया, जिससे उसके हृदय में हर्ष की तरङ्ग उठने लगी। अब उसी हर्ष में वह श्रीकृष्ण के कथन का वर्णन करेगा। निवृत्ति दास ज्ञानदेव कहने लगे, उस वर्णन का भाव मैं आपके हृदय में पहुँचाता हूँ, सुनिये। (४१५)

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां
चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

॥ अथ पंचदशोऽध्यायः ॥

श्री ज्ञानेश्वर कहते हैं कि अब मैं अपनी हृदय रूपी चौकी को उत्तम रीति से स्वच्छ करके उस पर श्री गुरुदेव की पादुकाओं को स्थापित करता हूँ। उस पर निष्ठापूर्वक पुष्पांजलि चढ़ाता हूँ। अनन्य भाव रूपी जल से स्नान कराके वासना रूपी चन्दन लगाता हूँ। प्रेम रूपी शुद्ध अवर्ण के नूपुर बनाकर गुर के पैर में पहनाता हूँ, एक-निष्ठ भक्ति के छल्ले बनाकर पैर के अँगूठों में पहनाता हूँ। अष्ट भाव रूपी विकसित पंखुड़ियों का सात्विक भाव रूपी कमल आनन्द रूपी सुगन्ध सहित उनके चरणों पर चढ़ाता हूँ, वहाँ पर अहंकार की धूप जलाता हूँ, निरभिमानता का दीपक प्रकाशित करता हूँ और ऐक्य भाव से मिलन करता हूँ। अपने शरीर और प्राण की पादुका बनाकर श्री गुरु चरणों में पहिनता हूँ और उन पर भोग और मोक्ष दोनों को निछावर कर देता हूँ। गुरु चरण की सेवा से मुझे तीनों पुरुषार्थों सहित मोक्ष की प्राप्ति होगी। उसके प्रताप से उपासक की ब्रह्मस्वरूप में स्थिति होती है और मुख में से अमृत तुल्य शब्द निकलते हैं। अधिक क्या कहें, उसके भाषण में ऐसी मधुरता आ जाती है कि पूर्णिमा के करोड़ों चन्द्रमाओं को उस पर निछावर करदें। सूर्योदय होने पर जिस प्रकार सब दिशाओं में प्रकाश फैल जाता है उसी प्रकार उसके मुख से निकलने वाले शब्दों से श्रोताओं को ज्ञान की दीपावली जान पड़ने लगती है। उसके सम्मुख नादब्रह्म भी नीरस हो जाता है। बसन्त ऋतु में जिस प्रकार चारों तरफ वृक्षों में नव पल्लव दिखलाई पड़ते हैं, उसी प्रकार श्रवण सुख रूपी मण्डल में वाणी रूपी बेल सब ओर प्रसारित हो रही है। मैं किन-किन चमत्कारों का बर्णन करूँ। जिस परमात्मा का अन्त न मिलने से वाणी मन के साथ लौटकर चली आती है, अर्थात् जिसका

वर्णन नहीं किया जा सकता, वह परमात्मा भी गुरु चरणों के उपासक के मुख से निकले अक्षरों को सुनकर नाचने लगता है। ज्ञान जिसे जान नहीं सकता और ध्यान द्वारा जिसे प्राप्त नहीं किया जा सकता, वह अगोचर परमात्मा भी गुरु उपासक की वाणी के प्रवाह में सहज ही आ जाता है। यह सौभाग्य केवल गुरुपद कमल-पराग की प्राप्ति से ही मिल सकता है।

श्री ज्ञानेश्वर महाराज गद्गद् होकर कहते हैं व्यर्थ बोलने से क्या लाभ? ऐसा सौभाग्य आज मेरे अतिरिक्त और किसी को नहीं है। क्योंकि मैं अपने गुरु का एक मात्र छोटा बालक हूँ, इसलिए उनकी सब कृपा मुझ को ही प्राप्त हुई है। मेघ जैसे चातक के लिए पानी बरसाता है (और उससे समस्त जगत् का कल्याण भी होता है) इसी प्रकार मूल ने मेरे ऊपर कृपा की तो मैं जो वृथा बक-बक करता था, उसी में से गीता सम्बन्धी मधुर भाषण का लाभ हो गया। पर इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। जब भाग्य अनुकूल होता है तो धूल भी रत्न बन जाती है, और आयुष्य सबल हो तो मृत्यु भी दूर हट जाती है। यदि जगन्नाथ की कृपा हो तो उबलते अदहन में कंकड़ डालने पर भी अमृत तुल्य भात बन जाता है। इसी प्रकार श्रीगुरुदेव जिसको स्वीकार करते हैं तो उसके लिए दुःख रूप संसार भी आनन्ददायक बन जाता है। देखो, पांडवों की हीनता की कथा को भगवान् ने किस प्रकार श्रेष्ठ पुराण की पदवी दे दी। उसी प्रकार श्री गुरु निवृत्ति महाराज ने मेरे अज्ञान को ज्ञान की पंक्ति में लाकर बैठा दिया। परन्तु इस बात को अब यहीं समाप्त कर देना चाहिये क्योंकि ऐसे भाषण से केवल प्रेम की ही अधिकाधिक वृद्धि होती है। पर श्री गुरु का माहात्म्य वर्णन किया जा सके इतना ज्ञान मुझमें है ही कहाँ? इसलिए अब श्री गुरु के प्रसाद से और आप सन्तों के आश्रय से गीता का अर्थ कहने में प्रवृत्त होता हूँ। (२८)

चौदहवें अध्याय के अन्त में भगवान कृष्ण ने ऐसा निर्णय कि । है कि जिसको ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हुई हो वही मोक्ष को पाता है। सौ यज्ञ करने वाला हो इन्द्र पद को प्राप्त करता है, जो ब्रह्म कर्म में सौ जन्म बिताता है वही ब्रह्मा बन सकता है, अथवा जिसके नेत्र हों वही सूर्य के प्रकाश से लाभ उठा सकता है। इसी प्रकार जो ज्ञानी आत्म-दर्शन करले वही मोक्ष-सुख प्राप्त कर सकता है। अब इस ज्ञान को प्राप्त करने की योग्यता किसमें है इस बात पर विचार करने से जान पड़ता है कि ऐसी योग्यता केवल एक ही व्यक्ति मे होती है। जिस प्रकार अंजन लगाने से भूमि में गढ़ा खजाना दिखाई पड़ सकता है, पर आंजने वाला उल्टा जन्म लेने वाला होना चाहिए। इसी प्रकार ज्ञान द्वारा मोक्ष मिलती है। इसमें सन्देह नहीं, पर उसके लिए अन्तःकरण पूर्णतः शुद्ध होना चाहिए, जिसमें ज्ञान स्थिर रह सके। इस सम्बन्ध में भगवान् ने बतलाया कि बिना वैराग्य के ज्ञान टिक नहीं सकता। वैराग्य कैसे हो इसका दृष्टांत देते हुए भगवान ने कहा कि यदि किसी भोजन के लिए बैठे मनुष्य को मालूम हो कि मेरी थाली में विष मिलाया गया है तो वह खाना छोड़-कर तुरन्त उठ खड़ा होगा। उसको भोजन के प्रति वैराग्य हो ज ता है। इसी प्रकार जब यह निश्चय हो जाता है कि सब संसार अनित्य है तो वैराग्य स्वयमेव हमारे पीछे दौड़ने लगता है। अब पन्द्रहवें अध्याय में भगवान ने एक पेड़ का दृष्टान्त देकर बताया है कि यदि हम किसी पेड़ को उख ड़ लें तो वह जल्दी ही सूख जायगा। पर संसार रूपी वृक्ष ऐसा है, इसलिए इसका कोई वर्णन नहीं कर सकता। सामान्य वृक्ष की जड़ को कुल्हाड़ी से काटा जाय अथवा उसमें आग लगा दी जाय तो ऊपर उसका विस्तार चाहे जितना हो वह शाखाओं सहित भूमि पर गिर जायगा। पर संसार-वृक्ष की ऐसी दशा नहीं होती। इसकी जड़ ऊपर है और विस्तार नीचे है। जिस प्रकार सूर्य की ऊँचाई कितनी है इसकी कल्पना नहीं की जा सकती, वैसा ही

विलक्षण यह संसार-वृक्ष है। संसार में जितनी वस्तुयें है वे सब इसी के अन्तर्गत हैं। जिस प्रकार कल्पान्त में आकाश जल से व्याप्त हो जाता है, अथवा सूर्यास्त के पश्चात् जिस प्रकार रात्रि अन्धकार पूर्ण हो जाती है, उसी प्रकार यह वृक्ष समस्त आकाश में 'व्याप्त' है। इसका स्वाद जानना चाहें तो इसमें कोई फल नहीं है, और सूँघना चाहें तो फूल नहीं है। जो कुछ है यह वृक्ष स्वयम् ही है। इसकी जड़ ऊपर है पर तो भी इसे उखाड़ा नहीं गया है। इसी कारण से यह सदैव हरा रहता है। यह कहा है कि इसकी जड़ ऊपर है तो भी नीचे की तरफ भी कई जड़े हैं। यह पीपल या बरगद के वृक्ष की तरह फैला है। जिस प्रकार बरगद की जटायें जमीन पर पहुँच कर जड़ें ही बन जाती हैं और उनमें भी शाखायें निकलने लगती हैं, उसी प्रकार हे अर्जुन ! संसार रूपी वृक्ष में केवल नीचे की तरफ शाखायें नहीं हैं, ऊपर की तरफ भी इसकी अनेक शाखायें होती है। इसका विस्तार बड़ा प्रचण्ड है। ऐसा जान पड़ता है कि समस्त आकाश ही वृक्ष रूप में पल्लवित हुआ हो, अथवा वायु-मण्डल का ही वृक्ष बन गया हो। इस तरह ऊपर की जड़ और नीचे की तरफ शाखा वाला यह विश्व-रूप विलक्षण वृक्ष उत्पन्न हुआ है। अब इसका ऊपरी भाग कौन-सा है, जड़ की क्या पहचान है, नीचे की तरफ शाखायें कौन-२ सी हैं, अथवा नीचे की जड़ों में से कैसी शाखायें निकली हैं, इस वृक्ष को 'अश्वत्थ' क्यों कहा गया है, इन सब बातों को हम तुम्हें अच्छी तरह समझायेंगे। हे भाग्यशाली मेरे प्रतिपादन को सुनने के लिये तू ही योग्य है, इसलिए एकाग्र चित्त होकर श्रवण कर। यादव वीर भगवान् कृष्ण के ऐसे वचन सुनकर अर्जुन एकाग्रता की मूर्ति ही बन गया, मानो आकाश की दशों दिशाओं ने आलिङ्गन किया हो। अर्जुन की श्रवण अभिलाषा इतनी बढ़ गई कि भगवान ने कितना भी अधिक वर्णन किया, पर वह उसे स्वल्प ही लगा। श्री कृष्ण के भाषण रूपी समुद्र को एक घूँट में पी जाने के लिए

अर्जुन मानो दूसरा अगस्त्य ही बन गया। अर्जुन की ऐसी असीम इच्छा को देखकर भगवान निहाल हो गये और बोले— (१७)

श्रीभगवानुवाच–

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।।१

श्री कृष्ण भगवान् बोले-हे धनंजय ! ब्रह्म ही इस वृक्ष का ऊर्ध्व है और इसके कारण ही उसे ऊर्ध्वता प्राप्त हो सकी है। अन्यथा अद्वैत ब्रह्म मे ऊर्ध्व, मध्य और अधः इस प्रकार का भेद कैसे हो सकता हैं ? जो ब्रह्म सब शब्दों से पहले का शब्द है, सब सुगन्धियों से पहले की सुगन्ध है, जिसके आगे-पीछे, इधर-उधर अन्य कुछ भी नहीं है, जो दृष्टि न होने पर भी द्रष्टा और अदृश्य है, जो कारण नहीं है और कार्य भी नहीं है, जिसमें द्वैत-अद्वैत की कोई भावना नहीं है, जो स्वयं ही अपने को जानने वाला है, वही ब्रह्म इस संसार का ऊर्ध्वमूल है। अब उस मूल से अंकुर फूटने के विषय में बतलाते हैं।

जो वास्तव में कुछ न होने पर भी माया के नाम से प्रसिद्ध है, वह माया अज्ञान के द्वारा ही प्रतीत होती है और वन्ध्या-पुत्र की तरह मिथ्या है। वह न सत्य है और न असत्य है, जो विवेक के आगे नहीं टिकती, जिसे अनादि कहा जाता है, जो समस्त प्रपंच विश्व की भूमिका है, विश्वाकार रूपी वस्त्र का थान (तह किया वस्त्र) है, जो विपरीत ज्ञान रूपी दीपक है, वह माया ब्रह्म के साथ ही मिली जुली है, तो भी उसका कोई अंग नहीं है। वह ब्रह्म के तेज से ही प्रकाशित होती हैं। जैसे मनुष्य को निद्रा ज्ञान-शून्य बना देती है अथवा दीपक से प्रकट होने वाला काजल उसी की ज्योति को मन्द बना देता है, उसी प्रकार हे अर्जुन ! ब्रह्म स्वरूप में माया प्रकट होकर उसी को आच्छादित कर देती है, और तब उसे अज्ञान कहा जाता है। अपने स्वरूप का यह अज्ञान ही संसार रूपी वृक्ष का प्रथम मूल है। ब्रह्म के आत्म स्वरूप

का विस्मरण होकर उसमें जो माया उत्पन्न होती है, उसी को वेदान्त संसार वृक्ष का बीज कहा गया है। जब अज्ञान के कारण गहरी निद्रा आ जाती है तब उसी को माया का अंकुर फूटना कहा जाता है। उसी के परिणाम स्वरूप जो जागृति और स्वप्न की अवस्था पैदा होती है उसे फल कहा जाता है। इस प्रकार माया का भिन्न-भिन्न प्रकार का वर्णन वेदांत शास्त्र में किया गया है। परन्तु अब उसे रहने दो, इतना ही समझ लेना चाहिए कि संसार रूपी का मूल कारण अज्ञान ही है। (९०)

निर्मल ब्रह्म रूपी आत्म में जो माया रहती है, उसमें से ऊपर और नीचे जड़ें निकलती हैं। फिर उसके नीचे अनेक देह निकल कर चार प्रकार के अंकुर फूटते हैं। इस प्रकार संसार रूपी वृक्ष का मूल जब ऊपर से जोर करता है तो नीचे के भाग में अंकुरों में प्रथम ज्ञान रूपी वृत्ति अन्तःकरण में उत्पन्न होकर एक कोमल और चमकती पत्ती की तरह उगती है। फिर सत्व, रज, तम—इन तीनों गुणों का अहंकार रूपी तीन पत्तों का अंकुर नीचे की तरफ उगता है, उसी में से बुद्धि रूपी दूसरी डाली फट कर भेद की वृद्धि होती है, और उसके द्वारा आश्रय पाकर मन रूपी शाखा विकसित होती है। जब मूल उस तरह मजबूत हो जाता है तो विकल्प रूपी रसना योग से चित्त-चतुष्टय रूपी चार कोयल शाखायें फूटती हैं। फिर आकाश, वायु, तेज, जल, और पृथ्वी इन पंच महाभूतों की सीधी कोपलें वेगपूर्वक निकल आती हैं। उनमें से श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और उनके विषय रूपी कोमल विचित्र पंखुड़ियाँ फूटती हैं। उदाहरणार्थ शब्द का अंकुर प्रकट होने पर कर्णेन्द्रिय द्वारा उसका व्यवहार होने लगता है, स्पर्श के प्रकट होने पर त्वचा रूप वेल का विकास होता है, रूप का पत्ता निकलते ही आँख उनकी सुन्दरता लूटने को पैदा हो जाती है, रस की उत्पत्ति होने पर जिह्वा स्वाद लेने की इच्छा से वहाँ उपस्थित हो जाती है, और गन्ध रूपी अंकुर निकालने पर नासिका की सूँघने की इच्छा प्रबल हो उठती

है। इस तरह मन, बुद्धि, अहंकार और पञ्च महाभूत की अष्टधा प्रकृति माया में से बन जाती है और संसार के अन्त तक कायम रहती है। अधिक क्या कहें यह संसार रूपी वृक्ष इस आठ प्रकार से वृद्धि को प्राप्त होता है। परन्तु जैसे सीप में जान पड़ने वाली चाँदी सीप तक ही सीमित रहती है अथवा समुद्र में उठने वाली तरंगें उसके भीतर ही विस्तृत होती रहती हैं, उसी प्रकार अज्ञान मूलक जगत् का और ब्रह्म का ही एक रूप होता है। (१००)

इस तरह इस समस्त जगत् रूपी अज्ञान का विस्तार ब्रह्म में से ही होता रहता है। जिस प्रकार स्वप्न में मनुष्य अकेला होने पर भी स्वयं ही तरह-तरह के दृश्यों के रूप में दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार यह सब भी स्वयमेव होता रहता है। पर अब इस विषय में अधिक कहना अनावश्यक है। इस सबका आशय यही है कि ब्रह्मा रूपी ऊर्ध्वमूल से यह आश्चर्यजनक वृक्ष उत्पन्न होता है और महतत्व आदि इसके अंकुर नीचे की तरफ फूटते रहते हैं। इस वृक्ष को 'अश्वत्थ' क्यों कहा गया है, उसका रहस्य भी सुनलो। "श्व" का अर्थ "आने वाला कल" होता है। इसलिए जो सांसारिक प्रपञ्च एक दिन भी एक सा स्थिर नहीं रह पाता वही 'अश्वत्थ' है। किस तरह एक क्षण में बादल के अनेक रंग बदलते रहते हैं, अथवा बिजली एक निमिष मात्र भी एक जगह नहीं टिकती, कमल के हिलते पत्ते पर जिस प्रकार जल बिन्दु नहीं टिकता वैसी ही संसार रूपी वृक्ष की स्थिति होती है और यह प्रतिक्षण बनता-बिगड़ता रहता है। इसी से यह 'अश्वत्थ' कहा जाता है। व्यवहार में पीपल को 'अश्वत्थ' कहते हैं, परन्तु यहाँ भगवान् कृष्ण का तात्पर्य उससे नहीं है। वैसे तो इस वृक्ष को पीपल कहने पर भी मैं इसके मूल अर्थ को समझ गया था पर इस लौकिक विषय पर बोलने का अभी कोई कारण नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि क्षणिक होने के कारण ही इसे 'अश्वत्थ' कहते हैं। (११०)

"अश्वत्थ" अर्थात् पीपल का वृक्ष अविनाशी भी माना जाता है। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार सूर्य भाप के रूप में समुद्र के पानी को सोखता है और फिर मेघ के रूप में उसे पृथ्वी पर बरसा कर नदियों द्वारा समुद्र में पहुँचा दिया जाता है। इससे समुद्र न तो घटता है और न बढ़ता है और सदा परिपूर्ण दिखाई पड़ता है। ये सब परिवर्तन नियमित रूप से बड़ी शीघ्रपूर्वक होते रहते हैं, इसलिए लोगों को वह नित्य और स्थिर ही जान पड़ता है। रथ का पहिया जब पृथिवी पर बहुत तेजी से चलता है तो उसकी चाल दिखाई नहीं पड़ती और वह स्थिर सा दिखाई देता है। जब कालातिक्रमसे इस वृक्ष न से प्राणी रूपी एक शाखा सूख जाती है तो दूसरी शाखा के रूप में करोड़ों नये अंकुर फूटते हैं। परन्तु एक शाखा कब गिर गई और दूसरी कब निकल आई, इसका पता देखने वालों को उसी तरह नहीं लगता जैसे आषाढ़ मास में एक बादल पर निरन्तर दूसरा बादल आते रहने से यह पता नहीं चलता कि कौन बादल आया और कौन गया, इसी प्रकार यह भी मालूम नहीं पड़ता किप्रलयकाल में संसार रूपी वृक्षकी सभी शाखायें नष्ट हो जाती हैं। एक मन्वन्तर के पीछे दूसरा मन्वन्तर और एक वंश के पीछे दूसरा वंश उत्पन्न होता जाता है। जिस प्रकार ईख में एक पोर (गड़ेरी) के पीछे दूसरा पोर बढ़ता जाता है उसी तरह इस विश्व की वृद्धि होती है। कलियुग के अन्त में चारों युगों का अन्त हो जाता है वैसे ही फिर नवीन सतयुग आरम्भ हो जाता है। एक वर्ष पूरा होकर दूसरा वर्ष आ जाता है अथवा एक दिन बीतने पर दूसरा शुरू हो जाता है, पर ऐसा निरन्तर होते रहते से वह जान नहीं पड़ता। इसी प्रकार एक शरीर नष्ट होता है, पर उसी समय अन्य शरीर पैदा होते जाते हैं। जैसे बहते हुए पानी में पीछे और पानी आकर बराबर मिलता रहता है, उसी प्रकार यह जगत् नाशवान् और अस्थिर है पर लोगों को स्थिर ही प्रतीत होता है। आँख के पलक झपकते समय में

लाखों व्यक्ति मरते और नये पैदा हो जाते हैं, पर अज्ञानियों को संसार स्थायी ही मालूम पड़ता रहता है। जिस प्रकार लट्टू खूब तेजी से घूमता हुआ भी स्थिर जान पड़ता है, वैसी ही गति इस जगत् की है। पर यह जो कुछ दिखाई पड़ता है उसका कारण अज्ञान के सिवाय और कुछ नहीं है, इसलिए वह मिथ्या है। जो कोई इस संसार रूपी वृक्ष को मूल से शिखर तक जानता है, उसी को मैं सर्वज्ञ कहता हूँ और वेदों के मतानुसार वही वन्दनीय है। योग से प्राप्त होने वाला फल भी उसी को मिलता है। अधिक क्या कहें, उसी से ज्ञान को भी जीवन मिलता है। जिसने संसार की अनित्यता के रहस्य को जान लिया उसका वर्णन कोई नहीं कर सकता है। (४७)

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबधीनि मनुष्यलोके ॥२

इस प्रपञ्च रूपी वृक्ष की बहुत सी शाखायें नीचे की तरफ और बहुत सी ऊपर की तरफ भी फूटती हैं। नीचे की शाखाओं से और शाखायें निकल कर उनमें से बेलें और पत्ते निकलते हैं। इसे समझाने के लिए मैंने जो कुछ पहले कहा था उसे पुनः समझाता हूँ। अज्ञान रूपी मूल में से अष्टधा प्रकृति उत्पन्न होने पर ज्ञान रूपी विशाल वनों का उद्भव होता है। पहले इस वृक्ष की जड़ में से स्वेदज, जरायुज, उद्भिज्ज और अंडज रूपी चार प्रचण्ड शाखायें फूटती है। इन शाखाओं से क्रमशः चौरासी लाख योनि—डालियाँ निकलती हैं। इन सीधी शाखाओं में से जो नाड़ी उपशाखायें फूटती हैं, वे ही भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं। स्त्री, पुरुष और नपुंसक जैसे व्यक्तिगत भेद पैदा होते हैं और वे विषय विकारों के कारण आन्दोलित होते रहते हैं। वर्षा ऋतु के बादलों की तरह अज्ञान के प्रभाव से अनेक प्रकार के शरीर-आकार उत्पन्न होते हैं और जब गुण रूपी वायु चलने लगती है तो शाखायें अपने भार से झुककर परस्पर उलझ जाती हैं। जब भीतर की तरफ गुणों का वेग बहुत बढ़ जाता है तब वृक्ष तीन जगह से फल जाता

है। रजोगुण की लहर से मनुष्य जाति रूपी शाखा सुदृढ़ होती है। उस शाखा के मध्य से चार वर्णों की चार डालियां फूटती हैं। उनमें विधि निषेध रूपी देह वाक्यों के कोमल पल्लव आते हैं और अर्थ तथा काम का विस्तार होकर इस लोक के अधिक सुखों के अंकुर प्रकट होते हैं। फिर प्रवृत्ति मार्ग की शुद्धि के लिये शुभाशुभ कर्मों की अनेक छोटी डालें निकलती है, उनका कोई हिसाब ही नहीं। एक तरफ भोगों का क्षय होकर पुराने शरीर सूख कर गिरते जाते हैं, तो दूसरी तरफ नवीन देह रूपी डालियाँ निकलती हैं। पाँच विषयों की सहायता से इच्छा उत्पन्न होकर विषय रूपी नये-नये पत्ते नित्य आते है। इस प्रकार रजोगुण का प्रचण्ड पवन चलने से मनुष्य रूपी शाखाओं का समुदाय जिस स्थान पर वृद्धि को प्राप्त होता है, उसे मनुष्य लोक कहा जाता है। (१६२)

इस प्रकार रजोगुण की पवन शांत होने पर तमोगुण की आयु जोर से चलने लगती है, जिसमें मनुष्य रूपी शाखाओं में असत् वासनायें उत्पन्न होकर कुकर्म की डालियाँ निकलने लगती हैं, और प्रमोद रूपी पत्ते दिखाई देने लगते हैं, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद में जो विधि-निषेध वचन कहे गये हैं वे उनके अग्रभाग में आने वाले पल्लव हैं। जारण, मारण, पर-पीडादायक पल्लवों से बढ़कर-वासना रूपी बेलें फैलती हैं। फिर खोटे कर्मों की जड़ें मोटी होकर उनसे जन्मरूपी अनेक शाखायें बढ़ने लगती हैं। असत् कर्मों के कारण भ्रष्ट होकर चाण्डाल आदि नीच जातियाँ और पशु पक्षी, बाघ, सूअर, बिच्छू, सर्प—जैसी अनेक शाखायें निकलती चली जाती हैं। हे अर्जुन ! इस प्रकार उस वृक्ष पर नित्य नये-नये अंकुर निकलकर नरक रूपी फल मिलने लगता है। साथ ही हिंसा आदि कुकर्म करने और कुसंगत में पड़ने से अनेक जन्म धारण करने पड़ते हैं। इसी प्रकार वृक्ष घास, लोहा, मिट्टी तथा पत्थर इन शाखओं में भी वैसे ही फल आते हैं। हे अर्जुन ! मनुष्य से लेकर स्थावर पर्यन्त शाखाओं की वृद्धि अधोमुखी होती है और उनका

मूल मनुष्य रूपी शाखा होती है और उसी से इस संसार रूपी वृक्ष की वृद्धि होती है। (१७५)

हे अर्जुन ! ऊपर जाने वाली शाखाओं का मूल ढूँढ़ने लगें तो मालूम पड़ेगा कि रजोगुण युक्त मनुष्य शाखा वास्तव में मध्यवर्ती है और इसी में से तमोगुण और सत्वगुण (दुष्कर्म और सत्कर्म) के पल्लव इसके सिवाय और किसी शाखा में नहीं लगते। इसलिये मानव योनि यद्यपि ऊपर से नीचे आने वाली शाखा है, पर कर्म-सिद्धि रूपी शाखा उसी में से उत्पन्न होती है। सभी वृक्षों का नियम है कि जड़ जितनी मजबूत होती है उतना ही शाखाओं का विस्तार बढ़ता है। यही बात मनुष्य शरीर के सम्बन्ध में है कि जहाँ तक कर्म शेष रहते हैं वहाँ तक शरीर भी रहता है और जब तक शरीर है तब तक कर्म किये बिना रहा नहीं जा सकता। इस प्रकार मनुष्य देह ही अन्य कर्म रूपी शाखाओं का मूल है, इसमें सन्देह नहीं। (८२)

तमोगुण के बादल शान्त हो जाने पर सतोगुण के बादल जोर से छुपते है। तब मनुष्य रूपी मूल की सद्‌वासना रूपी अंकुर निकल कर सुकृत रूपी पत्ते निकलते हैं। ज्ञान के सम्पर्क से प्रज्ञा रूपी डालियाँ क्षण भर में विस्तृत हो जाती हैं। बुद्धि की लम्बी डालें स्फूर्ति से दृढ़ होती हैं और विवेक तक पहुँच जाती हैं। फिर आस्था रूपी पत्ते निकल कर सत्कर्म रूपी अनेक अंकुर निकल आते हैं, जिनके वेग से चारों तरफ बेदघोष होने लगता है। शिष्टाचार, वेदोक्त आचरण तथा नाना प्रकार के यज्ञ-यागादि कर्म रूपी पत्तियाँ निकलने लगती हैं। यम-नियम रूपी गुच्छों सहित तप-रूपी शाखायें फूटती हैं तथा वैराग्य रूपी कोमल शाखायें बढ़ती है। विशिष्ट व्रत रूपी डालें धैर्य रूपी तीक्ष्ण नोकों सहित ऊपर उठती हैं। मध्य में वेद रूपी सघन पत्तियाँ निकलती हैं, जिनसे सत्वरूपी वायु चलती और सुविधा का चारों तरफ प्रसार होता है। फिर एक धर्म रूपी सीधी शाखा निकलती है और उसमें से स्वर्गादिक

फलों की शाखाएँ फूटती हैं। एक ओर उपरति रूपी लाल शाखा निकल कर उसमें मोक्ष रूपी नित्य नवीन पल्लव फूटते रहते हैं। (१६४)

फिर रवि, चन्द्र आदि श्रेष्ठ ग्रहों तथा पितर ऋषि, विद्याधर रूपी उप शाखायें फूटती हैं। इसमें ऊँची जो शाखा फूटती है उसमें इन्द्रादि लोक रूपी अनेक फल लगते हैं। तत्पश्चात् मरीचि, कश्यप इत्यादि महाज्ञानी ऋषियों की शाखा उससे भी अधिक ऊँचाई पर होती है। इस प्रकार एक-एक के ऊपर एक शाखाओं का क्रम लगा हुआ है, जो जड़ में तो छोटी हैं पर आगे चलकर जिनका बहुत विस्तार हुआ है और जिनमें श्रेष्ठ फल लगते हैं। इन शाखाओं से भी ऊपर जो शाखायें फूटी हैं उनमें हे अर्जुन ! ब्रह्मा और शिव जैसे फल आते हैं। फलों के भार से वे नीचे झुकने लगती हैं, यहाँ तक कि जड़ से आकर लग जाती हैं। सामान्य वृक्षों की शाखायें भी जब फूलों से लद जाती हैं तब वे भी इस प्रकार झुक जाती हैं। इसी प्रकार संसार वृक्ष की शाखायें भी जहाँ से निकलती हैं आगे चलकर ज्ञान की वृद्धि होने से झुककर उसी स्थान से मिल जाती हैं। यही कारण है कि ब्रह्मा और शिव से आगे केवल ब्रह्म ही है। पर, अभी उस बात को रहने दो। ब्रह्मादिक की शाखायें जगत् के मूल ब्रह्म तक नहीं पहुँच सकती। फिर जो निवृत्तिमार्ग की सनकादिक की शाखा है, उसमें फूल और फल होते ही नहीं, वह केवल ब्रह्म रूप ही बनी रहती है। इस तरह मनुष्य रूप शाखा में से निकली हुई जो ब्रह्मादिक रूप शाखा है वह बहुत ऊँची जाती है। हे पार्थ ऊपर जिस ब्रह्मादिक की शाखा का वर्णन किया है वह मनुष्य रूप शाखा में से निकलकर वृद्धि को प्राप्त होती है, इसलिये मैंने मनुष्य रूप शाखा को उसका मूल बतलाया था। इस प्रकार जो यह ऊर्ध्वमूल संसार रूपी अलौकिक वृक्ष है और जिसमें ऊपर और नीचे शाखायें फूटी हैं, उसका सब वर्णन मैंने तुझे सुना दिया। अब

ऐसा यह बलवान् वृक्ष किस प्रकार उखाड़ा जा सकता है, वह आगे बतलाता हूँ।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न न संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलम संगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३

हे अर्जुन ! तुम्हारे मन में ऐसी शंका पैदा होगी कि ऐसे प्रचंड महावृक्ष को उखाड़ सकें ऐसा कोई उपाय हो सकता है क्या ? क्योंकि जिसकी ऊपर की शाखा ब्रह्मलोक तक पहुँची है, जिसका मूल निकास ब्रह्म में है, जिसकी शाखायें तलभाग तक पहुँच गई हैं और जिसके मध्य भाग में मृत्युलोक भरा हुआ है, इस तरह यह वृक्ष अत्यन्त सुदृढ़ और अगाध है, इसका नाश कौन कर सकता है ? पर ऐसी क्षुद्र भावना तू अपने मन में कभी मत आने देना। इस वृक्ष को उखाड़ना कौन बड़ी बात है ? छोटे बालक को जिस 'होआ' का भय दिखाया जाता है, उसको भगाने में क्या मेहनत लगती है ? आकाश में दिखाई पड़ने वाले किलों (गन्धर्व नगर) को तोड़ने में कितना श्रम करना पड़ता है ? क्या खरगोश के सींग और आकाश-पुष्प के तोड़ने में कुछ लगता है। जब उनका अस्तित्व ही नहीं है तो उनके तोड़ने में परिश्रम का प्रश्न हो कहाँ उठ सकता है ? अतएव हे अर्जुन ! जब यह संसार रूपी वृक्ष वास्तविक है ही नहीं तो उसे उखाड़ डालने में डर की क्या बात है ? मैंने इस वृक्ष का जो वर्णन किया है वह बाँझ स्त्री, बाल-बच्चों के समान समझो। ज्ञानी को तो इस संसार वृक्ष की चर्चा व्यर्थ ही जान पड़ती है। अन्यथा जैसा मैंने वर्णन किया वैसा ही यदि इसका मूल सुदृढ़ होता और उतना ही इसका विस्तार होता तो इसे उखाड़ सकने वाला कौन हो सकता था ? क्या फूँक मारने से आकाश उड़ सकता है ? इसलिये हे धनञ्जय ! जिस प्रकार "कछुई के घी में पकवान" बनाने की बात कहना सर्वथा निराधार है (क्योंकि कछुई के दूध होता ही नहीं) उस तरह मैंने जो संसार वृक्ष का वर्णन किया वह सब माया है, मिथ्या ही है। मृग-जल के सरोवर को दूर से देख लो, अन्यथा

क्या उससे धान या केले को सींचा जा सकता है ? प्रथम तो अज्ञान ही मिथ्या है, फिर उससे उत्पन्न कार्यों का मूल्य कितना हो सकता है।
(२२३)

पर यह कहना कि इसका अन्त नहीं होता व्यावहारिक दृष्टि से सत्य माना जा सकता है। जब तक मनुष्य जाग्रत न हो तब यह कैसे कहा जा सकता है कि इसकी निद्रा का अन्त हो गया ? अथवा जब तक रात्रि का अन्त नहीं हुआ तब तक क्या कहा जा सकता है कि प्रभात हो गया। उसी प्रकार हे पार्थ ! जब तक ब्रह्मज्ञान उत्पन्न नहीं होता तब तक संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष का अन्त नहीं हो सकता। जब तक पवन का चलना बन्द नहीं होता तब तक समुद्र की तरंगों का अन्त नहीं हो सकता। जब सूर्य अस्त हो जाता है तभी मृग-जल का दृश्य मिट सकता है। अथवा जब दीपक को बुझा दिया जाता है तभी उसका प्रकाश समाप्त होता है। उसी प्रकार इस संसार वृक्ष का मूल जो अज्ञान है, वह ब्रह्मज्ञान के उदय बिना लोप नहीं होता, ऐसे ही लोग जो इसे अनादि कहते हैं वह भी एक दृष्टि से ठीक है। कारण यह कि संसार वृक्ष में सत्यता तो है ही नहीं, फिर जिसका अस्तित्व ही नहीं है उसका आरम्भ ही कैसे हो सकता है ? जो वस्तु उत्पन्न हुई हो उसका आदि कहना उचित है, पर जो है नहीं उसका आदि क्या हो सकता है ? जिसका जन्म ही नहीं हुआ उसकी माता किसे बताया जाय ? इसलिए यह वृक्ष अभाव रूप ही है इसलिये अनादि कहने में आया है। हे अर्जुन इसका न आदि है और न अन्त है, यह केवल मध्य में (व्यवहार दशा में) प्रत्यक्ष जान पड़ता है, पर वह मृग-जल की तरह व्यर्थ है। कारण यह कि मृगजल नदी की तरह किसी पहाड़ पर से तो गिरता नहीं और न किसी समुद्र में जाकर उसका लय होता है। केवल मध्य में दिखाई देता है, उस समय भी वह सत्य नहीं होता। इस तरह संसार वृक्ष का आदि अन्त ढूँढ़ो तो कुछ नहीं मिलेगा। पर आश्चर्य है

कि व्यवहार दशा में उसका आभास होता है। इन्द्रधनुष जिस प्रकार तरह-तरह के रङ्गों से भरा दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार यह संसार रूपी वृक्ष अज्ञानी लोगों को महा सुन्दर दिखाई पड़ता है। (२४०)

संसार ही अपनी स्थिति के अवसर पर अज्ञानी जनों की आँखों में भ्रम पैदा करके अपनी सत्यता स्वीकार कराता है। जिस प्रकार बहुरूपिया अपनी चतुरता से लोगों की निगाह में भ्रम उत्पन्न कर देता है, वैसे ही संसार भी लोगों को भ्रमों में डालता है। स्वप्न के पदार्थों को यदि सत्य भी मानलें तो भी क्या वे एक से बने रह सकते हैं? उसी प्रकार यह जगत् आभा मात्र है। इसका वास्तविक अस्तित्व है ही नहीं। वह दिखाई देता है, पर क्षण भर भी एक दशा में नहीं रहता। यह संसार सत् है यह मानकर इसे ग्रहण करने जायें तो वह हस्तगत नहीं होता। समुद्र की उत्पत्ति तथा नाश अथवा बिजली के चमकने से इस विश्वाभास रूपी वृक्ष की उत्पत्ति तथा लय अधिक वेगवान् होते हैं। ग्रीष्म ऋतु के अन्त में पवन आगे से आती है या पीछे से, यह नहीं जान पड़ता, उसी प्रकार इस अस्तित्वहीन वृक्ष की स्थिति है। इस तरह जब इस वृक्ष का आदि अन्त, स्थिति और रूप कुछ है ही नहीं तो फिर उसे उखाड़ने में परिश्रम का प्रश्न ही क्यों उठाया जाय? (२४०)

हे अर्जुन! आत्म स्वरूप का ज्ञान होने के कारण ही यह वृक्ष ऐसा प्रचण्ड बन गया था, अब उसे आत्मज्ञान के शस्त्र से ही काट डालो। क्योंकि जो वस्तु अज्ञान के कारण प्रतीत होती है, ज्ञान द्वारा उसका नाश हो जाता है, अन्य किसी उपाय से उससे नहीं बचा जा सकता। इसलिए उसे काटने के लिए ब्रह्मज्ञान के सिवाय और जितने उपाय करोगे उतना ही इस वृक्ष में अधिक उलझ जाओगे। फिर तुम इसकी ऊपर नीचे की शाखाओं तथा डालियों पर न मालूम कितनी बार जाओगे, इसलिए इसके मूल अज्ञान को ही काट डालो। रस्सी में जान पड़ने वाले सर्प को मारने के लिये लाठी ढूढ़ने में समय

लगाना जिस प्रकार व्यर्थ होता है, अथवा मृगजल की नदी पार करने के लिए नाव को तलाश करते फिरने में कोई मनुष्य किसी जंगली नाले में सचमुच ही डूब सकता है, उसी तरह हे वीर अर्जुन ! इस मिथ्या संसार से बचने का उपाय ढूँढ़ते हुए मनुष्य अधिक भ्रम में पड़ जाता है। तब अपने वास्तविक ज्ञान का लोप होने से 'यह संसार सत्य है' ऐसा भ्रम और भी दृढ़ हो जायगा। हे धनंजय ! स्वप्न में लगे तलवार के घाव को ठीक करने की औषध केवल जाग्रत हो जाना ही है, उसी प्रकार जिस संसार की उत्पत्ति अज्ञान से होती है, उसको ज्ञान रूपी खड्ग से ही काटा जा सकता है। (२३४)

पर उस ज्ञान रूपी खड्ग का उपयोग सहज में किया जा सके इसके लिये वैराग्य का बल चाहिये वैराग्य के उत्पन्न होते ही संसार के समस्त भोगों के लिये वैसी ही त्याग वृत्ति हो जानी चाहिए जैसे कुत्ते के वमन पर। फिर वैराग्य रूपी शस्त्र को देह की अहन्ता रूप म्यान से एकदम निकालकर विवेक रूपी सिल पर घिस कर 'अहं ब्रह्म' ज्ञान की तीक्ष्ण धार रखनी चाहिए और अद्वैत का पानी चढ़ाना चाहिए। इतना होने पर निश्चय रूपी मूठी को हाथ में ग्रहण करके मनन करके एक दो बार आजमा लेना चाहिये। फिर जब ज्ञान रूपी खड्ग और अपना निदिध्यासन दोनों की पूर्ण एकता हो जायगी, तो हमारे आघात को सहन करने के लिए वह अद्वैत रूपी वृक्ष ठहर ही न सकेगा। यह आत्मज्ञान रूपी शस्त्र अद्वैत प्रभा के तेज से संसार रूपी वृक्ष को कहीं भी बचने न देगा। शरद ऋतु के प्रारम्भ का पवन जिस प्रकार आकाश का सम्पूर्ण कचरा दूर कर देता है, अथवा जिस प्रकार सूर्योदय होते ही समस्त अन्धकार लोप हो जाता है, अथवा जाग्रत होते ही स्वप्न की सब घटनायें नष्ट हो जाती हैं, उसी प्रकार आत्मज्ञानानुभव रूपी धार की तीक्ष्णता से संसार रूपी वृक्ष का नाश हो जाता है। जिस प्रकार चन्द्रमा का प्रकाश हो जाने पर मृग जल दिखाई नहीं पड़ता, उसी तरह संसार वृक्ष के ऊपर और नीचे की जड़ें और उसका

समस्त विशाल विस्तार नष्ट हो जाता है। इस प्रकार हे वीर श्रेष्ठ अर्जुन ! आत्मज्ञान रूपी खड्ग से इस संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष को ऊपर और नीचे की जड़ों सहित काट कर फेंक दो। (२६६)

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४

तत्पश्चात् 'इदं' (यह) और 'अहं' (मैं) से मुक्त होकर जो आत्म स्वरूप है उसे स्वयं ही देखना चाहिए। परन्तु जैसे मूर्ख लोग दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखकर उसे दूसरा कोई समझ लेते हैं, वैसे इस आत्म स्वरूप को नहीं समझना चाहिए। हे अर्जुन ! इसको इस प्रकार देखना चाहिए जैसे कुँआ को भरने वाला स्रोत अपने उद्गम स्थान में पहले ही भरा रहता है, अथवा जल के सूख जाने पर उसमें दिखाई पड़ने वाले सूर्य प्रतिबिम्ब का मूल जैसे सूर्य में ही मिल जाता है, अथवा घड़े के फूटनेपर घटाकाश महाकाशमें ही मिल जाता है, उसी प्रकार हे अर्जुन! अपने स्वरूप को आप ही देखना पड़ता है। जिस प्रकार जिह्वा आपही अपना स्वाद चखे, नेत्र अपनी पुतली को देखें उसी प्रकार स्वयंही अपना स्वरूप देखना यही इसका तात्पर्य है। अथवा जैसे प्रकाश प्रकाश में मिलता है, आकाश आकाश में और पानी में पानी ही मिलता है, वैसीही अद्वैत दृष्टि स्वयं ही अपना रूप देखने की एक रीति है। उसी को देखे बिना देखना, जाने बिना जानना कहते हैं। वही आद्य स्थान ब्रह्म कहलाता है। ब्रह्म को भी श्रुति ने उपादि लगाकर अस्तित्वधारी बना दिया है। और लोग उसके नाम-रूप को लेकर व्यर्थ की बकवास करते रहते हैं। (२७६)

परन्तु स्वर्ग और संसार से विरक्त मुमुक्षु लोग योग ज्ञानका आश्रय लेकर प्रतिज्ञा पूर्वक वहाँ जाने को निकलते हैं जहाँ से आना होगा ही नहीं। वे ब्रह्म लोक को भी लाँघ कर आगे बढ़ जाते हैं और अहंता आदि सब भावों को जीतकर निज-पद का पट्टा प्राप्त करते हैं। उसी निज-पद में से यह सम्पूर्ण विश्व-परम्परा वृद्धि को प्राप्त होती है जो

अभागे लोगों को आश्वस्त करती रहती है। आत्म स्वरूप को न जानने से यह जो समस्त संसार प्रतीत होता है, वे मुमुक्षु जन अहन्ताको त्याग कर उसका लोप कर देते हैं और वे ही पार पहुँचते हैं। हे पार्थ ! उस आद्य वस्तु को स्वयं आद्यरूप होकर ही देखा जा सकता है, जैसे हिमको हिम ही जोड़ देता है। हे अर्जुन ! उस निज पद का एक चिन्ह यह भी है कि उसके मिल जाने पर फिर वहाँ से लौटना नहीं होता। महाप्रलय में जैसे सब कुछ जलमय हो जाता है, उसी प्रकार जो ज्ञान से परिपूर्ण होकर उस स्वरूप में जा मिलता है, वह उसी में निमग्न हो जाता है। (२८४)

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५

वर्षा ऋतु के अन्त में जिस प्रकार मेघ आकाश को छोड़कर चले जाते है, उसी प्रकार जिस पुरुषके मनको मोह और अभिमान छोड़कर चले जाते हैं, अथवा निर्धन और निष्ठुर पुरुषको जैसे उसके सगे संबंधी त्याग देते हैं, वैसे ही जो विकारों में नहीं फँसता केला में फल आने के बाद जैसे उस वृक्ष को काट दिया जाता है, उसी प्रकार आत्म स्वरूप प्राप्त करने की प्रबलता से जिसकी क्रियायें धीरे-धीरे मन्द पड़ती जाती हैं, वृक्ष में आग लग जाने पर जैसे उसपर विश्राम करने वाले पक्षी उसे त्याग देते हैं, वैसे ही जिसे सब विषय छोड़ जाते हैं, सूर्योदय होने पर रात्रि जिस प्रकार स्वयमेव लोप हो जाती है, वैसी ही आत्मस्वरूप की प्राप्ति होनेसे जिसका देह-विषयक अभिमान अज्ञान सहित लोप हो जाता है, वही विकारहीन पुरुष ब्रह्म स्वरूप में मिल सकता है। अथवा आयुष्यहीन मनुष्य का जीव एकाएक छोड़ जाता हैं, वैसे ही मोह में ग्रस्त करनेवाला द्वैत-भाव जिसे छोड़ जाता है, पारसमणिके पास जैसे लोहा नहीं रह सकता अथवा सूर्य और अन्धकार को जैसे कभी भेंट होनी संभव नहीं हैं, वैसे ही द्वैत-भाव जिस के सम्मुख कभी आताही नहीं वह

ब्रह्म को सहज में प्राप्तकर लेता है। अथवा जैसे स्वप्न में मिला राज्य मृत्यु हर्ष-शोककारक नहीं होता, या जैसे गरुड़ के पास सर्प नहीं आते, वैसे ही सुख-दुःख रूपी पुण्य-पापको उत्पन्न करने वाला द्वैत जिसे जीत नहीं सकता। अथवा जैसे विवेक रखने वाला राजहंस असद् वस्तुरूप पानी को छोड़कर सारवस्तु दूध का सेवन करता है, जैसे सूर्य पृथ्वी पर जलवृष्टि करके अपनी किरणों द्वारा फिर उसका शोषण कर लेता है, वैसे ही आत्मस्वरूप की भ्रांति के कारण जो ब्रह्म चारों तरफ बिखरा हुआ है, ज्ञान दृष्टि वाला मनुष्य उससे ऐक्य स्थापित कर लेता है। (२६८)

इतना ही नहीं, जिस प्रकार गङ्गा का प्रवाह समुद्र में मिल कर फिर वापस नहीं लौटता, वरन् उसी में लीन हो जाता है, उसी प्रकार जिनको आत्म स्वरूप का निश्चय हो जाता है, वे उसी में लीन हो जाते हैं। जिस प्रकार आकाश सर्वत्र व्याप्त होने से उसका एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना सम्भव नहीं होता, वैसे ही सब वस्तुओं को अपना रूप समझ लेने पर उसको किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं होती। जैसे ज्वालामुखी पर्वत पर चाहे जो बीज डाला जाय, पर वह उगता नहीं, वैसे ही जिसके हृदय में ज्ञान का उदय हो चुका है, उस पर विकारों का कोई असर नहीं पड़ता। जिस प्रकार चन्द्रमा सोलहों कलाओं से पूरा हो जाने पर उसमें किसी तरफ से त्रुटि दिखाई नहीं पड़ती, उसी तरह आत्मज्ञान मिलने पर उसके मन में कोई इच्छा उत्पन्न नहीं होती। पर इस तरह की उपमायें कहाँ तक दी जायें। जैसे वायु के आगे परमाणु टिकता नहीं, वैसे ही विषयका नाम भी उसे नहीं रुचता। इस प्रकार ज्ञान रूपी अग्नि में आहुति डाल कर जिसने सब विषयों को जला डाला है, वह आत्म स्वरूप में वैसे ही मिल जाता है। अगर तुम पूछते हो कि वह स्थान कौन-सा है, तो मैं बतलाना चाहता हूँ कि जो कभी नाश नहीं होता, ऐसा वह स्थान है। जिसे देखा जा सके, जाना जा सके अथवा यह कहा जा सके कि वह अमुक वस्तु

के समान है, ऐसा वह स्थान नहीं है, अर्थात् वह सबसे निराला ही है। (३०७)

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६

दीपक, चन्द्र और सूर्य के प्रकाश से ही यह समस्त जगत् प्रकाशित होता है, पर इसका कारण परमात्म वस्तु सम्बन्धी अज्ञान ही है। जैसे-जैसे सीपका सीपपन लुप्त होता जाता है,वैसे-वैसे उसमें चाँदीका आभास बढ़ता जाता है। अथवा रस्सी के भाव का लोप होने से सर्पकी साम्यता बढ़ती जाती है। जैसे चन्द्र और सूर्य आदि में जो प्रखर तेज है, उसका आधार वह तेजस्वी वस्तु है जिसके प्रभाव से प्राणी मात्र और सूर्य चन्द्र भी आलोकित हो जाते हैं। जिस प्रकार सूर्योदय होने पर चन्द्रमा, तारे आदि सब लुप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार जिस वस्तु का किसी प्रकार आभास नहीं होता वही मेरा स्थान है। उस स्थान में जो पहुँच जाते हैं वे फिर कभी इस संसार में लौटकर नहीं आते, नमक से बनी हथिनी को यदि समुद्र में डुबा दिया जाय तो फिर वह बाहर नहीं आती,अथवा आकाश में गई अग्नि की ज्वाला फिर नीचे नही उतरती, अथवा गर्म लोहे पर डाला पानी जैसे अदृश्य हो जाता है वैसे ही जो शुद्ध ज्ञान से मुझसे मिल जाते हैं उनका पुनर्जन्म सम्भव नहीं होता। (३२०)

भगवान् का ऐसा कथन सुनकर बुद्धि रूपी पृथ्वी के राजा अर्जुन ने कहा—'प्रभो ! मैं यह जानना चाहता हूँ कि जो ज्ञानी आपके स्वरूप में ऐक्य प्राप्त करते हैं, वे पहले आपके स्वरूप से भिन्न थे कि अभिन्न? यदि वे अनादि रूप से भिन्न होते हैं, तो यह कहना यथार्थ नहीं कि वे फिर वापस नहीं आते। भ्रमर पुष्प का मकरन्द सेवन करने गया तो क्या वह पुष्प हो जाता है। लक्ष्य पर छोड़ा हुआ बाण उसे भेद कर

नीचे ही गिर जाता है, लक्ष्य के साथ ऐक्य नहीं पाता। इसलिए आपके स्वरूप में मिलने के पश्चात् वापस नहीं आया जाता यह कथन युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता और यदि वह पुरुष स्वभावतः आपका ही रूप अर्थात् आप से अभिन्न है, तो फिर कौन किससे जाकर मिलता है ? क्या शस्त्र स्वयं अपना ही छेदन कर सकता है ? इस प्रकार विचार करने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जो आपसे भिन्न है वह तो कभी आपके स्वरूप में ऐक्य पा नहीं सकता। फिर ऐसे व्यर्थ कथन की क्या आवश्यकता है ? इसीलिये हे सर्वतोमुख भगवान् ! मुझे स्पष्ट बताओ कि आपके स्वरूप में मिल जाने पर कौन वापस नहीं आता। (३२८)

अर्जुन की शङ्का को सुनकर सर्वज्ञशिरोमणि भगवान् कृष्ण को यह जानकर संतोष हुआ कि अर्जुन उनकी बात को पूरे ध्यान से सुन रहा है। वे कहने लगे कि—हे महामते ! जो मुझ में मिलकर वापस नहीं आते उनको मुझसे भिन्न और अभिन्न दोनों तरह समझना चाहिए। गहराई से विचार किया जाय तो उनके मेरे स्वरूप में कोई भेद नहीं है, और यदि ऊपर से देखा जाय तो वे मुझसे पृथक जान पड़ते हैं। पानी पर उठती लहरें अलग दिखाई देने पर भी वास्तव में पानी ही होती हैं और सुवर्णके अलङ्कार भिन्न दिखाई पड़ने पर वस्तुतः सुवर्ण ही होतेहैं, उसी प्रकार हे किरीटी ! ज्ञान दृष्टि से देखने पर मेरे स्वरूप वाले ही हैं। उनमें और मुझमें जो भिन्नत्व दिखाई पड़ता है वह अज्ञानके कारण है,अन्यथा परमात्म दृष्टि से विचार करने पर तो मैं केवल एक हूँ, उनमें कई तरह की वस्तुयें कहाँ से आ सकती हैं, जो भिन्न या अभिन्न का प्रश्न पैदा हो सके ? सूर्य का बिम्ब यदि बढ़कर समस्त आकाश को व्याप्त करले तो फिर उसका प्रतिबिम्ब किसमें दिखाई पड़े तात्पर्य यह है कि मैं तो सदा एक रस हूँ, मुझमें भेद और अभेद की गुंजायश कहाँ हो सकती है ? पानी सीधा ही चलता है, पर प्रवाह के कारण टेढ़ा बहने लगता है, अथवा मनुष्य यदि स्वप्न में राजा बन जाय तो अपनी प्रजा

आदि भी वह स्वयंही बनता है, उसी प्रकार मेरा शुद्ध स्वरूप जब माया से अधिष्ठित होता है तो उसमें जीव और ईश्वर॰ ये दो भाव उत्पन्न हो जाते हैं, उस समय अज्ञान के कारण ही यह विकल्प होता है कि 'मैं कौन हूँ' उसी समय मनुष्य विचारने लगता है कि 'मैं देह हूँ।' (३४२)

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन: ।
मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७

उस समय देह में व्याप्त परमात्मा शरीर तक ही सीमित जान पड़ता है और जीव को ईश्वर अंश कहा जाने लगता है। जैसे पवन के कारण समुद्र में जो लहरें उठती हैं वह उसका छोटा-सा अंश ही जान पड़ती हैं, वैसे ही हे पांडुसुत ! देह का अहङ्कार उत्पन्न होने पर, जीव को यही जान पड़ता है कि इसका संचालक मैं ही हूँ और मेरे द्वारा ही यह सब लौकिक व्यवहार चल रहा है। इसी को जीवलोक के नाम से कहा जाता है। हे अर्जुन ! जिस प्रकार चन्द्रमा का अस्तित्व पृथक् रहने पर भी जल में उसका प्रतिबिम्ब उसके भीतर होता है वैसी ही स्थिति उस समय मेरी होती है। उस समय मुझको ही कर्ता और भोक्ता कहा जाने लगता है, वह केवल अज्ञान के कारण ही होता है। इस प्रकार यह परम विशुद्ध आत्मा प्रकृति के साथ ऐक्य पाकर उसके धर्मको स्वीकार कर लेती है और फिर पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन मेरे ही हैं, यह मानकर कर्म में प्रवृत्त होती हैं। जिस प्रकार संन्यासी स्वप्न में स्वयं ही अपना कुटुम्ब बनकर गृहस्थ में रहने लगे और उन लोगों के मोहसे दौड़ धूप करे, वैसे ही आत्मा विस्मृति के कारण अपना स्वरूप प्रकृतिमय मानकर विभिन्न कार्य करने लग जाती है। वह मन रूपी रथ पर बैठकर श्रवणेन्द्रिय के द्वारा बाहर निकल कर शब्द रूपी जङ्गल में चलती फिरती है। प्रकृति की लगाम हाथ में लेकर त्वचा के द्वारा घोर वन में जाती है तो कभी नेत्र के द्वारा बाहर निकल कर रूप-विषयक पर्वत पर स्वच्छन्दता से भ्रमण करतीहैं। इसी प्रकार कभी

जिह्वा द्वारा निकल कर रस की गुफा में जाती है और कभी नाक के द्वार से निकल कर सुगन्ध के अरण्यमें भटकती है। इस प्रकार देह और इन्द्रियों की नायक आत्मा तन के साथ मिल कर पंचेन्द्रिय के शब्दादि विषयों का उपभोग करने लगती है। (३६०)

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८

परन्तु जीव का कर्तृत्व या भोक्तृत्व तभी दिखाई देता है जब वह किसी प्रकार में प्रवेश करता है। किसी धन सम्पन्न विलासी पुरुष का ऐश्वर्य, अन्य लोगों को तभी दिखाई पड़ सकता है जब वह किसी बड़े नगर में रहने को आता है। इसी प्रकार जीवात्मा जब देह धारण करता है तभी उसके अहङ्कार की वृद्धि और इन्द्रियों की धूमधाम दिखाई पड़ने लगती हैं। जब जीव देह त्याग करता है तो अपने सदा के साथी मन तथा इन्द्रियों रूपी सम्पत्ति को अपने साथ ले जाता है। जिसप्रकार अतिथि को बिना भोजन कराये अपमान पूर्वक निकाल दिया जाता है तो वह यजमान के पुण्यको अपने साथ ले जाता है, अथवा जैसे डोरी निकाल लेने से कठपुतली की गति रुक जाती है, अथवा सूर्य अस्त होते समय लोगों की दृष्टि को भी अपने साथ ले जाता है, अथवा जिसप्रकार पवन पुष्पों की सुगन्ध को ले जाता है उसी प्रकार हे धनंजय ! जीवात्मा जब देह त्याग कर जाता है तो अपने पांच ज्ञानेन्द्रियों और छठे मन को भी ले जाता है। (३६०)

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९

फिर इसी लोक या स्वर्गलोक में, जहाँ कहीं जीवात्मा देह धारण करता है वहीं पर मन और इन्द्रियों का विस्तार कर लेता है। हे अर्जुन ! जैसे दीपकको बुझा दिया जाय तो तेज सहित उसका लोप हो जाता है और फिर जोड़ा जाय तो पुनः प्रकाश देने लगता है, उसी

प्रकार अज्ञानी की दृष्टि में जीव का कर्तृव्य भी ऐसा ही प्रतीत होता है क्योंकि वे यही माना करते हैं कि आत्मा देह में आता है, विषयों का उपभोग करता है, फिर शरीर को छोड़कर चला जाता है। पर जन्म लेना और मरना, क्रिया करना और विषयों को भोगना ये तो वास्तव में प्रकृति के धर्म हैं, जीवात्मा तो भ्रम से उनको अपना समझ लेता है। (३७२)

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११

देह उत्पन्न हुई,उसमें चेतना आई तो लोग कहने लगते हैं कि 'जन्म हुआ'। हे सुभद्रापति! जब उसकी इन्द्रियाँ अपने विषयोंका सेवन करती हैं, तो कहा जाता कि 'जीवात्मा उपभोग करता है। फिर जब शरीर क्षीण होकर भोग भोगने का कार्य रुक जाता है और देह नष्ट हो जाती है तब लोग पुकारने लगते हैं 'जीव चला गया।' पर हे अर्जुन ! क्या जब पेड़ोंके पत्ते हिलते हों तभी पवनका अस्तित्व माना जाय और जहाँ पेड़ न हों वहाँ कहा जाय कि पवन है ही नहीं। अथवा अब हम दर्पण को सामने रखकर उसमें अपना रूप देखते हैं तभी हमारा अस्तित्व सिद्ध होता है ? क्या उसके पहले हमारा अभाव था? इसलिए यह आना और जाना दर्पण के प्रतिबिम्ब से सम्बन्ध रखता है, हमसे नहीं। गड़गड़ाहट का शब्द होना आकाश का गुण है पर लोग उसे बादलों को कहते हैं। इसी प्रकार जब बादल दौड़ रहे हों तो लोगों को ऐसा जान पड़ता है कि चन्द्रमा दौड़ रहा है। इसी प्रकार मोह से अन्धे हुए लोग देह के जन्म लेने और मरने पर यही मान लेते हैं कि अविकारी आत्मा ही उत्पन्न और नष्ट होता है। इस शरीरमें आत्मा तो अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है और कृतृत्व भोक्तृत्व धर्म देहके होते हैं, जिनका आत्मा केवल साक्षीभूत रहता है। ज्ञानी लोग जानते हैं कि देह तो आत्मा का

आवरण है। जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में चाहे जैसे बादल घिर आवें तो भी उनको भेदकर सूर्य की किरणें बाहर निकल आती हैं, उसी प्रकार जिनकी ज्ञान-दृष्टि निज स्वरूप के स्थान तक पहुँच चुकी है, वे आत्मा को अकर्ता ही मानते हैं। तारागण से भरे आकाश का प्रतिबिम्ब समुद्र में पड़ने से वह कुछ नीचे नहीं आ जाता, वरन् समुद्र में जो प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है वही मिथ्या होता है। इसी प्रकार आत्मा चाहे शरीर में कर्त्ता-भोक्ता की तरह दिखाई पड़ती हो, पर वस्तुतः वह अकर्त्ता रह कर अपने स्थान पर ही स्थिर रहती है।

जिस प्रकार गड्ढे के पानी में सूर्य का बिम्ब दिखाई देता है, और पानी के सूख जाने पर उसका दिखाई देना बन्द हो जाता है, पर सूर्य तो दोनों अवस्थाओं में अपने स्थान पर पूर्ववत् बना ही रहता है, इसी प्रकार ज्ञानीजन देह का जन्म-मृत्यु होने पर भी स्वयं आत्मा को अविकारी ही मानते हैं। वह न बढ़ता है न घटता है, न कुछ कार्य करता है और न कराता है। जो इस तथ्य को समझते हैं उन्हीं को यथार्थ आत्मज्ञानी मानना चाहिए। मनुष्य चाहे जितना अन्य प्रकार का ज्ञान प्राप्त करले, उसकी बुद्धि परमाणु तक का रहस्य जान जाय और वह सब शास्त्रों में निपुण हो जाय तो भी जिस मनुष्य के मनमें वैराग्य का अंश न हो तो वह मुझ सर्व व्यापक को प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसे चाहे किसी को समस्त शास्त्र कण्ठाग्र हों, पर उसके अन्तःकरणमें विषयों का चिन्तन चल रहा हो तो वह मुझे कभी नहीं पा सकता। किसी के घर में पूर्वजों के संग्रहीत अनेक शास्त्र हों और उनको घर के एक कोने में रख दिया जाय, तो क्या यह कहा जा सकता है कि उनका अध्ययन कर लिया? अथवा आँख बन्द करके मोती को नाकके पास लाया जाय तो उसका क्या अनुभव हो सकता है? इसी प्रकार चित्त में अभिमान रखकर यदि सत् शास्त्रों को पढ़ लिया जाय और इस प्रकार करोड़ों वर्ष बीत जायँ तो भी वैसे मनुष्य को मेरी प्राप्ति नहीं होगी। अब

एक होते हुए भी प्राणि मात्र में मेरी व्याप्ति किस प्रकार होती है, इसे स्पष्ट रूप से बतलाता हूँ, ध्यान देकर सुनो ! (३९७)

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ।।१२

जिस सूर्य के तेजसे सम्पूर्ण विश्व रचना प्रकट होती है वह तेज सूर्य सहित मेरा ही है । हे पाण्डव सूर्य के तेज से पानी सूख जाने पर जिस चन्द्र-प्रभा के द्वारा पृथ्वी में आर्द्रता आती है वह भी मेरी ही है । और अग्नि में रहने वाली दहन और पाचन करने वाली दीप्ति भी मेरी है । (४००)

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ।।१३

मैं पृथ्वी में प्रविष्ट होकर उसका आधारभूत बना हूँ । इसीसे केवल रज कणों का समूह होने पर भी वह समुद्र की अपार जल राशि से गल नहीं जाती । इस प्रकार वह अपने पृष्ठ भाग पर जो असंख्य चराचर प्राणियों को धारण किये हैं वह शक्ति भी मेरी ही है । हे पांडुसुत ! मैं ही आकाश में चन्द्रमा के रूप में अमृत का चलता फिरता सरोवर बना हूँ और वहीं से किरणों के समूह द्वारा वनस्पतियों का पोषण करता हूँ । इन सब अन्नोंका पोषण करके प्राणि-मात्र की रक्षा करता हूँ । पर अन्न उत्पन्न होकर प्राणि-मात्र को कैसे पचें ? यह भी एक बड़ा प्रश्न हैं । (४०६)

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।।१४

इसके लिए हे अर्जुन! प्राणिमात्र के नाभिकन्द पर अङ्गीठी सुलगा कर उसकी जठराग्नि भी मैं ही बनता हूँ । प्राण और अपान की धौंकनी द्वारा जठराग्नि को प्रज्वलित करके उदर में कितना अन्न मैं पचा डालता हूँ उसका कोई हिसाब नहीं । रूखा, स्निग्ध, पका हुआ,

कच्चा इन चारों प्रकार के खाद्य पदार्थों का पाचन मैं ही करताहूँ। इस प्रकार मैं सर्व जगत् रूप हूँ, मैं ही उसका निर्वाह करने वाला अन्न हूँ, और मैं ही उसे पचाने का मुख्य साधन-जठराग्नि हूँ। अपनी व्यापकता का इससे बढ़कर चमत्कार मैं क्या बताऊँ ? यह निश्चय समझ लो कि संसार में मेरे सिवाय और कुछ है ही नहीं, सर्वत्र मैं ही भरा हुआ हूँ। तो फिर इस जगत् में कुछ लोग सुखी दीखते हैं। कुछ दुःख में ही पड़े रहते हैं, कुछ सुख-दुःख दोनों में ग्रस्त रहते हैं, इसका कारण क्या है ? जैसे कोई किसी नगर में एक ही दिये से सब दियों को जलावे तो उनमें से कुछ जलें और कुछ न जलें क्या ऐसा हो सकता है ? अगर ऐसे तर्क-वितर्क तेरे-मन में आते हों तो उनका समाधान भी मैं किये देता हूँ। मैं सबमें व्याप्त हूँ, यह बात तो निर्विवाद है पर प्रत्येक प्रार्थी को मैं उसकी बुद्धि की कल्पना के अनुसार ही भासता हूँ। जैसे भिन्न-भिन्न बाजों के द्वारा एक ही आकाश में विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं, अथवा सूर्य एक ही है पर उदय होने पर भिन्न-भिन्न प्रकार से उपयोगी सिद्ध होता है, उसी प्रकार मैं एक होने पर भी मेरा ही स्वरूप विभिन्न प्राणियों में अलग-अलग तरह का परिणाम दिखलाता है देखो, नीलमणि का एकबड़ा हार अज्ञानी और चतुरकी दृष्टिमें एक समय ही पड़ा। अज्ञानी तो उसे सर्प समझ कर डर कर भागा और चतुर ने उसे उठाकर अपने सौभाग्य की सहायता की। स्वाँति नक्षत्र का पानी सीप में पड़ता है तो मोती बन जाता है और सर्पके मुखमें पड़ने से विष बनता है। इसी तरह ज्ञानी को मेरे द्वारा सुख उत्पन्न होता है और अज्ञानी दुःख सहन करता है। (४२०)

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५

फिर सब प्राणियों में एक ऐसा विचार उठा करता है कि— 'मैं अमुक हूँ' इसका कारण मैं ही हूँ। पर सत्सङ्ग से, ब्रह्म और

आत्मा के ऐक्य-ज्ञान के अध्यास से, वैराग्य सहित गुरुचरण की सेवा से, सदाचार से जिनका अज्ञान मिट गया है और अहङ्कार आत्मस्वरूप में लय हो गया है, वे मुझे आत्म-स्वरूप के प्रमाद से निरन्तर सुखी रहते हैं। हे धनंजय ! सूर्य के प्रकाश से सूर्य का दर्शन होता है, इसलिए मेरा ज्ञान भी मेरे ही द्वारा मिलता है। शरीर की ही सेवा करते और सांसारिक प्रतिष्ठा सुनते हुए जिनका देह विषयक अहङ्कार दृढ़ होता जाता है, जो स्वर्ग और संसार के सुखों के लिए कर्मकाण्ड मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे दुःखके ही भागीदार होते हैं। अज्ञानी लोगों को यह स्थिति भी मेरी ही सत्ता से प्राप्त होती है। दिन में बादलों के घिर आने से चाहे प्रकाश कम हो जाय, पर इस बात का ज्ञान भी प्रकाश द्वारा ही होता है। वैसे जो प्राणी मुझे न पहचान कर विषयों का सेवन करते रहते हैं, वह भी मेरी सत्ता से ही होता है। मेरे स्वरूप को न समझने से वेदों ने मुझे जानने का प्रयत्न किया पर इससे वे शाखाओं में बँट गये। तो भी वेद की तीनों शाखाओं–ऋक्, यजु और सामवेद में मेरा ही वर्णन किया गया है। जिस प्रकार पूर्व और पश्चिम वाहिनी नदियों का अन्तिम विश्राम स्थान तो समुद्र ही है, वैसे ही महासिद्धान्त (ब्रह्म) के आगे श्रुतियोंकी गति कुण्ठित हो जाती है, अथवा वे लज्जित होकर स्तब्ध रह जाती हैं। अपने उस ब्रह्म स्वरूप को मैं ही यथार्थ रूप में प्रकट करता हूँ फिर श्रुति सहित सम्पूर्ण जगत् जहां लय होता है उस शुद्ध आत्म ज्ञान को भी मैं ही जानता हूँ। हे वीर अर्जुन ! जब कपूर जल जाता है तब न तो उसका काजल बचता है और न अग्नि बचती है, उसी प्रकार अज्ञान का समूल नाश करने वाला ज्ञान जिस समय लय पाता है, उस समय न तो यह कह सकते हैं कि वह नहीं है और न यह कि वह मौजूद है अर्थात् ज्ञान और अज्ञान का लय होने पर जो शुद्ध स्वरूप शेष रहता है, उसमें शब्द प्रविष्ट नहीं हो सकता, इसलिए वह है या नहीं यह शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता। विश्व के कारण

रूप अज्ञान का बिम्ब सहित नाश करने वाली आत्म वस्तु को सांसारिक साधन से कौन जान सकता है ? (४४१)

मोक्षदाता भगवान् इस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों में अपनी व्यप्ति का वर्णन करते-करते अपने निरुपाधिक स्वरूप तक पहुँच गये । जिस प्रकार क्षीर समुद्र में चन्द्रोदय का पूर्ण प्रतिविम्ब दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण द्वारा प्रकट किया यह ज्ञान अर्जुन के हृदय में चित्रित हो गया । जैसे दीवार पर खींचा हुआ चित्र सामने की चमकती हुई दीवार पर दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार वैकुण्ठनायक श्रीकृष्ण का कहा हुआ ज्ञान अर्जुन के शुद्ध हृदय में प्रतिबिम्बित हुआ । तब अनुभव करने वालों में श्रेष्ठ अर्जुन बोला—हे देव ! अपनी व्यापकता का वर्णन करते हुए प्रसङ्गानुसार आपने जो अपने निरुपाधिक रूप का वर्णन किया उसे स्पष्ट रूप से समझाइये । इस पर श्री द्वारकानाथ ने कहा—बहुत अच्छा ! धन्य है ! हे अर्जुन मुझे भी निरन्तर ज्ञान चर्चा करना पसन्द है, पर क्या करूँ कोई जिज्ञासु मिलता नहीं । तुमने ही पूर्ण आस्था से कहा कि—फिर निरुपाधिक रूप को समझाओ । मेरी तीव्र इच्छा थी कि कोई ऐसा पूछने वाला मिले, उसी के फलस्वरूप तुम मुझे मिल गये । जिस प्रकार दर्पण के सामने जाने से हमको अपना स्वरूप दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार तेरे सम्वाद होने से मुझे बड़ा आत्म सुख प्राप्त होता है । इसमें सन्देह नहीं कि तू संवाद करने वालों में शिरोमणि है । ऐसा कहकर भगवान् ने आनन्दपूर्वक अर्जुन का आलिङ्गन किया और कृपा दृष्टि से उसे देखकर कहने लगे—दो ओठों से एक ही से शब्द निकलता है, दोनों पैरों से चलने की एक ही क्रिया होती है, उसी प्रकार तेरा पूछना और मेरा कहना दोनों एक ही है । इसी प्रकार तेरा और मेरा स्वरूप भी एक ही है । (४५४)

इस प्रकार बोलते-बोलते मुग्ध होकर भगवान् अर्जुन को आलिङ्गन कर स्तब्ध हो गये । फिर कहने लगे—पर इतना अधिक प्रेम

भी ठीक नहीं है। ईख का गुड़ बनाते समय उसमें जरा सा नमक भी डालना पड़ता है। (यह प्रथा दक्षिण देश की है) उसी प्रकार हमारे सम्वाद रूपी सुख में जरा सा द्वैत-भाव उत्पन्न किया जाय तो इस प्रेम का लय तुरन्त ही हो जाय। हे अर्जुन ! तू नर और मैं नारायण होने से दोनों में पहले से ही भेद नहीं है, पर मेरे अन्तर में उत्पन्न हुए इस प्रेम को मुझ में ही समाने दे। फिर सावधान होकर कहने लगे—'हे वीर श्रेष्ठ ! तुमने क्या बात पूछी थी ?' यह सुनकर अर्जुन भी, जो अभी भगवान् कृष्णके स्वरूप में निमग्न हो रहा था, सावधान होकर गद्गद् स्वर से बोला—'हे देव ! आपका निरुपाधिक स्वरूप क्या है, वह बतलाओ !' अर्जुनके प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् प्रथम दो प्रकार की उपाधियों का वर्णन करते हैं यदि किसी को यह शङ्का हो कि अर्जुन के निरुपाधिक विषयक प्रश्न करने पर भी भगवान् ने उपाधियों का वर्णन क्यों किया, तो इसका समाधान यह है कि हमसे कोई मक्खन मांगने आवे तो हम पहले छाछ बनाते हैं और फिर उसमें से मक्खन निकालते हैं। अथवा शुद्ध सुवर्ण की आवश्यकता हो तो पहले, उसको गलाकर अशुद्ध धातु को निकालना पड़ता है। चावल खाना हो तो पहले धान के ऊपर से छिलके को निकाल देना होता है। उसी प्रकार दृश्य स्वरूप पर से उपाधि निकाल डालने पर जो शेष बच रहे वही शुद्ध रूप है, इस विषय में अधिक कहने-सुनने की कोई जरूरत ही नहीं है। जिस प्रकार किसी कुलीन स्त्री से पति का नाम पूछा जाय तो जिस नाम को सुनकर वह चुप रह जाय वही पति का नाम होता है, उसी प्रकार जहाँ शब्दों की गति कुण्ठित हो जाती है, वही अवर्णनीय निरुपाधिक स्वरूप है। उस स्वरूप का वर्णन शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता तो आस-पास के संयोग से ही करना पड़ता है। इसीलिये लक्ष्मीपति भगवान् पहले उपाधि का वर्णन करने लगे। प्रतिपदा के अति सूक्ष्म चन्द्रमा का किनारा हो तो किसी वृक्ष की शाखा आदि का संकेत करना पड़ता है,

वैसी ही निरुपाधिक स्वरूप का वर्णन करते हुए उपाधि का स्वरूप भी बतलाता हूँ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६

भगवान् कृष्ण ने कहा—हे सव्यसाची! इस संसार रूपी नगर में वस्तुतः दो ही पुरुष निवास करते हैं। जिस प्रकार समय आकाश में दिन-रात्रि केवल ये दो ही रम रहे हैं, उसी प्रकार संसार रूपी राजधानी में ये दो ही बसते हैं। इनके सिवाय एक तीसरा पुरुष और है, पर वह तो इनको नाम मात्र के लिए भी नहीं चाहता। इससे जब वह आता है तो नगर सहित दोनों का नाश कर डालता है। पर अभी उस तीसरे पुरुष की बात रहने दो पहले इस संसार रूपी नगर में रहने के लिये जो दो पुरुष आये हैं उनकी बात सुनो। उनमें से एक अन्धा, उन्मत्त और लङ्गड़ा है और दूसरा सब अङ्गों से परिपूर्ण है। परन्तु उनके ये लक्षण वास्तविक नहीं है, वरन् उस नगर में बसने वालों की सङ्गति से पैदा हो जाते हैं। उनमें से एक का नाम 'क्षर' और दूसरे का 'अक्षर' है। उन्होंने इस संसार को भर रखा है। यहाँ शुद्ध परमात्मा को ही क्षर-अक्षर का नाम दिया गया है। महत्तत्व से लेकर एक तिनका तक जो कुछ सांसारिक पदार्थ हैं, वे 'क्षर' अर्थात् 'प्रतिक्षण नाश होने वाले' कहे जाते हैं।

हे अर्जुन! इस संसार में जो कुछ छोटा-बड़ा चर-अचर, मन और बुद्धि से समझा जा सके ऐसा पंचभूतों से बना, नाम रूप वाला, सत्व-रज-तम इन तीनों गुणों की टकसाल में ढला हुआ, अधिक क्या कहें, जिसे जगत कहा जाता है, वह सब क्षर ही है। जिसका आठ प्रकार की प्रकृति के नाम से सातवें अध्याय में वर्णन करके तेरहवें अध्याय में समझाया गया है और इसी अध्याय के आरम्भ में अश्वत्थ वृक्ष के रूप में कथन किया गया, वही चैतन्य पुरुष अपने को इस नगर का निवासी मानकर सर्वत्र फैला हुआ है। कुँआ में अपना प्रतिबिम्ब

देख जिस प्रकार सिंह उसे अन्य सिंह समझकर क्रोधपूर्वक कूद पड़ता है, उसी प्रकार चैतन्य अद्वैत होने पर भी माया की उपाधि के कारण द्वैत बन जाता है। हे अर्जुन ! इस प्रकार आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर संसाररूपी नगर में सोता है और नींद में ही 'मैं सुखी हूँ—मैं दुःखी हूँ, इस प्रकार बड़बड़ाता रहता है। वह ममता के पाश में फँसकर 'यह मेरा पिता है, यह माता है, मैं काला हूँ, गोरा हूँ, पुत्र-स्त्री, सम्पत्ति ये सब मेरे ही हैं" ऐसी-ऐसी कल्पनायें करता रहता है। इस प्रकार स्वप्न के समान संसार तथा स्वर्ग के अरण्य में भटकने वाला जो 'चैतन्य' है, उसी को 'क्षर' कहा गया है। उसी को 'क्षेत्रज्ञ' अथवा 'जीव' भी कहा जाता है। वह सब वस्तु में व्यापक है, इससे 'पुरुष' भी कहा जाता है। दूसरे वह देह रूप में निवास करता है इसलिए भी पुरुष कहा जाता है। इस तरह की समाधि में ग्रस्त हो जाने से ही उस पर 'क्षरपने' का झूँठा रङ्ग चढ़ा दिया गया है। जिस प्रकार हिलते पानी में चन्द्र बिम्ब भी हिलता दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार विकारों की उपाधिके कारण ही आत्मा उपाधियुक्त बन जाती है फिर उस पानी के सूख जाने पर वहाँ चन्द्र बिम्ब का नाम भी नहीं रहता, उसी तरह उपाधि का नाश होने से चैतन्य भी अदृश्य हो जाता है। इन्हीं सब कारणों से जीव चैतन्य को 'क्षर' कह दिया गया है अब 'अक्षर' के कौन-कौन लक्षण हैं, यह वर्णन करता हूँ।

(४०२)

हे अर्जुन ! दूसरा जो 'अक्षर' पुरुष है वह मध्यस्थ है। जिस प्रकार समस्त पर्वतों में मेरु पर्वत की स्थिति मध्यस्थ है उसी प्रकार अक्षर पुरुषकी उपाधि, जिसे अज्ञान कहा गया है परमात्मा और माया के बीच में मध्यस्थ है। जिस प्रकार मेरु पर्वत पृथ्वी, पाताल और स्वर्ग—तीनों लोक में समान रूप से है, उसी प्रकार अक्षर पुरुष ज्ञान और अज्ञान में समान हैं। ज्ञान पूर्वक एक रूप होना अथवा विपरीत ज्ञान से द्वैत स्थिति को प्राप्त करना इन दोनों से पृथक् उदासीन रहना

'अक्षर' का स्वरूप है। जैसे मिट्टी को भिगोकर लोंदा बना लिया जाय पर जब तक उससे घड़ा आदि का निर्माण न हुआ हो, तो वह न तो मिट्टी कहलाती है और न घड़ा, वैसी ही बीच की स्थिति अक्षर की भी होती है। जाग्रत अवस्था जाकर अभी स्वप्नावस्था नहीं आई,अथवा जगत् का आभास लोप हो चुका पर अभी आत्मज्ञान का उदय नहीं हुआ ऐसी ही दशाओं के बीच जो केवल अज्ञान दशा है उसी को 'अक्षर' कहा जाता है। (५०८)

अमावस्या की रात्रि को समस्त कलाओं का लोप होने पर चन्द्रमा का जैसा स्वरूप होता है, वैसा ही शुद्ध ज्ञान तथा विपरीत ज्ञानसे भिन्न जो केवल अज्ञान है वही स्वरूप अक्षरका समझो। उपाधि सहित चैतन्य जहाँ विश्राम करता है, उस स्थान को 'अव्यक्त' कहते हैं। जब निद्रा-वस्था में पूर्ण अज्ञान होता है वह 'बीजभाव' कहा जाता है, उस स्थिति का नाम 'अक्षरपुरुष' है। जहाँ जीव धर्म पैदा होता है, समस्त विश्व की उत्पत्ति होती है और प्रलय काल में जहाँ विश्व साम्यावस्था को प्राप्त होता हैं, उस उपाधि अथवा अज्ञान में रहने वाले चैतन्य को ही अक्षर पुरुष कहते हैं।

दूसरा क्षर पुरुष (जीव) देह धारण करके जागृत और स्वप्नावस्था के बीच खेलता है। यह दोनों अवस्थायें पूर्ण अज्ञान से भरी हैं और निद्रावस्था कही जाती हैं। यदि इस निद्रावस्था में स्वप्न तथा जागृत का आविर्भाव न होता तो हे अर्जुन! इसे ब्रह्मस्थिति ही कहा जा सकता था। नीचे की तरफ विस्तार पाने वाले संसार रूपी वृक्ष का जो मूल है वही इस अक्षर पुरुष का रूप हैं इसे पुरुष क्यों कहा गया ? यह पूर्ण निद्रा लेता है और मायारूपी पुर में शयन करता है। इसका नाश बिना पूर्ण ज्ञान के और किसी से नहीं हो सकता, इसलिए यह 'अक्षर' है,ऐसा सिद्धान्त वेदान्त दर्शन में मिलता हैं। तात्पर्य यह कि जो जीवरूपी कार्य कारण है और इसलिए माया के संग रहता हैं उसी चैतन्य को 'अक्षर' पुरुष कहा जाता है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।१७

अब विपरीत ज्ञान से इस विश्व में उत्पन्न होने वाली जो जागृति और स्वप्नावस्था हैं, वे गाढ़ अज्ञान में लय होती हैं। वह अज्ञान, ज्ञान में डूबकर उससे भी आगे निकल जाता है। जिस प्रकार अग्नि काष्ठको जलाकर स्वयं भी अदृश्य हो जाती हैं, उसी प्रकार शेष बचा हुआ ज्ञातृत्व विहीन ज्ञान ही उत्तम पुरुष अथवा ब्रह्म है। इसी को अन्तिम-तृतीय पुरुष बतलाया गया है, योगमें वह पहले दो पुरुषोंसे भिन्न हैं। हे अर्जुन निद्रा तथा स्वप्न की अपेक्षा जिस प्रकार जाग्रतावस्था बिल्कुल भिन्न प्रकार की होती है, अथवा सूर्यकिरण और मृगजलसे सूर्य विम्ब बिल्कुल भिन्न प्रकार का होता है, उसी प्रकार यह उत्तम पुरुष उन दोनों से सर्वथा भिन्न होता है। कल्प के अन्त में जब समुद्र की मर्यादा का लोप होकर सर्वत्र जलमय हो जाता है, स्वप्न, गाढ़ निद्रा तथा जागृति का भास जहाँ शेष नहीं रहता, प्रलयकाल का तेज दिन और रात्रि को भी निगल जाता है, तब अद्वैत और द्वैत का प्रश्न भी नहीं रहता और क्षर-अक्षर सब समाप्त होकर केवल एक उत्तम पुरुष (ब्रह्म) ही शेष रहता है। हे अर्जुन ! उस समय इस प्रकार बोलना भी सम्भव नहीं होता, केवल जीव दशा में सब कह लिया जाता है। जिस प्रकार नदी के तटपर खड़ा मनुष्य जलमें डूबने की बातें करता है, पर जो डूब जाते हैं, वे डूबने की बात भी कहाँ कर पाते हैं ? हे अर्जुन ! इसी प्रकार वेद जब तक विचार रूपी तट प्रवेश पर खड़े होते है, तभी तक इस तरफ की और दूसरी पार की बात कह सकते हैं। इस प्रकार क्षर और अक्षर पुरुष यहीं के हैं और केवल आत्म स्वरूप को ही 'पर पुरुष' कहा जा सकता है। (४३९)

हे अर्जुन ! इस प्रकार 'परमात्मा' शब्द से पुरुषोत्तम को ही समझना चाहिए। अन्यथा जहाँ शब्द अस्त हो जाता है, ज्ञान लोप हो जाता

है, समस्त व्यापार बन्द हो जाते हैं, 'अहं ब्रह्म भाव' का भी लोप हो जाता है, जहाँ मन्थन करने वाला ही कथा-वस्तु बन जाता हैं, दृष्टा सहित दृश्य का लोप हो जाता है, उसे 'पुरुषोत्तम' कहा जाता है। नासिका और पुरुष के बीच में सुगन्ध दिखलाई नहीं पड़ती, पर फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह नहीं है। इसी प्रकार दृष्टा और दृश्य के लुप्त हो जाने पर पर क्या वस्तु बच रहती है, इसे कौन बता सकता हैं ? पर ऐसी स्थिति का अनुभव निरीक्षण करना पुरुषोत्तम का स्वरूप है। जो प्रकाश वाली वस्तु के बिना ही प्रकाशता है, नियमन पदार्थ के बिना ही नियमन करता है, ऐसा जो ईश्वर है, वह अपने स्व-रूप से आप ही होता है, जो नाद ब्रह्म को सुनने की शक्ति देने वाला नाद है। स्वाद का आस्वादन शक्ति देने वाला मूल स्वाद है, ब्रह्मानन्द को आनन्द की शक्ति देने वाला आनन्द है, जो पूर्णतत्व, सब पुरुषों में श्रेष्ठ, विश्रान्ति का भी विश्रामस्थल, सुख का सुख, तेज का भी तेज, महाशून्य का भी शून्य है, जो सबसे दूर है, जो स्वयं विश्व न होते हुए भी विश्व को धारण करता है वही पुरुषोत्तम है। पानी और तरङ्गों में कोई भिन्नता नहीं है। हे वीरेश ! जैसे पानी में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब का एक मात्र कारण चन्द्रमा होता है, वैसे ही जगत् का लय होता है कुछ भी परिवर्तन नहीं होता और वह कहीं अन्यत्र जाता नहीं। किसी भी कारण से कभी परमात्मा का क्षय नहीं होता और उसकी तुलना उसी से की जा सकती है। (५५५)

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८

हे धनंजय ! जो स्वयं ही स्वयं को प्रकाशित करता है, अधिक क्या कहें, जिसमें द्वैत का लेश भी नहीं है; वही मेरा निरुपाधिक स्व-रूप है और मैं क्षर तथा अक्षर से परे हूँ और इसलिए वेद तथा लोग मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ।।१९

परन्तु अब इस बात को रहने दो । हे अर्जुन ! जिसके हृदय में ज्ञान रूपी सूर्य का प्रकाश पड़ रहा होता है, वही मुझको पुरुषोत्त जानता है । जिस प्रकार जागृत हो जाने पर स्वप्न का भाव मिट जाता है, उसी तरह ज्ञान का उदय होने पर समस्त जगत् मिथ्या जान पड़ता है । जो सुवर्ण के अलङ्कार को सुवर्ण की निगाह से ही देखता है वह अलंकार तत्व को मिथ्या मानता है,उसी प्रकार जिसे मेरा ज्ञानहो जाता हैं उसकी दृष्टि से ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी का सर्वथा लोप हो जाता है । फिर वह कहता है कि–'मैं ही स्वतः सिद्ध सच्चिदानन्द सर्वत्रहूँ ।' ऐसी अद्वैत दृष्टिसे लेश मात्र भेद रखे बिना जो मुझे जानता है, उसके लिए उसने सब कुछ जान लिया है, यह कहना भी शोभा देता है, क्योंकि उसमें अद्वैत का लेशमात्र भी शेष नहीं रहता । अतएव हे अर्जुन ! वही मेरा भजन करने का अधिकारी है । जिस प्रकार आकाश का आलिङ्गन आकाश ही कर सकता हैं और क्षीर सागर का आतिथ्य करने की सामग्री क्षीर सागर में ही होती हैं, वैसे ही मेरे स्वरूप को प्राप्त करके ही मनुष्य मेरी भक्ति करने योग्य बनता है । अगर गङ्गा समुद्र से भिन्न होती तो वह सागर में जाकर कैसे मिलती ? इसलिए मद् रूप हुए बिना मेरी भक्ति करना सम्भव नहीं हैं : सूर्य और उसकी प्रभा में जिस प्रकार पूर्ण ऐक्य रहता है, उसी प्रकार मुझ में और मेरे भक्त में किंचित्मात्र अन्तर नहीं होता ।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ।।२०

इस प्रकार पन्द्रहवें अध्याय का आरम्भ करके यहाँ तक समस्त शास्त्रों से साररूप प्राप्त होने वाले उपनिषद् रूपी कमल दल में से गीता रूपी सुगन्ध निकलकर समस्त जगत् में फैल गई है । यह भगवद्गीता श्री व्यासजी के ज्ञानरूपी हाथ से निकाले हुए नवनीत के समान है ।

वह गीता ज्ञानामृत से भरी दूसरी भागीरथी गङ्गा हैं अथवा आनन्दरूपी चन्द्रमा की सत्रहवीं कला है, अथवा विस्तार रूपी क्षीर सागर का मथन करके निकाली हुई नवीन लक्ष्मी ही है। भगवान् कृष्ण कहते हैं कि इस भगवद् गीता की अपने पद, वर्ण और अर्थरूप जीव-प्राणों सहित मेरे अतिरिक्त दूसरी गति ही नहीं हैं। इसलिए वह मेरे समान ही है। क्षर और अक्षर रूपी पुरुषों का पुरुषत्व उसके सामने जाते ही नष्ट हो गया और उसने अपना सर्वस्व मुझ पुरुषोत्तम को अर्पण कर दियाहै। वास्तव में यह गीता शब्दों में वर्णन करने योग्य नहीं है, वरन् यह लंसार को जीतने वाला शास्त्र ही है। इस गीता के अक्षर आत्मभाव उत्पन्न करने वाले मन्त्र ही हैं। अर्जुन ! आज जो तुमने यह गीता सुनी है वह तुमने मानो मेरा गढ़ा हुआ खजाना ही निकाल लिया है। अथवा मैं चैतन्य शङ्कररूप हूँ और तुमने श्रद्धावान् गौतम बन कर मेरी जटाओं में से गीतारूपी गङ्गा को बाहर निकाल लिया। (५७९)

हे धनंजय ! जिस प्रकार अपनी सुन्दरता का अनुभव करने के लिए दर्पण की आवश्यकता होती है। हे अर्जुन ! तेरे विविध तापरूपी मलों का नाश हो जाने से तू गीता सहित मेरा निवास स्थल बन गया है। जो इस गीता रूपी ज्ञानवल्लरी को जानता है, वह इस संसार के मोह से मुक्त ही है। जिस प्रकार अमृत की नदी का पानी पीने से रोग दूर होते हैं, वैसे ही गीता को समझने से मोह का नाश हो जाय तो इसमें क्या आश्चर्य है ? वरन् इससे भी बढ़कर इसके द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति होकर आत्म स्वरूप के साथ ऐक्य होकर कर्मों का अन्त हो जाता है। हे वीर विलास अर्जुन ! जैसे खोई हुई वस्तु मिल जाने पर खोज कार्य बन्द हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान की प्राप्ति होनेपर कर्म रूपी मन्दिर पर कलश के समान शोभित होता है और ज्ञानी पुरुष के सब कर्मों का अन्त हो जाता है। (५८१)

भगवान् कृष्ण के मुख से निःसृत अमृत अर्जुन के हृदय में

समा न सका तो बाहर उमड़ पड़ा और व्यासजी की कृपा से संजय को भी प्राप्त हो गया। वह अमृत संजय ने धृतराष्ट्र को भी पिलाया। उस समय वह उसे अच्छा तो नहीं लगा, पर उसका फल कल्याण ही हुआ। अंगूर की बेल को पानी की जगह दूध में सींचने पर उस समय तो वह व्यर्थ गया मालूम पड़ता है, पर जब बेल में बड़ें-बड़े अंगूर आते हैं, तब उसका लाभ प्रकट होता है। इसी प्रकार गीता को श्रवण कराने के समय तो धृतराष्ट्र अनधिकारी जान पड़ता था, अन्तिम समय में उससे वह सुखीही हुआ। यह गीता-कथा मैंने आपको अपनी ऊबड़-खाबड़ देशी भाषा में सुनाई है। रसिक मनुष्य सेवती के वृक्ष को स्पर्श करे तो उसके गन्ध का ही उपभोग करता है। उसी प्रकार मेरे कथन में जो योग्य हो उसे आप ग्रहण करें और अयोग्य को छोड़ दें, क्योंकि अल्प वयस्क बालक का ज्ञान ही कितना होता है ? फिर भी माता-पिता बालक के अज्ञान को देखकर भी हर्षित होते हैं और कौतुक की तरह देखते हैं। उसी प्रकार आप मेरे माता पिता तुल्य हैं। आपके सम्मुख मैं लाड़ से बोलता हूँ, उसी का यह ग्रन्थ हो गया। ज्ञानदेव कहते हैं कि मेरे विश्व व्यापक गुरु श्री निवृत्तनाथ मेरी इस वाक्य रूपी पूजा को अङ्गीकार करें। (५६९)

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां
पंचदशोऽध्यायः ॥१५॥

।। अथ षोडशोऽध्यायः ।।

जगत् आभास को अदृश्य करने वाले और अद्वैत रूपी कमल को प्रफुल्लित करने वाले चमत्कारिक सूर्य—श्री गुरुदेव का उदय हुआ है, उनको मेरा नमस्कार है। जो सूर्य माया रूपी रात्रि तथा ज्ञान-अज्ञान रूपी चाँदनी का लोप करके ज्ञानी जनों के लिए आत्म बोध का सुदिन प्रकाशित करता है, जिस सूर्यके उदय होनेसे आत्मज्ञान का प्रकाश होता हैं और देहाभिमानी रूपी पक्षी घोंसले से बाहर निकलता हैं,अथवा सूक्ष्म देह रूपी कमल में फँसा जीव-चैतन्य रूपी भ्रमर छुटकारा पा जाता है या जीवेश्वर भेद रूपी नदी के दोनों किनारों पर वियोग के कारण विलाप करते बुद्धि और ज्ञान रूपी चक्रवाकों की जोड़ी का ब्रह्म आकाश में मेल हो जाता है—जिन गुरु रूप सूर्य के उदय से भेद रूपी चोर का भय दूर हो जाता है, योगी रूप प्रवासी आत्मानुभव के मार्ग में सुख से चलने लगते हैं, जिस सूर्य की विवेक रूपी किरणों में ज्ञान रूपी सूर्य-कान्त प्रदीप्त होकर संसार रूपी अरण्य को जला देता है, जिस सूर्य की प्रखर किरणों से आत्मानुभव रूपी मैदान में मृगजल के समान महा-सिद्धियों की बाढ़ आती है, जिस सूर्य के उदय से द्वैत रूपी नगर में महानन्द का उभार आ जाता है, जिस सूर्य के तेज से दिवस और रात्रि का भास नहीं होता, जो बिना किसी अन्य प्रकाश की सहायता के स्वयं प्रकाशी है, ऐसे चैतन्य रूपी सूर्य जो निवृत्ति महाराज हैं उन्हें बारम्बार मेरा नमस्कार है। (१३)

उनकी स्तुति वाणी द्वारा करनी, यही शोभा नहीं देती। जब स्तुतिकर्त्ता, स्तोत्र और स्तुत्य की त्रिपुटी का लोप हो जाता है, तभी उनकी सच्ची स्तुति होती है। सर्वज्ञान का लोप हो जाना ही जिनका

ज्ञान है, मौन धारण करके कुछ न कहना ही जिनका वर्णन है, अपनी स्मृति न रहने से ही जिनकी प्रतीति हो सकती है, ऐसे आप सद्‌गुरु को मैं सेवनके रूपमें स्मृति रूपी अलंकार पहिनाता हूँ। यह अलंकार यद्यपि आपको योग्यता की दृष्टि से अत्यन्त हीन है, तो भी आप उसे स्वीकार करोगे ही। कोई दरिद्री मनुष्य अमृतसिन्धु से भेंट होने पर सागभाजी से ही उसका अतिथ्य करे, तो उस समय उसकी सागभाजी को ही विशेष सामग्री समझना चाहिए। सूर्य के सम्मुख कोई छोटा सा दीपक जलाकर आरती उतारता हो तो उस दीपक के छोटेपन को न देखकर उसके भक्ति-भाव को देखना चाहिए। छोटा बालक यदि उचित अनुचित का विवेक रखता हो तो फिर बालक ही क्यों कहा जाय? नाले का पानी गङ्गा के पैर पर पैर रखकर आ मिलता है तो क्या वह उससे कहती है—'यहाँ न आना!' भृगु ने विष्णु भगवान् के हृदय पर लात मारी तो भगवान् ने क्रोध करने के बजाय उसे आभूषण मानकर धारण कर लिया। अथवा जब अन्धकार पूर्ण जगत् सूर्योदय से प्रकाशित होता है तब क्या वह अन्धकार से कहता है कि—'दूर हट जा!' उसी प्रकार हे गुरो! मैंने भेद बुद्धि की तराजू से आपकी तुलना सूर्य के साथ करने की चेष्टा की है उसके लिए मुझे क्षमा करना। योगियों ने ध्यान धरकर आपको प्राप्त किया है और वेदों ने अपनी वाणी से आपका वर्णन किया है, उन सबकी बातों को आप जैसे सहन कर गये उसी प्रकार मेरी भूल को भी क्षमा करें।

(२९)

मैं आपके गुणानुवाद में प्रवृत्त हुआ हूँ, इसे आप मेरा अपराध न न समझें। चाहे कुछभी हो, पर मैं भूखे पेट नहीं उठूँगा। जब मैं गीता रूपी प्रसादामृत का वर्णन करने लगा तो मुझ में दुगनी शक्ति आ गई। हे प्रभो! मेरी वाणी ने अनेक कल्पों तक सत्य भाषण रूपी तप किया होगा, उसी के फलस्वरूप मुझे इस गीता रूपी महादीप की प्राप्ति हुई है। मैंने आज तक जो बहुत-सा पुण्य-सम्पादन किया था उसी से मुझे

आपका गुणानुवाद करने की शक्ति मिल सकी है। मैं जन्म-मरणके फन्दे में पड़ा था, पर अब मेरी सब पीड़ा दूर हो गई। जो 'गीता' के नामसे प्रसिद्ध है और अविद्या का नाश करके बलवती बनी है, वह आपकी कीर्ति हमारे वर्णन करने योग्य है। दरिद्री के घर महालक्ष्मी आ जाये तो क्या उसे दरिद्री कहा जा सकता है ? अथवा अन्धकार के घर सूर्य आवे तो फिर क्या वह संसार को प्रकाशित करने वाला न बन जायगा? जिस परमात्मा की शक्ति के समक्ष जगत् एक परमाणु के समतुल्य जान पड़ता है, वह परमात्मा भक्ति के प्रभाव से चाहे जैसा रूप धारण नहीं कर सकता है क्या ? गीता का भाष्य करने का कार्य मेरे लिए आकाश पुष्प सूँघने के समान है, परन्तु आप समर्थ ने मेरी उत्कण्ठा को पूरा किया है, इसलिए आपकी कृपा से मैं गीता के अगाध श्लोकों का स्पष्ट निरूपण करूँगा। पन्द्रहवें अध्याय में श्रीकृष्णजी ने सब शास्त्रों के सिद्धान्त को स्पष्ट करके बतला दिया है। उत्तम वैद्य जिस प्रकार शरीर व्याप्त रोग का सूक्ष्म निरीक्षण करके उसका पक्का निदान करता है, उसी प्रकार माया की उपाधि की वृक्ष के साथ तुलना करके भगवान् ने इस विश्व प्रपंच को स्पष्ट करके बतलाया है। देहान्तर्गत जीवात्मा को 'पुरुष' नाम देकर समझाया है। उन्होंने उपाधियुक्त चैतन्य का भी ज्ञान करा दिया है और फिर शुद्ध आत्मतत्व (ब्रह्म) का 'उत्तम' पुरुष के नाम से परिचय कराया है। आत्मा की प्राप्ति का जो शक्ति शाली साधन ज्ञान है उसका भी उन्होंने स्पष्ट वर्णन किया है। इस प्रकार उन्होंने इस अध्याय में निरूपण करने योग्य कोई विषय छोड़ा नहीं हैं। फिर भी गुरु और विषय के परस्पर स्नेहाधिक्य के कारण एक बार कही हुई बात को फिर-फिर कहने का प्रसंग प्राप्त होता है।(४६)

इस तरह पन्द्रहवें अध्याय में कही गई बातें ज्ञानियों की समझ में तो पूरी आ गईं, पर अन्य मुमुक्षुओं की इस शंका का निवारण नहीं हुआ कि 'ऐसा जो मैं पुरुषोत्तम हूँ उसे जो मर्मज्ञ ज्ञानपूर्वक जानता है,

वही सर्वज्ञ है और वही मेरा भक्त है।' इस प्रकार का प्रतिपादन भगवान् ने पन्द्रहवें अध्याय के अन्तिम श्लोक में परम सन्तोष पूर्वक किया है। उन्होंने बतलाया कि ज्ञान ही एकमात्र ऐसा शक्तिशाली उपाय है जिसके द्वारा मनुष्य विश्व-प्रपञ्च को दूर हटाकर ब्रह्मज्ञानी ही नहीं स्वयं ब्रह्म स्वरूप हो जाता है और जीवात्मा आनन्द के साम्राज्य का अधिपति बन जाता है। इस प्रतिपादन से आात्मज्ञान की इच्छा रखने वालों को बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने अपने प्राण ज्ञानपर निछावर कर दिए। जिस वस्तु पर प्रीति हो जाती है उसके सम्बन्धमें अधिकाधिक विचार उत्पन्न होने लगते हैं, वही प्रेम का लक्षण हैं। अतएव ज्ञानियों में से जिनको इस विषय का पूरा अनुभव प्राप्त नहीं हुआ था उनको ज्ञान वृद्धि करने और उसकी रक्षा की चिन्ता होने लगी। इसलिए आगे चलकर भगवान ऐसा उपाय बतलायेंगे कि अपरोक्ष ज्ञान किस प्रकार प्राप्त हो और विघ्न बाधाओं से बचकर निरन्तर बढ़ता रहे। जिसकी सहायता से उत्तम अवसर पर ज्ञानकी प्राप्ति होकर जीवात्मा अपने स्वरूप तक पहुँच जाय ऐसी दैवी सम्पत्ति का वर्णन अब भगवान करेंगे और जिस आसुरी सम्पत्ति से राग द्वेष की उत्पत्ति होकर ज्ञान का नाश हो, उसके विषय में भी कथन करेंगे।

इस प्रकार की दैवी और आसुरी सम्पत्ति कां वर्णन जिनसे इष्ट और अनिष्ट कार्य होते हैं, भगवान नौवे अध्याय में करने लगेथे पर यहाँ अन्य प्रसंग उठ खड़े होनेसे उस विषयपर पूरा विचार नहीं किया जा सका। इस सोलहवें अध्याय में इसी का निरूपण किया। इसकी संगति पन्द्रहवें अध्याय से मिलाकर ही इस पर विचार करना चाहिए। नौवें अध्याय में दैवी, आसुरी और राक्षसी प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया था, उनमें से ये दैवी और आसुरी प्रवृत्तियाँ ज्ञान की प्राप्ति अथवा हानि कराने में समर्थ हैं। अब पहले आप उस दैवी सम्पत्ति का वर्णन सुनिए, जो मोक्ष मार्ग में सहायक और मोह रूपी रात्रि में मशाल का काम देने वालीहै। जो एक-दूसरे के लिए सहायक सिद्ध हों ऐसी अनेक बातों के समुदायको

सम्पत्ति कहते हैं। ऐसी सबको सुखकारी सम्पत्ति को ही दैवी सम्पत्ति कहा जाता है। (९७)

श्रीभगवानुवाच—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१

दैवी गुणों में जिसका प्रमुख स्थान है, उसे 'अभय' कहा जाता है। जो बाढ़ में नहीं कूदेगा उसे डूबने का क्यों भय होगा, अथवा पथ्याहार करने वाले को रोग का भय क्यों हो सकता है? इसी प्रकार जो अपने भीतर अहंकार उत्पन्न नहीं होने देगा वह संसार का नहीं हो सकता। अथवा जो अद्वैत भावना रखकर समस्त जगत् को आत्मस्वरूप समझता है, उसे भय की कल्पना भी कहाँसे हो सकती है? पानी नमक को डुबाने जाय तो वह नमक स्वयं ही पानी बन जाता है, उसी प्रकार अद्वैत भावना वाला स्वभावतः निर्भर हो जाता है। ऐसा सम्यक् ज्ञान सदा रक्षा करने वाला होता है। (७२)

अब जिसे 'सत्व शुद्धि' (शुद्ध बुद्धि) कहते हैं, उसके चिन्ह ये हैं—जिस प्रकार राख न तो जलती है और बुझती है, उसी प्रकार जिसकी बुद्धि में संकल्प-विकल्प का अभाव हो, अथवा प्रतिपाद का आरम्भ होने से पहले और अमावस्या की समाप्ति हो जाने के मध्यवर्ती काल में चन्द्रमा का जैसा सूक्ष्म रूप होता है, अथवा ग्रीष्म ऋतु के अन्तिम भाग में और वर्षा आरम्भ होने से पहले गंगा के पानी का स्वरूप जैसा निर्मल होता है, उसी प्रकार संकल्प और विकल्पों से आकर्षित न होकर रजोगुण और तमोगुण से दूर रहकर बुद्धि आत्मानन्द का अनुभव करती रहने लगे, उसे 'सत्व शुद्धि' कहा जाता है। अथवा इन्द्रियों के प्रिय-अप्रिय विषय सम्मुख आने पर बुद्धि उनकी इच्छा न करें, अथवा पतिव्रता स्त्री का पति जब परदेश चला जाता है तो उसके बिरहदुःख के सामने उसे और किसी प्रकार की हानि-लाभ

की बात अच्छी लगती, है उसी प्रकार अपने सच्चे स्वरूप के विषय में प्रीति उत्पन्न होकर बुद्धि का एकनिष्ठ होना सत्वशुद्धि का लक्षण है–ऐसा केशी दैत्य के संहारक भगवान् श्री कृष्ण ने कहा। (८०)

अब आत्मलाभ के लिए ज्ञान और योग में से जिधर अपनी बुद्धि स्थिर होती हो उसमें चित्तवृत्ति को स्थिर करना चाहिए। जिस प्रकार समस्त आहुतियों का कार्य पूरा हो जाने पर पूर्णाहुति दी जातीहै अथवा कोई कुलीन मनुष्य अपनी कन्या को उत्तम कुल में अर्पण करके पूर्ण निश्चित हो जाता है, या समुद्र मन्थन के समय उत्पन्न हुई लक्ष्मीने सब देवों को छोड़कर एक विष्णुको अपना पति स्वीकार किया, इसी प्रकार सब विकल्पों के मिट जाने पर ज्ञान और योग में स्थिर होना ही 'ज्ञान-योग स्थिति' है और यह तीसरा लक्षण है। (८४)

मन-काय-वचन से शक्ति के अनुसार जो दान करता हो तो वह निःसंकोच भाव से देगा, चाहे याचना करने वाला अपना शत्रु ही क्यों न हो। हे धनंजय ! वृक्ष जिस प्रकार अपने पुष्प, फल, छाया, जड़,पत्ते आदि किसी आने-जाने वाले से छिपाकर नहीं रखते, उसी प्रकार मनसे लेकर सम्पत्ति तक आवश्यकता और औचित्य के अनुसार देने को तैयार रहना, इनको दुःखी जनों की सेवा में लगाना ही, 'दान' कहा जाता है। यह मोक्ष रूपी भूगर्भस्थ खजाने को देख सकने वाला अन्जन ही है। (८८)

जिस प्रकार शस्त्र धारण करने वाला शत्रुओं का नाश करता है, उसी प्रकार जो विषयों तथा इन्द्रियों के सम्मिलन को भंग करता है, इन्द्रियों के द्वार से आती हुई विषय रूपी वायु को भीतर आने नहीं देता, सब इन्द्रियों को प्रत्याहार के नियन्त्रण में रखता है, चित्त के भीतर जो प्रवृत्तियाँ गहरी उतर गई हैं उनको वैराग्य रूपी अग्नि द्वारा तपाकर बाहर निकाल देता है, प्राणायाम से भी कठिन व्रतों को करता है और रात-दिन उन पर दृढ़ बना रहता है–ऐसे मनुष्य के लिए यह

कहा जा सकता है कि उसने 'दम' का साधन कर लिया है । अब 'यज्ञ' के विषय में सुनो । (९३)

ब्राह्मण, स्त्री आदि सब श्रेणियों के मनुष्यों द्वारा अपने अधिकार के अनुकूल जो देव-पूजन आदि की परम्परा चली आई है उसका शास्त्र विधि से पालन करना । इस प्रकार ब्राह्मणों के लिए षट्कर्मों का पालन करना और अज्ञानियों का उनकी वन्दना कर लेना ही 'यज्ञ' है और इससे दोनों को समान फल मिल जाता है । इस प्रकार सब लोग अपने अपने अधिकार के अनुसार 'यज्ञ' करें पर यह ध्यान रखें कि उसमें फल की अशा का विष न मिल जाय । अपने मन में कभी यह भाव उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए कि इस यज्ञ का कर्त्ता मैं हूं । हे अर्जुन ! ऐसा 'यज्ञ' मोक्षमार्ग का सहचर होता है । (९९)

जैसे गेंद को पृथ्वी पर इसलिए पटका जाता है कि उछलकर फिर हाथ में आ जाय, खेत में जो बीज डाला जाता है, वह उसका नाश करने को नहीं परन्तु भविष्य में उत्तम फसल पाने के लिए होता है, अथवा जिस प्रकार किसी वस्तु को ढूंढ़ने के लिए दिया हाथ में लिया जाता है, फल पाने के लिए पेड़ को सींचा जाता है । अधिक क्या कहूँ जिस प्रकार अपना स्वरूप देखने के लिए दर्पण को बार-बार पोंछकर स्वच्छ किया जाता है, उसी प्रकार वेदोक्त इश्वरकी प्रप्तिके लिए सदैव वेदाध्ययन करना ब्रह्म सूत्र तथा स्तोत्रों आदि को पढ़ते रहना स्वध्याय कहा जाता है ।

अपना सर्वस्व भी परोपकारार्थ देना 'दान' कहा जाता है, पर धन को उड़ाना, व्यर्थ व्यय करना 'दान' नहीं है । जिस प्रकार इन्द्रायण का कड़वा फल वैसे किसी काम नहीं आता पर औषधि के रूप में वह लोगों को उपयोगी सिद्ध होता है, हवन सामग्री अग्नि में पड़कर स्वयं नष्ट हो जाती है पर सबको सुगन्ध पहुँचाती है, सोना जैसे-जैसे तपाया जाता है कम होता जाता है पर उसकी चमक बढ़ती जाती है, उसी प्रकार हे

वीर श्रेष्ठ ! ब्रह्म प्राप्ति के लिए शरीर और इन्द्रियों को क्षीण करना ही 'तप' कहा जाता है । अन्य प्रकार के जो तप किए जाते हैं वे इसके समान शुद्ध नहीं हैं । जिस प्रकार हंस दूध और पानी को अलग-अलग कर देता है, उसी प्रकार देह और जीव को पृथक् करने के लिए अन्तःकरण मे आरम्भ से ही जो विचार किया जाता है, आत्म विचार की दृढ़ता तथा विषयों के त्यागके लिए जो प्रयत्न होता रहता है और उस से आत्मा की प्राप्ति के लिए जिस विवेक की उत्पत्ति होती है, उसी को 'तप' कहा जाता है । जिस प्रकार दूध बालकों का पोषण करने वाला होता है, जैसे प्राण समस्त जीवों में एक समान रहता है, उसी प्रकार प्राणिमात्र के साथ सौजन्य का भाव रखना ही 'आर्जव' कहा जाता है । (११३)

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२

काया, वाणी और मन के द्वारा जगत् को सुख पहुँचाने के उद्देश्य से जो कर्म किया जाये वही 'अहिंसा' का वास्तविक लक्षण है । अब 'सत्य' की विशेषता यह है कि उसमें तीक्ष्णता और कोमलता दोनों गुण पाये जायें, जैसे कमल का पुष्प और चाँदनी पर सत्य की औषधि की उपमा नहीं दी जाती, क्योंकि ऐसी औषधि कोई नहीं होती जो देखने से ही रोग को दूर कर दे और जीभ को कड़वी न लगे । हाँ पानी की उपमा दी जा सकती है, जो आँख पर घिसने पर भी मृदु लगता है और कठोरता भी ऐसी है कि पहाड़ों की चट्टानों के टुकड़े करके बाहर निकल जाता है । इसी प्रकार जो संशय को मिटाने में लोहे से अधिक कठोर हो वही 'सत्य' है । जिसे सुनने के लिए कान परम उत्सुक हों, साथ ही जो परम-ब्रह्म तक पहुँचाने में समर्थ हो, वही वास्तविक सत्य है । नहीं तो, शिकारी का गाना भी बड़ा मीठा होता है,पर वह हिरनके

प्राण लेने वाला होता है और अग्नि भी अपना कार्य पूरी सच्चाई से करती है, पर उससे नाश ही होता है। कान को मधुर लगने पर भी जिस भाषण का अर्थ हृदय को छेद डाले, वह भाषण एक डाकिनी का ही है। माता क्रोध में आकर शाप देने लगती है, पर उसकी राय वैसी नही होती, वह उपमा भी सत्य के लिए ठीक नहीं। वरन् माता के शब्द अत्यन्त मधुरता युक्त होते हैं और आशय भी परम कल्याणकारी होता है, उसी तरह जो हितकारी भाषण किसी के हृदय को दुःखी नहीं करता 'सत्य' है। (१२४)

अब पत्थर पर पानी से सिंचाई करने पर भी जैसे उसमें अंकुर नहीं निकलते, अथवा छाल पर उतराये पानी को बिलोने से मक्खन नहीं निकल सकता, ऋतु आने पर भी जैसे आकाश में पुष्प नहीं लगते अथवा रम्भा के रूप को देखकर भी जैसे शुकदेवजी में विषय-वासना उत्पन्न नहीं हुई, उसी प्रकार क्रोध उत्पन्न कराने वाले चुने हुए शब्दों को सुनकर भी जब क्रोध न हो, वह अक्रोध है। अथवा हे पांडुसुत ! जिसका आयुष्य पूरा हो गया है, और ब्रह्माजी के पैरों में गिर कर प्रार्थना करने पर भी पूरी योजना करने पर भी उसका कोई असर न हो, उसी का नाम 'अक्रोध' है।

जिस प्रकार मिट्टी का त्याग करने से घड़े का त्याग स्वयंमेव हो जाता है, सूत का त्याग करने से वस्त्र का त्याग हो जाता है, बीज को त्यागने से वृक्ष का त्याग हो जाता है, दीवार को त्यागने से उस पर बने चित्र भी त्याग दिये जाते हैं, निद्रा को त्यागने से स्वप्न भी चले जाते हैं, जल को त्यागने पर लहरें कहाँ रहती हैं, वर्षाकाल का त्याग करने पर बादल स्वयंमेव छूट जाते हैं, अथवा धन का त्याग करने से विषय भोगों का त्याग हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी जन जब देह की अहन्ता त्याग देते हैं तो उससे समस्त संसार का ही त्याग हो जाता

हैं, वह यथार्थ 'त्याग' है। भगवान् का यह कथन सुनकर पार्थ कहने लगा, अब शान्ति के लक्षण बतलाइए। (१३९)

भगवान् ने कहा–तुमने बहुत उत्तम बात पूँछी। अब तुम मेरे कथन पर ध्यान दो। ज्ञाता जब अपनी अभीष्ट वस्तु को पूर्ण रूपसे जान लेता है तो अन्त में यहाँ ज्ञाता और ज्ञेय दोनों की परिसमाप्ति होती है वही स्थान 'शांति' (ब्रह्म) कहा जाता हैं। प्रलय काल में जब जल बढ़ने लगता है, तब समस्त विश्व उसमें डूबकर अपने स्वरूप में लय हो जाता है। फिर नदी का पर्वत से निकलना, बहना और समुद्र में मिलना सब बातें समाप्त हो जाती हैं। इतना ही नहीं, कोई यह कहने वाला भी नहीं होता कि सर्वत्र जल ही जल है। उस समय ज्ञेय से ज्ञातव्य का मिलन होते ही उसका भी लोप हो जाता है। हे अर्जुन! उस समय जो ज्ञान शेष रहता है वही शान्ति का स्वरूप है। (१४०)

जिस प्रकार पीड़ित मनुष्यों को देखकर उत्तम वैद्य यह विचार नहीं करता कि यह पराया है अथवा अपना, या जिस प्रकार कोई गाय कीचड़ में फँस जाने पर उसको निकालने वाला यह ख्याल नहीं करता कि वह दुधारू हैं अथवा सूखी अथवा जो किसी डूबते मनुष्य को करुणा-वश बचाता है, वह यह नहीं पूँछता कि वह ब्राह्मण हैं या शूद्र, अथवा जो अज्ञान और प्रमाद से व्याप्त हो, व्याधिग्रस्त हो, सबकी निन्दा का पात्र हो, उस मनुष्य के दोषों को भूलकर ही उस पर दृष्टिपात करता है, उसी प्रकार जो कोई अपने सामने आने वाले मनुष्य के दोषों को अपनी गुण सामर्थ्य से दूर करके ही उससे सद्व्यवहार करता है, उसी का नाम 'अपैशुन्य' है। इतना ही नहीं ऐसे दोषी मनुष्य के घावों पर नमक न छिड़कना, उसके पास कर्मों का वर्णन न करना, उससे यह कहना कि जिससे अधम स्थिति में पड़ा हुआ मनुष्य उत्तम स्थिति को प्राप्त कर सके, यह 'अपैशुन्य' का सच्चा लक्षण है, और यही मोक्ष मार्ग पर आरूढ़ होने का बहुत बड़ा साधन है।

अब दया के लक्षण सुनो ! जिस तरह पूर्णमासी का चन्द्रमा छोटे बड़े का भेद न करके सबको समान रूप से शान्ति प्रदान करता है उसी प्रकार दयालु पुरुष भी दुःखीका दुःख निवारण करते समय इस बात का विचार नहीं करता है कि वह उत्तम है अथवा अधम है । जैसे जङ्गल में पानी के समान परोपकारी वस्तु दूसरी नहीं है कि जो घास को सूखती देखकर अपना नाश करके भी उसकी रक्षा करता है, उसी प्रकार दयालु व्यक्ति पीड़ित जनों को बचाने के लिए अपना सर्वस्व देकर भी यही विचार करता है कि मैंने कुछ भी नहीं दिया । जिस प्रकार बहते पानी के रास्तेमें गड्ढा आ जाय तो उसे भरे बिना वह आगे नहीं बढ़े,तोउसी प्रकार दयालु किसी दुःखी मनुष्यको देखकर बिना उसे सन्तोष दिये आगे पैर नहीं रखता । जैसे पैर में काँटा चुभ जानेसे जीव व्याकुल हो जाता हैं, उसी प्रकार अन्यका संकट देखकर उसका मन व्यथित हो जाता है । पैर के तलवे में ठण्डी वस्तु मलनेसे जिस प्रकार नेत्रों में शीतलता आती है, उसी प्रकार दूसरे को सुखी देखकर वह स्वयं सुखका अनुभव करता है । जो मनुष्य ऐसे गुणों से युक्त होता है, वही दया की मूर्ति है और हे वीर अर्जुन ! मैं सदैव उसका ऋणी रहता हूँ । (१६२)

अब, 'अलोलुपत्व' का भेद समझो ! सूर्योदय होने से कमल खिल जाता है, पर सूर्य उसकी सुगन्ध को नहीं लेता, अथवा बसन्त में वन के लाखों वृक्ष नये पत्तों से युक्त हो जाते हैं पर उनमें से किसी का उपभोग किये बिना वसन्त जैसे आता है वैसे ही चला जाता है । अधिक क्या कहूँ ? लक्ष्मी महासिद्धियों सहित श्री विष्णु भगवान् को प्राप्त हुई पर उन्होंने कभी इस बात पर लक्ष्य नहीं दिया । उसी प्रकार चाहे इस लोक तथा परलोक के मनमाने भोग आकर सामने खड़े रहें पर जो कभी उनके उपभोग की इच्छा न करता, उसी को 'अलोलुपत्व' कहा जाता है ।

अब 'मार्दव' के विषय में बतलाते हैं। मधुमक्खी को जैसे शहद भरा छत्ता प्रिय होता है, अथवा मछली के लिए जैसे पानी, पक्षियों के लिये प्रतिबन्ध रहित आकाश बालक के लिए माता का प्रेम, मलय-पवन के लिए बसन्त और नेत्रों के लिए प्रिय वस्तु हितकारी होती है, उसी प्रकार जिसकी दृष्टि प्राणिमात्र के लिए प्रेमयुक्त होती है, उसको 'मार्दव' कहते हैं। जिस प्रकार आकाश पंच-महाभूतों को अपने उदर में स्थान देता है और साथ ही छोटे से परमाणु में भी समाया रहता है, उसी प्रकार जो संसार के हित के लिए जीवित रहते हैं, उन्हीं को 'मार्दव' अथवा कोमलता युक्त कहा जाता है। (७७४)

अब 'अचापल्य' के विषय में समझो ! पराजित राजा जैसे लज्जा से दुःखी होता है, सम्मानित पुरुष जैसे नीची स्थिति में पड़ जाने से निस्तेज हो जाता है, श्रेष्ठ संन्यासी अकस्मात् किसी चाण्डालके घर में पहुँच जाने पर सङ्कोच अनुभव करता है, रणक्षेत्र से भाग जाने पर जैसे क्षत्रिय लज्जित होता है, सुन्दर मनुष्य को कोढ़ हो जाने से अथवा आदरणीय व्यक्ति पर दोषारोपण होने से जैसे मृत तुल्य स्थिति उत्पन्न हो जाती है, अथवा साढ़े तीन हाथ लम्बा शरीर धारण करके फिर विभिन्न योनियों में पैदा होना और मरना तथा मूत्र से भरे गर्भाशय में बन्द रहना, इस विचार से साधु जनों को जैसे लज्जा आती रहती है, अथवा जिस प्रकार डोरी के टूट जाने से कठपुतली का हिलना-डोलना बन्द हो जाता है, जैसे प्राणायाम करने से कर्मेन्द्रियों की गति बन्द हो जाती है, अथवा सूर्यास्त होने पर सूर्य - प्रभा बन्द हो जाती है, उसी प्रकार जब मन और प्राण को वश में करके इन्द्रियों को अपङ्ग बना दिया जाता है, उसको 'अचापल्य' कहते हैं। (१८५)

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत।३

ईश्वर प्राप्ति के लिए अन्तःकरण पूर्वक ज्ञानमार्ग का अवलम्बन करने से कुछ भी हानि नहीं होती। जैसे सच्ची पतिव्रता पतिके वियोग

में प्राण देनेमें किसी प्रकारका आगा-पीछा नहीं सोचा करती उसी प्रकार जो आत्मोद्धार के विचार से सुषुम्ना नाड़ी में प्राण वायु को ले जाने के कठिन मार्ग का अवलम्बन करते हैं उनको शास्त्रीय बन्धनों से किसी प्रकार की बाधा नहीं होती और महासिद्धि मिलने पर कुछ विस्मय नही होता। इस प्रकार जिनका मन स्वयमेव ईश्वर की तरफ दौड़ जाता है, उस भाव को शारीरिक तेज कहते हैं। (१९०)

अब समस्त सहनशीलों में मैं ही श्रेष्ठ हूँ ऐसा गर्व जिसको उत्पन्न नहीं होता, उनको ही क्षमा युक्त' कहा जाता है। जिस प्रकार शरीर समस्त रोगों को धारण करने पर भी उस बात का अभिमान नहीं करता अथवा अति विषय सेवन या अन्य कर्म-फलों से रोगोत्पत्ति, प्रिय वस्तु का वियोग या अप्रिय का संयोग आदि प्रसङ्गों में अगस्त्य ऋषि से भी अधिक धैर्य धारण करता' है, अथवा आकाश में जाने वाली बड़ी धूमराशि को पवन का एक ही झोंका उड़ा देता है, उसी प्रकार हे अर्जुन ! आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक उपद्रव चाहे एक साथ उत्पन्न हो जायें तो भी उनको धैर्यपूर्वक सहन कर ले, इसका नाम धृति कहा गया है। (१९६)

सोने के घोड़े को स्वच्छ करके उसमें गङ्गाजल रूपी अमृत भरा जाय सो उसे सर्वाधिक शुद्ध माना जाता है, वैसी ही बात 'शौच' के विषय में समझनी चाहिए। जिस मनुष्य का आचरण निष्काम हो और जिसके अन्तःकरण में विवेक जाग्रत हो और जो बाहर-भीतर से शुद्ध हो, उसी को 'शौच' युक्त कहा जायगा। अब 'अद्रोह' की व्याख्या पर ध्यान दे। गङ्गाजल जिस प्रकार समुद्र में जाते-जाते भी किनारे पर खड़े वृक्षोंका पोषण करता है औरसत्कर्मनहीं करने वालों के पाप-तापों को भी नष्ट करता है,अथवा सूर्य जब अपनी नित्यकीप्रदक्षिणा करने को निकलता है तो स्वभावतः अन्धकार का नाश करता है, तथा जगत् की सम्पत्ति के द्वार को खोल देता है उसी प्रकार बन्धन ग्रस्त मनुष्यों को मुक्त करने वाले संसार सागर में डूबने वालों को पार लगाने

वाले अथवा अपना स्वार्थ पूरा करते हुए भी अन्य मनुष्यों के सुख को बढ़ाने में सदैव लगे रहने वाले, अपने लाभके लिए किसी का भी अहित विचार न करने वाले लोगों को 'अद्रोह' का पालन करने वाला कहा जाता है। यहमैं तुझे बहुत स्पष्ट रूप से तेरे समझने लायक शैली में बता रहा हूँ। (२०४)

हे पार्थ! जब भागीरथी गङ्गाको मृत्युलोक में लाया गया तो उसका वेग शङ्करजी ने अपनी जटाओं में धारण करके प्रशमित किया। इससे गङ्गाजी लज्जित हो गई। इसी प्रकार लोगों के सम्मान करने से जो संकोच का अनुभव करते हैं वे ही 'अमानित्व' का पालन करने वाले माने जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में पहले भी कहा जा चुका है। इस प्रकार दैवी सम्पत्ति छब्बीस गुणों वाली होती है। अथवा छब्बीस गुण रूपी–तीर्थों द्वारा नित्य नूतन होकर वैराग्य रूपी नगर के राजा के वंश का उद्धार करने के लिए यह गङ्गा प्रकट हुई है। अथवा इन गुणों की माला लेकर मुक्ति रूपी वधू निरपेक्ष वैराग्य रूप वर को खोज रही है, अथवा छब्बीस बत्तियोंका दिया जलाकर स्वयं गीता ही अपने परमात्मा रूपी पतिकी आरती उतारने को आई, है अथवा गीता रूपी मोती दैवी सम्पत्ति रूपी सीप में उत्पन्न हुई हैं। दैवी सम्पत्ति के जो लक्षण वर्णन किये, उनसे अधिक अब मैं क्या बतलाऊँ? (२१२)

अब आसुरी-सम्पत्ति काँटों से भरी एक दोष रूपी बेल है। वह त्याज्य हैं और किसी उपयोग की नहीं। पर उसका त्याग करने के लिये भी उसका परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। जीवात्मा को भयंकर नरक प्राप्त कराने के लिए घोर दोषोंका जो संयुक्त मण्डल बना है वही यह आसुरी सम्पत्ति हैं। अथवा जिस प्रकार सब विषों को एकत्र करके उसका नाम कालकूट कहा गया, उसीप्रकार आसुरी सम्पत्ति सब दोषों का एक भंडार ही है। (२१६)

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्।४

हे वीर ! आसुरी दोषों में मुख्य 'दम्भ' कहा गया है। जिस प्रकार माता हमको तीर्थ की तरह पवित्र करने वाली होती है तो भी उसकी निन्दा करने से वह हमारे पतन का कारण बन जाती है, अथवा गुरु से प्राप्त ब्रह्म विद्या हितकारी होती है, पर यदि उसे बाजार में रखा जाय तो वह अहितकारक बन जाती है, नदी की बाढ़ में पार लगाने वाली नाव को यदि हम मस्तक पर उठालें तो वह डुबाने वाली बन जाती है, अथवा हे पाण्डुसुत जीवन की रक्षा करने वाले अन्न को अधिक मात्रा में खा लिया जाय तो वह विष के समान हो जाता है। इसी प्रकार लोक और परलोक में धर्म सहायक होता है उसका यदि गर्व पूर्वक बाजार में प्रचार किया जाय तो वह 'दम्भ' बन जाता है। (२२३)

मूर्ख मनुष्य को जिस प्रकार दो-चार अक्षर आने से ही वह ब्रह्मा की सभा को भी तुच्छ मानने लगता है, अथवा जैसे चाबुक-सवार का घोड़ा ऐरावत को भी कुछ नहीं समझता, झाड़ी की चोटी पर बैठा गिरगिट अपने को स्वर्ग से भी ऊँचा मानता है, पोखर में रहने वाली मछली समुद्र को तुच्छ बतलाती है, एक दिन किसी के यहाँ भोजन मिल जाने से ही दरिद्र व्यक्ति उन्मत्त हो जाता है, अथवा कोई मूर्ख मृगजल को देखकर अपने कुँए को ही बन्द कर दे उसी प्रकार सम्पत्ति के कारण जो उन्मत्तता उत्पन्न होती है उसको 'दर्प' कहा जाता है। (२२६)

समस्त जगत् को वेदों पर विश्वास है, ईश्वर सबका पूज्य है, सूर्य सर्वाधिक तेजस्वी है, सब किसी को सार्वभौम पद की इच्छा होती है, हम जीवितही रहें, यह सब चाहते हैं। इसलिए सभी मनुष्य उत्साह से इनका वर्णन करते हैं, परन्तु उस वर्णन को सुनकर ही जिसमें मत्सरता के कारण क्रोध का भाव भड़क उठे और कहने लगे 'मैं' ईश्वर को खाऊँगा, वेदों को जहर दे दूँगा, सार्वभौम को सत्ताच्युत कर दूँगा, तो ऐसे अभिमानी को क्या कहा जाता है। जैसे पतंगा दीपक

को बुझाने के लिए उस पर गिर जाय, जुगनू सूर्य को तुच्छ बतलावे और टिटहरी समुद्र को चाटना चाहे, उसी प्रकार ऐसे लोग ईश्वर और वेद का विरोध करते हैं, क्योंकि अभिमान के कारण वे किसीको बड़ा मानने को तैयार नहीं होते। वे पिता को भी अपना प्रतिस्पर्धी बतलाते हैं। इस प्रकार जिनके मत में अतिशय 'अभिमान' भर जाता है, उनको सीधे नरक जाना पड़ता है । (२३६)

अन्य का सुख देखकर जिनको जहर के समान लगता है, जैसे उबलते तेल में जल के ठण्डे छींटे पड़नेसे वह भड़क उठता है, अथवा चन्द्रमा को देखते ही स्यार जल जाता है, सूर्योदय से सब कार्यरत होते है पर पापी घुग्घू की आँखें फूट जाती हैं, प्रभात होने पर सुखी होते हैं चोरों को उससे मृत्यु से भी अधिक कष्ट होता है, अथवा दूध पिलाने से सर्प में विष की और भी वृद्धि होती है, इसी प्रकार अन्य की विद्या सुख, वैभव या सौभाग्य को देखकर जिनके मन में द्वेष भड़क उठता है, उन्हीं को 'क्रोध' से ग्रस्त कहा जाता है। (२४२)

जिनका मन सर्प के बिल की तरह छोटा होता है और दृष्टि बाण के अग्रभाग की तरह तीक्ष्ण होती है, जिसका भाषण अग्नि के समान दाहक होता है जिसके कार्य दूसरों के लिए छुरी के समान दुःखदायी होते हैं, इस प्रकार जो अन्य के मन को छिन्न-भिन्न करने की योजनायें ही सोचता रहता है, वह सब मनुष्यों में अधम होता है। यही 'पारुष्य' का लक्षण है। (२४५)

अब 'अज्ञान' का लक्षण कहता हूँ। जैसे पत्थर को ठण्डी और गर्म वस्तु के स्पर्श का ज्ञान नहीं होता अथवा जन्मान्ध जैसे दिन और रात्रि के अन्तर को नहीं जान सकता, अथवा अग्नि इस बात को नहीं समझती कि किस चीज को जलाना और किसको नहीं जलाना, अथवा जैसे पारस सुवर्ण और लोहे के भेद को नहीं समझता, उसी प्रकार जो अच्छे और बुरे कामों का अन्तर समझने में अन्धा होता है अथवा छोटा

बालक जैसे भली बुरी चीज को न जानकर मुँह में रख लेता है, ऐसा ही लक्षण 'अज्ञान का होता है । (२५१)

इस तरह छः दोषों के लक्षण तुमको सुना सुना दिये। इन दोनों के कारण ही आसुरी-सम्पत्ति बलवान् हो जाती है। सर्प का शरीर छोटा होता है पर उसमें जहर बहुत होता है। इसी तरह प्रलयाग्नि, विद्युदग्नि और बड़वाग्नि ये तीनों अग्नियाँ देखने में छोटी लगती हैं, पर जब एक बार भड़क उठती हैं तो समस्त विश्व भी उनके लिए पूरा नहीं होता। ब्रह्मा जी की शरण आने पर भी त्रिदोष के रोगी के प्राण नहीं बचते, तो तीन के दुगने छः दोष होते हैं, यह समझने की बात है। इन समस्त दोषों से जो आसुरी सम्पत्ति प्रबल बनती है उसको सामान्य नहीं मान लेना चाहिए। जैसे दुष्ट ग्रह कभी एक ही राशि पर एकत्रित हो जाते हैं अथवा निन्दक व्यक्ति को जिस प्रकार समस्त पातक लगते हैं, मृत्यु समीप आने पर मनुष्य को सब रोग घेर लेते हैं, सब पर शीघ्र भरोसाकर लेने वाला ठगों के जाल में फँस जाता है, अथवा थका हुआ व्यक्ति बाढ़ में बह जाता है उसी प्रकार इन छः दोषों से युक्त मनुष्य का अहित ही होता है। जिस प्रकार बकरी को चरते-चरते सात डङ्क वाला बिच्छू मार दे उसी प्रकार ये सभी छः दोष उसको प्राप्त होते हैं जिसको मोक्ष-मार्ग का ज्ञान नहीं है। वह संसार सागर में डूबकर बाहर नहीं निकलता। हे अर्जुन ! ऐसा मनुष्य नीच योनियों की सीढ़ियों से नीचे उतरता हुआ स्थावर योनि के अन्त तक पहुँच जाता है। इस प्रकार मैंने तुमको जगत प्रसिद्ध दोनों प्रकार की सम्पत्तियों के भिन्न-भिन्न लक्षण सुना दिये। (२६४)

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ।५

इन दोनों में से प्रथम दैवी सम्पत्ति तुमको सुनाई, वह मोक्ष रूपी सूर्योदय के समान है और आसुरी सम्पत्ति जीवात्मा के लिए लोहे की बेड़ी ही है। हे अर्जुन ! इनमें भय की कोई बात नहीं। सूर्य

को कभी रात्रि का डर नहीं लगता। उपर्युक्त दोषों को ग्रहण करने वाले ही आसुरी सम्पत्ति के फन्दे में फँसते हैं। हे अर्जुन ! तेरा जन्म तो ऐसा है कि तू दैवी गुणों का समुद्र ही है। इसलिये तू दैवी सम्पत्ति का स्वामी बनकर मोक्ष सुख को प्राप्त कर। (२७०)

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ।६

और ये दैवी तथा आसुरी सम्पत्ति के दोनों मार्ग अनादि सिद्ध है। जिस तरह रात में निशाचरों के कार्य चलते हैं और दिन में मनुष्यों का व्यवहार होता है, उसी तरह हे अर्जुन ! इस संसार में दैवी आसुरी सम्पत्तिके व्यवहार अपने-अपने मार्गपर चलते ही रहते हैं। दैवी सम्पत्ति का वर्णन तो अच्छी तरह किया जा चुका है, अब आसुरी सम्पत्ति वालों के विषय में तुझे बतलाता हूँ। जैसे बाजे के बिना नाद नहीं सुनाई पड़ता अथवा पुष्प के बिना मकरन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार आसुरी सम्पत्ति देहधारी से आश्रय बिना प्रकट नहीं होती। जैसे काष्ठ को काष्ठ पर घिसने से अग्नि दिखाई देती है अथवा जिस प्रकार ईख के पौधे की वृद्धि के साथ ही उसका रस भी बढ़ता जाता है, उसी प्रकार आसुरी सम्पत्ति की वृद्धि भी होती है। हे अर्जुन ! अब तुझे आसुरी सम्पत्ति का वर्णन सुनाता हूँ। (२८०)

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जनाः न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ।७

पुण्य कार्यों में प्रवृत्ति और पाप धर्म का निषेध इस ज्ञान का तो जिनके हृदय में नाम भी नहीं होता, रेशम का कीड़ा जिस प्रकार अपना घर बनाने में यह भी ध्यान नहीं रखता कि इसमें से कैसे निकलूँगा, अथवा मूर्ख मनुष्य भविष्य का विचार किये बिना ठगों को रुपया उधार देता है, उसी प्रकार जो लोग आसुरी सम्पत्ति का आश्रय लेते हैं वे प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों से अनजान रहते हैं। उनमें पवित्रता का तो चिह्न भी नहीं होता। चाहे

कोयला धोने से कालापन त्याग दे, कौआ श्वेत हो जाय, राक्षस मांस भक्षण को बुरा समझने लगे, तो भी आसुरी प्रवृत्ति वालों में पवित्रता का होना तथा शास्त्रोक्त आचरण पाया जाना असम्भव है। जो बड़े लोगोंके आदेश पर ध्यान नहीं देते, जिस प्रकार बकरी चाहे जिस पत्ते को खा जातीहै या पवन चाहे जहाँ विचरता है,अग्नि चाहे जिसकोजलाती है, उसी प्रकार आसुरी सम्पत्ति वाले अपनी इच्छाको ही सर्वोपरि मान कर आचरण करते हैं। सत्य से तो उनकी अमिट शत्रुता होती है अगर बिच्छू किसी को डङ्क मार गुदगुदी उत्पन्न कर सके, तभी उनसे सत्य भाषण की आशा की जा सकती है। अगर अपान वायु सुगन्धित हो जाय, तभी उनमें सत्यांश मिल सकता है। अब उनके भाषणकी विलक्षणता बतलाता हूँ। जिस प्रकार ऊँट का कोई अंग सीधा नहीं होता वैसी ही दशा उनकी होती है। जैसे धुँआ निकलने के छेद में से भवका निकलते रहते हैं उसी प्रकार उनके मुख से सदैव अनुचित, बुरी बातें ही निकला करती हैं।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।८

यह जगत-आनादि काल से चला आ रहा है, इसमे ईश्वर ही सर्वश्रेष्ठ और सबका नियन्ता है और विश्व के न्याय-मन्दिर में न्याय अन्याय का निर्णय करने वाले वेद हैं। अन्याय-मत के अनुयायी को नरक न्यायप्रायण को स्वर्ग मिलता है। हे पार्थ! ऐसी अनादि विश्व—व्यवस्था को आसुरी सम्पत्ति वाले गलत कहते हैं। वे यही बकते रहते हैं कि यज्ञों द्वारा लोग ठगे जाते हैं, उन्मादी लोग मूर्तियों की पूजा करते हैं। जो समाधि योग से भ्रमित हैं वे ही भगवा वस्त्रधारी योगी बन जाते हैं। आसुरी लोग कहते हैं कि इस जगत में अपनी सामर्थ्य से जिन वस्तुओं का जितना उपभोग किया जा सके उतना ही पुण्य समझ लेना चाहिए। निर्बलता के कारण विषयों का उपभोग न किया जा सके तो वही पाप है। किसी का प्राण लेना पाप कहा जाता है, पर

उसके सर्वस्व पर अधिकार हो जाना क्या पुण्य-फल के सदृश नहीं हैं। अगर निर्बल को मारने में पाप लगता हो तो बड़ी मछली जो छोटी को खा जाती है, उसका सर्वनाश क्यों नहीं हो जाता ? अगर वर-कन्या का विवाह शुभ मुहूर्त में करना ही विधेय होता। तो पशु-पक्षियों की सन्तान क्यों निरन्तर बढ़ती रहती है ? चोरी से प्राप्त धन किसके लिये विष की तरह प्राणघातक हुआ है, इसलिए यह कहना कि 'जगत का स्वामी ईश्वर है और वह परलोक में धार्मिकों को सुख और अधार्मिकों को दुःख देता है' व्यर्थकी कल्पना है। पाप और पुण्य दोनों के ही करने वाले अन्त में मरते ही हैं, और उसके पश्चात् फल भोगने के लिए कौन बचता है ? जिस प्रकार स्वर्ग में उर्वशी के साथ विहार करके इन्द्र सुखी होता है, उसी प्रकार नरक के कीड़े उसी में सुख मानते हैं तो फिर नरक और स्वर्ग को पाप तथा पुण्य का फल कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि दोनों ही स्थानों पर कामना पूर्ति का सुख मिलता है संसार की उत्पत्ति ही सकाम स्त्री पुरुषों के जोड़े से होती है इसलिए जगत का मूल काम के सिवाय और कुछ नहीं है यह सब आसुरी प्रवृत्ति वालों की मान्यताएँ हैं। पर अब निन्दनीय बातों की अधिक चर्चा करने की आवश्यकता नहीं, ये सब निस्सार हैं। (३१२)

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ।९

ये आसुरी प्रवृत्ति वाले ईश्वर का तिरस्कार करके झूँठा प्रलाप करते रहते हैं। उनके मन में किसी तरह का निश्चय नहीं होता। वे स्वयं अपने को ईश्वर विरोधी कहकर नास्तिकता का झंडा खड़ा कर देते हैं। फिर उनके हृदय में स्वर्ग की श्रद्धा अथवा नरक का भय लेश मात्र भी नहीं रहता है। ऐसे असुर देह रूपी जाल में फँस कर गन्दे पानी के बुलबुले की तरह विषय रूपी कीचड़ में डूबकर नष्ट हो जाते हैं, जब मछलियों का मृत्यु काल आता है तो धीवर लोग जलाशय के किनारे इकट्ठे हो जाते हैं। शरीर का अन्त समय आने पर रोग पैदा

हो जाते हैं, अथवा जगत पर संकट आने वाला हो तो आकाश में धूमकेतु निकल आता है, उसी प्रकार लोगों के नाश का समय आने पर आसुरी सम्पत्ति वाले व्यक्ति जन्म लेते हैं। ये लोग पापके चलते-फिरते कीर्ति स्तम्भ ही होते हैं। जैसे अग्नि का काम आस-पास की हर एक वस्तु को जलाना होता है, उसी प्रकार आसुरी स्वभाव वालों के सामने जाने वाला चाहे उत्तम हो अथवा अधम, वे अपना काम किस प्रकार करते हैं, यह बतलाता हूँ। यह कथन भगवान् ने पार्थ के प्रति किया। (३२२)

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०

जिस प्रकार जाल में पानी को रोका नहीं जा सकता, जिस प्रकार अग्नि काष्ठ से कभी तृप्त नहीं हो सकती, उसी प्रकार हे पाण्डव ! ऐसे लोग कभी सन्तुष्ट न होने वाले काम को हृदय में आश्रय देते हैं और साथही अभिमान और दम्भको भी उसमें सम्मिलित कर लेते हैं। पागल हाथी को मदिरा पिलाने से जैसे वह और भी उन्मत्त हो जाता है, उसी प्रकार जिनके भीतर सर्वत्र अहङ्कार भरा हुआ है, ऐसे आसुरी सम्पत्ति वाले जैसे-जैसे बुद्धिमान होते हैं, वैसे-वैसे ही वे अपने को महान् मानते जाते हैं। इसमें भी मूर्खता उनकी सहायक बन जाती है, फिर उनकी दृढ़ता का क्या कहना? जिन कर्मों से अन्यों को पीड़ा अथवा प्राण हानि वे खुलकर करते हैं और इसकी शेखी भी मारते हैं। वे जगत को तुच्छ मानते हैं। उनकी इच्छा इतनी तीव्रगामी होती है, कि दसों दिशायें भी उनको अपर्याप्त होती हैं। जैसे हरहा गाय खेत में चाहे जहाँ चरती फिरती है उसी प्रकार वे मनमाना पापाचरण करते हैं। (३२९)

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११

इसी एक विचार को लेकर वह सब कर्म करते हैं और चाहते

हैं कि मरनेके पश्चात् भी हमको सुख मिले। उनकी यह चिन्ता पाताल से भी गहरी और आकाशसे भी ऊँची होती है,औरउसकी तुलनामें त्रिभुवन भी छोटा जान पड़ता है। जैसे पवित्रता स्त्री सङ्कट के समय भी अपने पति को छोड़कर नहीं जाती, उसी प्रकार वह चिन्ता कभी उनसे दूर नहीं होती। वे असार विषय भोगके लिए निरन्तर मनमें लालसा रख-कर उसकी प्राप्ति के लिए अपार चिन्ता करते हैं। हमेशा स्त्रियों के गीत-सुनना स्त्रियों का रूप देखते रहना, सब इन्द्रियों से स्त्री का स्पर्श करना, स्त्री द्वारा प्राप्त सुख पर अमृत को भी निछावर कर डालना ऐसी ही उनकी विचारधारा होती है। ऐसे पुरुष स्त्री-भोग के लिए स्वर्ग, पाताल, दसों दिशाओं में दौड़ जाने के लिए उद्यत रहते हैं। (३३६)

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्।।१२

काँटे में लगे माँस के लोभ से जिस प्रकार मछली प्राण खो देती वैसे ही ऐसे मनुष्य विषयों की आशा से मृत्यु को प्राप्त होते हैं। अभिलषित वस्तु प्राप्त न होने से केवल सूखी आशा करते हुए अन्त में वे अपने को रेशम के कीड़े की तरह बन्धन में डाल देते हैं। इच्छित वस्तु न मिलने से मन में द्वेष उत्पन्न होता है और उसके मिल जाने से सन्तोष प्रतीत होता है। हे अर्जुन! जैसे सरकारी सिपाही दिन में इधर-उधर भेजे जाते हैं और रात को पहरा देना पड़ता है वे कभी विश्राम नहीं कर पाते। इसी प्रकार ये लोग कामनाओंके शिखर से फेंके जाकर क्रोध रूपी चट्टान पर गिरते हैं,तो भी उनका काम-क्रोध विष-यक प्रेम कम नहीं होता। फिर मन में उत्पन्न विषयों की पूर्ति धन विना कैसे हो सकती है? इसलिए धन पाने के निमित्त वे संसार के लोगों को दुःख देते हैं। किसी को घने जंगल में घेरकर मार डालते हैं किसी को लूट लेते हैं, किसी का नाश करने के लिये तरह-तरह के उपायों की योजना करते हैं। बहेलिया जिस प्रकार शिकार के लिए

चलते समय अपने साथ फन्दा, धनुष, पाश, शिकारी कुत्ता, गोफण, गुप्ती, भाला सब साधन तैयार रखता है और प्राणियों को मार लेता है, वैसे ये अनेक प्रकार दुष्टकर्म करते हैं। वे इस प्रकार हिंसापूर्वक द्रव्य प्राप्त करते हैं और मन में बड़े सन्तुष्ट होते है।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ।१३

वह कहता फिरता है—इन अनेक मनुष्यों का धन मैंने हस्तगत कर लिया है, तो क्या मैं प्रशंसाका पात्र नहीं हूं ? इस प्रकार अपनी बड़ाई करते हुए उसके मन में आता है कि "मैं दूसरे लोगों का धन भी हरण कर लूं तो कैसा अच्छा हो ! आज मैंने जो पाया है उस पूंजी के जोर से संसार भर का धन मैं खींच लूंगा। इस तरह समस्त सम्पत्ति का स्वामी मैं ही हो जाऊंगा और फिर जिसको चाहूंगा मटियामेट कर दूंगा। (३५१)

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ।१४

मैंने आज तक जिन शत्रुओं का नाश किया है वे तो थोड़े ही हैं, अभी औरोंको भी मारूंगा और फिर अकेला ही महान कीर्तिका धारक बनूंगा। फिर जो मेरा दासत्व स्वीकार कर लेंगे उनके अतिरिक्त और सबका संहार करूंगा। समस्त जगत् का ईश्वर मैं ही हूं। मैं भोगरूपी पृथ्वी का राजा हूं। समस्त सुखोपभोग का आश्रय भी मैं ही हूं, मेरे ऐश्वर्यके सामने इन्द्र भी तुच्छ हैं। मैं काया, वचन और मन द्वारा जिस काम को पूरा करना चाहूं वह कैसे सिद्ध नहीं होगा ? मेरी आज्ञा बिना उसे दूसरा कौन कर सकता है, मैं भी तो देखूं ? यमराज की प्रतिष्ठा तभी तक है जब तक उसने मुझ महा बलवान को नहीं देखा। सुख का भंडार तो मैं ही हूं।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशी मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ।१५

कुबेर धनी है, पर वह मेरी बराबरी नहीं कर सकता, मेरी सम्पत्ति जितनी विष्णु की सम्पत्ति भी नहीं है। मेरे कुल की कीर्ति अथवा आप्त जनों की तुलना में ब्रह्मा भी कुछ घटिया ही ठहरेगा, इसलिए लोग ईश्वर आदि की स्तुति व्यर्थ करते हैं, मेरी समानता का कोई भी नहीं है। अब जो जारण-मारण का लोप हो गया है उसका पुनरुद्धार करूँगा और लोगों को पीड़ाकारक यज्ञ-याग भी आरम्भ कराऊँगा। जो मेरे ऐश्वर्य का वर्णन करेंगे, मेरी स्तुति मुझे नाच-तमाशा करके प्रसन्न करेंगे, उनको मैं मुँह माँगी वस्तु दूँगा। मादक पदार्थोंका सेवन करके स्त्रियों को वश में करने में तल्लीन हूँगा। क्योंकि इस विषय में मेरे जैसा चतुर तीनों लोक में नहीं मिलेगा। इस तरह की न जाने कितनी ऊट-पटांग बातें आसुरी प्रकृति वाला किया करता है और भाँति-भाँति के असम्भव मनोरथ करके आकाश पुष्प सूँघने की चेष्टा करता है।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ता कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६

फिर जैसे सन्निपात का रोगी बकता-झकता रहता है, वैसी बक-बाद आसुरी सम्पत्ति से उन्मत्त लोग किया करते हैं वे अज्ञान और आशा रूपी आंधी में उड़कर मनोरथ रूपी आकाश में चक्कर लगाया करते हैं। जिस प्रकार आषाढ़ मास में एक के ऊपर एक बादल चढ़ जाता है, अथवा समुद्र में एक के पश्चात् एक तरङ्ग उठा करती है, उसी तरह वह एक के बाद एक मनोरथ किया करता है। पर जिस प्रकार कमल पत्र काँटा लगने से फट जाता है अथवा पत्थर पर गिरने से हाँड़ी फूट जाती है, उसी प्रकार उसकी मनोकामनाओं के टुकडे-टुकड़े हो जाते हैं। जैसे-जैसे रात बढ़ती जाती है वैसे-वैसे ही

अन्धकार भी होता जाता है,उसी प्रकार जैसे-जैसे आसुरी व्यक्तिका मोह बढ़ता-जाता है वैसे वैसे ही उसकी विषय वासना बढ़ती जाती है, और वही नाश का मूल होती है। जब पाप अधिक बलवान हो जाते हैं तो उसे जीवित अवस्था में ही नरककी यातना भोगनी पड़ती है।इसलिए हे बुद्धिमान अर्जुन ! जो परिपूर्ण वासनायें धारण करता है, वह अवश्य नरकगामी होता है जहाँ तलवार की सी धार वाले पेड़ों के पत्ते होते हैं खैर के जलते हुए कोयला के पहाड़ हैं और उबलते तेलके समुद्र भरे हैं, जहाँ यातनाओं की श्रृङ्खला लगी रहती है और यमराज सदा जाँच करते रहते हैं। वे आसुरी सम्पत्ति वाले ऐसे ही घोर नरक में पड़ते हैं। बनमें से कितने ही यज्ञ-यागादि करने वाले भी होते हैं परन्तु हे अर्जुन! उनकी यज्ञ-क्रियाएँ नाटक वालों की तरह केवल अभिनय मात्र होती हैं, इसलिए उनसे कोई परिणाम प्राप्त नहीं होता। (३७६)

आत्मसम्भाविता: स्तब्धा धनमानमदान्विता:।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ।१७

वैसे वैश्या किसी धनी प्रेमी के आश्रय में अपने को सौभाग्यवती समझ लेती है उसी प्रकार आसुरी प्रवृत्ति वाले अपने को सर्वश्रेष्ठ मानकर गर्व से फूल जाते हैं। फिर वे लोह-स्तम्भ के समान अथवा ऊँचे पर्वत शिखर के समान झुक ही नहीं सकते। वे अपने ऐश्वर्य के गर्व के आगे सबको तिनके से भी हल्का समझने लगते हैं, उचित-अनुचित के विचार को त्याग देते हैं। हे अर्जुन ! जिनके मन में ऐसा गर्व भरा रहता है उनके मन में यज्ञ का क्या मूल हो सकता है? तो भी मूर्ख लोग क्या नहीं करते ? इसी से वे कभी दिखाने के लिए यज्ञ भी करते हैं। पर उनको कुण्ड, मण्डप वेदी किसी चीज की आवश्यकता नहीं होती और विधिपूर्वक कोई काम करने से तो उनको वैर ही होता है। देवता और ब्राह्मण का नाम उनके कानों में भी पड़ जाय तो उनको सहन नहीं होता। ऐसी स्थिति में देव और ब्राह्मण

उनके पास क्यों आने लगे? परन्तु जैसे चालाक लोग नकली बछड़ा गाय के सामने रखकर उसका दूध दुह लेते हैं, उसी तरह वे आसुरी स्वभाव वाले यज्ञ के बहाने लोगोंको बुलाकर व्यवहार के नाम पर उनको लूटते हैं। इस प्रकार वे यज्ञ का ढोंग रचकर लोगों का नाश करने की इच्छा रखते हैं। (३८८)

अहंकारं वलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ।१८

फिर वे अपने यज्ञके बाजे वजाकर संसार में झूँठ मूँठ डोड़ी पीटते हैं। तव उन अधम कलियुगी मनुष्यों को अपनी यज्ञ-दीक्षा के कारण दुगुना अभिमान हो जाता है। जिस कालेपन पर काजल का लेप करके उसे और भी घना कर दिया जाय उसी प्रकार मूर्खताके बढ़ने पर उनकी उद्दतता अहङ्कार और अज्ञानभी बढ़ जाते हैं। तब उनको ऐसा मालूम पड़ने लगता है कि संसार में हमसे बढ़कर और कोई वल—वान नहीं है। ऐसे अहङ्कार के फलस्वरूप उनके दर्प का समुद्र उमड़ कर सीमा से वाहर चला जाता है। दर्प बढ़ने से पित्त भी वढ़ता है और तब उष्णता बढ़कर क्रोधाग्नि खूब प्रदीप्त हो जाती है। फिर जैसे ग्रीष्म ऋतु में तेल-घी के भण्डार में तेज आग लग जाय और साथ ही जोर से हवा भी चलने लगे, उसी प्रकार जव उनका अहङ्कार और दर्प काम-क्रोध के साथ मिल जाता है, तब अपने इच्छानुसार प्राणियों का संहार क्यों नहीं करेंगे ? हे धनुर्धर ! ऐसे दीक्षित मनुष्य पहले तो जारण-मारण की तांत्रिक क्रियाओं में अपने ही रक्त-मांस को खर्च करते हैं, पर वह घाव शरीर स्थित मुझको (आत्मा को) ही सहन करने पड़ते हैं। फिर वे जिन अन्य लोगों पर जारण-मारण का अभिचार कर्म करते उनको भी जो पीड़ा होती है वह भी शरीर में रहने वाले चैतन्य जीवात्मा को ही भोगनी पड़ती है। सौभाग्यवश कोई उनके जारण-मारण प्रयोग से बच जाय तो वे उस पर दुष्टता के पत्थर फेंक कर बड़ा दुःख देते हैं। सती, सत्पुरुष, दानशील, यज्ञ करने

वाले, तपस्वी, संन्यासी, भक्त महात्मा और जिनके घर में श्रौतादिक हवन, अग्निहोत्र, आदि होते रहते हैं, ऐसे सभी पुरुषों से, जो मुझे प्रिय हैं, वे आसुरी लोग द्वेष भाव रखते हैं और उनको तीक्ष्ण विषयुक्त, दुर्वचन रूपी बाणों से मारते रहते हैं। (४३४)

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।:१९

पर जो लोग मेरे साथ ऐसी शत्रुता का व्यवहार करते हैं, उनको मैं किस प्रकार दण्डित करता हूँ वह भी सुन लो। जो मनुष्य देह धारण करके अपने कर्तव्योंको भुला देता हैं, उसको मैं इस अधिकार से वंचित कर देता हूँ। मैं उनको क्लेश रूपी ग्राम का घूरा अथवा संसार का पनघट-अर्थात् तामसी योनियों में ही डाल देता हूँ। मैं उनको जंगली व्याघ्र, भेड़िया, बिच्छू आदि की योनियों में जन्म देता हूँ, जिनमें वे घास भी नहीं खा सकते और अपने माँस को ही खाकर मर जाते हैं। अथवा वे सर्प जैसी योनि में जन्म लेते हैं जिसमें अपने विष से आप ही जलते रहते हैं। इस तरह अनेक कल्पों तक उनको ऐसी ही क्लेशकारक योनियों में रखता हूँ। यह तो ऐसे नराधमों का प्रथम दण्ड होता है। अन्त में तो उन्हें ऐसे दण्ड भोगने पड़ते हैं जो इनकी तुलना में बहुत भयङ्कर होते हैं। (४१३)

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।।२०

यह आसुरी सम्पत्ति ऐसी घोर है कि उसके कारण निरन्तर अधो गति होती रहती है। व्याघ्र आदि की योनियों में देह-धारण करने पर तो कुछ स्वतन्त्रता भी रहती है, पर फिर वे ऐसी योनियों में पहुँच जाते हैं जिनकी स्थिति देखकर अन्धकार को भी व्याकुलता होती है, जिनके प्रति पाप को भी घृणा होती है, जिनसे नरक को भय लगता है, जिनसे तल भी मलिन हो जाता है, संताप भी संतप्त होने लगता है, अमङ्गल को भी अमांगलिकता जान पड़ती है, छूतको भी महाछूत लगने का भय

होने लगता है। हे अर्जुन! ऐसी जो इस समस्त जगत् में सबसे निकृष्ट अवस्था, उसके सङ्कटों को वे तामस योनियों में सहन करते हैं। हाय-हाय! उन योगियों का वर्णन करते हुए तो वाणी के भी आँसू आ आते हैं। वे मूर्ख ऐसे नरकवासका काम क्यों करते हैं? जिस आसुरी सम्पत्ति के कारण ऐसा घोर पतन होता है, उसे वे क्यों बढ़ाते हैं? हे अर्जुन! आसुरी सम्पत्ति के मार्ग की दुरवस्था को समझकर उस मार्ग पर पैर रखना ही नहीं और उसके छः दोषों से सदा दूर ही रहना। यह बात ऐसी प्रत्यक्ष है कि अधिक कहने की आवश्यकता ही नहीं। (४२४)

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१

काम, क्रोध और लोभ इन तीनों की जहाँ अधिकता होगी वहाँ अशुभ की ही उत्पत्ति होगी। हे धनञ्जय! ये तीनों सब प्रकार के दुःखों के मार्ग दर्शक ही हैं, अथवा पापियोंको नरक भोग कराने वाले पातकों की बड़ी सभा ही हैं। इन तीनों दोषों के सामने रौरव नरक की कोई चीज नहीं है। इनके कारण अनिष्ट का आगमन तुरन्त होता है, याचना सस्ती हो जाती है, और जिसे हानि कहते हैं वह तो सामान्य हो जाती है। वास्तविक हानि तो ये तीनों दोष ही हैं। हे अर्जुन! यह त्रिदोष नरक का खुला हुआ दरवाजा ही है। जो कोई काम, क्रोध और लोभ की त्रिपुटी के वशीभूत हो जाता है वह फिर नरकपुरी का सम्माननीय निवासी बनता है। हे किरीटी! इसलिए मैं बार-बार यह बतलाता हूँ कि काम-क्रोध-लोभ की, त्रिपुटी अत्यन्त दूषित है, इससे सदैव दूर ही रहना चाहिए।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२

धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ तभी सिद्ध हो सकेंगे कि जब काम-क्रोध और मोह इन तीनों को त्याग दिया जाय। जब तक

ये तीनों मनुष्यों के भीतर मौजूद हैं तब तक कल्याण की तो चर्चा ही सम्भव नहीं। जिसे कल्याण की इच्छा हो और नाश का भय हो, उसे उन तीनों से बहुत सावधान रहना चाहिए। पेटसे पत्थर बांधकर समुद्र तैर जाना या हलाहल विष खाकर जीवित रहना जैसे असम्भव है वैसे ही काम-क्रोध और लोभ के रहते इष्ट प्राप्ति अकल्पनीय माननी चाहिए इसलिए मन में से इनका चिह्न भी मिटा दो। जब इनकी पैरों में पड़ी बेड़ी टूट जायगी तभी सुख के मार्ग पर चलना सम्भव होगा। वात-पित्त-कफ ये तीनों दोष जब तक शरीर में पैदा नहीं होते, अथवा कोई नगर जब चुगली-चोरी व्यभिचार से मुक्त हो जाय अथवा आध्यात्मिक आधिदैविक तथा आधिभौतिक इन तीनों तापों से अन्तःकरण अलिप्त रहे, तब मनुष्य को जैसा सुख होता है, वैसा ही सुख, काम, क्रोध-लोभ का त्याग करने वाले को संसार में प्राप्त होता है और जन्ममरण के चक्र से छुटकारा हो जाता है। फिर उसे गुरु कृपा का वह स्थान भी मिलता है जहाँ निरन्तर आत्मानन्द स्थिर रहता है। वहीं परम प्रेमकी सीमा रूपी माता (आत्मा) से भेंट होती है। उसका आलिंगन होते ही सांसारिक ताप का स्वयमेव नाश हो जाता है। इस प्रकार जो काम, क्रोध, लोभ का त्याग करके मुक्त होते हैं वे ही आत्मा को प्राप्त कर सकते हैं। (४४४)

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३

आत्म प्राप्ति के लाभ की अभिलाषा न रखकर, जो काम आदि में अनुरक्त रहता है, वह आत्मा का हवनकर्ता है। सब पर समान रूप से कृपा करने वाले, मनुष्यों के हित-अहित को बतलाने वाले, केवल दीपक रूप जो वेद हैं, उनकी आज्ञा का जो पालन नहीं करता, जो शास्त्र में बतलाये विधि निषेध के प्रति दुर्लक्ष्य रखता है, इन्द्रियों की वासनाओं को बढ़ाता रहता है, तथा विषयों के घोर वन में यथेच्छ विचरण करता है, उसका कभी छुटकारा नहीं हो सकता। वह सुख तो

नहीं पा सकता और स्वर्ग भी उससे दूर ही रहता है और इस लोक का सुख भी उसको प्राप्त नहीं होता। कोई ब्राह्मण नदी के किनारे स्नान-संध्या करते समय यदि मछली पकड़ने की चेष्टा करने लगे और कोई उसे देखकर बदनामी करे तो न उसकी मछली पकड़नेकी इच्छा पूरी होती है, और उल्टा ब्राह्मणत्व से च्युत होने का भय रहता है। इसी प्रकार विषयासक्त होकर जिसने परलोक का द्वार बन्द कर दिया और इस लोक में मृत्युपाश में फँसा रहता है, उसे न तो स्वर्ग प्राप्त होता है और न सुख मिलते हैं। फिर मोक्ष प्राप्ति की तो बात ही क्या ? इसलिए जो काम के वश होकर अधर्मपूर्वक विषयों का सेवन करना चाहता है उसे न विषय मिलते हैं, न स्वर्ग और न उसका उद्धार होता है। (४५४)

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४

इसलिये हे अर्जुन ! जिसे अपने कल्याण की इच्छा हो उसे वेदोक्त मार्ग की अवज्ञा कभी नहीं करनी चाहिए। पति के अनुकूल चलने वाली स्त्री जैसे अनायास अपना हित साधन कर लेती है,अथवा गुरुदेव के आदेश को शिरोधार्य करके शिष्य आत्म प्राप्ति कर लेता है, जिस प्रकार अपनी ही रखी हुई चीज को ढूँढने के लिये दिये की जरूरत पड़ती है, उसी प्रकार हे पार्थ ! समस्त पुरुषार्थों का स्वामी होने की जिसको इच्छा हो, उसे श्रुति तथा स्मृति की आज्ञा माननी ही चाहिए। अगर धर्मानुसार राज्य करना पड़े तो उसे तिनके की तरह छोड़ देना चाहिए और यदि विष का सेवन करने को कहा जाय तो उसे सहर्ष ग्रहण करना चाहिये। हे सुभट ! इस प्रकार जो वेदों की आज्ञा को पालता है उसका कभी अहित नहीं हो सकता। अहित से मुक्त करने वाली तथा हित की वृद्धि करने वाली श्रुति के समान जगत् में और कोई माता नहीं है। इसलिए जिसके द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है उसश्रुतिकी अवज्ञा किसीको नहीं करनी चाहिए। हे अर्जुन! पिछले जन्मों

में धर्माचरण करने के कारण ही तू इस जन्म में सत्शास्त्रों को सार्थक करने के लिए उत्पन्न हुआ है। फिर धर्मराज का भाई होने से तुझको 'धर्मानुज' का नाम सहज में प्राप्त हो गया है, इसलिये वेद विरुद्ध कार्य तुझको कभी करना ही नहीं चाहिए उचित और अनुचित का निर्णय शास्त्र की दृष्टि से ही करना चाहिए। शास्त्र ने जिसको निषिद्ध कहा है उसे हानिकारक समझकर छोड़ देना चाहिए और जो वास्तव में श्रेष्ठ कर्तव्य हो उसे अवश्य पालन करना चाहिए। सुबुद्धि वाले अर्जुन ! आज जगत् का चालू सिक्का तेरे हाथ में है और तुझमें वह योग्यता भी हैं कि सब लोग तेरा अनुसरण करे। (४६८)

ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि इस तरह भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को आसुरी वर्ग के सब लक्षण बतलाकर उनसे छूटने का मार्ग भी समझा दिया। अब अर्जुन सद्भाव धारण करके जो कुछ पूछे उसे सावधान होकर श्रवण कीजिए। श्री व्यासजी की आज्ञानुसार संजय जिस प्रकार धृतराष्ट्र को सब कुछ बतलाता रहा वैसे ही निवृत्ति महाराज की कृपा से मैं भी आपको सुनाता जा रहा हूँ। आप सब सज्जन यदि मेरे ऊपर कृपा दृष्टि रखेंगे तो मैं भी आपके सदृश योग्य बन सकूँगा। इसलिए मैं ज्ञानेश्वर आपसे अवधान रूपी प्रसाद देने की प्रार्थना करता हूँ, इसी से कृतकृत्य हो जाऊँगा। (४७)

॥ इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां ॥
षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

।। अथ सप्तदशोऽध्याय: ।।

अहो गुरुराय ! हे गणेश ! आपकी ही योगमाया जगत्के विकसित स्वरूप को बिलीन कर देती है, आपको मेरा नमस्कार है। त्रिगुण-रूपी त्रिपुरासुर ने जीवन रूपी किले में आत्मा रूपी शङ्कर जो बन्द कर रखा है, उसका सङ्कट में से उद्धार करने वाले गणपति रूप गुरुदेव ही हैं, इस दृष्टि से आपकी महिमा शङ्करजी से भी अधिक है, क्योंकि आप हल्के भी हैं और माया रूपी समुद्र में मुमुक्षुजनों के लिए आप ही नौकाका काम देते हैं। जो आपको नहीं जानता उसके लिए आप वक्रतुण्ड (टेढ़े) हो,पर जो आपको जान लेते हैं उनके लिए सरल मुख वाले हो। हे गणपति रूप गुरुदेव ! आपकी आँखें सूक्ष्म जान पड़ती हैं, पर उनको खोलने और बन्द करने से ही जगत की उत्पत्ति और प्रलय हो जाती है आपके प्रवृत्ति रूपी कान के हिलने से संसार रूपी वृत्ति उत्पन्न होती है, जिनके मद की सुगन्ध से जीवात्मा रू ी भ्रमर गण्डस्थल पर बैठ जाते हैं और ऐसा जान पड़ता है कि नील कमलों से आपकी पूजा की जा रही है फिर निवृत्ति रूपी कान के हिलने से अन्तमु ख वृत्ति उत्पन्न होती है, तब पूजा का विसर्जन होकर आपका अति सुन्दर रूप दिखाई पड़ने लगता है, आपके बायें भाग में बैठी हुई सरस्वती (शक्ति) के नृत्य से ही जगत् की उत्पत्ति होती है और आप नृत्य के मिस जगत् के व्यव-हार को चलाते हो। हे गुरुदेव ! आप जिससे बन्धुत्व करते हो उसके आप जगत् के बन्धनों को नष्ट करते हो, इसलिये जगद् बन्धु ही हो। इस भाव से जो आपकी शरण आता है, वह शरीर के द्वैत भाव को भी त्याग देता है। हे देव ! आप उसको अपने स्वरूप का ही बना देते हो:

फिर सर्वत्र अद्वैत ही हो जाता है। जो आपको पृथक् समझकर प्राप्त करने के लिए दौड़ भाग करता है उसे आपकी प्राप्ति नहीं होती। पर जो ध्यान लगाकर अद्वैत भावना रखने लगता है वही आपको प्रिय लगता है। जो सिद्ध बनते हैं वे भी आपको नहीं जान पाते और वेदों की वाणी भी आप तक नहीं पहुँचती।१४।

आपकी राशि का नाम मीन है, फिर मैं कैसे आपकी स्तुति करने की इच्छा करूँ? यह प्रत्यक्ष जगत् आपकी ही माया है, फिर आपका भजन कैसे किया जा सकता है? यदि मैं अपने को आपका सेवक कहूँ तो द्वैत रूपी द्रोह का दोषी माना जाऊँगा। इसलिए मैं आपका कुछ भी बनना नहीं चाहता, क्योंकि तभी आपके साथमेरा अद्वैत हो सकेगा। इसलिए हे आराध्य! मैं आपके इस रहस्य को समझता हूँ। जिस प्रकार नमक पानी में मिलकर एक हो जाता है, उस प्रकार आप और मुझमें द्वैत भाव न रहने से मैं आपको नमस्कार करता हूँ। जैसे खाली घड़ा समुद्र में डूबने पर भर कर ही वाहर निकलता हैं, अथवा दीपक के सत्संग से उसकी बत्ती भी दीपक स्वरूप ही बन जाती है, उसी प्रकार गुरु निवृत्ति नाथ! आपको प्रणाम करने से मैं कृतकृत्य हो गया।

अब मैं गीता के अर्थ को स्पष्ट समझाऊँगा। सोलहवें अध्याय के अन्त में भगवान् ने कहा है कि सत्कर्म अथवा दुष्कर्म का निर्णय करते हुए शास्त्रों को ही सदैव प्रमाण स्वरूप ग्रहण करना चाहिए। यह सुनकर अर्जुन मन में कहने लगा—कर्म करने में शास्त्र के अतिरिक्त और कोई गति नहीं हैं, यह क्या बात? सर्प के पास जाकर फण से मणि किस प्रकार निकालना? और सिंह की नाक का बाल कैसे उखाड़ना? जब ये दोनों मिल जायें तो मणि को बाल में पिरोकर पहिना जाय, अन्यथा कण्ठ को खाली रखा जाय? इसी प्रकार सब शास्त्रों को कौन इकट्ठा करेगा और फिर कौन उनकी एकवाक्यता करेगा? फिर तदनुसार आचरण करने की आयुष्य कहाँ से प्राप्त होगा? शास्त्र

अर्थ, देश, काल, इन सबका सुयोग प्रत्येक मनुष्य को कैसे मिल सकता है ? तब अनपढ़ मुमुक्षुओं के पार होने का क्या उपाय होगा ? इस समस्या का स्पष्टीकरण करने को अर्जुन ने जो भूमिका बनाई वही इस सत्तरहवें अध्याय का विषय है। सब कामनाओं से इच्छा रहित, सब कलाओं में प्रवीण और द्वितीय कृष्ण रूप जो अर्जुन है, वह शौर्य का आधार स्तम्भ और चन्द्रवंश का भूषण है। जिसकी लीला से भगवान् को बड़ी प्रसन्नता होती हैं, जो बुद्धि का प्रियतम, ब्रह्म विद्या का विश्रांति-स्थल और सदैव कृष्ण जी के हृदय में बसने वाला है, वह अर्जुन से बोला—

अर्जुन उवाच–

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१

अर्जुन ने कहा—हे देव ! सब इन्द्रियों से प्रत्यक्ष जान पड़ने वाले परब्रह्म ! आपके कथन में मुझे संशय होता है। सभी प्राणियों को शास्त्र ज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति होनी सम्भव नहीं, ऐसी एक पक्षीय बात आपने कैसे कह दी ? अपने प्रदेश में शास्त्राध्ययन की सुविधा न हो, अथवा उसके लायक समय न मिल सके, गुरु भी समीप में कोई न हो। स्वयं समझ सकने लायक बुद्धि न मिली हो–इन कारणों से जो शास्त्राभ्यास से वंचित रहा हो, अथवा जिसमें सब शास्त्रों की एकवाक्यता करने का सामर्थ्य न हो, उसके लिए क्या उपाय है ? जो शास्त्रकार अन्य विद्वानों के आचरण का अनुकरण उनके अनुसार करना चाहे, जिस प्रकार कोई बालक दूसरे के अक्षरों की नकल करके लिखना सीखता है, अथवा जैसे एक नेत्रों वाले व्यक्ति के पीछे अन्धा व्यक्ति भी चलता जाता है उसी प्रकार जो शास्त्रों के ज्ञाता व्यक्तियों पर श्रद्धा रखकर चलता हो, देवपूजा की भूमि आदि का महादान, अग्निहोत्र आदि श्रद्धापूर्वक करता है, उसकी क्या गति होगी ? वह सत, रज, तम में किसका फल पायेगा ?

अर्जुन का प्रश्न सुनकर वैकुण्ठ के अधिपति, वेद रूपी कमल के पराग, जिनकी सत्ता से यह समस्त विश्व जीवित है, जो लोकोत्तर, प्रौढ़, महान काल रूप, अद्वितीय गूढ़ और आनन्दघन हैं, वे सबकी शक्ति प्रदान करने वाले स्रोत रूप भगवाव कृष्ण स्वमुख से कहने लगे। (४०)

भगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२

भगवान् कहने लगे हे पार्थ! तू शास्त्राध्ययन को एक प्रतिबन्ध रूप समझ रहा है और केवल श्रद्धा से मोक्ष प्राप्त करने के पक्ष में है, परन्तु यह कार्य इतना सहज नहीं जैसा तू समझता है। केवल श्रद्धा से ही काम नहीं चल सकता। अगर गङ्गाजल को शराब के पात्र में भर दिया जाय तो उसे कौन स्वीकार करेगा? चन्दन ठण्डा होता है, पर यदि उस को जलाया जाय तो उसे छूने से दाह ही होगा। इसी तरह यद्यपि श्रद्धा का मूल स्वरूप शुद्ध है, तो भी जब उसका सम्पर्क प्राणियों से होता है, तो वह तीन प्रकार हो जाती है, क्योंकि सभी प्राणी माया की शक्ति से तीन गुणों से बने होते हैं। इन तीनों गुणों में से जब जिस गुण की प्रधानता होती है, उसी के अनुसार जीवात्मा की वृत्तियाँ बनती हैं, वृत्तियों से मन का निर्माण होता है, मन से क्रियायें होती हैं और मरने के उपरांत कर्मों के अनुसार ही दूसरा जन्म होता है। जिस प्रकार बीज नष्ट होकर वृक्ष उत्पन्न होता है और वृक्ष का नाश होने पर वह बीज में समाया रहता है। इसी तरह कल्पों तक मूल वृत्त का अस्तित्व बना रहता है, उसी प्रकार जीवात्मा के कितने ही जन्म हो जायें पर उसके तीन गुण मिटते नहीं। इसलिए प्राणियों के हिस्से में जो श्रद्धा आती है वह भी उन गुणों के अनुसार तीन प्रकार की होती है। यदि सत्व गुण बढ़ता जाता है तो ज्ञानकी और प्रवृत्ति होती है। पर रजोगुण

और तमोगुण उसके विरोधी हैं। सतोगुणी श्रद्धा मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ होती है, पर रजोगुण और तमोगुण कैसे चुपचाप बैठे रह सकते हैं ? सतोगुण को क्षीण करके जब रजोगुण बढ़ता है तो वही श्रद्धा कर्म में प्रवृत्त होती है। जब तमोगुण की प्रबलता हो जाती है तो श्रद्धा भी भोगों की ओर उद्यत होती है। (६५)

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३

इस प्रकार हे ज्ञानी ! जीवात्मा में जो श्रद्धा रहती है वह सत्व, रज और तम के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती। जैसे जल जीवनदाता है परन्तु उससे विष के पौधे को सींचें तो विष बन जाता है, मिर्च को सींचे तो चरपरा हो जाता है, ईख के सम्पर्क से मीठा हो जाता है, इसी प्रकार तमोगुण की वृद्धि होने पर जो प्राणी जन्म अथवा मृत्यु पाता है उसकी श्रद्धा तमोगुणी होती है फिर जैसे काजल और उससे बनी स्याही में कुछ भेद नहीं जान पड़ता उसी तरह तामसी श्रद्धा उस मनुष्यसे पृथक् नहीं होती। उसी प्रकार प्राणियों की श्रद्धा रजोगुणी और सात्विकी की सतोगुणी होती है। इस तरह समस्त जगत वास्तव में श्रद्धा से ही बना है। त्रिगुण की प्रधानता होने से उस श्रद्धा में जैसे चिह्न दिखाई पड़ें, उसे वैसी मानो। जैसे पुष्प और कली को देखकर फल का अनुमान किया जा सकता है, मनुष्य की वर्तमान स्थिति से उसके पूर्व कर्मों को जान सकते हैं, उसी प्रकार जिन चिह्नों से श्रद्धा के तीनों रूपों को पहिचाना जा सकता है, उनको सुनो !

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४

जिनके शरीर सात्विक श्रद्धा के बने होते हैं, उनकी बुद्धि प्रायः स्वर्ग प्राप्ति की होती है। वे सब विद्याओं को सीखते हैं, उत्तम यज्ञ करते हैं और देवताओं के लोक को प्राप्त करते हैं। जिनमें रजोगुणी श्रद्धा होती है वे यक्ष और राक्षसों को पूजते हैं। तमोगुणी श्रद्धालुओं

के लिए तो क्या कहा जाय? वे पापों की खानि, अत्यन्त कठोर दयाहीन होते हैं। वे जीवों का वध करके बलि देते हैं और श्मशानमें भूतप्रेतादि की आराधना करते हैं। तमोगुणके सारसे बने ऐसे मनुष्य तामस श्रद्धा के पुंज ही होते हैं। इस प्रकार सात्विक राजस, तामस-ऐसे तीन प्रकार की श्रद्धायें संसार में पाई जाती हैं। मैं इनका वर्णन इसलिए करता हूं कि बुद्धिमान को सात्विक श्रद्धा ही ग्रहण करनी तथा राजस तथा तामस का त्याग करना। हे धनंजय! जो इस सात्विक श्रद्धाके अनुसार आचरण करता है वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है चाहे वेद न पढ़े, शास्त्र का अध्ययन न करे, शास्त्रों की एक वाक्यता से भी अनजान बना रहे। ऐसा मनुष्य यदि वेद शास्त्रों के विद्वान् और तदनुसार आचरण करने वाले अन्य व्यक्ति का अनुकरण करके सात्विक श्रद्धा का पालन करता है, तो उनको वैसा ही सत्परिणाम अवश्य प्राप्त होगा। कोई मनुष्य बड़ा परिश्रम करके दिया जलावे और दूसरा उस दिये से अपना दिया प्रकाशित कर ले तो क्या उससे प्रकाश न मिलेगा। अथवा कोई मनुष्य अपार धन खर्च करके घर बनवाये तो क्या उसमें रहने वाले अन्य मनुष्यों को उससे आराम नहीं मिलेगा? और जो लोग जलाशय निर्माण कराते हैं, क्या उसके जल से, उनकी ही प्यास बुझती है, दूसरों की नहीं बुझती? क्या रसोई बनाने वाले की भूख ही उसमें बनने वाले भोजन से दूर होती है? क्या गौतम ऋषि द्वारा लाई गई गङ्गा ने केवल उनको ही पवित्र बनाया। आशय यही है कि जो कोई अपनी अपेक्षा और योग्यतापूर्वक शास्त्रों का अध्ययन करता हो उसके आचरण का अनुसरण करके सामान्य व्यक्ति भी संसार से पार हो जाता है। (६२)

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥

शास्त्रों के नाम पर जो खखारना (बोलने के लिए गला साफ करना) भी नहीं चाहते, वयोवृद्धों के स्नान, सन्ध्या आदि की नकल

उतारते हैं, पण्डितों के भाषण की हँसी उड़ाते हैं, जो अपनी विद्या और द्रव्य के अहङ्कार में डूबकर सबको तुच्छ समझते हैं, वे निश्चय ही पाखण्डी हैं। वे नर हत्या करके उसके रक्त-मांससे हवन करते हैं,उसको देवताओं के मुँह से लगाते हैं, बालकों की बलि देते हैं। क्षुद्र देवताओं से वरदान पाने के लिए सात-सात दिन का उपवास करते हैं। हे ज्ञानी अर्जुन! वे अपने को और अन्य को पीड़ा देने का बीज तपोरूपी भूमि में बोते और उससे वैसा ही फल होता है। जिसको तैरना न आता हो ऐसा मनुष्य बिना नाव के समुद्र में जावे तो उसकी जैसी स्थिति होती है, अथवा जो वैद्य को शत्रु समझकर उसकी दवा को फेंक दे, अथवा आँखों का इलाज न करके हठ वश उनको फोड़कर स्वयं ही अन्धा बन जाय, जैसी दुर्गति इस लोगों की होती है, वैसी उन असुरों की होती है। वे शास्त्रोक्त मार्ग की निन्दा करते हैं, मोह रूपी जंगल में भटकते फिरते हैं, काम के आधीन होकर हीन आचरण करते हैं, क्रोधवश चाहे जिसको तारने पर उतारू हो जाते हैं, वे वास्तव में मुझको ही दुःखरूपी पत्थरों से मारते हैं।

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६

जो कोई अपने तथा अन्य के शरीर को जो-जो पीड़ा देते हैं, वे सब में निवास करने वाली आत्माको ही सहन करनी पड़ती हैं। इसलिये ऐसे पापियों का तो नाम भी नहीं लेना चाहिए। पर उनका त्याग करने के लिए उनके लक्षणों को जानना आवश्यक है। घर में से मुर्देको बाहर निकालते हैं, नीच मनुष्य से बात नहीं करनी चाहिए, तो भी प्रसंग आ जानेपर दो बात करके उसे हटाना पड़ता है, गन्दी चीज को भी हटाकर हाथ धो लेते हैं। ये कार्य शुद्धता के उद्देश्य से किये जाते हैं, इसलिए उनमें स्पर्श दोष नहीं माना जाता। उसी प्रकार इन पापी लोगोंका त्याग करने के उद्देश्य से ही उनके लक्षण वर्णन करने पड़े। हे अर्जुन! ऐसे

लोगों को देखते ही मेरा नाम लेना, क्योंकि उनको देख लेने का यही प्रायश्चित्त है। सारांश यही है सदा सात्विक श्रद्धा का ही प्रयत्न करते हों और जिनके सम्पर्कसे ऐसी श्रद्धा उत्पन्न होती हो उन्हींका संग करना। जिस अन्न से सात्विकता की वृद्धि होती हो वही सेवन करना, क्योंकि स्वभाव परिवर्तन के लिए आहार से बड़ा और कोई साधन नहीं है। जो सावधानी से मद्य का सेवन करता है वह भी उसके प्रभाव से उन्मत्त बनता ही है। अथवा जो मनुष्य अधिक अन्न खा जाता है उसे कफ और वात की विकृति होती ही है। जैसे अमृत द्वारा मृत्यु मिटा दी जाती है और विष से मृत्यु प्राप्त होती है, वैसे ही जैसा अन्न खाया जायगा वैसी ही धातु बनेगी और धातु के अनुसार ही आंतरिक भाव होंगे, जैसे बर्तन को तपाने से उसके भीतर का पानी भी गर्म हो जाता है, उसी प्रकार धातु के आधार पर चित्त वृत्ति का निर्माण होता हैं। इसलिए सात्विक, राजस, तामस जैसा अन्न सेवन किया जायगा वैसा ही भाव उत्पन्न होगा। इसलिए अब मैं बतलाता हूँ कि सात्विक, राजस तामस आहार के क्या लक्षण हैं। (११६)

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७

और हे अर्जुन! एक ही आहार तीन प्रकार का कैसे हो गया, वह तुझे स्पष्ट बतलाता हूँ। भोजन खाने वाले की रुचि के अनुसार तैयार किया जाता है पर वह खाने वाला अपने गुणोंका दास होता है। जीवात्मा कर्ता और भोक्ता है वह गुणों के कारण तीन प्रकार की चित्तवृत्तियाँ धारण करता है। तदनुसार आहार ही नहीं यज्ञ, तप, दान भी तीन प्रकार का है पर पहले तुझे आहार के लक्षण बताता हूँ। (१२४)

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८

दैवयोग से जीवात्मा यदि सतोगुणी होता है तो उसकी रुचि मधुर अन्न पर विशेष होती है। जो पदार्थ स्वभाव से ही उत्तम, रस-युक्त मीठे, चिकने और ठीक तरह पके होते हैं, आकार में बहुत बड़े,नहीं होते स्पर्श में मृदु, जीभ पर रहते ही गल जाने वाले, रसीले हों, पर अग्नि लगने से द्रवत्वका अधिक अंश सूख गया हो। जिस प्रकार श्री गुरुदेव के वचन देखने में थोड़े होते हैं, पर उनका परिणाम अति उत्तम होता है। उसी प्रकार जो पदार्थ थोड़ा खाने पर ही अपार तृप्ति हो जाती है वे ही सात्त्विक वृत्ति वालोंको प्रिय होते हैं। ऐसे पदार्थों के सेवनसे आयुष्य रूपी नदी में बाढ़ आ जाती है। हे बुद्धिमान् ! जैसे दिन की वृद्धि का कारण सूर्य होता है,उसी प्रकार सतोगुण की रक्षा के लिए ऐसा आहार ही योग्य है,और शरीर तथा मन की शक्ति ऐसे ही आहार से बढ़ जाती है। ऐसे सात्त्विक अन्न के सेवन से शरीर नीरोग रहता है और फिर सभी काम अच्छी तरह होने लगते हैं। अधिक क्या कहूँ, उसकी आनन्द के साथ मित्रता हो जाती है। इस प्रकार सात्त्विक आहार का परिणाम श्रेष्ठ होकर वह शरीर के लिए अन्तर्बाह्य सुख देने वाला सिद्ध होता है। अब राजस मनुष्य की जैसे अन्न पर प्रीति होती है वह भी सुनाता हूँ।

(१३८)

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहार राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९

जिसके द्वारा केवल मृत्यु न होती हो, पर विष की तरह कड़वा, चूने की तरह दाहक,खट्टा, गेहूँ के आटे को साननेमें जितना पानी डाला जाता हैं उतने ही नमक वाला ऐसे अत्यन्त नमकीन पदार्थ राजसप्रकृति वालों को पसन्द आते हैं। वे इतना गर्म भोजन करते हैं, मानो आग ही खा रहे हों। उसमें से ऐसी भाप निकलती है कि उससे दिया भी जल उठे। ऐसे पदार्थ खाने से राजस लोगों को बड़ा अच्छा लगता है। भाले की नोंक की तरह तीक्ष्ण पदार्थ वे खाते हैं, जिनसे प्रत्यक्ष घाव तो नहीं

लगता वैसी ही वेदना होती है। राख की तरह रूखे और भीतर बाहर सूखे और जिनसे दांतपर दांत टकरावें ऐसा कठोर भोजन उनको बढ़िया जान पड़ता है। खूब चरपरे और राई मिले जिनको खाते ही मुँह और नाक झनझना जाय, जो अग्नि को भी मांत करते हों, ऐसे पदार्थ राजसियों को प्राण से अधिक प्रिय जान पड़ते हैं। वे ऐसे पदार्थ कितने भी खा जायें पर उनकी तृप्ति नहीं होती। इस प्रकार वे मानों अग्निके जलते अङ्गारे ही पेट में भरते हैं। परिणाम स्वरूप वे चारपाई से जमीन पर और जमीन से चारपाई पर लोट-पोट करते रहते हैं। उनके मुख के पास से पानी का प्याला कभी हटता ही नहीं। ऐसे आहार को अन्न नहीं कहना चाहिए। वरन् व्याधिरूपी सोते सर्प को जगाकर पेट में डाल लिया हो, ऐसा कुपरिणाम होता है। ऐसे अन्न का सेवन करते ही सब प्रकार के रोग एक दूसरे से स्पर्धा करते हुए पीछे लग जाते हैं। इस तरह राजस अन्न से दुःख रूपी फल ही मिलता है। हे धनुर्धर ! इस प्रकार मैंने तुझको राजस आहार का परिणाम बतला दिया।

(११२)

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०

भगवान् ने कहा तमोगुण वालों को जो भोजन अच्छा लगता है उसका वर्णन करता हूँ, पर कदाचित् वह तुझे घृणित जान पड़े। जूँठा और बासी भोजन में उसे कुछ दोष नहीं जान पड़ता। पशु जैसे खाते हैं वैसे ही उसे सवेरे का पकाया अन्न दोपहर को अथवा दूसरे दिन खाना खूब प्रिय जान पड़ता है। अथवा आधा पका या जला हुआ भोजन, जिसका स्वाद निकल गया हो ऐसा अन्न वह खाता है पूरे पकाये रस युक्त भोजन को वह घटिया मानता है। यदि उसे ऐसा अन्न मिल जाय तो उसे व्याघ्र की तरह तब तक नहीं खाता जब तक उसमें से दुर्गन्ध न आने लगे। बेस्वाद रूखा, सड़ा जिसमें

जन्तु पड़ गये हों और जिसे बालकों ने खराब कर दिया हो उसीको वह बड़े प्रेम के साथ स्त्री पुत्रों के साथ खाता है। यह आश्चर्य की बात ही है कि जिन पदार्थों को निषिद्ध और अभक्ष्य माना जाता है। उन्हीं को खाने और अपेय को पीने की तामसी व्यक्तियों की रुचि होती है। पर इसका फल भी तत्काल मिलता है। जैसे ही वह ऐसे अपवित्र पदार्थों का सेवन करता है, वैसे ही पाप का भागी बन जाता है। वह भोजन नहीं होता वरन् वह पेट में यातनाओं का भण्डार ही भरता है। शिर काटने से अथवा अग्नि में कूदने से क्या होता है, इसको जानने के लिए क्या प्रत्यक्ष अनुभव की आवश्यकता होती है? वह ऐसा ही फल पाता है। इसलिए हे अर्जुन! तामस अन्न का परिणाम अलग से बताने की आवश्यकता नहीं। अब आहार की तरह यज्ञ भी तीन प्रकार के होते हैं. उनमें से सात्विक यज्ञ का वर्णन सुनो। (१७०)

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११

जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री की वासना पति के सिवाय और किसी की तरफ नहीं जाती,अथवा गङ्गा समुद्रमें मिलने के पश्चात् आगे बढ़नेकी चेष्टा नहीं करती, अथवा आत्म स्वरूपकी प्रतीति होने पर वेद भी मौन हो जाते हैं जो अपने कल्याण के लिए सम्पूर्ण चित्त वृत्ति लगाकर भी फल की आशा अथवा अहङ्कार नहीं रखते, अथवा वृक्ष की जड़में पहुँच कर पानी फिर वापस नहीं आता वरन् उसके पोषण में ही लग जाता है, उसी प्रकार मन और देह से निश्चय करके पोषण में ही लग जाता है, उसी प्रकार मन और देह से निश्चय करके यज्ञ करने वाले ही फलेच्छा का त्याग करके सर्वाङ्ग सुन्दर यज्ञ यज्ञ करते हैं। हाथमें दर्पण लेने पर जिस प्रकार अपना मुख स्पष्ट देखा जा सकता है, अथवा हथेली पर रखा रत्न दीपक के प्रकाश में साफ दिखाई देता है, अथवा सूर्योदय होनेपर जिस प्रकार मार्ग दिखाई पड़ने लगता है,उसी प्रकार वह

उसी तरह का आचरण करता है, वह कुण्ड, मण्डप, वेदी आदि समस्त यज्ञ सामग्री ऐसी तैयार करता है मानो वेदों ने स्वयं ही बनाई हो। सब अंगों में उचित रीति से धारण किये अलंकार जिस प्रकार शोभा पाते हैं, वैसे ही उस यज्ञ के सब पदार्थ उचित स्थान पर रखे रहते हैं। कहाँ तक कहूँ, यह मण्डप देखते ही ऐसा लगता है मानो प्रत्यक्ष यज्ञ-विद्या वहाँ आ पहुँची है। इस प्रकार जो यज्ञ सांगोपाङ्ग किया जाता है, जिसके लिए फल की कुछ भी आकांक्षा नहीं होती। जिस प्रकार तुलसी के पौधे से फल, पुष्प, छाया की प्राप्ति नहीं होती तो भी उसे सींचकर बड़ा किया जाता है, उसी प्रकार बिना फलाशा के जो यज्ञ यथाविधि किया जाता है, वही सात्त्विक यज्ञ कहा जाता है। (१८४)

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ।१२

अब हे वीरश्रेष्ठ ! दूसरा जो राजस यज्ञ है, वह सब प्रकार से ऐसा ही होता है, परन्तु श्राद्ध के दिन राजा को इस इच्छा से निमन्त्रित किया जाय कि उससे अपने को बहुत फायदा होगा, अपनी कीर्ति बढ़ेगी और श्राद्ध भी हो जायेगा। उसी प्रकार जो इस उद्देश्य से यज्ञ करते हैं कि इससे हमको स्वर्ग मिलेगा तथा लोग दीक्षित समझ कर सम्मान करेंगे और अपने हाथ से यज्ञ जैसा एक महान्कार्य भी सम्पूर्ण होगा, उनका यज्ञ राजस श्रेणी का होता है। (१८८)

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।१३

पशु-पक्षियों के विवाह में कामदेव के सिवाय और कोई जोशी (विवाह कराने वाला) नहीं होता, वैसे ही तामस यज्ञ का कारण एक मात्र आग्रह ही होता है। चाहे वायु को चलने के लिए मार्ग न मिले, मृत्यु मुहूर्त ही ढूँढ़ती रहे, अग्नि को निषिद्ध पदार्थों के जलाने में डर लगने लगे, तो भी तामस यज्ञ में किसी मर्यादा का पालन नहीं किया

जाता है। हे धनुर्धर ! यह बिना विधि विधान का पालन किये होता है। मन्त्रों की आवश्यकता नहीं होती, मण्डप में मक्खी को भी अन्न का एक दाना नहीं मिलता और विद्वानों के साथ पूरा बैर रहता है जिस प्रकार अग्नि पवन से भड़क उठती है, अपुत्र मनुष्य के धन को उसकी मृत्यु के पश्चात् चाहे जो लूटने खाने वाले मिल जाते हैं, उसी प्रकार यज्ञ में सब धन व्यर्थ खर्च कर दिया जाता है, पर उसमें श्रद्धा का नाम नहीं होता। भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जिस यज्ञ में केवल ऐसा दिखावा किया जाय उसे तामस यज्ञ कहते हैं। अब जिस प्रकार गङ्गा का पानी स्वच्छ और मलिन दोनों रूपों में दिखाई पड़ता है इसी प्रकार तीन गुणों के प्रभाव से तप भी त्रिरूप हो जाता है। उसमें से किसी से मोक्ष और किसी से अधोगति प्राप्त होती है। हे अर्जुन ! यदि तू इन तीनों भेदोंको जानना चाहता हो तो पहले तपके रूप को समझले ! उत्तम तप तीन प्रकार का होता है—कायिक, वाचिक और मानसिक। (२००)

देव द्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।१४

अब इन तीनों में कायिक तप कौन सा है वह सुनो। शङ्कर अथवा विष्णु इन दोनों मे से जिस किसीमें भक्ति हो, तो उसके मन्दिरमें जाकर दर्शन करना अथवातीर्थ यात्रा आदि केलिए सदैव चलते रहना।देव-मंदिर का आँगन सुशोभित करने, पूजा सामग्री एकत्रित करने और देव सेवा करने से जिसके हाथ शोभित होते हैं, शिव लिंग अथवा विष्णु की मूर्ति दृष्टि पड़ते ही जो भूमि पर पड़कर दण्डवत् करता है। विद्वानोंकी सेवा करता है, प्रवास से थके या संकट में पड़े लोगों की सहायता करता है, सब तीर्थों में श्रेष्ठ माता-पिता की सेवा में जो शरीर को लगा देता है, और संसार रूपी व्याधि में से दर्शन मात्रसे मुक्त करने वाले और ज्ञानामृत का पान कराने वाले गुरु की सेवा करता है—वह सब कायिक तप है। हे अर्जुन ! देहाभिमान रूपी मैल को स्वधर्म रूपी अग्नि में

जला देना, स्त्री के विषय में पूर्ण संयम रखना, जन्म के समय जननी के रूप में स्त्री का जो स्पर्श हुआ उसके बाद कभी उसका स्पर्श न करना, घास में भी जीव है यह मानकर उसको पैर से न कुचलना, किसी को बुरे लगने वाले वचन न बोलना—इस प्रकार से जब शरीर से हीन कर्म होने का स्वभाव बिल्कुल मिट जाये तो उसे पूर्ण कायिक तप समझना चाहिए ये सब कार्य शरीर से होते हैं। अतएव इनको शारीरिक तप बतलाया। अब हे निष्पाप ! वाचिक तप के लक्षणों को सुनो। (२१४)

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैब वाङ्मयं तप उच्यते ।१५

पारमणि जिस प्रकार लोहे का आकार छोटा न करके सबका सोना बना देती है, उसी प्रकार जिससे बातें की जायें उसके समीप के भी व्यक्ति दुःख के बजाय सुख का अनुभव करें, ऐसा मीठा बोलना वाचिक तप है। वृक्ष को जल से सींचने पर उसके पास की घास खूब बढ़ती रहती है, अमृत की गंगा जिस प्रकार आचमनसे अमर करती है, स्नान से पाप नष्ट करके संसार ताप से रक्षा करती है और मीठेपन का स्वाद भी देती है,उसी प्रकार जिस प्रकार जिस भाषण से अज्ञान आत्म-स्वरूप की प्राप्ति होती है, और अनेक बार सुनने परभी अमृत की तरह जिससे रुचि कम नहीं पड़ती, जब कोई पूछे तब भाषण करना अन्यथा वेदाध्ययन तथा हरिकीर्तन में संलग्न रहना तथा तीनों वेदों को वाणी रूपी मन्दिर में प्रतिष्ठापित करना अथवा शिव और विष्णु के नाम का जप करते रहना वाणी का ऐसा उपयोग ही वाचिक तप है। अब मान-सिक तप का वर्णन करता हूँ।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ।१६

जैसे तरंग-रहित सरोवर, बिना बादल का आकाश, सर्प रहित चन्दन का बाग, सोलह कला से पूर्ण चन्द्रमा, चिन्ता रहित राजा तथा

मन्दराचल रहित क्षीर सागर होता है वैसे ही अनेक विकल्पों का जाल हट जाने से मन शुद्ध स्वरूप में पहुँच जाता है। अथवा उष्णता रहित प्रकाश, सूक्ष्म भोजन बिना पोलेपन की वस्तु जैसे होता है, वैसेही अपने स्वरूप को जानकर मन अपने चपल स्वभाव को इस प्रकार त्याग देते है जैसे हिम के ऊपर ठंड का असर नहीं होता। अथवा जिस प्रकार पूर्णिमा के चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब कलंक रहित रहता है, उसी प्रकार जो मन आत्म स्वरूप में स्थिर हो जाता है, जिसको वैराग्य में कष्ट का अनुभव नहीं होता, चंचलता और भय नष्ट हो जाते हैं, तो मन आत्म-बोध स्वरूप बन जाता है। तब वह मुख से बोलने के बजाय मौन ही रहने लगता है। आत्म-स्वरूप की प्राप्ति होने पर वह संकल्प-विकल्प त्याग कर नमक और पानी की तरह मिलकर एक रूप हो जाता है। ऐसी स्थिति में मन में इच्छा ही पैदा नहीं होती, जिससे वह इन्द्रियों की तरफ दौड़कर विषयोंके गाँव में पहुँचे। जैसे हथेली में बाल नहीं होते, वैसे उस मन में मलिनता नहीं होती। हे अर्जुन! अधिक क्या कहूँ, मन की इसी अवस्था को मानसिक तप कहते हैं। भगवान् कृष्ण ने कहा— देह वाणी और मन के योग से यह तीन प्रकार का तप मैंने तुझको समझा दिया। अब गुण के सम्पर्क से भी तप तीन प्रकार का होता है। अच्छी तरह सुनो। (२३८)

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ।१७

हे ज्ञानी ! यह जो मैंने तुझको तीन प्रकार का तप बतलाया उसका श्रद्धापूर्वक आचरण करो, पर फल की इच्छा मत करो। जब मन को पूरी तरह शुद्ध करके तप का आचरण करोगे तो वही सात्विक तप कहा जायगा। (२४१)

सत्कारमानपूजार्थं दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ।१८

जप-तप करने से जगत् में भेद-भाव पैदा किया जाय, बड़प्पन

के शिखर पर बैठने की इच्छाकी जाय,तीनों लोकोंमें मेरे बराबर सम्मान किसी को न मिले, सभा और भोजन में मुख्य मैं ही माना जाऊँ ऐसी भावना रखी जाय, दुनिया मेरी ही स्तुति करे, लोग मेरे दर्शन करने आवें, मेरी पूजा करें, महत्वपूर्ण भोग मुझको ही मिले, ऐसी कामनायें रखना राजस तप होता है। जिस प्रकार वृद्धा वेश्या अपनी आयु को छिपाने के लिए बहुत शृंगार-पटर करके बैठती है, उसी प्रकार ऐसे लोग अपने असली स्वरूप को तप का ढोंग करके छिपाना चाहते हैं। इस प्रकार द्रव्य और मान की इच्छा से कष्ट सहन करके जो तप किया जाय वह राजस होता है। गाय के थन में एक विषाक्त कीड़ा लगा रहता है जिससे वह व्याने पर भी दुध नहीं देती। अथवा जिस फसल को पशु चरडाले उससे अन्न प्राप्त नहीं हो सकता।उसी प्रकार अपनी बड़ाई के उद्देश्य से जो तप किया जाता है, वह भी निरर्थक जाता है। हे अर्जुन ! जब यह ज्ञात पड़े कि इस तप से कोई लाभ नहीं होगा तो ऐसे लोग उसे बीच में ही छोड़ देते हैं। उनका तप इसी प्रकार अस्थिर होता है जैसे असमय में बादल आकाश में इकट्ठे होकर खूब गरजतेहैं परशीघ्र ही लोप हो जाते हैं। उसी प्रकार राजस तप बन्ध्या स्त्री के समान व्यर्थ ही होता है और वह टिकाऊ भी नहीं होता। पर तामस तप उससे भी हीन है जिससे न कीर्ति प्राप्त होती है न स्वर्ग मिलता है। (२५३)

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ।१९

हे धनुर्धर ! मूर्खता वश तो अपने शरीर को शत्रु मानता है, उसे लकड़ी की तरह समझकर आन्तरिक्ष पञ्चाग्नि से प्रज्वलित करता है, अथवा जो लोग मस्तक पर जलती अंगीठी रखकर उसमें गूगल डालते हैं, शरीर में काँटे छेदते हैं, चारों तरफ अग्नि जलाकर उसमें अपने शरीर को तप्त करते हैं, श्वासोच्छ्वास को रोकते हैं, व्यर्थ का उपवास करते हैं, अथवा नीचे की तरफ मस्तक करके लटकते हैं और धुँआ को पीते हैं, नदी के ठंडे पानी में खड़े रहते हैं और चट्टानों पर

अथवा नदी के किनारे बैठकर अपने मांस को स्वयं ही काटते हैं। हे धनंजय! इस प्रकार अपने शरीर को तरह-तरह से घोर कष्ट देते हुए दूसरों को हानि पहुँचाने के लिए तपस्या करते हैं। पहाड़ों से कोईपत्थर भारी होने के कारण नीचे लुढ़क पड़े तो वह स्वयं तो टुकड़े-टुकड़े हो ही जाता हैं, यदि उसके रास्ते में और कोई वस्तु आ जाती है तो वह भी नष्ट हो जाती है,वैसे ही स्वयं कष्ट सहन करके भी वें अन्यों को दुःखी बनाकर विजय पाने के लिए तप का आचरण करते है। हे अर्जुन! इस प्रकार जो दुष्टतायुक्त तथा क्लेश कारक तप किया जाता है वह तामस तप कहा जाता है। इस प्रकार सत्व, रज, तम की प्रेरणा से जो तीन प्रकार के दान कहे गये हैं, उनका वर्णन सुनो। (२२५)

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देश काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।२०

धर्मपूर्वक और सन्मार्ग से प्राप्त किया धन अति आदर पूर्वक अन्य को दान किया जाय। उत्तम बीज मिल जाय, पर उत्तम भूमिऔर नमी न मिले वैसे ही दान करने की इच्छा हो तो भी दान के योग्य पात्र,देश तथा काल को प्राप्त न हो। बहुमूल्य रत्न मिल जाय पर उसमें जड़नेके लिए सोना न मिल सके फिर यदि स्वर्ण भी मिल जाय तो उसका अलंकार धारण करने योग्य शरीर न रहे। जब सौभाग्य होता है, तभी उत्तम पर्व, स्वजन और सम्पत्ति-तीनों की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार सात्विक दान के लिए उत्तम देश, काल, सत्पात्र, धन—ये सब साधन कभी-कभी अनुकूल मिलते हैं। प्रथम तो दान के लिए कुरुक्षेत्र, काशी अथवा उसके समतुल्य कोई क्षेत्र होना चाहिए,फिर सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण जैसा कोई शुभ काल हो, उस अवसर पर ऐसा सुपात्र मनुष्य मिले जो मूर्तिमान पवित्रताही हो, वह पूर्ण सदाचारी, वेदवेत्ता हो। उसको अपना न्यायोपार्जित धन ऐसे अर्पण करे जैसे धर्मपत्नी पति के समीप जाती है,

अथवा किसी की अमानत लौटाकर उऋणता प्राप्त होती है, अथवा सेवक राजा को पान का बीड़ा देता है। उसी प्रकार निष्काम बुद्धि से भूमि आदि का दान करना और उससे किसी फल की आशा नहीं रखनी। जिसे दान दिया जाय वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जिससे अपने को किसी प्रकार का लाभ होने की आशा ही न हो, जैसे आकाश की ओर पुकारने से कोई प्रत्युत्तर नहीं मिलता, दर्पण के पीछे देखने से प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं पड़ता, जलाशय पर गेंद मारने से वह उछल कर हाथ में नही आती, साँड़ को चारा देने से अथवा कृतघ्न के साथ उपकार करने से वे कोई प्रत्युपकार नहीं करते, उसी प्रकार जिससे अपना किसी प्रकार का उपकार होने की सम्भावना न हो उसी मनुष्य को दान देना और दान के विषय में जरा भी अभिमान का भाव मन में न लाना। हे वीर अर्जुन ! ऐसा दान ही श्रेष्ठ तथा सात्विक दान होता है। उसमें वैसा ही देश, काल, सत्पात्र और धर्मपूर्वक प्राप्त धन का योग होना चाहिए। (२८४)

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।२१

पर दूध की इच्छा रखकर जिस प्रकार गाय को चारा दिया जाता है, अथवा अनाज से कोठी भरने के लिए खेत में बीज डाला जाय, अथवा जो उपहार की आशा से सगे सम्बन्धियों को निमन्त्रित किया जाय, अथवा, द्रव्य लेकर रोगी को औषधि दी जाय, अथवा इस भाव से दान किया जाय कि इससे अमुक मनुष्य का गुजारा हो जायेगा और वह सर्वत्र हमारी प्रशंसा करता फिरेगा। अथवा हे अर्जुन ! जिस उत्तम ब्राह्मण से किसी प्रत्युपकार की आशा न हो उसे एकाध कौड़ी दान देकर उसके हाथ में समस्त कुटुम्ब के प्रायश्चित का संकल्प करते हैं, अथवा परलोक में सब प्रकार के फलों की आशा रखकर ही दान देते हैं और वह भी इतना कम कि उससे दान लेने वाले की एक

बार भूख भी दूर न हो। इतना ही नहीं वरन् लेने वाले के चले जाने पर दाता को ऐसा जान पड़े कि हमारी बड़ी हानि हो गई, मानो कोई चोर सर्वस्व हरण करके ले गया। हे सुमति अर्जुन ! ऐसी मनोवृत्ति से दिया हुआ दान राजस कहा जाता है। (२८३

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।२२

फिर म्लेच्छों की बस्ती हो, अरण्य अथवा अपवित्र स्थल हो, ऐसे स्थान में सन्ध्या या रात्रि के समय एकत्रित होकर, चोरी से प्राप्त धन को वे उदारता पूर्वक दान करते हैं। पर उनके पात्र कैसे होते हैं? भाट भाँड़, वैश्या, ज्वारी अथवा घोर खुशामदी। ऐसे लोग दाता के सम्मुख नाचना-गाना करते हैं अथवा उनकी प्रशंसा के गीत गाते हैं। फिर जब वे पुरुष या सुगन्धित इत्र आदि की खुशबू सूँघकर मस्त हो जाते हैं तो एक तरह के भूत-बेताल ही जान पड़ते हैं। तब वे अन्यों से लूटी हुई सम्पत्ति को दुष्ट और नीचों को दान की तरह देते हैं। ऐसे दान को मैं तामस दान कहता हूँ। दैववशात् ऐसे दान का एक और रूप भी हो जाता है, उसे भी सुनो। (३९०)

कभी-कभी संयोगवश कीड़ों द्वारा काठ को कुतरते-कुतरते कुछ अक्षर से बन जाते हैं, अथवा थाली बजाते हुए दोनों हाथों के बीच कौआ आ जाय, उसी प्रकार कदाचित् तामस व्यक्तिको पूर्व का नाम मिलजाय और कोई सत्यपात्र भी दान लेने आ पहुँचे और उसे देखकर अभिमानवश कुछ देने का विचार भी हो जाय तो भी अहंकारवश न तो उसको नमस्कार करता है, न बैठने को आसन देता है, फिर गन्ध अक्षत आदि से पूजा करने की तो बात ही क्या ? इस प्रकार तामसी पुरुष अतिथि की अप्रतिष्ठा करके उसे इस प्रकार थोड़ा धन दे देतेहैं जैसे वह कर्ज लेने आया हो। वे उसे हर प्रकार से अपमानित करते हैं,खराब शब्द बोलते

है और बाहर निकल जाने को कहते हैं। ऐसा दान संसार में तामस कहा जाता है।

इस प्रकार सात्विक, राजस, तामस इन तीनों श्रेणियों में दोनों के लक्षण तुमको स्पष्ट बतला दिये। हे अर्जुन ! कदाचित् ऐसी शंका करेगा कि जब संसार बन्धन से मुक्त कराने वाला एक मात्र सात्विक कर्म ही है तो फिर अन्य दोषयुक्त कर्मों का वर्णन करने की क्या आवश्यकता थी ? पर गढ़े खजाने को प्राप्त करने के लिए पहले वहाँ से 'भूत' को दूर करना आवश्यक होता है, अथवा धुँआ का कष्ट सहे बिना जैसे अग्नि नहीं जलाई जा सकती, वैसे सत्वगुण में बाधा स्वरूप जो रजोगुण और तमोगुण के घट हैं उसको तोड़ने में क्या बाधा बुराई है ? मैंने श्रद्धा से लेकर दान तक जितने कर्म बतलाये वे सब तीन गुणों से युक्त हैं। इन तीनों गुणों का वर्णन करने की मेरी इच्छा न थी, पर सत्वगुण को अच्छी तरह समझाने के लिये शेष दोनों का वर्णन भी करना पड़ा। दोनों का त्याग करने पर ही हमारी वस्तु प्राप्त होती है। जिस प्रकार दिन और रात्रि का त्याग करने पर ही सन्ध्या काल मिलता है, उसी प्रकार रज और तम का नाश होने पर ही तीसरा उत्तम गुण—सात्विक प्राप्त होता है। इसी प्रकार सतोगुण को समझाने के लिए रजोगुण और तमोगुण वर्णन किया गया, जिससे उनको त्याग केवल सतोगुण को ही ग्रहण किया जा सके। इस सतोगुण के आधार पर तुम यज्ञ आदि सब धर्म कार्यों को करो जिससे सहज में आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो सकेगी। अगर सूर्य स्वयं आकर किसी वस्तु को दिखलावें तो फिर ऐसी कौन सी वस्तु है जो दिखाई न दे। उसी प्रकार सतोगुण के आचरण में कौन-सा पुण्य फल प्राप्त नहीं हो सकता। फिर भी उसके द्वारा मोक्ष प्राप्त करना हो तो एक अन्य वस्तु की भी सहायता लेनी आवश्यक होती है। सौ टन्च का सुवर्ण हो, पर जब तक उस पर राजा के नाम की छाप अंकित न हो तब तक वह चल नहीं सकता। उसी प्रकार अनेक स्थानों का पानी, स्वच्छ, शीतल सुगन्ध युक्त, सुखदायक होता है,पर जब तक वह तीर्थों के पानी में आकर

नहीं मिलता, तब तक उसे पवित्र नहीं माना जाता । उसी प्रकार हे अर्जुन सात्विक कर्म द्वारा मोक्ष प्राप्त करने के इच्छुक को बीच में कोई विघ्न न आ जाय, उससे बचने का एक निराला तत्व है । वह सुनते ही अर्जुन को अत्यन्त कौतूहल हुआ और वह कहने लगा—'देव ! वह मुझको अवश्य बतलाइये ।' (३२९)

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ।२३

भगवान् कृष्ण कहने लगे—जो अनादि परब्रह्म समस्त जगत् का विश्रान्ति स्थल है उसका एक नाम तीन तरह से है । वास्तवमें तो ब्रह्म का न कोई नाम है, न जाति है, परन्तु अज्ञानी जन उसे समझ सकें इस लिए वेदों ने उसका एक नाम रख दिया है । जब बच्चे का जन्म होता है तब बच्चे का कोई नाम नहीं होता । पर बाद में उसका नाम रखा जाता है और उस नाम से पुकारने पर 'हुँकारा' भरता रहता है । उसी प्रकार संसार ताप से व्याकुल जीव जब ईश्वर के सम्मुख अपना दुःख रोने आते हैं, तो वेद कृपा करके उनको एक ऐसा नाम बतलाते हैं जिससे ब्रह्म की अनिर्वाच्यता मिटकर उसके साथ अद्वैत सम्बन्ध स्थापित हो जाता है । यद्यपि ब्रह्म पीछे (अज्ञात) ही रहता है, पर उस मन्त्र द्वारा पुकारते ही वह सम्मुख आ जाता है । इस रहस्यको वे ही जान पाते हैं जो वेद रूपी पर्वत पर उपनिषद् रूपी नगर में ब्रह्म की पंक्ति में जाकर बैठ जाते हैं । अधिक क्या कहूँ ब्रह्माजी की सृष्टि रचना की शक्ति भी उसी मन्त्र के अनुष्ठान से प्राप्त होती है । हे वीर श्रेष्ठ ! सृष्टि से पहले ब्रह्माजी अकेले ही पैदा हुए, तब वे पागल हो गये और अपने उत्पन्न करने वाले मुझ ईश्वर को भी नहीं जान सके, और सृष्टि रचनाभी नहीं कर सके । फिर वह शक्ति उनको उसी मन्त्र के उच्चारण से प्राप्त हुई और उन तीन अक्षरों का ध्यान करने से ही सृष्टि रचना कर सके । तब उन्होंने ब्राह्मणों (धर्मज्ञाता विद्वानों) की सृष्टि की उनके आचरण के लिए वेद दिये और निर्वाह के लिए यज्ञ कर्म का ज्ञान प्रदान किया । फिर

ब्रह्म ने असंख्य जनता उत्पन्न की और उनके रहने को त्रिलोक का पुरस्कार दिया । (३४०)

भगवान् लक्ष्मीपति ने कहा—इस प्रकार जिस मन्त्र के प्रभाव से ब्रह्माजी ने श्रेष्ठता प्राप्त की उसको सुनो । सब मन्त्रों में श्रेष्ठ 'ॐ' ही मूल अक्षर है, और 'तत्' दूसरा तथा 'सत्' तीसरा अक्षर है । इस तरह 'ॐ तत् सत्' यह तीन अक्षरों का ब्रह्म का नाम है। यह उपनिषदों का सुन्दर पुष्प है,इसकी सुगन्ध लो । इसको जानकर सात्विक कर्म किये जायें तो फिर मोक्ष अपने घर की दासी ही है । पर भाग्यसे यदि कपूर से बने आभूषण मिल जायें तो उनका उपयोग किस प्रकार किया जाय? उसी प्रकार सत्कर्म का आचरण करके ब्रह्म का नाम लिया जाय? उसकी अवस्था का मर्म न मालूम हो तो घर आये सन्तों का सम्मान न करने के समान पुण्य का क्षय ही होता है। अथवा सोनेके बहुत से अलंकार मिल जायें पर उनको यथा स्थान न पहिन कर, बाँधकर गले में लटका लिया जाय, तो उनसे उल्टी कुरूपता की वृद्धि होती है। इसी प्रकार मुख से ब्रह्म का नाम लिया जाय और हाथोंसे सात्विक कर्म किये जायें पर विधि विधान का ज्ञान न हो तो सब गुड़ गोबर हो जायेगा। खाने के पदार्थ पास में हों, भूख भी लगी हो पर यदि छोटे बालक को उसे हाथ में लेकर मुख में डालने की विधि मालूम न हो तो उसे भूखों ही मरना पड़ेगा । अथवा हे अर्जुन ! तेल, बत्ती और अग्नि तीनोंएकत्र मिल जायें फिर भी यदि दीपक बनाकर जलाने का ढंग न आता हो तो अन्धेरे में ही रहना पड़ेगा । अथवा श्रेष्ठ पर्व हो, करने की इच्छा हो, उसका मन्त्र भी याद हो, पर विधान की जानकारी न हो तो सब व्यर्थ होता है। इसलिए तीन अक्षरोंके इस नाम की कैसेव्यवस्थाकी जाय, यह समझाता हूँ । (३५३)

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।।२४

अब परब्रह्म के नाम में जो तीन अक्षर हैं उन तीनों को कर्म के आदि, मध्य और अन्त में लगाना चाहिए। हे किरीटी! इस विधि से ब्रह्म ज्ञानी ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। जो शास्त्र को जानता है, परब्रह्म के साथ ऐक्य स्थापित करने के लिए यज्ञादि क्रियाओं का त्याग नहीं करता, वरन् पहले ध्यान द्वारा ॐकार को सिद्ध करके फिर वाणी से उसका उच्चारण करता है। इस प्रकार ध्यान और प्रणवोच्चार को स्पष्ट करके फिर क्रिया को आरम्भ किया जाता है। इस प्रकार 'प्रणय' कर्म करने वाले का ऐसा सहायक होता है जैसे अंधेरे में अखण्ड दीपक अथवा जंगल में कोई बलवान साथी। वह ब्रह्मज्ञानी धर्म द्वारा प्राप्त धन को देवताओं को अर्पण करने के लिए अग्नि के मुख में यज्ञ कराते हैं। अथवा आह्वनीय, गार्हपत्य और दक्षिण—इन तीन अग्नियों में यथाविधि हवन करते हैं। वे विविध प्रकार के यज्ञ करके अप्रिय अहंकार का त्याग करते हैं, अथवा न्याय से प्राप्त धन, भूमि आदि को देश काल के अनुसार सुपात्र को दान करते हैं अथवा चान्द्रायण आदि व्रतों द्वारा शरीर की शुद्ध करके तप करते हैं। इस प्रकार यज्ञ, दान, तप—ये कर्म जो बन्धन रूप कहे जाते हैं, वे आरम्भ में ॐकार का उच्चारण कर लेनेसे मोक्ष का साधन रूप बन जाते हैं। नदीके किनारे पर रखी हुई नाव ढकेल कर पानी में डालते समय भारी लगती है, पर फिर उसी के द्वारा पार लगाया जा सकता है। उसी प्रकार संसार के बन्धनों में डालने वाले कर्म 'ॐकार' के उच्चारण करने ं. मोक्षदायक हो जाते हैं। पर अब इस बात को रहने दो—जब यज्ञ, दान आदि क्रियायें ॐकार की सहायता से अग्रसर होकर जब कुछ फल देने वाली बनने लगती हैं-उस समय वे 'तत्' शब्द का प्रयोग करते हैं। (३७८)

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ।२५

जो परब्रह्म समस्त जगत् से परे हैं और सबका साक्षी है,

उसका 'तत्' शब्द से उच्चारण किया जाता है। हे अर्जुन! वे कर्मकरने वाले यह निश्चय करके कि वह ब्रह्म ही सबका आदि है, उसका ध्यान करके 'तत्' का उच्चारण करते हैं। अर्थात् वे कहते हैं कि हमारी सब क्रियायें फल सहित ब्रह्म को अर्पण हैं, हमारा उनमें कुछ नही है। उस प्रकार वे 'तत्' स्वरूप ब्रह्म को अर्पण करने से सब कर्मो से मुक्त होजाते हैं। अब जो कर्म 'ॐकार' का उच्चारण करके आरम्भ किया गया और 'तत्' कहकर अर्पित किया गया, 'ब्रह्मत्व' को तो प्राप्त हो जाता है, पर फिरभी कुछ कमी रह जाती है। वह यह कि कर्म करने वाले का द्वैत-भाव तो बचा ही रहता है, जिससे ब्रह्म के साथ उसका ऐक्य नहीं हो पाता। पानी में नमक डालने से वह गल ही जाता है, पर उसका खारापन तो बना रहता है। क्योंकि जब वे यह अनुभव करते हैं कि मेरा कर्म ब्रह्माकर हो गया, तो उसका द्वैत भाव तो बना ही रहा और भगवान् ने स्वयं कहा कि जब तक द्वैत कायम है तब तक संसार भय तो बना ही रहेगा। इसलिए ब्रह्म का पर्यवसान आत्मस्वरूप में करने के उद्देश्य से भगवान ने 'ॐकार' और 'तत्' के साथ 'सत्' शब्द की योजना की है। प्रशस्त कर्म में 'सत' शब्द सुनने योग्य है, वह अब बतलाता हूँ। (६७६)

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते।२६

इस 'सत्' शब्द' द्वारा असत् रूप खोटा सिक्का गलकर निर्मल 'सत् का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। 'सत्' में देश-काल से कभी कोई परिवर्तन नहीं होता, वह सदैव अपने स्थल पर जैसे का तैसा रहता है। यह संसार जो दिखाई पड़ता है वह असत् है। 'सत्' वह है जिसको जान लेने पर आत्म-स्वरूप की प्राप्ति होती है और कर्म ब्रह्म रूप बनता है। यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि ॐकार और 'तत्'से कर्म ब्रह्मरूप हो जाता है,फिर 'सत्' का उच्चारण करनेसे आत्मा- और परमात्मा का जो द्वैत भाव दिखाई पड़ता है, वह भी लोप

हो जाता है। यह सब विवेचन श्रीकृष्ण ने ही किया। क्योंकि यदि मैं (ज्ञानेश्वर) यह कहूँ कि यह मेरा कथन है, तो मुझमें तथा भगवान् कृष्ण में द्वैत-भाव रह जायगा, इसलिए मैं जो कुछ कहता हूँ वह सब भगवान की ही वाणी है। (३३८)

अब 'सत्' शब्द सात्विक कर्म का एक उपहार और करता है। सत्कर्म उत्तम रीति से किया जाये पर किसी कारण वश उसमें एकाध त्रुटि रह जाय, तो शरीर का कोई अवयव न्यून होने से जैसे शारीरिक कार्यों में बाधा पड़ती है, अथवा रथ का एकाध भाग टूटा हो तो उसकी कमी पड़ जाती है, उसी प्रकार सत् कर्म भी जब एकाध त्रुटि के कारण असत् बनने लगता है, तब ॐकार और तत् का सहायक बनकर 'सत्' शब्द ही दोष को दूर करता है। जिस प्रकार दिव्यौषधि रोगी को चङ्गा करती है। अथवा हारे हुए को सहायता मिलने से उत्साह दुगना हो जाता है, उसी प्रकार 'सत्' शब्द कर्म की न्यूनता को दूर कर देता है। अथवा कोई प्रमादवश मार्ग पर चला जाय या पथिक राह भूल जाय या परीक्षक को ही कभी भ्रम हो जाय (व्यवहार) में ऐसी बातें हो ही जाती हैं) तो 'सत्' का प्रयोग नीचे कर्म को भी उठा कर ऊँचा बना देता है। लोहे को जैसे पारस से स्पर्श करा दिया जाय अथवा सामान्य नाला गंगा में मिल जाय, अथवा मृत व्यक्ति पर अमृतकी वर्षा हो जाय, उसी प्रकार हे वीरेश! असत् कर्म को यह 'सत्' शब्द का प्रयोग अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होता है। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, 'सत्' की महिमा ऐसी ही है जब तू 'सत्' की इस महिमा को समझकर उसका उच्चारण करेगा, तो समझ जायेगा कि यही ब्रह्म है। 'ॐ तत्, यह शब्द मुमुक्षु को उस ब्रह्म स्थान पर ले जाता है जहाँ से सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं। वह परब्रह्म तो अखण्ड है और ॐ तत् सत् उसको समझाने के लिए एक प्रतीक स्वरूप नाम है। तो भी आकाश का आश्रय जिस प्रकार आकाश ही है, उसी प्रकार 'ॐतत्' इस शब्द को ब्रह्म का ही आश्रय है। आकाश में उदय होने पर ब्रह्म को ब्रह्म

ही प्रकाशित करता है, उसी प्रकार इन नाम के उच्चारण से ही ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।२७

इस प्रकार यह केवल तीन अक्षरों का नाम नहीं वरन् ब्रह्म ही है। तू जो कर्म करे और उसके आरम्भ या मध्य में कोई त्रुटि रह जाय, अथवा आरम्भ कर देने पर भी वह अपूर्ण रह जाय, वह यज्ञ हो, चाहे दान हो, या कठिन तप हो पर जिस प्रकार पारसमणि के स्पर्श से बने सुवर्ण में घटिया या बढ़िया का भेद नहीं होता, उसी प्रकार अपने कर्म को ब्रह्मार्पण कर देने से वह ब्रह्मरूप ही होता है। जिस प्रकार समुद्र में मिलनेके पश्चात् नदियोंको अलग-२ नहीं किया जासकता, उसी प्रकार ब्रह्मार्पण कर्म में पूर्ण अपूर्ण का भेद नहीं रहता। हे ज्ञानी अर्जुन ! ब्रह्म नाम की शक्ति तुझको स्पष्ट समझा दी और ब्रह्म नाम के एक-एक अक्षर की महिमा भी बतलादी। इसलिए जब तुम सदैव इसी नाम पर श्रद्धा रखना तो जन्म-बन्धन से निश्चय ही छुटकारा पा जाओगे। जिस कर्म के साथ इस शब्द का उत्तम रीति से प्रयोग किया जायगा, वह पूर्ण होने के साथ वेद स्वरूप ही होगा। (४१३)

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८

पर श्रद्धा का आश्रय त्याग कर तथा दुराग्रह को बढ़ाकर चाहे करोड़ों यज्ञ किये जायें, रत्नों से भरी पृथ्वी का दान दिया जाय, अँगूठे पर खड़े रहकर सहस्रों वर्ष तप किया जाय, समुद्र के समान मीठे पानी का जलाशय निर्माण कराया जाय पर वह सब व्यर्थ होता है। चट्टान पर वर्षा हो भस्म में आहुति दी जाय छाया को भेंटा जाय, आकाश को पकड़ने की चेष्टा की जाय—तो ये सब उद्योग व्यर्थ ही सिद्ध होते हैं। हे अर्जुन ! जैसे कोल्हू में पत्थर डालकर पेरने से न तेल निकलता है और न खली प्राप्त होती है, उसी प्रकार श्रद्धा के

बिना ये समस्त कर्म आडम्बर मात्र बन जाते हैं और उनसे दरिद्रता ही पैदा होती है। गठरी में कंकड़ बाँधकर देश-विदेश में जायें तो वे कभी द्रव्य का कार्य नहीं करते और भूखों मरना पड़ता है उसी प्रकार उपर्युक्त कर्मों से इस लोक में ही सुख नहीं मिलता, परलोक की तो बातही क्या ? आशय यही है कि यदि ब्रह्मार्पण किये बिना ये कार्य किये जायेंगे तो उनसे कोई काम नहीं निकलेगा, वे भार स्वरूप ही सिद्ध होंगे। (४२२)

पाप रूपी हाथी को मारने के लिए सिंह, तीनों रूप वाले अन्धकार के लिए सूर्य के सदृश्य, लक्ष्मीपति और सब वीरों में आग्रगण्य भगवान कृष्ण ने इस प्रकार कहा। इससे अर्जुन आत्मानन्द से ऐसा भर उठा जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा। देखो, उधर, संग्राम चल रहा है, जिसमें बाणों से प्राणों और माँस को नापा जा रहा है। इस कठिन समय में अर्जुन आत्मानन्द से कैसा निमग्न हो रहा है। संजय ने राजा धृतराष्ट्र सेकहाकि आज अर्जुनके समान कोई सौभाग्यशाली नहीं जान पड़ता। यह यद्यपि शत्रु है, तो भी इस समय तो वह हमको आनन्द देने वाला ही हो गया क्योंकि वह प्रश्न न करता तो क्या भगवान इस मर्म को प्रकट करते? हमको परमार्थ की प्राप्ति कैसे होती ? इस अन्धकार में पड़े जन्म-मरण की व्यर्थ यात्राकर रहे थे कि उसने मुझे आत्मप्रकाश मन्दिर में लाकर खड़ा कर दिया। इस प्रकार के कारण वह भी व्यास की तरह मेरा गुरु बन गया। यह कहते-कहते संजय को विचार आया कि अर्जुन की इतनी अधिक प्रशंसा धृतराष्ट्र को बुरी लगेगी, इसलिए अब ज्यादा बोलना ठीक नहीं। तब संजय ने उक्त प्रसंग बन्द करके अर्जुन ने श्री कृष्ण से जो अन्य प्रश्न किया उसकी चर्चा आरम्भ करदी। निवृत्तिदास ज्ञानदेव कहते हैं कि मैं भी उसकी तरह इस विषय को समाप्त करके नया वर्णन करता हूँ, उसे सुनिये। (४३३)

इति श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां

सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

॥ अथाष्टादशोऽध्यायः ॥

हे देव ! हे निर्मल ! हे भक्तों के मङ्गल करने वाले ! हे जन्म तथा वृद्धावस्था रूपी मेघों का नाश करने वाले वायु ! आपका जय जयकार हो ; हे वेद ! हे भगवान ! हे दुःख के समूल नाश करने वाले ! हे देव और शास्त्रों रूपी वृक्ष के फल फल देने वाले ! आपका जय—जयकार हो। हे देव ! हे सम्पूर्ण ! जिस ने विषयों का त्याग कर दिया है, उस पर आपकी कृपा रहती है। आप ही काल-क्रीड़ा के कर्त्ता होने पर भी काल से अतीत और पूर्ण हो, आपकी जय-जयकार हो। हे देव आप अचल हो, भक्तों के हृदय की चंचलता को पी जाने के कारण आपका पेट वृद्धि को प्राप्त हुआ है और आप ही जगत् को प्रकाशित करके उसमें विस्तार क्रीड़ा कर रहे हो, आपकी जय-जयकार हो। हे निष्फल ! हे आनन्द को स्फूर्ति देने वाले ! हे सब पापों को दूर करने वाले ! हे समस्त विश्व के मूल कारण ! आपकी जय—जयकार हो। हे देव ! हे स्वयं प्रकाश ! जगतरूपी मैं को धारण करने वाले आकाश ! सृष्टि-रचना के मूल स्तम्भ ! हे संसार का अन्त करने वाले ! आपकी जय-जयकार हो। हे देव ! हे उपाधि रहित ! हे अविद्या रूपी वन का नाश करने वाले गजराज ! हे शमदम द्वारा काम—मद का नाश करने वाले हे दया-सागर ! आपकी जय जयकार हो ! हे एक रूप ! हे काम रूपी सर्प के गर्व को हरने वाले ! हे भावुक भक्तों के हृदय रूपी मन्दिर के दीपक ! हे संसार-ताप के नाशक ! आपकी जय—जयकार हो। देव आपका रूप अद्वितीय है और आप विनयशील व्यक्ति से प्रेम करने वाले हो, वैसे ही भक्तों के अधीन होकर भजन करने योग्य और अगम्य हो,

ऐसे आपकी जय-जयकार हो । हे देव ! हे गुरुवर ! हे कल्पनातीत वस्तु के कल्पवृक्ष ! हे ज्ञानवृक्ष के उत्पत्ति स्थान ! आपकी जय-जयकार हो । इस प्रकार विभिन्न प्रकार के विशेषण लगाकर आपकी स्तुति कहाँ तक करूँ, क्योंकि में जानता हूँ कि आपका वर्णन करने में जो-जो विशेषण लगाये जाते हैं वह आपका वास्तविक रूप नहीं है। इसलिए मुझे इस प्रकार का वर्णन करने में संकोच होता है। (१२)

अगर कोई मुझ से प्रश्न करे कि फिर तू ऐसी स्तुति क्यों करता है, तो मैं यही कहूँगा कि मुझ से रहा नहीं जाता। चन्द्रकांत मणि अपनी इच्छा से जल निकाल कर चन्द्रमा को अर्घ्यदान नहीं करता वरन् चन्द्रमा ही उससे ऐसा कराता है। इसी तरह वसन्त का आगमन होते ही वृक्ष में न जाने कैसे नये-नये पत्ते निकल आते है। मेरी स्थिति भी वैसी ही हो गई है। सूर्य किरणों का स्पर्श होते ही कमलिनी जिस प्रकार लज्जा त्यागकर प्रफुल्लित हो जाती है, और नमक पानी में पड़ते ही तदाकार हो जाता है उसी प्रकार जब मैं आपका स्मरण करता हूँ तो अपने स्वरूप को भूल जाता हूँ। पर आपकी स्तुति करना भी तो सम्भव नहीं है, क्योंकि इसके लिए आपके गुणों और अवगुणों में भेद करना आवश्यक है, पर आप तो एक रसात्मक हो फिर आपके विभाग कैसे किये जा सकते हैं ? इसलिए कुछ भी न बोलकर मौन रहना ही आपकी वास्तविक स्तुति है। यह सुनकर निवृत्तिनाथ महाराज कहने लगे—तू इस तरह बारम्बार प्रार्थना और स्तुति क्यों करता है ? क्या लोहे को सोना बनाने के लिए पारस मणि के साथ बार-बार रगड़ना पड़ता है ?

यह सुनते ही ज्ञानेश्वर महाराज बोले—हे देव, बस आपका यही प्रसाद मैं चाहता था, अब गीता—ग्रन्थ का वर्णन करता हूँ। यह गीता एक रत्नमण्डित देवालय है, जिसमें अठारहवाँ अध्याय सोने के कलश की तरह है। इसका दर्शन करने पर समस्त गीता के दर्शन का

फल प्राप्त ही जाता है। केवल इसी अध्याय का पाठ करने से समस्त गीता शास्त्र के पढ़ने का श्रेय मिल जाता है। श्री व्यास देव जी बड़े कुशल कारीगर हैं। उन्होंने वेद रूपी रत्नों के पर्वत पर उपनिषद् रूपी जमीन में खुदाई करके धर्म-अर्थ-काम रूपी पत्थर निकाल कर उनसे महाभारत रूपी मन्दिर की चारों तरफ की दीवार बना दी। फिर उसके बीच में उत्तम पत्थरों का श्रीकृष्ण-अर्जुन सम्वाद रूपी बुर्ज बनाया। वह पन्द्रहवें अध्याय में ग्रीवा तक पहुँच गया। तब सोलहवाँ अध्याय उसमें घण्टा की भाँति निर्मित्त किया और सत्रहवाँ अध्याय कलश रखने के स्थान की तरह बनाया। इस स्थान पर अठारहवाँ अध्याय रूपी कलश को अच्छी तरह जमा कर उस पर गीता रूपी ध्वजा फहराई गई है। इस दृष्टि से गीता के अध्याय एक के ऊपर एक मंजिलों की तरह है जिनको अठारहवें अध्याय के योग से पूर्णता प्राप्त हुई है कलश चढ़ जाने पर कोई कार्य अपूर्णं अथवा गुप्त नहीं रहता, उसी प्रकार इस अठारहवें अध्याय में गीता का पूरा सार है। इस प्रकार व्यास जी ने कुशलता पूर्वक गीता-देवालय बनाकर प्राणि मात्र का अनेक प्रकार से हित साधन किया है। कोई बाहर से उनकी प्रदक्षिणा करके जप करता है, कोई देवालय की दीवाल के समीप खड़ा होकर श्रवण रूपी छाया का सेवन करता है, कोई अर्थ ग्रहण रूपी ताम्बूल और दक्षिणा लेकर भीतरी भाग में प्रवेश करते हैं और शीघ्र ही भगवान् का सान्निध्य प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु मोक्ष की दृष्टि से इन सबका फल समान ही हे। जैसे किसी श्रीमान् व्यक्ति के यहाँ भोज में सम्मिलत होने पर ऊपर और नीचे बैठने वाले सभी लोगों को एक से ही पकवान परोसे जाते हैं, उसी तरह गीता श्रवण करने वाले, पाठ करनें वाले अथवा अर्थ समझने वाले सबको समान से ही मोक्ष प्राप्त होता है। अब मैं बतलाता हूँ कि सत्रहवें तक का क्रम किस तरह लगा कर अठारहवें अध्याय की रचना की गई है। (३०)

प्रयाग में गङ्गा-यमुना के संगम पर बहाव के कारण दोनों का पानी कदाचित् भिन्न वर्ण का दिखाई देता हो, पर जल की दृष्टि से तो वह समान ही है। अथवा जिस तरह अर्धनारी नटेश्वर के रूप में स्त्री पुरुष के आकार की प्रतीत होने पर भी शरीर एक ही रहता है, इसी प्रकार गीता के श्लोकों के चार चरण अलग-अलग दिखाई देते हैं और अध्याय भी विभिन्न जान पड़ते हैं, पर अर्थ की दृष्टि से उनमें भेद नहीं है। जिस प्रकार बहुत से मोती मिलाकर हार बनता है, पर उनकी कान्ति एक ही होती है अथवा पुष्प-हार में बहुसंख्यक फूल लगते हैं, पर सुगन्ध तो एकही होती है। इसी तरह गीतामें श्लोक तथा अध्याय तो बहुत से हैं पर उनका अर्थ एक ही है। इसमें सात सौ श्लोक और अठारह अध्याय हैं पर उसमें जिस तत्व का विवेचन किया गया है, वह एक ही है। मैंने भी भगवान् की उसी प्रणाली का अनुसरण किया है और तदनुसार ही अठारहवें अध्याय का वर्णन करता हूँ। (१६)

सत्तरहवें अध्याय के अन्त में भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन! परब्रह्म पर श्रद्धा न रखकर तू जितने काम करेगा वे सब व्यर्थ ही जायेंगे। भगवान् के इन वचनों को सुनकर अर्जुन को बड़ा आनन्द हुआ और वह सोचने लगा कि भगवान् ने कर्म में श्रद्धा रखने वालों को दूषित बतलाया है। ऐसा व्यक्ति संसार में सर्वत्र व्याप्त ईश्वर को भी देख नहीं पाता तो परब्रह्म के नाम की श्रद्धा को कैसे समझ सकता है? रज और तम इन दोनों गुणों का नाश हुये बिना श्रद्धा निर्बल बनी रहती है, इससे ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती, शस्त्र को आलिंगन करना अथवा ऊँची रस्सी बांध कर उस पर दौड़ना अथवा नागिन से खेलना जिस प्रकार घातक होता है उसी प्रकार कर्म भी कठिन होकर जन्म मरण के कारण बनते हैं। अगर कर्मों को यथाविधि किया जाय तो उनसे ज्ञान मिल सकता है अन्यथा वे नरक का कारण बनते हैं। कर्म करने में इस प्रकार की अनेक बाधायें पड़ती हैं, तो

फिर कर्मनिष्ठों को मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इसलिए अब प्रश्न यह है कि कर्म का फल त्याग करना अथवा सर्वथा कर्म बन्द ही कर देना, इन दोनों में से कौन सा मार्ग अधिक उत्तम है। ऐसा मन में निश्चय करके अर्जुन ने भगवान से कर्म के त्याग और संन्यास का स्पष्टीकरण करने को कहा। भगवान् ने इसका जो उत्तर दिया वही अठाहरवें अध्याय में समाविष्ट है। (७२)

इसी प्रकार कार्य कारण भाव से एक अध्याय दूसरे का कारणभूत बनता है। सत्तरहवें अध्याय के अन्त में जो बात कही उसी पर अर्जुन ने यह शङ्का उठाई। यद्यपि वह भगवान् के आशय को अच्छी तरह समझ गया था, पर भगवान चुप—चाप बैठे रहे वह उसे अच्छा नहीं लगा। बछड़े का पेट दूध से भर जाने पर भी गाय उसके पास ही खड़ी रहती है यही एकनिष्ठ प्रेम का लक्षण है। जो व्यक्ति अपने को परम-प्रिय लगता है वह कुछ कारण न होने पर भी हमसे बोलता ही रहे, यही हमारी इच्छा रहती है। प्रेम का स्वभाव ही ऐसा होता है। और फिर अर्जुन तो श्रीकृष्ण के प्रेम की मूर्ति ही है। उसने त्याग और संन्याय का स्पष्टीकरण करने का प्रश्न करके गीता रूपी वस्त्र के थान को फिर से खोल डाला। इस प्रकार अठारहवाँ अध्याय केवल एक अध्यास नहीं हैं वरन् यह 'एकाध्यायी गीता' है। अगर बछड़े को दूध दुहने का काम दे दिया जाय तो वह फिर समय-असमय की बात कहाँ सोचता है ? इसलिए अर्जुन ने गीता के समस्त विषय पूर्ण हो जाने पर फिर से उसे कहलवाया है। जब सेवक कोई प्रश्न करे तो स्वामी उसका उत्तर क्यों नहीं देगा ? इस रीति से अर्जुन ने भगवान् से कहा—

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१

हे प्रभो ! 'संन्यास' और 'त्याग' इन दोनों शब्दों का तो एक

ही अर्थ निकलता है। जिस प्रकार 'संघात' और 'संघ' दोनों का आशय समुदाय से ही होता है, उसी प्रकार संन्यास और त्याग दोनोंका अर्थ त्याग ही होता है। अगर इनमें से कोई अन्तर हो तो उसे बताने की कृपा करें। तब श्री मुकुन्द कहने लगे—यह दोनों शब्द एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक ही अर्थ को प्रकट करते हैं। वास्तव में इन दोनों शब्दों में त्याग का ही निर्देश किया गया है। अगर अन्तर है तो इतना ही है कि संन्यास का अर्थ कर्मो को पूर्णतया बन्द कर देना होता हैं और त्याग का अर्थ आसक्ति और फलाकांक्षा के छोड़ देने का होता है। अब मैं यह समझाऊँगा कि किन कर्मों का तो फल त्याग करना और कौन को सर्वथा छोड़ देना। जिस प्रकार वन और पर्वत पर वृक्ष अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं उसी प्रकार वाग में और खेत में पौधे अपने आप नहीं उग सकते। बिना बोये घास चाहे जितनी मिल जाती है पर जब तक खेत में खूब परिश्रम न किया जाय, खाद न डाली जाय तब तक अनाज पैदा नहीं हो सकता। शरीर तो अपने आप प्राप्त हो गया, पर आभूषण तो परिश्रम करने पर ही मिलेंगे। इसी प्रकार नित्य-कर्म तो सब करने ही पड़ते हैं, पर काम्य कर्मों का करना अपनी इच्छा पर ही आधारित होता है।

श्रीभगवानुवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२

अश्वमेध आदि यज्ञ, कुआ-वावड़ो आदि का निर्माण, बगीचा लगाना, ब्राह्मणों को भूमिदान, नाना प्रकार के व्रत—ये सब कर्म कामना से ही किये जाते है और करने वाले को उनका फल अवश्यमेव मिलता है। हे अर्जुन ! जिस प्रकार देह रूपी ग्राम में रह कर जन्म-मृत्यु को नहीं रोका जा सकता जैसे भाग्य लेख अन्यथा नहीं हो सकता, अथवा शरीर का काला अथवा गोरा रङ्ग नहीं बदला जा सकता

उसी प्रकार काम्य कर्म करने से उनका फल अवश्यमेव भोगना पड़ता है। जिस प्रकार ऋण लेने पर उसे चुकाये बिना छुटकारा नहीं मिल सकता वैसे ही काम्य कर्मों का फल प्राप्त होना अनिवार्य है। काम्य कर्म यदि अकस्मात् किया जाय तो भी उसका फल मिलता ही है, जैसे गुड़ की डेली को अकस्मात् मुँह में डाला जाय तो भी वह मीठी लगेगी और अग्नि को बुझा हुआ समझ कर उस पर पैर रख दिया जाय तो भी वह जलावेगी ही। इसी प्रकार काम्य कर्म अपना फल निश्चित-रूप से देते ही हैं। इसलिए मोक्षाभिलाषी को भूल कर भी उसका आचरण नहीं करना चाहिये। हे सर्वज्ञानी ! अगर ऐसा काम्य कर्म अपने से हो जाय तो तुरन्त उसका त्याग कर देना चाहिये। जिस प्रकार अपने पास रखे धन को त्याग देने से उसके कारण होने वाले चोर, डाकू आदि का भय जाता रहता है उसी प्रकार काम्य-कर्म का त्याग कर देने से मन की वासना का नाश होता है।

चन्द्र ग्रहण, सूर्य ग्रहण, माता-पिता के श्राद्धकाल में किसी अतिथि का आगमन होने पर जो कर्म करना होता है उसको नैमित्तिक कर्म कहा जाता है जिस प्रकार वर्षा ऋतु का आगमन होने से आकाश बादलों से घिर जाता है, बसन्त ऋतु में वन की शोभा बढ़ आती है, यौवन के फल से शरीर की कांति बढ़ जाती है, वही बात नित्य और नैमित्तिक कर्म करने में है। उनमें कोई चीज बढ़ती नहीं वरन् उसे बसन्त ऋतु का ही विकास समझना चाहिए। जिस प्रकार हम चाहे न चले पर पैरों से गति की शक्ति स्वाभाविक होती है, दीपकमें तेज छुपा होता है, उसी प्रकार संसार में जो कर्म स्वभाविक और अविकार को प्रकट करने वाले हैं, वे ही नित्यकर्म कहे जाते हैं और उनको अवश्य करते रहना चाहिए। जिस प्रकार घटिया सोने को अग्नि में डालने से वह बढ़िया हो जाता है, उसी प्रकार नित्य कर्मों से मनुष्य की बुद्धि शुद्ध होती रहती है। उनके करने से दोषों का लोप होकर सद्गुणों की वृद्धि होती है और उससे सद्गति की प्राप्ति होती है।

यद्यपि नित्य-नैमित्तिक कर्मों से ऐसा सत् परिणाम प्राप्त होता है, तो भी मूल नक्षत्र में उत्पन्न बालक की तरह उसका भी फल त्याग देना चाहिए। बसन्त ऋतु में समस्त वेलें और आम के वृक्ष फूलते फलते हैं पर बसन्त उनको बिना हाथ लगाये चला जाता है। इसी प्रकार नित्य नैमित्तिक कर्मों का पालन मन लगाकर करना, पर उनसे प्राप्त होने वाले समस्त पुण्य-फल को वमन किये भोजन के समान त्याज्य मानना चाहिए। इसी प्रकार फल—त्याग को 'त्याग' कहते हैं और यही 'त्याग' तथा संन्यास का अन्तर होता है। (१२६)

इस तरह जब 'सन्यास' सिद्ध हो जाता है तब काम्य कर्मों से कोई बाधा नहीं हो सकती और निषिद्ध कर्म तो स्वभावत: छूट जाते हैं, जिस प्रकार सिर कट जाने पर धड़ अपने आप निर्जीव हो जाता है। उसी प्रकार फल-त्याग से नित्य नैमित्तिक कर्मों से भी कोई कठिनाई उपस्थित नहीं हो सकती है। फिर जिस प्रकार फसल के पक जाने पर अन्न सहज में प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार सब कर्मों का क्षय होने से आत्मज्ञान स्वयमेव आ पहुँचता है। पर जो युक्ति से काम न लेकर केवल अनुमान से काम चलाना चाहते हैं वे और भी अधिक कर्म बन्धन में उलझ जाते हैं, जैसे रोग का निदान किये बिना उत्तम औषधि का सेवन भी विषतुल्य हो जाता है। इसलिए जिन कर्मों को त्यागने को न कहा जाय, उनका आचरण करते रहना तथा जिनको छोड़ने को बताया जाय उनका लालच नहीं करना, कर्म के इस सूक्ष्म रहस्य को न समझकर जो त्याग किया जाता है वह उलटा बन्धन स्वरूप हो जाता है। इस लिए वैराग्यशील मनुष्यों को त्याज्य कर्मों का आचरण कभी नहीं करना चाहिए। (१३१)

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिण: ।
यज्ञदानतप: कर्म न त्याज्यमिति चापरे ।।३

अनेक मनुष्य फल त्याग नहीं कर सकते और इस-कारण कर्मों

को बन्धनकारक कहते हैं। जिस तरह नंगे रहने वाले मनुष्य को देखकर लोग हँसे तो वह संसार को लड़का बतलाता है। अथवा जो रोगी पथ्य से न रह सकता हो वह अन्न को दोष लगाता है। वही हाल इन कर्म फल का त्याग न कर सकने वालों का होता है। इसलिए हम कर्म का त्याग करने को ही ठीक बतलाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि यज्ञ-याग आदि शुभकर्म अवश्य करने चाहिए क्योंकि उनके बिना चित्तशुद्धि का अन्य कोई उपाय नहीं है। सुवर्ण को शुद्ध करना हो तो उसे अग्नि में तपाने में आलस्य नहीं करना चाहिए। अगर दर्पण में मुख देखना हो तो उसका मल दूर करने के लिए उसे चूना लगाकर साफ करना चाहिए। अगर वस्त्र को स्वच्छ करना हो तो उसे धोबी की भट्टी में डालने से नहीं डरना चाहिए, अगर उत्तम भोजन करना हो तो उसे अच्छी तरह पकाना चाहिए। इसी प्रकार कर्मक्लेश दायक है, यहविचार कर उनकी अवहेलना करनी उचित नहीं है। इस संसार के सिद्धान्त को समझकर कितने ही लोग कर्म करने को तत्पर होते हैं तो कितने ही उसको त्याग करने को कहते है। इस कारण विषय में विवाद होता ही रहता है। इस विवाद का निर्णय करने के लिये मैं अच्छी तरह समझाता हूँ कि वास्तविक 'कर्म-त्याग' कैसे करना चाहिए ? (१४४)

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४

हे अर्जुन ! यह त्याग तीन प्रकार का होता है। यद्यपि उसको तीन प्रकार का कहा गया है, पर उसका तात्पर्य तो वही है जो ऊपर समझाया गया है। मुझ सर्वज्ञ की बुद्धि को भी जो सत्य जान पड़ता है, और जिसका मुझे निश्चय हो चुका है, वह अब तुझे बतलाता हूँ। जो मुमुक्षु संसार से मुक्त होने के मार्ग को ठीक तरह समझता है, उसे केवल त्याग के सच्चे स्वरूप को समझकर तदनुसार आचरण करना ही कर्तव्य है। (१४)

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।।५

जिस प्रकार पथिक को अपना नियत मार्ग न छोड़ना चाहिए, उसी प्रकार यज्ञ, दान और तप का त्याग करना उचित नहीं । जैसे खोई हुई वस्तु मिल न जाय तब तक उसकी खोज छोड़नी नहीं चाहिए, जब तक पेट न भर जाय तब तक पत्तल नहीं छोड़नी चाहिए, जब तक किनारे न लग जाय तब तक नाव नहीं छोड़नी चाहिए वैसे ही जब तक आत्मज्ञान के विषय में हमें निश्चय न हो जाय तब तक यज्ञ यागादि कर्मों के प्रति उदासीन नहीं होना चाहिए । जैसे जो रोगी मनुष्य अधिक तत्परता से औषधि सेबन करता है तो रोग से शीघ्र मुक्त होता है' वैसे ही यज्ञादि कर्मों को मनोयोगपूर्वक करते रहा जाय तो रजो-गुण और तमोगुण का लोप होता चला जाता है । जैसे सुवर्ण को एक के बाद एक क्षार पुट देने से वह अधिकाधिक शुद्ध होता जाता है, वैसे ही निष्ठापूर्वक कर्म करते रहने से रज का नाश होकर सतो-गुण की वृद्धि होती जाती है, इसलिए हे अर्जुन ! सत्वशुद्धि के निमित्त सत्कर्म ही तीर्थ रूप होते हैं । जैसे तीर्थ के जल से बाहर का मल दूर होता है वैसे ही कर्म के द्वारा भीतरी मल नष्ट होते हैं । प्यासे मनुष्य को मरुभूमि में जिस प्रकार मीठे पानी का सोता मिल जाय, अथबा अन्धे के नेत्रों में सूर्य का प्रकाश आ जाय, डूबते मनुष्य को बचाने के लिए नाव ही आ जाय, गिरने वालों को पृथ्वी स्वयं संभाल ले इसी प्रकार श्रेष्ठ कर्माचरण से मुमुक्षु को होने वाली पीड़ा का शमन होता रहता है । अथवा हे अर्जुन ! जिस प्रकार रसायन की विधि से दिया गया विष भी मृत्यु शैया पर पड़े रोगी को जीवन दान करता है, वैसे ही युक्ति पूर्वक किया हुआ कर्म भी कर्मबन्धन को काटने वाला सिद्ध होता है । वह युक्ति कैसी होती है इसको आगे चलकर समझाता हूँ ।

(१५५)

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६

पंच महायज्ञ करते रहने पर भी मनमें उनके करने का अभिमान नहीं रखना चाहिए। जैसे उधार लेकर तीर्थ यात्रा करने वाले को यात्रा का गर्व नहीं होता, राज्य के परवाने के आधार पर अकेले ही किसी को पकड़ लाने वाले को विजय का गर्व नहीं होता, दूसरे के सहारे नदी पार करने वाले को तैरने का गर्व नहीं होता, उसी प्रकार हे अर्जुन ! जिस समय जो कर्म करना हो उसे कर्तृत्वाभिमान छोड़कर करना चाहिए। जो कर्म करते हुए उसके फल की इच्छा मन में नहीं आने देता, और मन को उधर से रोक देता है, आत्मसाक्षात्कार का लाभ उसी को मिलता है। हे धनञ्जय ! पहले से ही फल की इच्छा का त्याग करके इस प्रकार कर्म करना चाहिए जैसे दूसरे के बालक को देखकर उस पर प्रेम नहीं केवल सन्तोष होता है; अथवा पीपल के पेड़ को उसके फल की आशा न रखकर ही सींचा जाता है। इसी प्रकार फल की आशा त्यागकर कर्म करना चाहिए। जो इस प्रकार इच्छा न रखकर कर्म का आचरण करता है, उसको आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है। जो जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़कर फिरते-फिरते व्याकुल हो गया हो और उससे मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील हो उसे मेरी इस आज्ञा का कभी उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७

कोई मनुष्य अन्धेरे में चला जाता हो और धक्का लगने पर आँखों पर क्रोध करके उनको उँगलियों से नोंचने लगे, उसी प्रकार जो जन्म-बन्धन कारण कर्मों को समझकर क्रोध पूर्वक उनको त्याग देता है, उसे मैं तामस त्याग मानता हूँ। रास्ता खराब हो तो उस पर

सावधानी से चलकर लक्ष्य स्थान पर पहुँचना चाहिए, न कि उस खराब रास्ते पर गुस्सा होकर पैरों को ही काट डाला जाय भूखे मनुष्य के सम्मुख गर्म भोजन रखा जाय और वह उसकी गर्मी को न सह सकने के कारण भोजन को ही लात मारकर फेंक दे, तो उसे भूखा ही मरना होगा। इसलिए कर्म का युक्ति पूर्वक आचरण करने से ही उनका बन्धन कटता है। तामस प्रकृति का मनुष्य इस तथ्य को समझकर कर्म का त्याग करता है।

दुःखमित्येवयत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्याग नैव त्यागफलं लभेत् ॥८

अथवा जो अपना अधिकार और विहित कर्मों को जानता है, पर कर्म करने की कठिनाई से घबड़ाता है, वह इस प्रकार है जैसे कोई यात्रा में भोजन की पोटली ले चलने में बुरा माने, अथवा नीम को कडुवेपन के कारण या हर्र को कसैली होने से खराब समझे, उसी प्रकार उसे कर्मों का आरम्भ करना कठिन लगता है अथवा जैसे गाय को दुहने में इसके सींगों से डर लगता है। सेवती फूल तोड़ने में काँटों का भय रहता है, भोजन तैयार करने में उसे पकाने का झंझट जान पड़ता है, वैसे ही कर्म भी आरम्भ में कठिन लगता है। कोई व्यक्ति कर्म का आरम्भ भी करते हैं पर जैसे गर्म वस्तु को पकड़ने पर तुरन्त छोड़ देते हैं वैसे ही कर्म त्याग कर देते हैं। हे अर्जुन ! इस प्रकार क्लेश के भय से जो कर्म-त्याग किया जाता है उसे राजस त्याग कहा जाता है। वह होता तो कर्म-त्याग है, पर उससे उत्तम परिणाम नहीं मिलता। जिस प्रकार आग पर रखा दूध उफन कर गिर जाय तो उसे हवन करना नहीं माना जा सकता, अथवा जल में डूबकर मर जाने को जल-समाधि नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार शरीर कष्ट से बचने की दृष्टिसे कर्म त्याग किया गया हो तो उससे भी त्याग का फल नहीं मिलता, वरन् जिस प्रकार सूर्योदय होते ही तारागण स्वयं लोप हो जाते हैं, उसी प्रकार हे अर्जुन ! जिस कर्म त्याग से अज्ञान सहित

क्रियाओं का लोप हो जाता है, वह मुक्ति का कारण बनता है। अज्ञान पूर्वक कर्म त्याग से मोक्ष नहीं मिल सकती। अब मैं बतलाता हूँ कि किस प्रकार के त्याग से मोक्ष स्वयं चली आती है। (१९९)

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९

जो अपने अधिकारानुसार प्राप्त कर्मों का उचित रीति से पालन करता है पर जिसे यह कभी ध्यान नहीं आता कि मैं कर्म कर रहा हूँ, या मुझे इसका अमुक फल मिलेगा, वही सच्चा त्याग करने वाला है। जिस प्रकार गाय के मुँह के अपवित्र होने पर भी उसके समस्त शरीर का त्याग नहीं कर देते अथवा आम के छिलके और गुठली में रस नहीं होता इस कारण उस फल का त्याग नही करते, उसी प्रकार कर्म को बन्धन कारक मानकर उसे त्याग देना ठीक नहीं। वरन् जिस प्रकार पिता अपनी पुत्री के सम्बन्ध में कोई वासना नहीं रखता उसी प्रकार बिना किसी इच्छा के विहित कर्मो का पालन करने से किसी प्रकार का दुःख नहीं मिल सकता। इसी त्याग रूपी महा वृक्ष में मोह रूपी श्रेष्ठ फल लगते हैं, अतएव इसी को सात्विक त्याग कहा जाता है। जिस प्रकार वृक्ष के बीज को जलाकर उसकी उत्पत्ति रोकी जा सकती है उसी प्रकार फल की अभिलाषा त्याग कर जो कर्म किया जाता हैं, उसका बन्धन-दोष उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे पारसमणि के स्पर्श से लोहे की कलुषता दूर हो जाती है। तब राजस और तामस दोनों प्रकार के त्याग दूर हो जाते हैं और शुद्ध सत्वगुण से आत्मबोध का प्रकाश प्राप्त हो जाता है।

न द्वेष्टयकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०

पूर्व कर्मों के अनुसार जो भली बुरी प्रारब्ध हो जाय उसको उसी तरह समझना कि जैसे बादल आकाश में घिरकर पुनः लय हो जाते हैं। उस बात को समझ लेने वाला व्यक्ति सुख-दुःख की चिन्ता

नहीं करता जिस प्रकार स्वप्न की घटनाओं के लिए कोई भला-बुरा नहीं मानता। हें अर्जुन जिस ज्ञानसे और कर्ता और कर्मका द्वैत-भाव जाता रहता है, उसे सात्विक त्य।ग कहा जाता है। जब इस प्रकार कर्म का त्याग किया जाय तभी वे हमको पूरी तरह छोड़ सकते हैं। इसके विरुद्ध आचरण करने से कर्म-बन्धन अधिक दृढ़ हो जाता है। (२१७)

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।।११

इसलिए हे अर्जुन जो देहधारी होते हुए भी कर्म करने से घबड़ाता है वह मूर्ख है। मिट्टी से घबड़ाने पर घड़े की क्या स्थिति होगी ? अथवा वस्त्र अथवा सूत का सम्बन्ध किस प्रकार टूट सकता है ? हींग अपनी गन्ध से घबड़ाये तो फिर अन्य प्रकार की सुगन्ध कहाँ से आ सकती है ? इसी प्रकार जब तक मनुष्य शरीर रूप में रहता है, तब तक कर्म त्याग का विचार व्यर्थ ही है। मस्तक पर तिलक लगाया और मिटाया जा सकता है, पर स्वयं मस्तक को किस प्रकार मिटाया जा सकता है ? इसी प्रकार जिन विहित कर्मों का हमने आरम्भ किया है उनको हम छोड़ सकते हैं, पर जो कर्म देहरूप बने हैं उनको किस प्रकार त्यागा जा सकता है ? जिस प्रकार मनुष्य सो रहा हो तो भी श्वास क्रिया अपने आप होती रहती है, उसी प्रकार हम प्रयत्न न करें तो भी शारीरिक कर्म तो स्वयमेव होते रहते हैं। उन कर्मों को त्याग नें का केवल एक ही मार्ग है कि कर्म करते हुए भी फल की इच्छा नहीं करते। जब कर्म-फल ईश्वर को अर्पण कर दिया जाता है तो उनके अनुग्रह से ज्ञान उत्पन्न होता है। जिस प्रकार रस्सी का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर सर्प की शङ्का दूर हो जाती है उसी प्रकार आत्म प्रबोध से अज्ञान सहित कर्मों का नाश होता है। हे पार्थ ! जो इस प्रकार कुशलतापूर्वक सात्विक त्याग रूपी कर्म करता है, उसी को मैं कर्म-त्यागी कहता हूँ। अन्यथा जिस उकार रोगी को मूर्च्छा आ जाय और

उसे विश्राम समझ लिया जाय, उसी प्रकार जो लोग कर्म करने से घबराते हैं वे त्याग के नाम पर दूसरी तरहका कर्म आरम्भ कर देते हैं। तीनों लोकों में त्यागी तो वही है जो कर्म फल का त्याग करके निष्कर्मता की स्थिति को प्राप्त करता है।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२

हे अर्जुन ! कर्म फल तीन प्रकार का होता है। जो कर्मफल की आशा नहीं छोड़ते, उनको वह भोगना ही पड़ता है। मनुष्य स्वयं अपनी कन्या को जन्म देता है, पर उसके लिए वह "इदं न मम" कह कर जामातृ को सौंप देता है। जो लोग विष बेचने का काम करते है वे नफा कमाकर सुख से रहते हैं, पर जो उसे खरीद कर खाते हैं वे प्राणों से हाथ धो लेटे हैं। इसलिये चाहे कर्तृत्वाभिमान रखकर कर्म करो और चाहे यह समझकर कि "मैं कर्ता नहीं हूँ"—पर दोनों दशाओं में कर्म होते ही रहते हैं। इनमें फल की इच्छा करके कर्म करना ही बन्धन का कारण होता है पर जो कर्म करते हुए भी फल की इच्छा नहीं रखता वह जन्म-मृत्यु के फन्दे में नहीं पड़ता, क्योंकि यह जगत् तीन प्रकार के कर्मों का फल हैं। उस कर्म के तीन रूप ये हैं—एक अनिष्ट (प्रतिकूल) दूसरा इष्ट(अनुकूल)तीसरा इष्टानिष्ट (मिश्रित) विषयासक्त मनुष्य विधि का त्याग कर कर्मों में प्रवृत्त होता है तो कीड़े-मकोड़े अथवा मिट्टी जैसी अधम श्रेणी की देह पाता है उसी को 'अनिष्ट' कर्मफल कहा जाता है। अपने धर्म का पालन करते हुए अधिकार के अनुरूप आचरण करने से इन्द्रादिक देवता की देह प्राप्त होती है। उस कर्मफल को 'इष्ट' कहते हैं। फिर जिस प्रकार मीठे और खट्टे को मिलाने से एक निराला स्वाद पैदा हो जाता है उसी प्रकार इष्ट और अनिष्ट कर्मों के मिलने से जो मिश्र कर्म-फल होता है उससे मनुष्य की देह मिलती है। इस प्रकार जगत् में जो तीन प्रकार का कर्मफल है, जो उसकी आशा नहीं त्याग सकता वह जन्म-मृत्यु के

चक्र से भी छुटकारा नहीं पा सकता। भोजन करने वाला जिह्वा के लालच से अधिक खाता चला जाय तो उनका परिणाम 'मृत्यु' भोगना पड़ता है। साहूकार और चोरकी मित्रता वहीं तक निभती है जब तक वे जंगल में नहीं पहुँचते। इसी प्रकार जब तक शरीर कायम है तभी तक कर्मों के कर्त्ता होने का अभिमान किया जा सकता है, मरणोपरांत तो उन कर्मों का फल भोगना ही होगा। जैसे ज्वार के भुट्टे में से जो दाना निकलकर भूमि पर गिरता है, उससे फिर नये भुट्टे पैदा होते हैं, इसी प्रकार कर्मो की शृंखला भी एक के पश्चात् एक कदम आगे बढ़ती जाती है। नौका नदी के किसी किनारे पर रहे उसे फिर दूसरी पार जाना ही होगा, उसी प्रकार कर्म और उनके फल भोगने का कोई अन्त नहीं और जो लोग कर्म-फल का त्याग नहीं कर सकते वे संसार चक्र में सदा इसी तरह उलझे रहते हैं।

जैसे चमेली का फूल खिलने के साथ ही सूखने लगता है, उसी प्रकार जो कर्म करने का अभिमान त्यागकर उसके फलसे अलिप्त रहते हैं, अथवा जो बोने के लिए रखे बीज को खा जाते हैं तो वे कृषि कर्म से छुटकारा पा जाते हैं उसी प्रकार जो लोग कर्म फल त्याग देते है वे जन्म-मृत्यु से भी छुटकारा पा जाते हैं। हे वीरेश ! जो इस तरह का ज्ञान प्रधान संस्थान का पालन करते हैं वे फिर कर्म फल से प्राप्त होने वाले दुःख को सहन नहीं करते। जिस प्रकार चित्रित दीवार के गिरने से उस पर खिचा हुआ चित्र भी नष्ट होता है, निद्रा के समाप्त होने पर स्वप्न स्वयं मिट जाता है, उसी प्रकार कर्म फल का संन्यास करने से अविद्या का नाश हो जाता है तब उससे उत्पन्न फल का उपभोग कैसे किया जा सकता है? कर्मज्ञ अर्जुन ! आत्मा और कर्मों में पूर्व और पश्चिम का अन्तर होता है। जैसे पानी पर तैरता सिवार जल से पृथक् होता है, काजल दीपक से पैदा होता हैं, तो भी वह उससे पृथक् ही होता है, दर्पण में मनुष्य की आकृति स्पष्ट दिखाई देती है, पर वह उससे सर्वथा पृथक् होती है, उसी प्रकार

आत्मा और कर्म भी एक दूसरे से भिन्न होते हैं, चाहे अज्ञान के कारण वे एक ही जान पड़ते हों। बारम्बार कर्मों की उत्पत्ति के जो पाँच कारण हैं, अब उनको बताते हैं। (२७७)

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३

उन पाँच कारणों को कदाचित् तू भी जानता होगा क्योंकि शास्त्रों में उनका मुक्त कण्ठ से वर्णन किया गया है। वे वेद रूपी राजा की राजधानी में सांख्य-वेदान्त रूपी मन्दिर की नौबत की तरह प्रसिद्ध है और समस्त कर्मों की सिद्धि के लिये उन्हीं की आवश्यकता होती है। तो भी आत्मा को उनका कारण नहीं माना जा सकता। हे अर्जुन ! इस प्रकार डंका बजाने से सर्वत्र उनकी प्रसिद्धि हो गई है। इसलिए तुमको भी उन्हें जान लेना चाहिये और जब मेरे जैसा ज्ञान रूपी रत्न तेरे हाथ आ गया है, तो फिर अन्य किसी के मुख से उनको सुनने की क्या आवश्यता है ? अगर सामने दर्पण हो तो किसी अन्य से क्यों पूछा जाय कि 'देखना मेरा मुँह कैसा है ?' भक्त जिस भाव से मुझे जहाँ देखना चाहता है वहाँ मैं वही वस्तु बन जाता हूँ। आज मैं तेरे हाथ का खिलौना बन रहा हूँ। उस समय भगवान प्रेम प्रवाह में इतने बह गये कि उनको स्वयं ही स्मरण न रहा कि मैं क्या कह गया। उधर अर्जुन तो आनन्द में ऐसा निमग्न हो गया कि सुख समुद्र में डूब ही गया। तब भगवान ने हाथ से खींचकर उसे बाहर निकाला और कहा–'हे पार्थ ! तू अपने स्वरूप को समझकर सावधान हो।' तब अर्जुन ने मस्तक नवाकर कहा–'भगवन् ! मैं तो द्वैतभाव से ऊबकर आपके साथ ऐक्य करने की इच्छा कर रहा था, आप मुझे फिर जीव दशा में क्यों लाते हो।' (२९०)

तब भगवान् कृष्ण ने कहा—'अरे पागल ! क्या मैं यह भी नहीं समझता कि चन्द्रमा और उसकी चाँदनी में कभी वियोग नहीं होता। पर इस बात को भी मैं तुमसे कहते हुये डरता हूँ, क्यों कि वियोग की

शङ्का से ही प्रेम को बल मिलता है। अब इस बात को छोड़कर उसी विषय को समझो कि आत्मा और कर्म किस प्रकार भिन्न है ? तब अर्जुन ने कहा—हे देव ! मैं भी तो यही चाहता था। अब मुझे कर्मों के बीज रूप पाँच कारणों को बताइये। तब श्रीकृष्ण प्रसन्न होकर बोले—हे अर्जुन ! आत्मज्ञान की चर्चा को सुनने का इस प्रकार आग्रह करने वाला और कौन है ? हे धनुर्धर ! इसमें सन्देह नहीं कि समस्त कर्म पाँच कारणों से साधित होते हैं। इस विषय में आत्मा सर्वथा उदासीन ही रहता है और वह कभी कर्मों का निमित्त कारण अथवा उपादान कारण नहीं होता। उसके द्वारा शुभ अथवा अशुभ कर्मों का होना ऐसा ही है जैसे यह कहना कि रात्रि और दिवस आकाश में से उत्पन्न होते हैं पर वास्तव में आकाश तो उनसे सर्वथा भिन्न ही रहता है। काष्ठ को इकट्ठा करके नौका बनाई जाती है और नाविक और वायु के जोर से जलके ऊपर ले जाता है। पर इससे जल स्वयं कोई क्रिया नहीं करता, केवल साक्षीभूत रहता है। इसी प्रकार कुम्हार डण्डेसे चाक को घुमाकर गीली मिट्ठी के बर्तन तैयार करता है, उसमें आधार के अतिरिक्त पृथ्वी से क्या सहायता प्राप्त होती है ? जगत् में मनुष्यों के सब कार्य सूर्य प्रकाश से सम्पन्न होने पर भी सूर्य तो उनसे अलिप्त ही रहता है। उसी प्रकार पाँच कारणों के मिलने से ही कर्म रूपी लताओं की रचना होती है और आत्मा पृथक् ही रहता है। अब मैं तुझको उन पाँच कारणों को अच्छी तरह समझाता हूँ, जिस प्रकार तोलकर मोती परखे जाते हैं।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।।१४

अब कर्म के पाँच कारणों के यथार्थ लक्षण तुझसे कहता हूँ, ध्यान से सुन। प्रथम कारण हमारी देह है जिसे अनुष्ठान कहते हैं, क्योंकि इसी रूप में भोक्ता भोग्य के साथ रहता है। इन्द्रिय रूप दस हाथों से रात-दिन कष्ट सहन करके जो सुख-दुःख प्राप्त किये जाते हैं

उनको सहन करने के लिए मनुष्य के पास देह के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है, इसलिए इसे अधिष्ठान कहा जाता है। यह देह चौबीस तत्वों का निवास स्थान है और बन्धन तथा मोक्ष का निर्णय भी यह होता है। दूसरा कारण 'कर्ता'है जिसे जीव कहा जाता है। जिस प्रकार आकाश से जल की वर्षा होने पर वह गड्ढों में भर जाता है और उसमें आकाश का जैसे का तैसा प्रतिबिम्ब पड़ता है,उसी प्रकार आत्मा देह में आकर अपने स्वरूप को भूलकर 'जीव' बन जाता है। जीव देहके कर्मों को अपने समझकर कहता है कि इनको मैं ही करता हूँ। इसलिए उसे कर्ता कहा जाता है। (३२६)

फिर जिस प्रकार दृष्टि एक होने पर भी बरौनियों के बालों के कारण बिखरी जान पड़ती है, अथवा घर में रखा एक ही दीपक झरोखे में से जिस प्रकार कई जान पड़ता है, उसी प्रकार एक ही ज्ञान नेत्र आदि विभिन्न इन्द्रियों द्वारा विभिन्न रूप में बाहर जाता है। हे राज-तनय ! भिन्न-भिन्न इन्द्रियों को होना कर्मों का तीसरा कारण है। (३३१)

पूर्व या पश्चिम दिशा में बह कर जो छोटी नदियाँ बड़ी नदियों में आ मिलती हैं उनका पानी एक रूप बन जाता है। उसी प्रकार प्राण वायु में रजोगुण की जो क्रिया शक्ति पाई जाती है, वह भिन्न-भिन्न अवयवोंमें पृथक्-पृथक् जान पड़ती है। जब जिह्वा द्वारा निकलती है, तो वाणी कहलाती है, हाथों द्वारा निकलने पर लेन-देन का व्यवहार कही जाती है, पाँवों में गति, नाभिस्थान में उदान, वस्ति में अपान,सर्व शरीर में व्यान और समान के नाम से प्रकट होती है। जँभाई, छींक, डकार आदि के कार्यों के लिए कृकर, देवदत्त धनंजय आदि उपप्राण कारण कहे गये हैं। हे सुभट ! इस प्रकार ये सब कार्य वायु के ही हैं। इस प्रकार वायु की भिन्न-भिन्न शक्तियाँ कर्म का चौथा चरण हैं।

शरद के समान उत्तम ऋतु हो, चन्द्रोदय हो रहा हो, उसमें

पूर्णिमा का अवसर आ जाय अथवा किसी मनुष्य की वाणी में कवित्व हो, कविता में रस हो तथा उसमें आत्मसत्व की पूर्णता आकर मिल जाय, इसी प्रकार यदि मनुष्य की बुद्धि उत्तम हो सब इन्द्रियाँ अनुकूल हों, और इन्द्रियों के देवता भी कृपा रखते हों। वह देवसमुदाय ही कर्मों का पाँचवाँ कारण है। श्रीकृष्ण कहने लगे। हे अर्जुन! मैंने पाँचों कारणों का रहस्य इस तरह सुना दिया जिसे तेरी बुद्धि भली-भाँति ग्रहण कर सके। अब जिन हेतुओं से कर्मों की रचना होती उसको सुनाते हैं। (२५६)

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५

वसन्त ऋतु का आगमन होने पर वृक्षों से नये पत्ते आते हैं फिर फूल और फल लगते हैं, अथवा पूर्व दिशा में अरुणोदय होने के पश्चात् सूर्योदय होता है और फिर सूर्य का पूर्ण प्रकाश फैलकर दिन हो जाता है, उसी प्रकार हे अर्जुन! मन ही कर्म-संकल्प का हेतु है और फिर संकल्प वाणी द्वारा बाहर निकलता है वाणी के प्रकाश से कर्म-मार्ग स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है और कर्त्ता कर्म करने में प्रवृत्त होता है। उस समय शरीर और इन्द्रियाँ ही कर्म का कारण होती हैं। जिस प्रकार लोहे की वस्तु तैयार करने में लोहे के औजारों का प्रयोग किया जाता है, अथवा हीरे को काटने में हीरा ही काम देता है, उसी तरह मन, वाणी तथा देह के कर्मों का कारण भी मन होता है। अगर इसमें कोई यह शंका करे कि जब शरीर को कर्म का कारण बतलाया गया तो वही कर्मों का हेतु भी कैसे हो सकता है, तो उसका समाधान यह है कि जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश का हेतु और कारण दोनों सूर्य ही होता है अथवा सरस्वती की स्तुति भी वाणी (सरस्वती) द्वारा ही की जाती है, उसी प्रकार कर्म का कारण और हेतु शरीर ही होता है। देहादिक कारणों से देहादिक हेतुओं का योग होने पर कर्मों की उत्पत्ति होती है। अगर वे कर्म शास्त्रोक्त नीति से किये जायेंगे तो उनको ही पुण्य-कर्म अथवा न्याय कर्म कहा

जायेगा। जिस प्रकार बरसात का पानी बह कर धान के खेत में चला जाय तो वह वहाँ सोख लिया जाता है और उससे लाभ भी बहुत होता है। अथवा जैसे कोई मनुष्य रूठकर घर छोड़ दे और द्वारका की तरफ चल दे, तो चाहे उसे कष्ट ही उठाना पड़े तो भी उसकी यात्रा सर्वथा निष्फल नहीं जाती। एक बर्तन का दूध किसी सत्पात्र के दान में खर्च हो जाय और दूसरे का आग से उफन कर बर्बाद हो जाय तो दोनों का समान रूप में खर्च हो जाने पर भी जो दूध उफन गया उसका सदुपयोग हुआ नहीं माना जायगा। इसी प्रकार अगर शास्त्र विधि से विपरीत कर्म को वृथा न माना जाय, तो फिर डाके में लूटे गये धन को दान का धन कहने में क्या हर्ज है? हे अर्जुन! वर्णमाला के बावन अक्षरों से बाहर कौन मन्त्र हो सकता है, परन्तु जब तक मन्त्र का रहस्य न समझ लिया जाय तब तक बावन अक्षर बोलने के मन्त्रोच्चारण का फल प्राप्त नहीं हो सकता, इसी प्रकार कारण और हेतु का संयोग होने से कर्म तो होता है, पर यदि वह शास्त्रानुकूल नहीं होगा तो उसको पुण्य-कर्म नहीं, वरन् पाप-कर्म माना जायगा। (३७६)

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६

हे महिमाशाली अर्जुन! इस प्रकार कर्म के पाँच कारणों के पाँच हेतु हैं। पर इनमें आत्मा का सम्बन्ध कहाँ है? बात यह है कि जिस प्रकार सूर्य स्वयं बिषय रूप न होकर नेत्र आदि इन्द्रियों के विषयों को दिखलाने का माध्यम होता है, उसी प्रकार आत्मा स्वयं कर्म को प्रकट करने वाला होता है। जिस प्रकार देखने वाला स्वयं दर्पण और प्रतिबिम्ब न होने पर भी उनको प्रकाशित करता है, वैसे ही आत्मा कर्म का अधिष्ठान होने पर भी उसका कर्त्ता नहीं होता, पर जिसकी बुद्धि में यह भ्रम समा गया है कि 'मैं देह हूँ' वह आत्मज्ञान की दृष्टि से अन्धकार में ही है। जो देह को ही चैतन्य, ईश्वर और ब्रह्म मान लेता है

लेता है वही आत्मा को कर्मो का कर्ता मान सकता है। उसने कभी सुना ही नहीं कि 'आत्मा कर्तातीत है' और कर्मों का केवल साक्षीरूप रहता है। उसकी यह मान्यता ऐसी ही है जैसे घुग्घू आँखें मींच कर दिनको रात समझ लेता है। जिसने कभी आकाश स्थित सूर्यको नहीं देखा वह गड्ढे के पानी में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब को ही सूर्य समझ लेता है, पर क्या इनसे वह गड्ढा सूर्य का उत्पत्ति स्थान बन सकता है? जब तक मनुष्य पाण्डु रोग में ग्रस्त रहता है उसे चन्द्रमा का रंग पीला ही दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार जिनको शास्त्र और गुरु के नामकी हवा भी नहीं लगी वह तो ऐसी मूर्खता में ही जीवित रहता है। जैसे स्यार बादलों को चलता देखकर उसका कारण चन्द्रमा को बतलाते हैं वैसे ही जिसकी बुद्धि देह को आत्मा मान लेती है, वह फिर माया रूपी जाल में ही फँसा रहता है। जैसे तोता नली पर बैठकर यह समझ लेता है कि मैं पकड़ लिया गया हूँ और इस कारण पैर खुले रहने पर भी उड़ नहीं सकता, इसी तरह जो निर्मल आत्मा को कर्मों का कर्ता मान लेता है वह करोड़ों कल्प तक उसी जंजाल में फँसा रहता है। (३६४)

अब कर्म करने पर भी जिसे कर्म का स्पर्श नहीं होता, जैसे बड़वानल समुद्र में रहने पर भी उसे स्पर्श नहीं किया जा सकता उसी प्रकार जो अलिप्त भाव से कर्म करता है,उसे किस तरह पहचानता है यह अब समझाता हूँ। ऐसे मुक्त पुरुष को जब हम खोजने को निकलते हैं तो हमको भी मुक्ति मिल जाती है। जिस प्रकार दीपक के प्रकाश में देखने से अपनी वस्तु हमको प्राप्त हो जाती है, अथवा दर्पण को स्वच्छ कर लेने पर अपना स्वरूप उसमें स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है। उसी प्रकार सन्तो की स्थिति पर विचार करने से हमको भी अपने भूले हुए स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। इसलिए सदैव सन्तों के गुणों का वर्णन और श्रवण करना चाहिए जिससे कर्म करने पर भी उनका बन्धन सहन न करना पड़े। चर्म चक्षु की दृष्टि जिस प्रकार चर्म से नहीं रुक सकती,

उसी प्रकार कर्ता पुरुष के लक्षण मैं तुझे हाथ ऊँचा करके सुनाता हूँ। (४०२)

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७

हे ज्ञानी अर्जुन ! जो अज्ञान रूपी निद्रामें पड़ा हुआ बहुत समय से विश्वरूपी स्वप्न देख रहा था वह 'तत्त्वमसि' महावाक्य के कान में पड़ने और गुरुद्वारा मस्तक पर हाथ रखकर पीठ को थपथपा देने पर अज्ञान रूपी निद्रा का त्याग कर अपने स्वरूप का दर्शन करने लग जाता है। चन्द्रमा के निकलते ही मृगजल की बाढ़ जैसे स्वयमेव लुप्त हो जाती है अथवा बाल्यावस्था के व्यतीत हो जाने पर 'हौआ' का डर जाता रहता है, अथवा लकड़ी जलकर भस्म होने पर उस पर भोजन नहीं पकाया जा सकता, उसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति को 'मैं' और 'मेरे' का विचार नहीं रहता। सूर्य अगर अन्धकार ढूँढने किसी तहखाने में भी जाय तो उसे वहाँ प्रकाश ही दिखाई पड़ेगा उसी प्रकार जिसे यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि 'मैं आत्मा हूँ' वह जिस वस्तुको भी देखे वह उसे द्रष्टा और दृष्टि सहित आत्मा स्वरूप ही दिखाई देती है। अग्नि जिस पदार्थ को स्पर्श करती है उसे भी अग्निरूप ही बना लेती है और तब 'दाह्य' तथा 'दाहक' का भेद नहीं रहता। इसी प्रकार कर्म को द्वैत भाव मानकर आत्मा पर जो कर्ता होने का आरोप किया जाता है उसका निवारण होते ही शरीर भी आत्मस्थिति में पहुँच जाता है। उस आत्मस्थिति में रहने वाला मनुष्य इस देह को कैसे आत्मा मान सकता है ? प्रलयकाल के जल समुदाय में अन्य कोई प्रवाह शेष नहीं बचता। उसी प्रकार जिसको ब्रह्म स्वरूप का अनुभव हो चुका है वह अपने को 'देह' कैसे समझ सकता है ? सूर्य बिम्ब द्वारा सूर्य को कैसे पकड़ा जा सकता है ? अथवा छाछ में से मक्खन निकाल लेने पर फिर उसे कैसे मिला कर एक बनाया जा सकता है ? अथवा अग्नि को यदि काठ के सन्दूक

में बन्द करके रखें तो क्या वह रह सकता है? इसी प्रकार जिसके भीतर ज्ञेय और ज्ञाता एक रूप बन चुके हैं, वह ऐसा किस प्रकार कहेगा कि 'मैं देह हूँ' आकाश जहाँ कहीं जाता है वहीं आकाश को पाकर सर्वत्र व्याप्त कहलाता है, इसी प्रकार जो आत्म स्वरूप हो चुका हैं वह कर्मो का कर्तव्य अपने सिर पर क्यों उठायेगा ? आकाश को रहने के लिए आकाश के अतिरिक्त अन्य स्थान नहीं होता, समुद्र में प्रवाह नहीं हो सकता, ध्रुव में गति नहीं होती, ऐसा ही स्थिति आत्म स्वरूप को प्राप्त पुरुष की होती है। (४२१)

इस प्रकार आत्मज्ञान के कारण जिस कर्त्ता के होने का अभिमान व्यर्थ जान पड़ता है, वह भी जब तक देह है तब तक कर्म तो करता ही रहेगा। कपूर के जल जाने पर भी उसकी सुगन्ध दीपक में बनी ही रहती है, गायन समाप्त हो जाने पर भी उससे प्राप्त आनन्द मन में बना रहता है, पानी सूख जाने पर भी भूमि में उसकी नमी बनी रहती है, सूर्य के अस्त हो जाने पर भी उसकी लालिमा पश्चिम आकाश में दिखाई पड़ती रहती है। उसी प्रकार हे धनञ्जय ! देहाभिमान के नष्ट हो जाने पर भी जिन कर्मों के फल से देह उत्पन्न हुआ है, वे उससे कार्य कराते ही हैं। जैसे बिना संकल्प के स्वप्न दिखाई पड़ते हैं, बिन बोये जंगल में वृक्ष पैदा होते हैं, निर्माण किये बिना आकाश में गन्धर्व नगर दिखाई देता है, वैसे ही आत्मा के संकल्प के बिना ही देह आदि पाँच कारणों से कर्म उत्पन्न होते रहते हैं, फिर चाहे उस कर्म से जगत् का संहार हो अथवा रचना हो। जिस प्रकार सूर्य यह नहीं जानता कि उसके प्रकाशित होने से कुमुदिनी सूख जाती है और कमल विकसित हो जाता है, उसी प्रकार जो देहाभिमान रहित हो जाता हैं, उसे यह चिंता नहीं होती कि शारीरिक कर्मों से दृष्टि का उद्‌भव होता है अथवा लय। ।४३६।

पर जो लोग समझते हैं कि चर्म चक्षुओं से दिखाई देने वाली देह ही सब कुछ है, वे तो उसको कर्म करने वाला मानेंगे ही। खेत के बीच

में जो फूँस का पुतला बनाकर रख दिया जाता है, क्या सियार उसे वास्तविक रखवाला नहीं समझते ? पागल मनुष्य इस पर कब ध्यान देता है कि वह वस्त्र पहिने है या नङ्गा है ? इसी प्रकार जिनको आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो चुकी है वे यह नहीं जानते कि इन्द्रियाँ क्या कर्म कर रही हैं। समुद्र तट पर खड़े लोगों को ऐसा दिखाई पड़ता है कि बड़ी लहरें छोटी लहरों को निगलती जा रही हैं पर जल दृष्टि से देखने पर कोई किसी का भक्षण नहीं करता। इसी प्रकार आत्मज्ञानी को यह विकार भी नहीं आता कि कर्मों का त्याग करना चाहिये। कारण यह कि उसके भीतर द्वैत-भाव रहता ही नहीं। सुवर्ण की देवी ने, सुवर्ण के त्रिशूल से, सुवर्ण के ही महिषासुर का बध किया, यह सब देवी भक्त को तो सत्य जान पड़ता है, पर वास्तव में वह सब कुछ सुवर्ण ही है। अथवा दीवार पर बने चित्र में तालाब और अग्निकुण्ड केवल दृष्टिगोचर ही होते हैं, वास्तव में वहाँ न जल होता है और न आग। इसी प्रकार ज्ञानी के दैहिक कर्म स्वयमेव होते रहते हैं, पर इस रहस्य को मूर्ख लोग न समझकर उसको ही कर्मकर्त्ता समझते हैं। वैसे ज्ञानी को न शुभ कर्म का स्पर्श होता है, न अशुभ का। जिस प्रकार कोई भी नदी आकर गङ्गा में मिल जानेपर अपवित्र नहीं रहती, जिसप्रकार अग्नि कोअग्निनहीं जला सकती, शस्त्रअपने को घायल नहीं कर सकता। इसीप्रकार जो इस बातको समझता है कि कोई कर्म आत्मस्वरूप से भिन्न नहीं होता, तो उसकी बुद्धि किस पदार्थ में लिप्त हो सकती है ? अर्थात् जो मनुष्य 'कार्य कर्त्ता, क्रिया' की त्रिपुटी स्वयं ही बन गया है वह शरीर आदि द्वारा किए कर्मों से बँध नहीं सकता। यह जीवात्मा ही है जो कुशलता पूर्वक दश इन्द्रियों के साधन से पाँच हेतुओं को धारण करता है और पाप-पुण्य रूपी कर्मों से एक क्षण में एक नया ही भवन तैयार कर डालता है। पर यह निश्चय समझ लेना चाहिए कि आत्मा इस कर्म में सहायक नहीं बनता, वह केवल साक्षीभूत बना रहता है इसलिए जो आत्मस्वरूप को प्राप्त हो चुका

है उसको कभी कर्म रूपी जेलखाने में नहीं जाना पड़ता ! पर अज्ञानता के तट पर जो द्वैतभाव का चित्र प्रतिबिम्बित होता है उसमें तो उपर्युक्त कर्म-कर्ता-क्रिया की त्रिपुटी विद्यमान रहती ही है। (४६०)

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८

ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेयकी त्रिपुटी ही जगत की बीज है और इसीसे कर्म में प्रवृत्ति होती है। हे धनञ्जय ! अब इसी त्रिपुटी का पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं। जीव रूपी सूर्यबिम्बकी किरणें इन्द्रिय रूपी कमल को विकसित करती हैं, अथवा जीव रूपी राजा हाथ में इन्द्रिय रूपी भाला लेकर विषय रूपी देश में लूटमार करता है। अधिक न कहकर इतना ही समझ लेना चाहिए कि जो ज्ञान इन्द्रियों से क्रिया करा के जीव को सुख-दुःख अनुभव कराता है और जिसका गहरी नींद में लोप हो जाता है ऐसे ज्ञान रखने वाले को ही 'ज्ञाता' अथवा जीव कहते है। जिसका हम वर्णन कर रहे है वह ज्ञान अपने की तीन प्रकार से विभक्त कर डालता हैं। जो ज्ञानी और ज्ञेय के बीच में खड़ा रहता है और इन्द्रियों द्वारा समझा जा सकता है उसे सामान्य ज्ञान कहते हैं, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं। अब ज्ञेय के लक्षण सुनो। (४७१)

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—यह ज्ञेय के पाँच रूप हैं। जिस प्रकार एक आमके फलको देखकर पाँचों इन्द्रियों को अलग अलग रीति से ज्ञान होता है। आम शब्द से वह कान के जानने में आता है, रस द्वारा जीभ को, रंग द्वारा नेत्रों को, महक द्वारा नासिका को, स्पर्श द्वारा त्वचा को उसका ज्ञान होता है। इस प्रकार ज्ञेय तो एक होता है पर उसके विषय में ज्ञान पाँच प्रकार का होता है। समुद्र में मिलने के बाद नदी का बहाव जैसे रुक जाता है, अथवा मंजिल पर पहुँच जाने पर जैसे चलना, बन्द हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियों के

दौड़ने की गति जहाँ रुक जाती है उसी को ज्ञेय कहते हैं। हे धनंजय! इस प्रकार तुझको ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के लक्षण सुना दिये। (४७८)

हे अर्जुन! जैसे ज्ञान ज्ञाता को ज्ञेय पदार्थ के विषय में थोड़ी सी बात बतलाता है, जैसे ही वह उसे स्वीकार करने या त्यागने में प्रवृत्त हो जाता है। मछली को देखते ही जैसे बगुला उसे पकड़नेको दौड़जाता है अथवा भौंरा पुष्प की सुगन्ध लेनें को आता है, अथवा दूध पीने को जिस प्रकार बछड़ा गायकी तरफ दौड़ा चला आता है, उसी प्रकार ज्ञाता भी ज्ञेय की तरफ दौड़ता है। इसलिए हे अर्जुन! ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाताकी त्रिपुटी सब कर्मोंके करने में समर्थ होती है। इसपर भी यदि ज्ञेयविषय ज्ञाताको प्रिय हो तो फिर उसका उपयोग करने में वह एक क्षणका भी विलम्ब सहन नहीं कर सकता। कदाचित् वह उसको अप्रिय हो तो उस को त्यागने में एक क्षण की देरी भी उसे एक युग के समान जान पड़ती है, सर्प को पहले नीलम का हार समझकर हर्ष हो और फिर उसे हाथ लगाते ही सर्प जान कर हर्ष के स्थान में भय पैदा हो जाय, वैसी ही स्थिति प्रिय-अप्रिय विषयों के देखने पर ज्ञाता की होती है। फिर उसी को स्वीकार या अस्वीकार करने के निमित्त कर्म उत्पन्न होता है। जो कुश्ती का शौकीन होता है वह चाहे सेना का अधिपति हो, तो भी सामने से दूसरे मल्ल को आता देखते ही रथ से उतर पड़ता है, उसी प्रकार जो ज्ञाता कहा जाता है, वही विषयासक्त होने पर स्वयं को कर्ता के रूपमें प्रकट करता है। जिस तरह तैयार भोजनको छोड़कर कोई स्वयं पकाने का परिश्रम करने लगे, अथवा भौंरा पुष्परेणु का उपभोग करने के लिए बगीचा; लगाने का झंझट मोल ले, इसी प्रकार विषयों की आकांक्षा होने पर ज्ञाता इन्द्रियों द्वारा उस कार्य को कराने लगता है और इससे इसे कर्ता कहा जाने लगता है। हे बुद्धिमान् अर्जुन! इस प्रकार ज्ञानकी त्रिपुटी में अन्तर पड़ जाता है और ज्ञाता कर्ता ज्ञेय कर्म के रूप में बदल जाते हैं।

बुद्धि, मन, चित्त, अहङ्कार ये चार चिह्न हैं और त्वचा, कर्ण,

नेत्र, जिह्वा तथा नाक ये पांच इन्द्रियां हैं। जब अन्तःकरण को वृत्ति के योग से जीव को कर्म करने की स्फुरणा होती है और वह समझने लगता है कि कर्म करने से सुख की प्राप्ति होगी, तब दश इन्द्रियों को जागृत करके कर्म में लगता है और तब तक चलता जाता है जब तक कर्मफल हाथ में नहीं आ जाता। यदि किसी कर्म से दुःख होता जान पड़ता है तो समस्त इन्द्रियों को उसका त्याग करने को कह देता है। इस प्रकार जब तक दुःख का नाश न हो तब तक इन्द्रियों को जोते रहता है।५०४।

इस प्रकार कर्म के त्याग अथवा स्वीकार करने के लिये जब ज्ञाता एक बार इन्द्रियों का नेतृत्व हाथ में ले लेता है तो वह कर्त्ता कहलाता है और इन्द्रियों को हल की तरह काम में लाता है। इसीलिये उनको करण भी कहा जाता है, और इन्द्रियों के लिये कर्त्ता जो क्रियायें उत्पन्न करता है वही कर्म कही जाती हैं। जिस सुनार की बुद्धि से अलंकार व्याप्त होते हैं, चन्द्रमा की किरणों से चाँदनी व्याप्त होती हैं, मिष्ठता से गन्ने का रस व्याप्त रहता है, वैसे ही हे अर्जुन ! जो कर्त्ता-क्रिया से व्याप्त होताहै वही 'कर्म' है। इस प्रकार तुझको कर्त्ता, कर्म और करण का वर्णन सुना दिया। ज्ञाता ज्ञान-ज्ञेय से कर्म की प्रवृत्ति होती है और कर्त्ता करण और कार्य ये कर्म के अङ्ग हैं। अग्नि में जिस प्रकार धुँआ रहता है, बीज में वृक्ष समाया होता है खान में सुवर्ण रहता है, उसी प्रकार 'कर्त्ता, क्रिया और करण' यह त्रिपुटी कर्मों का उत्पत्ति स्थान है। पाण्डुसुत ! इस सबका आशय यही है कि 'मेरा यह कर्तव्य है और मैं इसका कर्ता हूँ' 'यह कर्तृत्वाभिमान जीव ने धारण किया है, पर आत्मा उससे दूर ही रहता है, हे सुमति ! कर्म से आत्मा भिन्न है, यह बात मैं कहाँ तक समझाऊँ। (५१६)

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९

परन्तु तुझको 'ज्ञान कर्म, कर्त्ता' की त्रिपुटी का जो वर्णन बताया

वह भी गुणों की दृष्टि से विभिन्न प्रकार का है। इसलिये हे अर्जुन! केवल ज्ञान कर्म और कर्ता पर भी विश्वास मत रखना, क्योंकि रज और तम, इन गुणों के कारण मनुष्य बंधता है, पर सत्वगुण मुक्त करने में समर्थ है। उस सात्विक वर्णन को तू समझ सके इस प्रकार सांख्य मतानुसार सुनाता हूँ। यह सांख्य-शास्त्र विचार रूपी क्षीर समुद्र के समान है, यही ज्ञान रूपी कुमुदिनी को विकसित करने वाला चन्द्रमा है और ज्ञानोत्पादक शास्त्रों में सर्वश्रेष्ठ है। यह मोहरूपी चौवीस तत्वों का अन्त करके परम तत्व की प्राप्ति कराने वाला है। ऐसा महान् सांख्य शास्त्र भी जिन गुणों का वर्णन करता है वे ऐसे सामर्थ्यवान् हैं कि उन्होंने सृष्टि के समस्त दृश्य पदार्थों पर अपनी मुहर लगादी है। इन सत्व, रज, तम-तीनों गुणों की शक्ति इतनी अधिक है कि उन्होंने ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यंत सबके तीन भेदकर डाले हैं। अब यह समस्त विश्व जिसके प्रभाव से इन तीन गुणों के पाश में आवद्ध हैं उस ज्ञान का वर्णन तुझको सुनाता हूँ, क्योंकि दृष्टि के शुद्ध होने से ही प्रत्येक पदार्थ का वास्तविक स्वरूप समझ में आता है। इसलिये अब तुझको सात्विक ज्ञान के विषय में बतलाता हूँ—ऐसा कैवल्यगुण निधान भगवान कृष्ण ने कहा। (५२८)

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०

हे अर्जुन! सच्चा और सात्विक ज्ञान वही है जिसका उदय होने पर ज्ञेय (वस्तु) ज्ञाता सहित उसमें लीन हो जाती है। जिस प्रकार सूर्य कभी अन्धकार को नहीं देख सकता, समुद्र नदीयों को नहीं पहचानता, उसी प्रकार छाया को नहीं पकड़ा जा सकता, उसी प्रकार जो ज्ञान शिव से लेकर तृण तक में भिन्नता नहीं देखता और जिसके प्रकाश में 'ज्ञाता ज्ञान-ज्ञेय' की त्रिपुटी का लोप हो जाता है, वही असली सात्विक ज्ञान है। जिस प्रकार सुवर्ण की परीक्षा करने के लिये आभूषण को तोड़ कर सोना अलग नहीं किया जाता, अथवा पानी को छानकर तरङ्ग को

पृथक नहीं किया जा सकता उसी प्रकार समस्त दृश्य पदार्थों में जिस ज्ञान का कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता वही सात्विक-ज्ञान है। जैसे दर्पण को देखा जाय तो उसमें प्रतिबिम्ब ही दिखाई पड़ता है। उसी प्रकार ज्ञेय को देखने पर जब ज्ञाता को सर्वत्र अपना ही रूप दिखाई देता है तो वही सात्विक ज्ञान मोक्ष [illegible] का मन्दिर है। अब राजस ज्ञान विषय में सुनो।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

हे अर्जुन ! जो ज्ञान समस्त भूतों-प्राणियों में भेद मानकर बहुत होता है, वह राजस है। उस प्रकार वह सब में भिन्नत्व उत्पन्न करके ज्ञाता को विचित्रता के भ्रम में डाल देता है। जिस प्रकार निद्रा अपने स्वरूप पर अज्ञान का पर्दा डाल कर स्वप्न में कष्ट का अनुभव कराती है, उसी प्रकार आत्मज्ञान के मन्दिर के पास माया फैलाकर जो जीवको जागृति स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओं में फँसाता है, वही राजस ज्ञान है। जिस प्रकार आभूषण देखने से बालक को सुवर्ण की पहचान नहीं हो सकती, अज्ञानी मनुष्य को घड़ा दिखाकर मिट्टी की पहचान नहीं कराई जा सकती, अथवा दीपक को दिखाकर अग्नि का बोध नहीं कराया जा सकता उसी प्रकार जिस ज्ञान से पदार्थ मात्र को अलग-अलग समझ कर ऐक्य की भावना नष्ट हो जाती है- वह राजस ज्ञान है। ईंधन के अलग-अलग होने से जैसे अग्नि में भिन्नता दिखाई देती है, अथवा पुष्पों के अलग होने से उनकी गन्ध में भिन्नता मान ली जाती है, वह राजस ज्ञान है। अब तामस ज्ञान का लक्षण भी समझ लो क्योंकि डोम आदि के घर को उससे बचने के लिए पहचान लेना आवश्यक होता है (५४८)

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२

हे अर्जुन ! जो ज्ञान विधि रूपी वस्त्र पहिने बिना ही संचार करता

है, जिसे नग्न जानकर श्रुति पीठ फेर लेती है और अन्य शास्त्र भी कलंक लगने के भय से जिसकी चर्चा नहीं करते और म्लेच्छों की तरफ हाँक देते हैं, वह तामस ज्ञान है। जो ज्ञान किसी सम्बन्ध में कोई बाधा नहीं मानता, किसी निषेध को स्वीकार नहीं करता और कुत्ते की तरह गाँव भरमें घूमता रहता है और उन्हीं वस्तुओं को छोड़ता है जो उसके मुँह में नहीं आतीं अथवा जिनसे मुख जलने लगता है। अथवा जिस प्रकार माँस काले जानवरका है अथवा गोरेका अथवा यह प्राणी जीवित है या मृत, यह विचार किये बिना मक्खी सबके ऊपर बैठती है; उसी प्रकार जो ज्ञान विषयों का उपभोग करने में विधि-नियम को नहीं जानता, वही तामस ज्ञान है। उनको यदि स्त्री प्राप्त हो तो वह उसे शिश्न के लिए और पदार्थ मिले तो पेट के लिए ही मानता है। यह तीर्थका जल है और यह अपवित्र जल है इस भेद को वह नहीं समझता, केवल उसके द्वारा प्यास बुझाने को ही एक मात्र उद्देश्य मानता है। इसी प्रकार भक्ष्याभक्ष्य और निन्दनीय का विचार न करके जो जिह्वा को पसंद हो उसी को पवित्र मानता है। स्त्रियोंको वह भोगनेकी वस्तु समझकर पहिचान करता है। जिन मनुष्यों से अपना कोई लाभ होता हो वे ही सगे सम्बन्धी हैं, जिनसे देह का सम्बन्ध है उनकी कोई गिनती नहीं। जिस प्रकार मृत्यु सबको अपना भक्ष्य मानती है और अग्नि के लिये सब पदार्थ ईंधन की तरह ही हैं, उसी तरह तामस ज्ञान संसार के समस्त धन को अपना ही समझा करता है। इस तरह जिसकी यह धारणा होती है कि यह समस्त जगत् उपभोग के लिये निर्माण किया गया है, वह सिवाय शरीर का पालन करने के और किसी पुरुषार्थ को नहीं समझता। आकाश से गिरने वाला समस्त जल जिस प्रकार समुद्र में समा जाता है, उसी प्रकार तामस ज्ञान का समस्त उद्योग पेट भरने के लिए ही होता है।

आत्मा देह का ही एक अंश है और ईश्वर पत्थर की प्रतिमा

है इससे आगे जिसकी बुद्धि नहीं जाती, अथवा जो कहता है कि मृत्यु के उपरान्त आत्मा शरीर सहित समाप्त हो जाती है और इस संसार में कोई फल भोगने के लिए शेष नहीं रहता, वही तामस ज्ञान है। ऐसा मनुष्य यह कहने पर कि ईश्वर हमारे बुरे कर्मों का दण्ड देता है, देवता की सोने-चांदी की मूर्ति को ही बाजार में ले जाकर बेच आता है और कहता है कि अगर पत्थर की प्रतिमा दण्ड दे सकती है तो इतने बड़े पत्थर के पहाड़ क्यों नहीं कुछ करते ? अगर वह ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करे तो भी प्रतिमा को ही ईश्वर मानता है और पाप-पुण्य सबको असत्य बतलाता है। नेत्रों से जो पदार्थ दिखाई पड़ते हैं, वही पदार्थ सत्य और हितकारी हैं, यही उसका दृढ़ अनुभव होता है। जिस प्रकार रेंड की लकड़ी गीली हों या सूखी किसी काम नहीं आती, अथवा ईख में लगा भट्टा या नपुंसक मनुष्य निरर्थक होता है, अथवा बकरे के गले में लटकने वाले थनों का कोई उपयोग नहीं होता उसी प्रकार जो ज्ञान निरर्थक और अनिष्टकारी होता है उसको मैं 'तामस ज्ञान' कहता हूँ। इसको 'ज्ञान' कहने का आशय ऐसा ही है जैसे कि जन्मान्ध मनुष्य को 'सूरदास' अथवा 'प्रज्ञाचक्षु' कह दिया जाता है, अथवा बहरे के लिये कह दिया जाता कि 'देखो, कान कैसे बड़े-बड़े हैं ?' अब कहाँ तक कहूँ, ऐसे 'ज्ञान' को तमोगुण ही समझना चाहिये। हे श्रोताओं में श्रेष्ठ ! तीनों गुण के भेद से तीन प्रकार के ज्ञान का लक्षण तुझे अच्छी तरह समझा दिया। हे धनुर्धर ! इन तीन प्रकार के ज्ञान के प्रकाश में कर्त्ता की क्रियायें स्पष्ट दिखाई देती हैं, जैसे पानी के लिए जिधर रास्ता बना दिया जाता है वह उसी तरफ आता है। अब इस ज्ञान के द्वारा जो तीन प्रकार के कर्म होते हैं उनमें से पहले सात्विक कर्म का लक्षण कहता हूँ। (५४६)

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ।।२३

जैसे पतिव्रता नारी पति के निकट जाती है उसी प्रकार अपने अधिकार के अनुकूल आचरण करने से वह विशेष शोभाप्रद जान पड़ती है। इस प्रकार नित्यकर्म करने के साथ नैमित्तिक कर्म भी किये जायें तो वह सोने में सुगन्ध के समान हो जाता है। जिस प्रकार माता तन, मन, धन से बालक की रक्षा करती है, पर कभी उकताती नहीं, उसी प्रकार जो आन्तरिक भाव से, फल की इच्छा त्याग कर कर्म करता है और उनको ब्रह्मार्पण कर देता है कर्मों का आचरण करने में, आतिथ्य सत्कार आदि कार्यों में अधिक समय व्यतीत हो जाय तो भी खेद नहीं करता, क्रोधित नहीं होता और कर्मों के पूर्ण हो जाने पर जो सफलता पर गर्व नहीं करता, तो वह सात्विक कर्म होता है। हे अर्जुन ! अब राजस कर्म का वर्णन करता हूँ, सावधान होकर सुनो। (५६४)

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वापुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४

घर में जो माता-पिता के साथ कभी प्रेमपूर्वक बात नहीं करता, पर बाहरी लोगों की खातिर करता फिरता है। तुलसी के पौधा पर जो एक छींटा जल का भी नहीं डालता, अंगूर की बेल को दूध से सींचता है। नित्य नैमित्तिक कर्मों के लिये जो बैठे से उठकर खड़ा होना भी नहीं चाहता, पर काम्य कर्मों के लिये देहोत्सर्ग हो जाने तक प्रस्तुत रहता है। जिस व्यापार में दूना, ड्योढ़ा नफा होता है, उसमें चाहे जितनी रकम लगाने को तैयार रहता है, पर खेती में कितना भी अन्न पैदा हो जाय वह उसे थोड़ा ही जान पड़ता है। वह अपने कर्मों की स्वयं ही प्रशंसा करके उनका नमूना जगह-जगह दिखाता फिरता है। इस प्रकार मन में अभिमान उत्पन्न हो जाने से पिता और गुरु को कुछ नहीं समझता। जिस प्रकार काल ज्वर पर कोई औषधि काम नहीं देती, इसी प्रकार वह अहंकार युक्त होकर अनेक प्रकार के कर्म करता है, पर सिवाय जैसे-तैसे पेट भर लेने के और कोई लाभ नहीं उठाता। जिस प्रकार चूहा एक कण के लिए तमाम पहाड़ को खोद डालता है अथवा

मेंढ़क शिकार को पाने के लिये तमाम तालाब को गन्दा कर देता है, भिक्षा के सिवाय और कुछ न मिलने पर भी जैसे सपेरा साँपों का बोझ उठाये फिरता है, उसी प्रकार से ऐसे लोगों को कष्ट सहन ही अच्छा लगता है। अथवा जैसे दीमक एक परमाणु के लिये पाताल तक खोदती चली जाती है, वैसे ही जो लोग स्वर्ग सुख की प्राप्ति के लिए परिश्रम करते हैं, उसे राजस कर्म कहते हैं। अब तामस कर्म के विषय में सुनो। (६१०)

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५

तामस कर्म निद्रा के काले, पापमय घर ही होते हैं। उनके कारण ही निषेध का अस्तित्व सार्थक होता है। जिस कर्म के करने से किसी फल की प्राप्ति नहीं होती, जिस प्रकार पानी पर रेखा खींचने से वह निरर्थक होती है छाछ के ऊपर आये पानी को बिलोने से मक्खन प्राप्त नहीं होता, बालू को पेरने से तेल नहीं निकलता, उसी प्रकार जिस कर्म का आचरण करने पर भी वह निष्फल ही रहे वह तामस कर्म है। नरदेह के समान अमूल्य रत्न प्राप्त होने और सम्पत्ति खर्च करके कर्म करने पर भी जिससे जगत् को उल्टा दुःख हो जिस प्रकार कमल को काँटेदार लकड़ी से खींचने पर अपने को परिश्रम होता है और कमल भी नष्ट हो जाता है, अथवा जिस प्रकार पतङ्ग दीपक पर गिर कर स्वयं जला करता है और दूसरों के लिए अँधेरा कर देता है, उसी प्रकार जिस कर्म से सर्वस्व की हानि हो, व्यर्थ श्रम करना पड़े और दूसरों का भी अहित हो वह तामस है। अथवा यह विचार किये बिना कि मुझमें कर्म करने की कितनी सामर्थ्य है, मेरा प्रयत्न कितना है, और इसको करने से मुझे क्या मिलेगा, इन सब बातों पर विचार न करके अभिमान पूर्वक जो कार्य किया जाता है, वह तामसिक है। अथवा जिस प्रकार अग्नि बाँस के वन में पैदा होती है और सभी को जलाकर भस्म करती है, अथवा समुद्र जब बढ़ता है तो छोटी-बड़ी या पवित्र-अपवित्र किसी चीज का बिना विचार

किये सबको एक साथ बहा ले जाता है, इसी प्रकार जो कर्म योग्य-अयोग्य या स्वधर्म-परधर्म का कुछ भी विचार न रखकर एक सा व्यवहार करने लगता है वह तामसिक है। इस प्रकार हे अर्जुन ! गुण की भिन्नता से कर्म तीन प्रकार का होता है, वह तुझको दृष्टान्त देकर स्पष्ट समझा दिया साथ ही कर्म का अभिमान रखने वाला जीव भी उसके फलस्वरूप तीन तरह का हो जाता है। जिस प्रकार चार आश्रमों के कारण एक ही पुरुष चार अवस्थाओं में दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार कर्म भेद से वह तीन अवस्थाओं को प्राप्त होता है। उनमें से पहले सात्विक अवस्था का वर्णन करते हैं। (६३०)

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६

जिस प्रकार मलय पर्वत के चन्दन के वृक्ष की शाखायें फल की आशा रखकर सीधी बढ़ती हैं और सुवास देती हैं, अथवा नागबेल (सात) में फल न लगने पर भी उसको बहुत उपयोगी माना है, उसी प्रकार जो मनुष्य बिना फल की आशा रखे नित्य नैमित्तिक कर्मों को करता रहता है, उसे फल शून्य मत कहो, क्योंकि वैसा कर्म कभी निष्फल हो ही नहीं सकता। हे अर्जुन ! जो स्वयं ही फल रूप है उसको फल कहाँ से आयेगा ? सात्विक कर्त्ता कर्मों को आदर पूर्वक करता है, पर जिस प्रकार वर्षा ऋतु में मेघ बिना गरजे ही धुँआधार वर्षा करते हैं. उसी प्रकार से कर्तृत्वाभिमान से सर्वथा दूर रह कर काल की मर्यादा, देह शुद्धि, योग्यायोग्य के निर्णय को ध्यान में रख कर कर्म करता है, चित्त को फल की तरफ जाने नहीं देता, पैरों में नियम की बेड़ी पहने रहता है, इन बातों पर दृढ़ रहने के लिए उत्तम धैर्य धारण करता है और इसके लिए सदा सचेष्ट रहता है। आत्मा की प्राप्ति के लिये कर्म करने पर भी जो देहसुख की चिन्ता नहीं करता आलस और निद्रा को पास नहीं आने देता, भूख प्यास को भी सहन

करता है। परिणाम यह होता है कि जिस प्रकार सुवर्ण बार-बार आग में तपाने पर उसका वजन हल्का होता जाता है पर चमक बढ़ती जाती है, इसी प्रकार वह सत्कर्म करने के लिये अधिकाधिक उत्साह धारण करता जाता है। हे अर्जुन! जिसके मन में आत्मा जैसे प्रिय वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हो गई है, उसके शरीर को चाहे जैसा कष्ट हो, पर क्या वह उससे दुःखी हो सकता है? जिसकी विषय सुखों की इच्छा नष्ट होकर देह-बुद्धि जैसे-जैसे न्यून होती जाती है, वैसे-वैसे ही उसको कर्म करने में दुगुना आनन्द आता है। इस प्रकार करते-करते कभी कर्म करना बन्द भी हो सकता है, तो भी उसे कभी उसका खेद नहीं होता। उसे न काम के अपूर्ण होने का शोक होता है और न सफल हो जाने पर गर्व होता है। ऐसे को ही निश्चय रूप से सात्विक कर्त्ता कहना चाहिये। हे धनञ्जय अब तुझे राजस कर्त्ता के लक्षण सुनाता हूँ क्योंकि जगत् में समस्त अभिमान का वही जन्म स्थान है। (६४६)

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७

जिस प्रकार गांव की तमाम गन्दी चीजों को डालने का स्थान घूरा ही होता है अथवा सब अमांगलिक पदार्थ श्मशान में ही आश्रय पाते हैं, उसी प्रकार वास्तव में जो समस्त सांसारिक मनोरथों के पैर धोने का स्थान है, जिसमें इच्छित फल की सहज में प्राप्ति हो जाने से उसी में प्रवृत्ति होती है, यह राजसिक कर्त्ता का लक्षण है। कृपण मनुष्य जिस प्रकार सदैव अपने धन पर निगाह रखता है, उसी प्रकार वह भी अन्य के पदार्थ को ले लेने में निगुण होता है। जिस प्रकार बगुला मछली को पकड़ने के लिये बहुत आतुर रहता है और जिस प्रकार बेर का पेड़ पास जाने पर कपड़ों को कांटों से फड़ता है और जब वस्त्रों को छुड़ाते हैं तो काँटे शरीर में गढ़ते है, इसी प्रकार जो मन, वचन, कर्म से दूसरों को दुःख देता है और अपने हित के आगे दूसरे के हित

का कुछ भी विचार नहीं रखता वह राजसिक कर्त्ता है। धतूरे के फल में बाहर जिस प्रकार कांटे होते हैं और भीतर जहरीले बीज भरे होते हैं उसी प्रकार शुचिता की दृष्टि से जो बाहर-भीतर दरिद्र होता है, काम सफल हो तो नाच-कूद कर आनन्द व्यक्त करता है और असफल हो जाय तो कर्म को धिक्कारने लगता है, ऐसा व्यक्त राजसिक कर्त्ता होता है। अब अधम कर्मों की खान रूप तामस कर्त्ता के लक्षण सुनो। (६६२)

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥ २८

अपने सामने आने वाली वस्तुएँ जल कर भस्म हो जाती हैं, इस बात को अग्नि जैसे नहीं जानता अथवा मेरी धार से अन्य के प्राण किस प्रकार जाते हैं इसकी खबर शस्त्र को नहीं होती, अथवा मुझसे दूसरों का नाश किस प्रकार होता है इस बात को हलाहल विष नहीं जानता उसी प्रकार जिस क्रिया से अपना और दूसरों का नाश होता हो उसे करने में प्रवृत्त होना तामस कर्त्ता का लक्षण है जैसे तूफान आने पर हवा सर्वत्र स्वच्छन्द होकर विचरने लगती है, उसी प्रकार जो कर्म करते समय यह नहीं देखता कि इनमें क्या लाभ हुआ और क्या हानि और जिनकी क्रिया और इच्छा में परस्पर कुछ भी मेल नहीं होता वह तामस कर्त्ता है, और पागल भी उससे हार मान जाता है। जो इन्द्रियों के सामने आने वाले भोगों से ही जीवन की रक्षा करता है, जो छोटे बालक की तरह क्षण में हँसने और क्षण में रोने लगता है, प्रकृति के अधीन होने से जो कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नहीं रखता, पर कूड़ा पड़ने से जैसा घूरा फूलता है उसी प्रकार जो कुकर्मों के गर्व में आकर ईश्वर को भी अपने सामने कुछ नहीं समझता, अकड़ में पर्वत को भी तुच्छ समझता है, वही तामसिक कर्त्ता है। जिसका आचरण बढ़िया दिखाई देने पर भी दूसरे का घात करने का होता है जिनकी दृष्टि ऊपर से प्रिय पर दूसरों का सर्वस्व हरण करने वाली होती है, इतना ही क्यों जिसका

सर्वांग कपट से भरा होता है वह तामसिक कर्ता है। अन्य का उत्कर्ष देखकर जिसके मन में द्वेष होता है, अथवा जैसे नमक पड़ जाने से दूध पीने के अयोग्य हो जाता है, अथवा खाद्य पदार्थ कैसा भी उत्तम हो वह पेट में पहुँचकर मल ही बन जाता है उसी प्रकार दूसरे का भला होते देखा या सुना तो जिसे वह सहन नहीं होता और तुरन्त उसकी निन्दा में प्रवृत्त होता है वही तामसिक कर्ता है। जिस प्रकार सर्प को दूध पिलाने से जहर बन जाता है, उसी प्रकार अन्य के गुण उसे दुर्गुण ही प्रतीत होते हैं, सत्संग या सत्शास्त्र श्रवण का अवसर आते ही जिस पर आलस्य का पहाड़ टूट पड़ता है और कुकर्म करते समय वही आलस आज्ञाकारी सेवक बन जाता है। जिसके अन्तःकरण में दूसरों का उत्कर्ष सहन न होने में बड़वानल-सी प्रज्वलित रहती है। इस कारण जन्मभर जिसके चित्त में विषाद की गाँठ सी बनी रहती है, और जिसे कभी कोई लाभ नहीं होता, ऐसे मनुष्य, जो जगत् में मूर्तिमन्त पाप राशि होते हैं, निस्सन्देह तामस कर्ता हैं। (३८९)

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥२९

अब अविद्या रूपी नगर में मोह रूपी वस्त्र और संशय रूपी आभूषण धारण किये हुए अपनी सुन्दरता जिस बुद्धि रूपी दर्पण में दिखाई देती है उसके भी तीन भेद हैं। अजी! इन सत्व-रज-तम तीनों गुणों ने जगत् की किस वस्तु के तीन विभाग नहीं कर दिये हैं! जिसके गर्भ में अग्नि न हो ऐसी कौन सी लकड़ी जगत् में है? इन तीन गुणों ने बुद्धि के भी तीन विभाग कर दिये हैं, उसी प्रकार धृति के भी तीन विभाग किये हैं। वह भिन्न-भिन्न भेद चिह्नों सहित विस्तार पूर्वक बतलाते हैं। परन्तु हे धनञ्जय! पहले बुद्धि के लक्षण ही बतला दिये जायें। हे सुभट! इस संसार में आने के उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ— ऐसे तीन मार्ग हैं। ये तीन मार्ग विहित, काम्य और निषिद्ध कर्म के

नाम से भी प्रसिद्ध हैं और प्राणिमात्र को इनके द्वारा संसार का भय प्राप्त हुआ करता है।

प्रवृत्ति च निवृत्ति च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०

इसलिए इस लोक में अपने अधिकार के अनुकूल जो नित्यकर्म हो वही उत्तम है। नित्यकर्म का आचरण आत्मा प्राप्ति रूपी फल पर दृष्टि रखकर अत्यन्त आदर के साथ करना चाहिए। इस तरह युक्ति पूर्वक किया हुआ कर्म दुस्तर जन्म के भय से मुक्त करता है और मोक्ष को सुलभ बना देता है। इस प्रकार के नित्यकर्म में विश्वास रखकर जब बुद्धि उसके आचरण का निश्चय करती हैं, तो मोक्ष तैयार ही मिलती है क्योंकि ऐसे कर्म की प्रवृत्ति पर ही आधारित होती है और उससे मनुष्य का उसी प्रकार उद्धार हो जाता है, जैसे तृषातुर मनुष्य को जल मिल जाय, अथवा बाढ़ में फँसे हुए को तैरना आता हो अथवा औषधि के साथ पथ्य का सेवन किया जाय, अथवा मछली को पानी का आश्रय प्राप्त हो जाय। इन नित्य कर्मों के करने से शुद्ध बुद्धि का आविर्भाव होता और निषिद्ध काम्य कर्मोंकी तरफ से प्रवृत्ति पीछे हटती है, तो वही सात्विक बुद्धि कही जाती है। जिस प्रकार अग्नि में प्रवेश नहीं किया जा सकता गहरे पानी में कूदा नहीं जा सकता, फुंकारते नाग को नहीं जगाया जा सकता, तपे लाल लोहे को पकड़ा नहीं जा सकता, सिंह की गुफा में घुसा नहीं जा सकता, उसी प्रकार निषिद्ध कर्मों के आचरण से महा भय उपस्थित होना सम्भव है, इस तथ्य को जिस बुद्धि ने समझ लिया है वह सात्विक हैं, उसी प्रकार जो बुद्धि प्रवृत्ति-निवृत्ति की दृष्टि से कार्य-अकार्य का निर्णय कर सकती है, उत्तम-अधम कर्म को तुरन्त समझ सकती हैं वही सात्विक हैं।७१७।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१

जिस प्रकार बगुलों के गाँव में दूध और पानी मिला हुआ ही पिया जाता है, अथवा अंधे को दिन-रात का भेद मालूम नहीं होता, उसी प्रकार जो बुद्धि धर्माधर्म और कार्य-अकार्य को समझे बिना ही उसका आचरण करती है वह बुद्धि राजसी है। बिना परीक्षा के अगर मोती खरीदे जायें तो कदाचित् कभी वे उत्तम मिल जायें, पर हमेशा अच्छे नहीं मिल सकते। इसी प्रकार सौभाग्य से निषिद्ध कर्मों से लाभ भले ही हो जाय, पर जो बुद्धि भले-बुरे सभी कर्मों को एक सा समझती है वह राजसिक ही होती है। (७२३)

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२

जिस प्रकार चोर को राजमार्ग बीहड़ जान पड़ता है राक्षस को दिन का प्रकाश रात की तरह लगता है, भाग्यहीन को द्रव्य का भण्डार कोयला का ढेर दिखाई पड़ता है उसी प्रकार शास्त्रों में बतलाये धर्म का आचरण जिस बुद्धि को घातक जान पड़ता है असली वस्तु नकली लगती है जो गुणों को दोष समझती है, वह बुद्धि तामसिक है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। क्या रात्रि को जानने के लिए धर्मशास्त्र का प्रमाण देखना पड़ता है? हे अर्जुन! इस प्रकार मैंने तुझको बुद्धि के तीन भेद बतला दिये इस बुद्धि द्वारा जब कर्मों का निश्चय किया जाता है तब उसे 'धृति' कहा जाता है। यह धृति भी तीन प्रकार की होती है। (७३२)

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३

जैसे सूर्योदय होते ही चोरों और अन्धकार का लोप हो जाता है, राजाज्ञा निकलते ही बुरे व्यवहार बन्द हो जाते हैं, पवन के जोर से चलते ही बादल उड़ जाते हैं, अगस्त्य के दर्शन होते ही समुद्र का गर्जना बन्द हो जाती है, चन्द्रोदय होते ही कमल बन्द हो जाते हैं, सिंह के सामने आते ही मदोन्मत्त हाथी भी पाँव बढ़ाना भूल जाता है, उसी

प्रकार सात्विक धैर्य के उत्पन्न होने पर मन, प्राण आदि अपने व्यर्थ कार्यों से रुक जाते हैं। हे अर्जुन ! तब इन्द्रियों का विषयों के प्रति स्नेह अपने आप छूट जाता है और वे घबड़ा कर मन रूपी माता के उदर से चली जाती हैं। जो धृति ऊर्ध्व और अधोवायु के मार्ग को छोड़कर नौ प्रकार के प्राणों को एकत्र करके सुषुम्ना की कोठरी में बन्द कर देती हैं और तब संकल्प-विकल्प का आवरण हटाकर मन बुद्धि के पीछे चुप-चाप जा बैठती है। इस प्रकार जो धैर्य मन, प्राण और इन्द्रियों के स्वच्छन्दतापूर्ण व्यवहार को बन्द करके मुक्ति से हृदय कमल की कोठरी में बन्द कर देता है और जब तक वे ईश्वराभिमुख न हो जायें तब तक उन्हें पकड़े रहता है वही सात्विक धृति है—ऐसा लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा। (७४४)

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थं राजसी ॥३४

जो अपने को शरीर मान कर धर्म अर्थ, काम—इन तीनों उपायों से संसार में ही आनन्दपूर्वक निवास करता है, मनोरथों रूपी समुद्र में धर्म-अर्थ-काम रूपी जहाज चलाकर धैर्य-पूर्वक व्यापार करता है, और यह समझकर कि कर्मरूपी पूँजी लगाने से चार गुना लाभ होगा, साहस के साथ कार्य करता है, उस धृति को हे अर्जुन ! राजसिक कहा जाता है। अब तामसिक का वर्णन सुनो। (७८१)

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५

कोयला जैसे काले रङ्ग का ही बना होता है, वैसे ही जो धृति समस्त नीच गुणों से युक्त है, वह तामसी है। अगर कोई शंका करे कि सामान्य और नीच वस्तुओं को 'गुण' का नाम क्यों दिया जाय तो उसका समाधान यह है कि क्या राक्षसों में भी कोई पुण्यात्मा नहीं कहे जाते ? भौम ग्रह साक्षात् अग्निरूप है, पर क्या उसका नाम मङ्गल नहीं कहा जाता है ? इसी प्रकार तमोगुण को भी साधारण गुण कह दिया

जाता है। हे वीर अर्जुन ! जिस प्रकार 'तामसी' शब्द दोषों की खान है, उसी प्रकार तामसी मनुष्य महा आलसी होता है और निद्रा उसे कभी नहीं छोड़ती। देह रूपी सम्पत्ति पर उसकी अत्यन्त प्रीति होने से भय भी उसे कभी नहीं त्यागता। कृतघ्न मनुष्य के पाप को दूर करने का चाहे जितना यत्न किया जाय, पर वह नष्ट नहीं होता। सभी पदार्थों में मोह रखने के कारण वह शोक का निवास स्थान बन जाता है और रात-दिन असन्तोष रहने से विषाद भी उससे मित्रता कर लेता है जिस प्रकार लहसुन की गन्ध कभी दूर नहीं होती और कुपथ्य करने वाले को रोग नहीं छोड़ता वैसे ही उनका विषाद से कभी छुटकारा नहीं होता। वह अपनी तरुणाई, धन तथा काम का जो गर्व करता है, उससे मद भी उसमें सदा बना रहता है। इस प्रकार निद्रा, भय, शोक, विषाद और मद-ये पाँच तामसिक दोष जिस धैर्य में होते हैं, उसे तामसी कहा जाता है। इस प्रकार जगत् के स्वामी भगवान् कृष्ण ने कहा। इस तरह तीनों प्रकार की बुद्धि जिस-जिस कर्म का निश्चय करती है, उन कर्मों को धैर्य पूरा करता है। सूर्य का उदय होने पर मार्ग दिखाई पड़ने लगता है और उस पर मनुष्य पैरों से चलता है, वह कार्य धैर्य रखने से ही सम्पन्न होता है। इसी प्रकार बुद्धि कर्म का निश्चय करती है और इन्द्रियों द्वारा वह किया जाता है परन्तु उनकी पूर्णता के लिये धैर्य भी आवश्यक होता है। यह धैर्य तीन प्रकार का है और उनके द्वारा कर्म करके जो सुख प्राप्त किया जाता है उसकी भी तीन श्रेणियाँ होती हैं। उस तीन प्रकार के सुख का वर्णन भी आवश्यक है पर वह शुद्ध रूप में कैसे किया जाय अगर शब्द द्वारा वर्णन किया जाय तो कदाचित् उसको कानों का मैल लग जाय। इसलिये उसको प्रेमयुक्त अन्तःकरण से ही सुनना चाहिये—इस प्रकार भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा। (७७१)

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६

भगवान् कहने लगे—हे अर्जुन ! गुण के योग से सुख के तीन रूप जो कहे गये हैं, उनको ध्यान पूर्वक सुनो। हे किरीटि ! जीव की आत्मा के साथ भेंट होने पर जो आनन्द होता है, वही सुख है। जिस प्रकार उत्तम औषधि को (नाप-तोल) के हिसाब से लिया जाता है, रांगे की चांदी बनानी हो तो उस पर कीमियागरी के तरीके से अनेक पुट देने पड़ते हैं, नमक को गलाना हो तो उस पर दो चार बार पानी छिड़कना होता है। इसी प्रकार सुख का थोड़ा भी लाभ हुआ हो तो उसी रास्ते का अभ्यास करने से जीव दशा के दुःखों का अन्त हो जाता है। वह आत्म सुख भी तीन प्रकार का है, उसके लक्षण सुनाता हूं। (७७७)

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७

चन्दन के वृक्ष पर जैसे सर्प लिपटे रहते हैं, गड़े हुये खजाने पर ब्रह्म राक्षस आदि का प्रतिबन्ध होता है, स्वर्ग सुख के लिये यज्ञ का घोर परिश्रम करना पड़ता है, अग्नि प्रदीप्त करने के लिये धुंए का कष्ट सहन करना होता है, उसी प्रकार हे अर्जुन ! आत्म सुख की प्राप्ति के लिये शम-दम आदि का साधन करने का कष्ट उठाना होता है देह आदि के मोह को भस्म कर देने वाला अग्नि के समान तीव्र वैराग्य जब उत्पन्न होता है तो वह स्वर्ग और संसार की आसक्ति के अंकुरों को उखाड़ डालता है तीव्र ज्ञान का श्रवण और कठोर वातावरण में भी बुद्धि आदि को असह्य परिश्रम करना पड़ता है। सुषुम्ना के मुख में प्राण और अपान का रोध करना पड़ता है। इस प्रकार आरम्भ में ही बहुत कष्ट सहन करना पड़ता है। चकवा-चकवी का वियोग करने, दूध पीते बछड़े को थन से अलग खींच लेने, भूखे को परसी हुई थाली पर से उठा देने, मछली को पानी से बाहर निकाल लेने और माता के इकलौते पुत्र को मृत्यु द्वारा उसकी गोद से छीन लिये जाने पर जैसी मनोव्यथा होती है' वैसे ही इन्द्रियों को विषयों का घर छोड़ते हुये महान् दुःख होता है।

पर वैराग्य सम्पन्न वीर मनुष्य उस कष्ट को भी सहन कर लेता है इस प्रकार जिस सुख का आरम्भ कष्टमय है उसे जो सहन करता है उसी को तत्पश्चात् क्षीर सागर को मथ कर अमृत प्राप्त करने वालों के समान परम सुख का लाभ भी होता है। वैराग्य रूपी विष पीने के लिए जब सात्विक धैर्य रूपी शम्भु मुख खोलता है, उसी के परिणाम स्वरूप उसे ज्ञानरूपी अमृत को भोगने का मौका मिलता है। अंगूर जब कच्चा होता है तब बहुत अधिक खट्टा लगता है, पर पक जाने पर वही अत्यन्त मीठा लगने लगता है। इसी प्रकार जब आत्म प्रकाश द्वारा वैराग्य का परिपाक होता है तब अविद्या सहित समस्त दुःखों का अवश्य नाश हो जाता है। फिर सागर में जैसे गङ्गा मिलती है, वैसे ही बुद्धि और आत्मा के अद्वयानन्द रूपी सुख का भण्डार खुल जाता है। यही सात्विक सुख कहा जाता है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८

और हे अर्जुन ! विषय और इन्द्रियों का संयोग होने से सुख की बाढ़ दोनों किनारों तक इस प्रकार उमड़ने लगती है, जैसे कोई बड़ा अधिकारी अपने मातहत नगर में जाय तो उत्सव मनाया जाता है, अथवा ऋण लेकर विवाह की धूम-धाम की जाती है, अथवा खाँड़ और केला कुपथ्य होने पर भी रोगी को मीठे लगते हैं। इस प्रकार विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध आरम्भ में तो सुखकारक लगता है पर बाद में महा दुःखदायक सिद्ध होता है। चट्टान पर बहते पानी में तारों की छाया देखकर हंस उनको मोती समझकर चोंच मारता है, पर मोती मिलने के बजाय उसका प्राण चला जाता है। इसी प्रकार राजसिक सुख से पुण्य द्वारा प्राप्त होने वाला लाभ भी लुप्त हो जाता है। फिर विषय भी स्वप्न की तरह चले जाते हैं और केवल दुःख के कीचड़ में लोटना ही शेष रह जाता है। इस लोक में प्राप्त होने वाले विषय सुख का ऐसा ही परिणाम होता है और परलोक के लिये भी वह विष रूप

सिद्ध होता है। जो इन्द्रियों की अभिलाषा पूरी करने के लिये धर्मरूपी बगीचा को जला देता है तो इससे पाप को भी बल मिलता है और तब नरक की प्राप्ति होती है। इस लोक के सुख से परलोक का इस तरह घात होता है जैसे मीठा लगने वाले वच्छनाग विष को खाकर मनुष्य अपने को नाश कर देता है। हे पार्थ ! इस तरह जो सुख आरम्भ में मीठा पर परिणाम में कड़ुवा सिद्ध हो जाता है वह केवल रजोगुण का बना होता है, इससे कभी उसको स्पर्श मत करना। (८०५)

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९

अपेय वस्तु के पीने से, अभक्ष्य के भक्षण तथा स्वैरिणी स्त्री के संयोग से मिलने वाला सुख, अथवा अन्य का घात करके दूसरे का सर्वस्व हरण करके अथवा तत्पश्चात् भाटों के स्तुतिगान से जो प्राप्त होता है, अथवा जो सुख आलस और निद्रा से अनुभव किया जाता है, जिस सुख के आरम्भ और अन्त में अपनी कुछ भी भलाई नहीं होती, हे अर्जुन ! उसी को तू तमाम सुख समझ ले। मैं इस कथा का विस्तार से वर्णन नहीं करता क्योंकि वह निन्दनीय ही है। इस प्रकार कर्म का फल स्वरूप सुख तीन प्रकार का हुआ। संसार में जितनी भी वस्तुएँ हैं उनमें से कोई भी कर्ता कर्म और फल की त्रिपुटी से पृथक नहीं हो सकती और हे अर्जुन ! यह त्रिपुटी गुणों से उसी प्रकार निर्मित है जैसे वस्त्र सूत से बना होता है। (८१२)

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०

इसलिये तू यह निश्चय कर ले कि इस लोक अथवा स्वर्गलोक में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो प्रकृति के इन तीन गुणों से आबद्ध न हो ऊन के बिना कम्बल कैसे हो सकता है ? मिट्टी के बिना ढेला की और

पानी के बिना लहरों की उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है ? इसी प्रकार सृष्टि के समस्त जीव गुणों की रचना से मुक्त नहीं हो सकते। इन तीन गुणों की शक्ति ऐसी अगाध है कि उसने एक देव के तीन देव ब्रह्मा-विष्णु-महेश) और एक लोक के तीन लोक (स्वर्ग, मृत्यु और पाताल) बना दिये हैं। उन्हीं ने चारों वर्णों को भी भिन्न-भिन्न किया है। (८१)

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१

इन चारों वर्णों में ब्राह्मण अग्रगण्य है तथा क्षत्रिय और वैश्य भी वैदिक कर्म करने के अधिकारी हैं। चौथा शूद्र वर्ण सेवा वृत्ति वालों का है और वे उपर्युक्त तीनों वर्णों के सान्निध्य में रहने से ही चतुर्थ वर्ण के रूप में माने जाते हैं। जिस प्रकार पुष्पों के संसर्ग से माला में रहने वाले डोरे को भी श्रीमान् व्यक्ति सूँघ लेते हैं उसी प्रकार ब्राह्मणों के सम्पर्क में आने से शूद्रों को भी एक स्वतन्त्र वर्ण की मान्यता दी गई। अब चारों वर्णों से पृथक-पृथक कर्मों को सुनो। आत्मा की प्रकृति ने सत्वादिगुणों के आधार पर चारों वर्णों के कर्मों का उसी तरह बँटवारा कर दिया है जैसे पिता की सम्पत्ति पुत्रों में बाँट दी जाती है, अथवा सूर्य राहगीरों को उनका पृथक-पृथक मार्ग दिखलाता है। सत्वगुण ने अपने सम विषम भाग करके ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों को उत्पन्न किया। रजोगुण के मिश्रण से वैश्य वर्ण उत्पन्न हुआ तथा रजोगुण और तमोगुण के मिश्रण में शूद्र वर्ण रचा गया। बुद्धिशाली अर्जुन ! इस प्रकार गुणों द्वारा एक तरह के प्राणियों से चार भाग कर दिये गये। अब मैं बताऊँगा कि किस वर्ण के लिये कौन कर्म विहित हैं। (८३२)

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२

पत्नी जिस प्रकार पति से मिलती है, उसी तरह बुद्धि सब इन्द्रियों को अपने अधिकार में करके आत्म स्वरूप में मिल जाती हैं। बुद्धि की

इसी तल्लीनता को शम कहा जाता है। यह 'शम' सब गुणों में प्रथम माना गया है और इसी से सब कर्मों का आरम्भ होता हैं। यह शम बाह्य इन्द्रियों को दण्ड द्वारा शासन करके कभी अधर्म मार्ग पर नहीं जाने देता। इस शम का सहायक दूसरा गुण 'दम' है वह इन्द्रियों को स्वधर्मानुसार चलता है। जिस प्रकार सन्तानोत्पत्ति की षष्ठी को रात्रि भर दिया जलता हुआ रखा जाता है, उसी प्रकार चित्त में सर्वदा ईश्वर का ध्यान रखना 'तप' कहा जाता है और यह ब्राह्मण का तीसरा गुण है। चौथा 'शौच' अर्थात् निर्दोष होना है। मन शुद्ध भाव से परिपूर्ण होकर सम्पूर्ण शरीर सत्कर्म से सुशोभित बने, ऐसी अन्तर्बाह्य पवित्रता को हे पार्थ ! शौच कहा जाता है। पृथ्वी की तरह निरन्तर सब कष्ट सहन करना क्षमा कहा गया है और यह ब्रह्म-कर्म का पाँचवाँ गुण है। जिस प्रकार सप्त स्वरों में पञ्चम स्वर बहुत मधुर होता है उसी प्रकार यह क्षमा गुण भी श्रेष्ठ होता है। गङ्गा का प्रवाह टेढ़ा जा रहा हो तब भी वह सरल ही है, गन्ना चाहे टेढ़ा हो तो भी उसकी मिष्ठता तो सब जगह एक सी ही होती है, उसी प्रकार अपने को त्रास देने वाले पर भी प्रीति रखना 'आर्जव' कहलाता है और यह ब्राह्मणकर्म का छठा गुण है। (८४३)

जिस प्रकार माली कष्ट सह कर वृक्षों को सींचता है, उसका श्रम फल आने पर ही सार्थक होता है, उसी प्रकार यह विश्वास रखना कि शास्त्रोक्त कर्म करने से ईश्वर प्राप्ति अवश्य होगी 'ज्ञान' कहा जाता है, यह ब्राह्मण का सातवाँ गुण है। सत्वशुद्धि के अवसर पर शास्त्र—विचार और ध्यान के अभ्यास से निश्चयात्मक बुद्धि ईश्वरमय बन जाय यह 'विज्ञान' कहा जाता है, यह आठवाँ गुण है। 'आस्तिक्य' को नौवाँ गुण समझो। राजा की मुहर जिसके हाथ में है, वह चाहे जो कोई हो, तो भी जब लोग उसकी सेवा करते हैं, उसी प्रकार शास्त्र के बतलाये मार्ग पर आदरपूर्वक आचरण करने को मैं आस्तिक्य' के नाम से जानता

है, यह ब्राह्मण का नौवाँ गुण है, और इसी गुण के योग से समस्त ब्राह्मण कर्म सत्य सिद्ध होते हैं। इस प्रकार जिसमें शम आदि नौ गुण पाये जायें वही ब्राह्मण का स्वाभाविक कर्म है। ब्राह्मण वर्ण इन नौ रत्नरूपी गुणों का हार ही है। जिस प्रकार सूर्य कभी प्रकाश का त्याग नहीं करता, चन्द्रमा अपनी प्रभा से ही शोभित होता है, चन्दन अपनी सुगन्ध से ही चर्चित है, उसी प्रकार यह नौ गुण रूपी अलंकार ब्राह्मण का निर्दोष आभूषण है। हे धनञ्जय ! अब क्षत्रिय के गुणों को श्रवण करो। (८२५)

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।।४३

जिस प्रकार प्रकाश फैलाने के कार्य में सूर्य अन्य किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता, अथवा सिंह अपना पराक्रम प्रकट करने में किसी अन्य सहकारी का आश्रित नहीं होता, उसी प्रकार जो स्वयं बलवान और शूरवीर होते हैं उन क्षत्रियों का प्रथम गुण है 'शौर्य'। सूर्य के प्रकाश से करोड़ों नक्षत्र दृष्टि से लोप हो जाते हैं, पर चन्द्रमा तथा नक्षत्र मिलकर भी सूर्य के प्रकाश का लोप नहीं कर सकते। उसी प्रकार चाहे जैसा प्रसङ्ग आ जाय, पर कभी न घबड़ावे और अपनी विशेषता से सबको आश्चर्य में डाल दे ऐसा 'तेज' क्षत्रियों का दूसरा गुण है। धीरता तीसरा गुण कहा गया है। चाहे आकाश टूट पड़े तो भी जिसकी बुद्धि और मन में क्षोभ पैदा न हो वही धैर्य कहा जाता है। पानी चाहे जितना गहरा हो पर कमल उसे पार करके ऊँचा उठ जाता है उसी प्रकार तरह-तरह के अवसर सामने आने पर भी जो सावधानी रखी जाय उसे 'दक्षता' कहते हैं, यह क्षत्रिय प्रकृति का चौथा गुण है और 'असामान्य युग पराक्रम' पाँचवाँ गुण कहा गया है। (८३४)

जिस प्रकार कमल सदा सूर्य के सामने रहता है, उसी प्रकार सदा शत्रु के सम्मुख रहना क्षत्रिय का सबसे महत्वपूर्ण गुण है। वृक्ष

जिस प्रकार अपने पत्ते, पुष्प; फल याचकों को देते रहते हैं, अथवा सुगन्ध का वितरण करने से जिस प्रकार कमल उदार होता है, अथवा चाँदनी जिसको जितनी चाहिये उतने परिणाम में सुख प्रदान करती है उसी प्रकार याचक को उसकी इच्छानुसार दान देना. इसको 'अमर्याद दान' कहते हैं और यह क्षात्र प्रकृति का छठा गुण-रत्न है. जिस प्रकार अपने हाथ-पैर आदि अवयवों का अच्छी तरह के पोषण करके उनसे हर तरह का काम लिया जा सकता है, उसी प्रकार प्रेम पूर्वक प्रजा का पालन करने से सब कोई प्रसन्नतापूर्वक राजा की आज्ञा का पालन करते हैं। प्रजा का उत्तमता से पालन करना, इसी को 'ईश्वर-भाव' कहा जाता है। यह क्षात्र-प्रकृति के सब गुणों का राजा है और उनका सातवाँ गुण है। इस प्रकार जो मनुष्य इन शौर्य आदि सात गुणों से अलंकृत होता है, वह वैसे ही शोभा देता है जैसे सप्त ऋषियों के सात नक्षत्रों से आकाश सुशोभित होता है। इन सात उत्कृष्ट गुणों से जो कर्म पवित्र होता है, वह क्षात्र-प्रकृति का स्वभाविक कर्म है। ऐसा ही पुरुष क्षत्रिय होता हैं, इतना ही नहीं, वह सत्वरूपी सुवर्ण का मेरु ही है। इसलिये वह सप्तगुण रूपी स्वर्ग है, अथवा सप्तगुण रूपी समुद्र से वेष्टित की हुई क्षात्र प्रकृति रूपी पृथ्वी है। इस प्रकार क्षात्र प्रकृति में शौर्य आदि गुण स्वाभाविक हैं। अब वैश्यों के कर्म सुनो। (८७७)

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥४४

खेत, बीज और हल इत्यादि सामग्री इकट्ठी करके उनके द्वारा बहुत सा नफा उठाना, खेती करना, गायों का संरक्षण करना अथवा सस्ती वस्तु खरीदकर अधिक मूल्य में बेचना— हे अर्जुन ये ही वैश्य जाति के कर्म हैं और स्वाभाविक धर्म हैं, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण तीनों को द्विज कहा जाता है। इन तीनों की सेवा वृत्ति शूद्र वर्ण का स्वाभाविक धर्म कहा गया है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धि यथा बिन्दति तच्छृणु ॥४५

अब चारों वर्णों के उचित कर्मों को तुझे स्पष्ट समझाता हूँ। जिस प्रकार कान आदि इन्द्रियों के लिये शब्द आदि विषय उचित है, अथवा बादलों से गिरने वाले जल का उचित स्थान नदी है और नदी का उचित स्थान समुद्र ही है। इसी प्रकार वर्णाश्रम धर्म के अनुसार जिसके लिये जो कर्म विहित है उसी को करने में उसकी शोभा है जैसे गोरे शरीर को गौरता ही शोभावायक होती है। हे बीरोत्तम ! स्वभाव जन्य कर्म का शास्त्र की आज्ञानुसार पालन करने में प्रत्येक को स्वबुद्धि का उपयोग करना चाहिये। पर जैसे अपने पास रखे हुए रत्न की जौहरी द्वारा परीक्षा करा लेनी पड़ती है, वैसे स्वकर्म को भी शास्त्र के आधार पर समझ लेना उचित है। जिस प्रकार अपने पास दृष्टि होने पर भी बिना दीपक के उसका उपयोग नहीं कर सकते अथवा रास्ता न मिले तो पैर होने पर भी उनका उचित उपयोग नहीं कर सकते, इसी प्रकार जाति के अनुसार अपने जो-जो उचित अधिकार हों उन्हें शास्त्र के अनुसार समझ लेना चाहिये। हे अर्जुन जब दीपक की सहायता से हम अपने घर में रखे द्रव्य भण्डार को देख लें तो फिर उसे ले लेने में क्या प्रतिबन्ध हो सकता है ? अपने हिस्से में आये हुए और शास्त्र द्वारा उचित ठहराये हुए विहित कर्म का जो आचरण करता है, और आलस्य तथा म्लेच्छा को त्यागकर उत्साह और शरीर से उसी में सदैव संलग्न रहता है, वह मोक्ष में प्रवेश करने के द्वारा 'वैराग्य' को अवश्य प्राप्त कर लेता है। वह अकर्तव्य और निषिद्ध कर्मों से लेशमात्र सम्बन्ध न रखने से संसार से मुक्त हो जाता है। (८७८)

बेड़ी चाहे चन्दन की लकड़ी की ही क्यों न बनी हो तो भी कोई उसमें अपना पैर नहीं डालता। इसी प्रकार जो काम्यकर्मों की तरफ तो देखता भी नहीं और नित्यकर्मों को फलत्याग की भावना द्वारा प्राप्त

कर लेता है, वह मोक्ष की सीमा में पहुँचा हुआ ही है। जो वैराग्य सौभाग्य की सीमा है, जो मोक्ष लाभ का निश्चय है, अथवा जो कर्म मार्ग का अन्त है, जो सत्कर्म रूपी वृक्ष का पुष्प है, उस वैराग्य का साधन करने वाला भौंरे की तरह चरण रखता है। अहो ! कैसा आश्चर्य है कि आत्मज्ञान रूपी सूर्योदय से पूर्व वैराग्य अरुणोदय के समान सूचना देने वाला बन जाता है। अथवा आत्मज्ञान रूपी खजाने को ढूँढने के लिए यह वैराग्य दिव्याञ्जन के ही समान है। हे पाण्डव ! विहित कर्म ही मनुष्य के जीवन का आधार है और उसका आचरण करना मुझ सर्वात्मक ईश्वर की सेवा है। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने प्रिय पति की सेवा करती है और उसका यही आचरण उसके लिये 'तप' बन जाता है अथवा बालक के जीवित रहने का माता के बिना कोई अन्य साधन नहीं होता इसलिए माता की सेवा करना बालक का धर्म होता है, उसी प्रकार स्वधर्म का आचरण करना प्रत्येक के लिये कल्याणकारी होता है। 'विहित कर्म करने के अतिरिक्त हमारे लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है' ऐसा निश्चय करके आचरण करने से अपने योग-क्षेम का सब भार ईश्वर के ऊपर जा पड़ता है। अपना विहित कर्म करना ईश्वर की इच्छा है और उसका आचरण करने से ईश्वर की निश्चित रूप से प्राप्ति होती है। दासी होने पर भी जो स्वामी की कसौटी पर खरी उतरती है वह सबकी स्वामिनी बन जाती है, इसी प्रकार ईश्वर का इच्छानुसार व्यवहार करना ही उसकी परम सेवा है और उसके विपरीत कार्य करना असत्य व्यापार के तुल्य है। (१२)

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६

अपना विहित कर्म करने से केवल इतना ही नहीं होता कि हमने 'कर्म' किया परन्तु जिस परमात्मा ने प्राणी मात्र को उत्पन्न किया है उसकी आज्ञा का हमने पालन किया, इतना अधिक उसका

महत्व है। जो परमात्मा माया द्वारा अज्ञान रूपी चिथड़े लपेट कर जीव रूपी पुतलियाँ तैयार कर देता है और सत्व-रज-तम की विविध अहंकार रूपी डोरियों से उनको नचाता है, हे वीर अर्जुन ! उस परमात्मा को स्वकर्म रूपी फूलों से पूजा करने से वह अत्यन्त सन्तुष्ट होता है। उस पूजा से प्रसन्न होकर वह भक्त को वैराग्य सिद्धि रूप प्रसाद देता है। उस वैराग्य दशा के प्राप्त होने पर यह संसार वमन के समान त्याज्य जान पड़ता है। जिस प्रकार पति के वियोग में पतिव्रता स्त्री को जीवित रहना भी बुरा लगता है, उसी प्रकार वैराग्य-शील मनुष्य को संसार के सब सुख-दुःख की तरह जान पड़ते हैं और उसमें ईश्वर का साक्षात्कार करने की लगन उत्पन्न हो जाती है। इसलिये मोक्ष की इच्छा रखने वाले को स्वधर्म का आचरण ही आस्था पूर्वक करना श्रेष्ठ है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७

अगर अपना धर्म आचरण में कठिन हो, तो भी उसके द्वारा जो फल प्राप्त होता है, उसे ध्यान में रखना चाहिये। हे धनंजय ! यदि कड़वे नीम का सेवन करने से बीमारी दूर होती हो तो कड़वाहट से नहीं घबड़ाना चाहिए। फलने से पहले केला के पेड़ को देखने से निराशा सी होती है, पर यदि उसी समय उसे उखाड़ डाला जाय तो मीठे फल कहां से मिलेंगे ? इसी प्रकार स्वधर्म का आच ण कठिन समझकर त्याग दिया तो मनुष्य मोक्ष-सुख से वञ्चित ही रहेगा। अपनी माता चाहे कुरूप ही हो, पर उसी के प्रेम से हम जीवित रहते हैं। अन्य स्त्रियाँ चाहे रम्भा के समान रूपवती हों पर बालक को उनसे क्या लाभ ? अजी पानी की अपेक्षा घी में बहुत ज्यादा गुण है, पर मछली को घी में रख दिया तो वह क्या जीवित रहेगी ? इसलिये अपना धर्म जैसा भी कठिन हो उसी का पालन करना चाहिये। दूसरे के धर्म को उत्तम मानकर आचरण किया जाय तो वह ऐसा ही रहेगा जैसे पैरों का कार्य मस्तक से किया

जाय। उससे तो उलटा दुःख ही मिल सकता है। इसलिये जो अपना स्वाभाविक कर्म करता है वही धर्म बन्धन को जीतकर उन्मुक्त हो सकता है। इस प्रकार हे अर्जुन! पराये धर्म को त्याग कर निज धर्म का आचरण ही आवश्यक है जब तक आत्मा से साक्षात्कार नहीं होता तब तक तो कर्म करना छूट नहीं सकता, और जहाँ कर्म का उचित आचरण करने की बात आई वहाँ कष्ट होना तो अनिवार्य है। (९३५)

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८

कोई भी काम किया जाय, आरम्भ में कष्ट तो होता ही है। तो फिर स्वधर्म के आचरण में कष्ट हो तो उससे क्यों घबड़ाना? अगर सीधा चले तो भी पैरों को श्रम करना पड़ेगा और जङ्गल से भटकते रहें तब भी वही बात होगी। यदि मार्ग में चलते समय पत्थर बांध लिया जाय या कलेवा ले लिया जाय, दोनों का बोझा तो एक-सा ही उठाना पड़ता है, पर हमको वही चीज लेनी चाहिये जो ठहरने के स्थान पर आराम दे सके। धान अथवा भूसे के कूटने में श्रम तो एक समान करना पड़ता है, यही बात दही और पानी को मथने में होती है। कोल्हू में चाहे तिलों का पेरा जाय और चाहे रेत को, अग्नि चाहे हवन के लिये जलाई जाय या किसी अन्य काम के लिये, पर धुंआ का कष्ट तो उठाना ही पड़ता है। चाहे धर्मपत्नी हो अथवा रखी हुई—दोनों के पोषण का खर्च तो समान ही होता है, फिर रखैलों की अपकीर्ति क्यों सहन की जाय? पीठ पर घाव लगने से भी मरना होता है तो फिर शत्रु के समान युद्ध करके क्यों न मरा जाय, जिससे स्वर्ग प्राप्त हो? इस प्रकार कोई भी कर्म क्यों न किया जाय उसमें कष्ट तो उठाना ही पड़ता है, फिर हे भाई, स्वधर्माचरण ही कठिन है यह किस मुँह से

कहते हो। हे पाण्डुसुत ! जब अमृत से अमरत्व की प्राप्ति होती है तो उसे थोड़ा सा भी पाने के लिए सर्वस्व क्यों न खर्च कर दिया जाय ? इसी प्रकार विष से मृत्यु होकर आत्महत्या का पाप लगता है, तो उस विष को मुफ्त मिलने पर भी क्यों लेना ? इसी प्रकार इन्द्रियों से श्रम कराके, आयुष्य के दिन खर्च करके, पाप-कर्म किया जाय, तो उससे दुःख के सिवाय और क्या मिलता है ? इसलिये स्वधर्म का आचरण ही करना चाहिये जो परम पुरुषार्थ-(मोक्ष) की प्राप्ति करता है। जिस प्रकार संकट के समय सिद्ध मन्त्र को भूलना नहीं चाहिये, समुद्र में नाव को त्यागना नहीं चाहिये, महारोगी को दिव्य औषधि का त्याग नहीं करना चाहिए। उसी प्रकार स्वधर्म का आचरण भी कभी छोड़ना उचित नहीं। वैराग्य प्राप्त करने पर कैसी योग्यता मिलती है और पूर्णत्व पाया हुआ पुरुष क्या लाभ प्राप्त करता है, उसका वर्णन आगे करता हूँ। (५१)

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति:।।४९

जिस प्रकार वायु को जाल से रोका नहीं जा सकता, उसी प्रकार पूर्णत्व को प्राप्त हुआ पुरुष शरीर आदि के बन्धनों में आबद्ध नहीं होता। जिस प्रकार पका फल डण्ठल को पकड़े नहीं रहता और डण्ठल उसको नहीं पकड़ सकता, उसी तरह उसका संसार विषयक प्रेम निर्बल हो जाता है। पुत्र, सम्पत्ति, स्त्री अपने अधिकार में रहने पर भी उनका 'यह मेरे हैं' ऐसा न कहकर विष के समान त्याग कर देता है। जैसे कोई हाथ जलते ही उसको पीछे खींच लेता है, उसी प्रकार उसकी बुद्धि विषयों से हटकर आत्म विचारों में संलग्न रहती है। उसका अन्तःकरण इन्द्रियों को विषयों की तरफ न जाने में उसकी सहायता करता है। जिस प्रकार अग्नि को राख में दाब देने से उसका धुँआ रुक जाता है उसी प्रकार उसकी लोक परलोक सम्बन्धी इच्छायें जाती रहती हैं।

मन का निग्रह होने से वासनायें स्वयमेव मिट जाती हैं। हे अर्जुन ! उसका समस्त विपरीत ज्ञान अस्त होकर सत्य ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। जिस प्रकार इकट्ठे किये पानी को खर्च करने से वह निरन्तर कम होता जाता है, उसी प्रकार प्रारब्ध-कर्मों को भोगते-भोगते उनका अन्त आ जाता है। उधर मैं 'कर्त्ता' हूं यह भावना मिट जाने से नये कर्मों की उत्पत्ति नहीं होती। हे अर्जुन ! इस प्रकार कर्मों के क्षीण होने से श्री गुरुदेव का मिलाप स्वयमेव हो जाता है। रात्रि के चार प्रहर, समाप्त होने पर अन्धकार का नाश करने वाला सूर्य दृष्टिगोचर होता ही है, अथवा केला के वृक्ष पर फल लगने पर उसकी बाढ़ रुक जाती है, इसी प्रकार श्री गुरुदेव से भेंट होने पर जिज्ञासु के कर्मों की उत्पत्ति बन्द हो जाती है। अज्ञान का नाश होने पर कर्म-कर्त्ता-क्रिया की त्रिपुटी का भी नाश हो जाता है। इसी को संन्यास कहा जाता है। जब अज्ञान दूर होकर समस्त दृश्य पदार्थ नष्ट जैसे प्रतीत होने लगते हैं, तो वास्तव में जो जानने योग्य वस्तु है वह स्वयं प्राप्त हो जाती है। यदि किसी को स्वप्न में कुँआ में गिरने का भ्रम हो जाय तो निद्रा भङ्ग होने पर दूर हो जाता है, फिर क्या वह कुएँ से निकलने का उपाय करेगा ? उसी प्रकार जिस मनुष्य को मैं समझ नही पाता—आगे चलकर समझ लूँगा, ऐसा दुर्भाव दूर हो जाता है, तो वह सहज ही केवल ज्ञानरूपी बन जाता है। जैसे दर्पण को सामने से हटा दिया जाय तो प्रतिबिम्ब भी चला जाता है तो वह अपने साथ ज्ञान को भी ले जाता है; फिर केवल निष्क्रय ज्ञान ही शेष बचता है। वह भी आगे चलकर विलीन हो जाता है। अन्त में जो नैष्कर्म्य-सिद्धि प्राप्त होती है, वही सब सिद्धियों में श्रेष्ठ है। मन्दिर में जैसे ऊपर लगा कलश श्रेष्ठ होता है, गङ्गा के लिये समुद्र का सङ्गम श्रेष्ठ होता है, सुवर्ण के लिये सुहागा जैसे श्रेष्ठ है, उसी प्रकार पहले ज्ञान से अज्ञान का नाश होता है और फिर ज्ञान का भी लोप हो गया तो इससे अधिक उत्तम स्थिति अन्य कुछ नहीं हो सकती, इसी को 'परम सिद्धि' कहा जाता है। (९८)

सिद्धि प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०

परन्तु गुरुकृपा से भाग्यवान् पुरुष ही तत्काल आत्मसिद्धि पाता है। सूर्योदय होते होते ही जिस प्रकार अन्धकार का नाश हो जाता है, अथवा दीपक की ज्योति से स्पर्श होते ही कपूर भी दीपक बन जाता है, अथवा नमक का टुकड़ा पड़ते ही जलरूप बन जाता है, उसी प्रकार दैवयोग से जिस किसीकी वृत्ति गुरु वाक्य सुनते ही भेद-भाव का नाश करके आत्म स्वरूप में स्थित हो जाती है उसे फिर कुछ करने को शेष नहीं रहता। पर सब साधकों की स्थिति ऐसी नहीं होती। जो साधक तीव्र अधिकारी होता है वही मुक्त हो जाता है। पर मन्द अधिकारी साधक पहले ही स्वकर्म श्रीगुरु के उपदेश वाक्यों को सुनते ही ब्रह्मस्वरूप होता है वह तो ज्ञानरूपी अग्नि में काम्य और निषिद्ध कर्म रूपी ईंधन में रजोगुण और तमोगुण को भस्म करता है। जो इन्द्रियां भिन्न-भिन्न निषिद्ध कर्मों में स्वच्छन्द भ्रमण करके भ्रष्ट हो गई थीं उनको योग के प्रत्याहार-रूपी तीर्थ में स्नान कराके पवित्र करता है, और स्वधर्म आचरण से प्राप्त होने वाला फल ईश्वर को अर्पण करके परिणाम स्वरूप अक्षय वैराग्य पद प्राप्त करता है। इस प्रकार आत्म साक्षात्कार में परिणत होने वाली सब सामग्री जिसने प्राप्त कर ली हों और उसी अवसर उसका सद्गुरु से मिलन हो जाय और वे उसे यथार्थ उपदेश कर दें तभी लक्ष्य की प्राप्ति होती है। फिर भी क्या औषधि ग्रहण करते ही तत्काल रोग से छुटकारा पाकर पूर्ववत् स्वास्थ्य की प्राप्ति हो सकनी सम्भव है? अथवा कभी सूर्योदय होते ही मध्याह्न काल की स्थिति आ सकती है? खेत उत्तम हो, उसमें वर्षा भी पर्याप्त हुई हो, बीज भी उत्तम बोया गया हो, तो अवश्य बढ़िया फसल आयेगी पर हे अर्जुन! उसमें समय तो लगेगा ही। रास्ता उत्तम बना भी हो और किसी सज्जन का साथ भी मिल जाय, तो भी इष्ट स्थान पर पहुँचने में जरूरी समय तो लगेगा ही। (१०००)

जिसे वैराग्य प्राप्त हुआ हो, ज्ञान प्राप्ति के लिये इच्छा भी उत्पन्न हुई हो और गुरु के उपदेश से समझकर कि एक ब्रह्म ही सत्य है, शेष सब प्रपञ्च और भ्रांति रूप है, इस बात पर दृढ़ निश्चय भी हो गया हो तो भी उस सर्व व्यापक और सर्वोत्तम ब्रह्म की प्राप्ति क्रम से ही हो सकती है। भूखे व्यक्ति के सन्मुख षड्रस व्यञ्जनों का थाल भरकर रखा जाय तो भी वह एक दम तृप्त नहीं हो सकता। उसे एक-एक ग्रास लेकर ही भूख मिटानी पड़ेगी। इस प्रकार साधक वैराग्य के आश्रय से विवेक रूपी दीपक के प्रकाश में आत्म रूपी खजाने को प्राप्त करता है। वह जिस क्रम से ब्रह्म को प्राप्त करता है वह अब बतलाता हूँ। (१०१०)

बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१

प्रथम तो वह गुरु के बतलाये मार्ग पर विवेकरूपी तीर्थ पर पहुँच कर बुद्धि के मैल को धो डालता है, जिससे शुद्ध बुद्धि आत्मस्वरूप में मिल जाती है। फिर सब प्रकार की दुर्भावनाओं का अन्त होकर बुद्धि अपनी मूल स्थिति को प्राप्त हो जाती है, अथवा जिस प्रकार कुलवती नारी केवल अपने पति के अनुकूल ही बनकर रहती है वैसे ही वह बुद्धि द्वैत-भाव को त्याग आत्म चिंतन में ही निमग्न हो जाती है। जीव की प्रिय वस्तु ज्ञान को कहा है, पर इन्द्रियां उसके बजाय विषयों को महत्व देने लगती है। इसलिये शुद्धि-बुद्धि द्वारा विषयों का इसी प्रकार लोप हो जाता है, जैसे सूर्य की किरणों के मिट जाने पर मृगजल का स्वयं ही लोप हो जाता है। भूल से किसी नीच मनुष्य का अन्न खा लेने पर उसको वमन कर देना पड़ता है; उसी प्रकार अन्तःकरण में जो विषय-वासना रहती है उसका इन्द्रियों द्वारा ही वमन कराके वृत्तियों को शुद्ध कर लिया जाता है। फिर सात्विक धैर्य से इन्द्रियों का शोधन करके योग के अभ्यास में प्रवृत्त होता है। उस समय योगी को प्रारब्ध वश प्रतिकूल भोग प्राप्त हुए हों तो वह उनके लिये खेद नहीं करता और

अनुकूल भोगों की अभिलाषा नहीं रखता। हे अर्जुन ! इस प्रकार इष्ट और अनिष्ट भोगों के सम्बन्ध में हर्ष और खेद का त्याग वह एकान्त स्थान में निवास करता है। (१०-२१)

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२

जहाँ लोगों का कोलाहल न हो ऐसा वन स्थल देखकर वहाँ निवास करता है। मन का निग्रह ही उसकी क्रीड़ा होती है, मौन रहना ही उसका भाषण होता है, गुरु वाक्यों का मनन करते रहने से उसे अन्य बातों के लिये समय ही नहीं मिलता। वह मिताहार करता है, भरपेट नहीं खाता। यह समझकर कि जठराग्नि को कुछ भी आहार नहीं मिलेगी तो वह प्राणों को ही खा जायेगी, वह प्राण-रक्षा के लायक ही आहार कर लेता है। इसी प्रकार निद्रा और आलस्य पर काबू करके अपने आसन को चलायमान होने नहीं देता। वह ईश्वर को दण्डवत् करने के लिये ही भूमि का स्पर्श करता है, अथवा निद्रा लेने के लिये भूमि पर कभी नहीं लेटता। इस प्रकार शरीर, वाणी, मन इन सब को जीतकर वह ध्यानाकाश पर अधिकार कर लेता है। वह ध्यान ऐसा होता है कि ध्याता, ध्यान और ध्येय—इस त्रिपुटी को अपने भीतर ही देखने लगता है। वह गुदा और शिश्न के मध्य भाग को एड़ी से दाब कर मूल बन्ध को सिद्ध करता है। अधोभाग को संकुचित करके मूल बन्ध, उड्डियान बन्ध और जालन्धर बन्ध के द्वारा वायु को भेदकर एक समान कर लेता है। इस प्रकार प्राण का रोध होने से कुण्डलिनी जागृत होकर सुषुम्ना का मार्ग खुल जाता है और आधारचक्र से आज्ञा चक्र तक भेदन करता है। ऐसा होने पर सहस्र दल कमल से अमृत की वर्षा होती है, उसका प्रवाह सुषुम्ना में होकर मूलबन्ध तक आता है। फिर मस्तक के आकाश में चैतन्य रूपी भैरव के पात्र में मन और वायु की खिचड़ी भर जाती है। इस प्रकार योग साधन के बलशाली समूह को आगे करके पीछे वह ध्यान में लगता है। ध्यान तथा योग दोनों

आत्मतत्व में बिना बाधा के प्रविष्ट हो सकें इसके लिये वह पहले से ही वैराग्य जैसे मित्र को प्राप्त कर लेता है जो सब भूमिकाओं में उसके साथ रहता है। इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति के प्रयत्न में जब तक साधक की वृत्ति ब्रह्मस्वरूप में लय हो, तब तक वैराग्य सहायक बना रहे तो शंका किस बात की है? वह वैराग्य का वज्रकवच पहन कर राजयोग के घोड़ें पर सवार होकर बीच में जो छोटी-बड़ी बाधायें आती हैं उनको ध्यान रूपी तलवार से ही काटता ही चला जाता है। सूर्य जिस प्रकार तिमिर में प्रवेश करता है उसी प्रकार वह मोक्ष रूपी विजयश्री को प्राप्त करने के लिये निश्शंक भाव से संसार रूपी रणक्षेत्र में प्रवेश करता है। (१०४६)

अहङ्कारं बलं दर्पं काम क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।५३

उस रणक्षेत्र में वह बाधा स्वरूप जिन शत्रुओं को मारता है उनमें सबसे पहला 'देहाभिमान' होता है। जो अहंकार मनुष्य को मारकर भी नहीं छोड़ता और उत्पन्न करके जीने नहीं देता उसका मुख्य स्थान यह शरीर रूपी दुर्ग है। इस पर साधक अधिकार कर लेता है। दूसरा शत्रु होता है 'बल' यह विषयों का नाम सुनते ही चौगुना बलवान बन जाता है। वह दोषों का राजा है, पर ध्यान रूपी तलवार के प्रहार को वह सहन नहीं कर सकता। (१०५४)

प्रिय विषयों की प्राप्ति से जिसे परम आनन्द होता है और जो उस आनन्द से जीव को आच्छादित कर देता है, वह दर्प अथवा 'गर्व' रूप शत्रु है। उनको मारकर योगी उस 'काम' की खबर लेता है, जिससे तपस्वी भी थर-थर काँपते हैं। जब 'काम' का समूल नाश हो जाता है तो 'क्रोध' का स्वयमेव अन्त हो जाता है। राजा जिस प्रकार बेड़ियों को उसी कैदीके सिर पर रखवाकर ले जाता है, उसी प्रकार परिग्रह रूपी शत्रु मनुष्य के मन में स्फुरित हुआ करता है और वैराग्य शील लोगों के मन में भी ममत्व रूपी अवगुण पैदा कर देता है कि 'यह मेरा

मठ है'—'यह शिष्य है'—'यह अन्न मेरा है।' जो पुरुष घर-बार त्यागकर जङ्गल में रहते है, वहां भी यह परिग्रह वहीं के पदार्थों में ममता उत्पन्न करता है। जो ऐसे भयंकर शत्रु परिग्रह का नाश कर डालता हैं उससे भेंट करने 'अमानित्व' आदि माण्डलिक राजा आते हैं और उसी के परिवार की तरह बनकर रहने लगते हैं। (१०६८)

प्रवृत्ति रूपी राज्य-मार्ग पर जब वह चलता है तब जागृति आदि तीन अवस्था रूपी स्त्रियां कदम-कदम पर उस पर अपने सुख को निछावर कर देती हैं। उसके सामने विवेक रूपी चोबदार ज्ञान रूपी सुवर्ण दण्ड को हाथ में धारण करके दृश्य पदार्थों की भीड़ को हटाते हुये चलता है। ऋद्धि-सिद्धि के अनेक समुदाय उसके ऊपर पुष्प वृष्टि करते हैं। इस प्रकार जैसे-जैसे ब्रह्मैक्य रूप स्वराज्य प्राप्त होने का अवसर निकट आता है वैसे-वैसे ही उसको तीनों लोक हर्ष से परिपूर्ण दिखाई देने लगते हैं। उस समय हे अर्जुन! उनके मन में यह ख्याल भी नहीं आता कि यह मेरा शत्रु है अथवा यह मित्र है, क्योंकि वह अद्वैत भाव से परिपूर्ण हो जाता है। 'मैं ही समस्त जगत् हूँ' ऐसा ज्ञान हो जाने से उससे योगरूपी अश्व की दौड़ भी स्वमेव मन्द हो जाती है। तब उसका वैराग्य रूपी मजबूत कवच और ध्यान रूपी खड्ग भी ढीले कर दिये जाते हैं। जिस प्रकार सच्ची रसायन औषधि रोग को नष्ट करके स्वयं भी नष्ट हो जाती हैं वैसी ही उसकी स्थिति हो जाती है। आत्म साक्षात्कार का प्रसङ्ग आने पर साधन रूपी हथियारों को नीचे रख देता है। उस समय वह पुरुष 'ब्रह्म' होने का अधिकारी बनता है। समुद्र में मिलने पर जहाँ गङ्गा का वेग दिखाई पड़ता है वहाँ तक गङ्गा मानी जाती है और जहाँ-प्रवाह बन्द हो गया वहाँ समुद्र ही कहा जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म बनने वाले में जो भेद रहता है वह समाप्त हो जाता है और यह प्रतीत हो जाती है कि वह सदैव से ब्रह्म ही है। (१०६०)

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्ति लभते पराम् ।।५४

हे अर्जुन ! तब वह पुरुष आत्म ज्ञान की प्रसन्नता के पद पर विराजमान होता है। अग्नि पकाये पदार्थ की उष्णता जब शान्त हो जाती है तब भोजन को आनन्द पूर्वक खाया जा सकता है, उसी प्रकार तब आत्मज्ञान प्राप्त करने में जो परिश्रम पड़ा उसका स्मरण भी नहीं रहता। उस समय किसी वस्तु को 'यह मेरी है' समझ कर चिंता करना अथवा किसी पदार्थ को प्राप्त करने की इच्छा करना—यह दोनों बातें स्वयं ही जाती रहती हैं। पट्टी पर लिखे अक्षरों को जिस प्रकार हाथ फेर कर मिटा दिया जाता है, उसी प्रकार उसकी दृष्टि में से सब भेद-भावों और द्वैत का लोप हो जाता है। भोजन आरम्भ करने पर प्रत्येक ग्रास से भूख कम होकर अन्तिम ग्रास के साथ क्षुधा का अन्त हो जाता है और तृप्ति हो जाती है, उसी प्रकार ज्ञेय का अन्त होने पर सम्पूर्ण ज्ञान का लोप हो जाता है। तब मेरे और उसके ऐक्य होने के अतिरिक्त कोई भेद नहीं रहता। इसी स्थिति को ज्ञानीजन चतुर्थ भक्ति कहते हैं। आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी भक्त जिस प्रकार मेरा भजन करते हैं, उसकी तुलना करके ही इसे चौथी भक्ति कहते हैं अन्यथा इस प्रथम, द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ भक्ति ऐसा कोई नाम नहीं दिया जा सकता है। वरन् मेरी ब्रह्मरूपी स्वाभाविक स्थिति को ही भक्ति कहा जा सकता है। मेरे जिस प्रकाश से इस जगत् का उद्भव और लय होता है उसी स्वाभाविक प्रकाश को हे कपिध्वज ! भक्ति कहते हैं। इस तरह चारों प्रकार की भक्ति एकमात्र मुझको ही प्रकट करती है। दर्पण में अपने मुख द्वारा ही दूसरा मुख दिखाई पड़ता है, इस द्वैतभाव का कारण दर्पण होता है। नेत्रों में जो एक चन्द्रमा दिखाई पड़ता है तो उसका कारण तिमिर नाम का रोग होता है। इसी प्रकार हे धनञ्जय ! सर्वत्र मैं स्वयं ही अपने को

देखता है जोअन्य पदार्थ प्रतीत होते हैं वे मिथ्या होते हैं, उनका कारण अज्ञान होता है। चौथे भक्त का यह अज्ञान मिट जाता है, इसलिये हे अर्जुन ! दृश्य मार्ग से सर्वथा भिन्न मेरा जो भक्तियोग है, उसे मैंने चौथा कहा है। (११२४)

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदन्तरम् ॥५५

इस ज्ञान भक्ति के द्वारा जो मनुष्य ऐक्य पाता है, वह मद्रूप ही हो जाता है, क्योंकि सातवें अध्याय में मैं हाथ उठाकर कह चुका हूँ कि ज्ञानी मेरा आत्मा होता है। भक्ति अत्युत्तम हैं, इसलिये कल्प के आरम्भ में ब्रह्माजी को श्रीभागवत् के रूप में उसका उपदेश दिया था। ज्ञानीजन इसी भक्ति को 'स्वसंवित्ति' कहते हैं, शिव के उपासक उसे शक्ति कहते हैं, और उसे अपनी 'परा' भक्ति, कहता हूँ। कर्मयोगी को भी मेरे साथ ऐक्य होते समय यही भक्ति फल मिलता है। उस समय वैराग्य विचार सहित जाता रहता है, बन्ध और मोक्ष भी लोप हो जाते हैं। और वृत्ति भी निवृत्ति-सहित समाप्त हो जाती है। जब 'त्वपद' सहित 'तत्पद' विलीन हो जाता है और पृथ्वी, जल और वायु चारों तत्वों को लील-कर आकाश अकेला शेष रहता है, उसी प्रकार साध्य और साधन से परे जो रूप हैं उनको वह भक्त प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार दो स्वच्छ दर्पण आमने सामने रख दिये जायें तो वे एक दूसरे को प्रति-बिम्बित करते हैं, उसी प्रकार भक्त मुझको प्राप्त करके उस भक्ति का उपभोग करता है। इतना नहीं, जिस प्रकार दर्पण को सामने से हटा देने पर देखने वाला अपने स्वरूप को अपने भीतर ही अनुभव करता है, वैसे ही स्थिति इस भक्त की होती है। यदि यह शंका की जाय कि एक रूप होने पर उस वस्तु का आनन्द कैसे लिया जा सकता है ? तो इसका उत्तर यह है कि शब्द से शब्द का उच्चारण कैसे किया जाता है ? अजी, राजत्व प्राप्त किये बिना राजपन का सुख कैसे प्राप्त किया

जा सकता है ? क्या कभी अन्धकार सूर्य का आलिङ्गन कर सकता है ? इस प्रकार जो मद्रूप नहीं हुआ है वह मुझे जान भी कैसे सकता है और कैसे मेरी भक्ति को पा सकता है ? जिस प्रकार प्रकाश सब तरह सूर्य बिम्ब में ही रहता है, उसी प्रकार वह पुरुष मद्रूप होकर बिना किसी क्रिया के ही मेरा भजन करता है । जिस प्रकार चन्दन सुगन्ध का ही सेवन करता है उसी प्रकार अद्वैत स्थिति में कोई क्रिया नहीं होने पर भी भक्ति की जा सकती है । यह बात केवल अनुभव गम्य है, शब्दों से नहीं समझाई जा सकती । ऐसा पुरुष मौन रहकर ही मेरी स्तुति करता है। इस प्रकार हे किरीटी ! अपनी बुद्धि अथवा दृष्टि से वह जो कुछ जानता है वह जानना दृश्य का लोपकर देखने वाले के स्वरूप को ही प्रकट करता है । जिस प्रकार दो काष्ठों को रगड़ने से अग्नि उत्पन्न होती है तो वह दोनों काष्ठों का लोप करके एकमात्र स्वयं ही अवशिष्ट रहती है । उसी प्रकार जो साधक मद्रूप बनकर, दृश्य वस्तु को देखने जाता है, तो उसे अन्य कुछ भी दिखाई नहीं देता, और उसके दृष्टत्व का भी लोप हो जाता है । तब देखना और न देखना, दोनों का एकीकरण, यही मेरा एकीकरण, यही मेरा वास्तविक दर्शन है । हे किरीटी ! उस दर्शन का लाभ मेरा भक्त दृष्टा और दृश्य से परे की भावना रख कर सदैव कर सकता है । जैसे आकाश के भार से आकाश डगमगाता नहीं, वैसे ही उसकी स्थिति मुझ आत्मा के प्रभाव से ही हो जाती है । (११६५)

कल्प के अन्त में जैसे जल से ही जल का प्रवाह रुक जाता है, वैसे ही सदैव आत्म तत्व भरा होने से उसे आत्मा के सिवाय कहीं कुछ दिखलाई ही नहीं पड़ता । पैर अपने को कैसे लांघ सकता है ? अग्नि स्वयम् को कैसे जला सकती है ? अर्थात् सर्वत्र एक परमात्म तत्व के व्याप्त होने से उसका आवागमन बन्द हो जाता है । जो पुरुष मेरे (भगवान के) स्वरूप का बन जाता है, उसमें चाहे कभी अहंता का स्फुरण

हो तो भी वह सर्व भाव से मुझमें ही समाया रहता है। ऐसा पुरुष यदि कोई कर्म करता है तो कर्म के करने से मैं ही उसको मिल जाता हूँ। हे पांडुसुत ! जैसे, दर्पण को देखें तो न देखने के समान ही है, उसी प्रकार मेरा रूप बनकर कर्म किया जाय, तो उसे कर्म करना कैसे कहेंगे ! जब काम करते हुए इस बात का ख्याल ही नहीं आता कि 'मैं कर्त्ता हूँ' इसलिये उसकी सब क्रियायें अक्रिया के समान बन जाती है। हे कपिध्वज ! ऐसा पुरुष जो क्रिया करता है वह अक्रिया होने से मेरी महापूजा की तरह हो जाती है, वह जो कुछ बोले वह सब मेरी स्तुति हो जाती है. जो देखे वह मेरा दर्शन है, जब चले तो मुझ अद्वय की यात्रा है। पानी में तरङ्ग, कपूर में परिमल और रत्न में तेज जैसे भिन्न नहीं होता, उसी प्रकार मेरा भक्त मुझसे ऐक्य पाता है। जिस प्रकार स्वप्न में देखे अनेक विकार निद्रा भङ्ग होने पर मिथ्या जान पड़ते हैं और अपने सिवाय कोई भी दिखाई नहीं पड़ता उसी प्रकार उसे अनुभव होता है कि संसार में जो कुछ है या नहीं है वह सब पदार्थ मैं ही हूँ ! (१०६२)

वह समझता है कि मैं अजन्मा, जरा रहित अक्षर, अविनाशी, जिसके पहले कोई नहीं था और जिसका कभी अन्त नहीं हो सकता और नित्य आनन्दमय हूँ। अचल, अच्युत, अनन्त अद्वैत, सबका मूल, तथा निराकार और साकार भी मैं हूँ ! क्रिया रहित एवं एक, संगरहित तथा शोक रहित, सर्वश्रेष्ठ सर्वव्यापक और पुरुषोत्तम हूँ। इस प्रकार वह आत्मस्वरूप में ऐक्य प्राप्त करते हुए मेरी सच्ची अद्वैत भक्ति करके मुझे पहचानता है। जिस प्रकार प्रकाश करने वाला सूर्य और प्रकाशित होने वाले पदार्थ एक ही हैं। इस अभेद को सूर्य ही जानता है, इसी प्रकार ज्ञेय के लोप हो जाने पर केवल ज्ञाता ही शेष बचता है और इस तथ्य को समझने वाली ज्ञानकला भी वही ईश्वर होते हैं। फिर उसे विदित होता है कि द्वैत-अद्वैत से परे एक मात्र मैं ही आत्मा रूप में शेष रहता हूँ, इससे वह भी आत्मानुभव में लीन हो जाता है।

जिस प्रकार नमक पानी में पड़ कर जल रूप हो जाता है उसी प्रकार वह साधक भी समरूप होने के भाव को आत्मानुभव के आनन्द की एकता सम्मिलित करके मेरे रूप में लय हो जाता है। जब तद्भाव (द्वैत) का नाम भी नहीं रहता तब 'अहम्' (मैं) भी उसके साथ लोप हो जाता है। कपूर जल गया तो अग्नि भी समाप्त हो जाती है, और केवल आकाश ही शेष रहता है। अथवा एक में से एक घटा देने पर जैसे शून्य ही शेष रहता है उसी प्रकार सभी जीव-अभाव का शमन होने पर मैं ही शेष बच रहता हूँ और ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर ये शब्द बोलने की भी इच्छा नहीं रहती और न कुछ बोलने का आधार ही रहता है। इसी से कहा जाता है कि संसार रूपी जङ्गल में कर्मयोग एक सरल मार्ग है, जिससे चलकर भक्त भगवान के एकता रूपी गाँव में पहुँच जाता है। मैं ऐसा नहीं हूं कि भौतिक पदार्थों से मेरी प्राप्ति हो सके। मैं इसी कर्मयोग से प्राप्त होता हूँ। यदि कोई शंका करे कि फल प्राप्ति का वर्णन करके फिर उपाय का प्रसङ्ग क्यों उठाया जाता है? तो इसका समाधान यह है कि गीतार्थकी उत्तमता मोक्ष प्राप्ति के विषय में है। दूसरे शास्त्रों में प्रमाण सिद्ध मोक्ष के उपाय नहीं है। वायु से सूर्य को घेरने वाले बादल उड़ जाते हैं, पर उससे सूर्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। शास्त्र के उपदेश से अविद्या का नाश होता है, पर उससे निर्मल आत्म स्वरूपकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मा का स्वरूप तो स्वयं सिद्ध है। जब अध्यात्म-शास्त्रों से सत्य का निर्णय करने को कहा जाता है तो गीता-शास्त्र का ही संकेत करते हैं। पिछले अध्यायों में यद्यपि आत्म को प्राप्त करने का उपाय अच्छी तरह बताया गया है, पर एक ही बार समझाने से अर्जुन की समझ में न आया हो, इससे कृपालु भगवान कृष्ण ने उसी सिद्धान्त को पुनः संक्षेप में वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त अब गीता समाप्त होने को भी आई इसलिए आदि से अन्त तक गीता की एकार्थत बताना भी उचित है, क्योंकि इस ग्रन्थ के मध्य-भाग में अनेक

स्तर और श्रेणियों के व्यक्ति के लिए विभिन्न आध्यात्मिक मार्गों का वर्णन किया है। उससे कदाचित् कोई पूर्वा पर का सम्बन्ध लगाये बिना मान ले कि गीता में तो अनेक सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। इसलिये अट्ठारवें अध्याय में भगवान कृष्ण ने अपने महासिद्धान्त का पूर्णतया ऐक्य और समन्वय करके बताया है। अविद्या का नाश ही इस ग्रन्थ का आधार है, मोक्ष-प्राप्ति इसका फल है और इसका साधन ज्ञान को बतलाया गया है। (१२४५)

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६

भगवान् कृष्ण ने कहा—'हे सुभट ! वह कर्मयोगी ऐसी निष्ठा से मेरे स्वरूप को ही प्राप्त हो जाता है। स्वकर्म पालन रूपी निर्मल फूलों से उत्तम पूजा करके वह मुझे प्रसन्न करता और ज्ञाननिष्ठा रूपी प्रसाद प्राप्त करता है। वह ज्ञाननिष्ठा जिसको मिल जाती है उसमें मेरी परम भक्ति का विकास होता है और उसके द्वारा मेरे साथ ऐक्य स्थापित करके वह सुखी होता है। ऐसे व्यक्ति के हाथ से कोई निषिद्ध कर्म हो जाय तो जैसे बड़ी नदी तथा साधारण नाला दोनों गङ्गा में मिलकर गङ्गा ही बन जाते हैं, उसी प्रकार उसे शुभ-अशुभ कर्मों का फल नहीं होता। जिस प्रकार मलयगिरि चन्दन और मामूली लकड़ी का अन्तर तभी तक रहता है जब तक उनका स्पर्श अग्नि से नहीं होता, उसी प्रकार अशुभ अथवा पाप-पुण्य का भेद तभी तक रहता है, जब तक मेरा प्रकाश फैला नहीं होता। हे अर्जुन ! मेरी प्राप्ति से उसके सब कर्म लोप हो जाते हैं और वह सायुज्य पद पर आरूढ़ हो जाता है तथा मेरी आत्म-रूप प्रसन्नता को पाता है। (१२५६)

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७

इसलिये हे धनंजय ! तुझको सब कर्मों का संन्यास (त्याग) मुझ में

करना चाहिये पर संन्यास केवल ऊपरी न हो, चित्तवृत्ति को आत्म-विचार में संलग्न रखकर करना चाहिये। उसके द्वारा कर्मों से अलिप्त अपने निर्मल रूप के दर्शन मुझमें कर सकोगे। तब सब कर्मों की जन्म भूमि जो प्रकृति (माया) है वह तुमको बहुत दूर दिखाई देगी। इस प्रकार ज्ञान द्वारा अज्ञान का नाश हो जाने पर जायमान सम्पूर्ण कर्मों का संन्यास (त्याग) हो जायगा। इस तरह के कर्म त्याग के पश्चात् केवल आत्म रूप मैं ही बच रहता हूं और साधक का चित्त सब विषयों से हटकर मेरे भजन में ही लग जाता है। (१२६८)

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८

इस प्रकार अनन्य सेवा से जब तेरा चित्त मुझसे संयुक्त हो जायगा तभी तुझ पर मेरी पूर्ण कृपा होगी। फिर सब दुःखों का मूल जन्म-मृत्यु है, वह भी तुझको सुखकारक बन जायगा। नेत्रों को सूर्य प्रकाश की सहायता मिलने पर अन्धकार की महत्ता कहां रहती है? इसी तरह मेरे प्रसाद से जिसका जीव भाग नष्ट हो गया है, वह संसार के हौआ से कैसे डर सकता है? पर यदि अभिमान वश तू मेरे कथन पर ध्यान न देगा तो नित्य मुक्त तथा अव्यय होने पर भी तुझको सदैव देह सम्बन्ध के आघात सहन करने पड़ेंगे और न मरने पर भी तुझको महाभयंकर मृत्यु का कष्ट बारम्बार उठाना पड़ेगा। (१२७७)

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९

जिस प्रकार पथ्य का द्वेष करने से ज्वर बढ़ता है, अथवा दीपक का द्वेष करने से अन्धकार बढ़ता है, उसी प्रकार विवेक का द्वेष करने से अहंकार की वृद्धि होती है। ऐसी दशा में यदि तुम अपने को केवल 'अर्जुन' समझ कर, इन शत्रुओं को 'स्वजन' मानकर तथा युद्ध करने को 'पापाचरण' कहकर, संग्राम में विमुख होना चाहोगे

तो भी तेरा क्षात्र स्वभाव उस निश्चय को व्यर्थ कर देगा। तुम्हारी उपर्युक्त तीनों भावनायें केवल 'माया' ही हैं। पहले तू शस्त्र हाथ में लेकर रणभूमि आया और अब युद्ध न करने की प्रतिज्ञा करने लगा, क्या यह प्रशंसनीय है ? इसलिये तुम अपने मन में चाहे जिस प्रकार कहते रहो 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' पर तेरी क्षात्र प्रकृति तुझसे अवश्य युद्ध करायेगी।
(१२८५)

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०

पानी का प्रवाह पूर्व दिशा की तरफ हो और तैरने वाला कहे कि 'मैं तो पश्चिम की तरफ जाऊँगा' उसका कथन व्यर्थ सिद्ध होगा और जल प्रवाह उसको अपने साथ खींच ले जायगा। उसी प्रकार हे प्रबुद्ध ! तेरी बुद्धि क्षात्र-संस्कार वाली रची गयी है, इससे तेरा यह बोलना व्यर्थ ही है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा।' अगर तू अपनी मूल वृत्ति का ध्यान न रखकर हठ पूर्वक युद्ध न करने को कहे, तो भी जिस प्रकार हाथ पैर बाँध कर रण में डाला हुआ मनुष्य 'मैं नहीं चलूँगा' कहते रहने पर भी पृथ्वी के छोर पर जा पहुँचता है उसी प्रकार तू भी अवश्य युद्ध करेगा। जिस प्रकार विराट् राजा का पुत्र संग्राम से भागना चाहता था पर तुमने बृहन्नला के वेष में होने पर भी उसे रथ में बाँध दिया और स्वयं युद्ध किया। इसी प्रकार दूसरी बार तुमने मोहनास्त्र चला कर कौरव सेना के समस्त महारथियों के हथियार छीन लिये थे। अजी क्या रोगी को रोग अच्छा लगता है, अथवा दरिद्रों को दरिद्रता पसन्द होती है ? परन्तु बलवान् प्रारब्ध के वश उनको वैसा सहन करना पड़ता है। वह प्रारब्ध ईश्वराधीन होने से कभी मिट नहीं सकता और वही ईश्वर तेरे हृदय में निवास कर रहा है। (१२९८)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१

जो ईश्वर भूतमात्र में रहने वाले हृदय रूपी महाकाश में हजारों ज्ञानरूपी किरण सहित उदित हुआ है, जो ईश्वर सब प्राणियों में अहंकार रूपी वस्त्र के पीछे क्रीड़ा कर रहा है, जो माया रूपी डोरी से चौरासी लाख योनियों को छायाचित्रों की तरह नचाता है वही ईश्वर सब जीवों को देह रूपी यन्त्र पर चढ़ाकर कर्मरूपी सूत्रों को हिलाता रहता हैं। तब जिसके लिये जो कर्म सूत्र चालू किया जाता है वह वैसी ही गति को प्राप्त होता है। हे धनुर्धर ! वायु जिस प्रकार तिनके को हवा में उड़ाती है उसी प्रकार प्रारब्ध प्राणियों को संसार और स्वर्गादिक में भ्रमण कराती है। जिस प्रकार चुम्बक द्वारा लोहे का टुकड़ा गतिमान होता है, उसी प्रकार ईश्वर की सत्ता से सब प्राणी कार्य करते रहते है। जो ईश्वर समस्त जीव समुदायों को मूल प्रकृति के वश में करके कर्म में प्रवृत्त करते हैं, वही तेरे हृदय में स्थित हैं। वह ईश्वर प्रकृति को प्रवृत्त करेगा और वह तुझको निश्चित रूप से युद्ध में संलग्न करेगी इसमें सन्देह नहीं। (१३१६)

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादत्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२

इसलिए कर्म का अभिमान न रखते हुये और यह समझकर कि संसार की सब क्रियायें प्रकृति के आधीन हैं, अपने अहंकार, वाणी, चित्त और शरीर, अर्थात् सर्वस्व को अर्पण करके ईश्वर की शरण में जा। उससे तू शान्ति रूपी रमणी का स्वामी बन कर निज आत्मस्वरूप में ही आनन्द प्राप्त किया करेगा। जो पद उत्पत्ति का उत्पत्ति-स्थान, विश्रान्ति का विश्राम स्थल है और अनुभूति का अनुभव है, उस अक्षय-पद के राजा बनकर तुम आत्मसुख भोगोगे--इस प्रकार लक्ष्मीपति भगवान कृष्ण ने पार्थ से कहा।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३

यह ज्ञान 'गीता' नाम से प्रसिद्ध है और सब वेदों का सार है

इसी ज्ञान का वर्णन करने से सब शास्त्र प्रसिद्ध हुये हैं और बुद्धि आदि ज्ञान इसके सामने निस्तेज हैं। इसी ज्ञान द्वारा मुझ 'सर्वद्रष्टा' को देखा जा सकता है। यह आत्म ज्ञान मेरा गुप्त धन है, पर तू मेरा परमभक्त है, इसलिये तुझसे कैसे छिपा कर रख सकता हूँ ? हे पाण्डव ! तेरे प्रेम से सन्तुष्ट होकर मैंने यह धन तुमको सौंप दिया है। जैसे दीपक को भी दीपक दिखाया जाय अथवा सूर्य के नेत्रों में भी अञ्जन लगाया जाय उसी प्रकार मैंने सर्वज्ञ होने पर भी छान-बीन करके तेरे हितकी दृष्टि से यह सर्वोत्तम बतलाया है। अब तू इस बिषय में स्वयं विचार करके जैसा उचित समझे वैसा ही कर। श्रीकृष्ण का यह वचन सुनकर अर्जुन चुप बैठा रहा। उसने विचार किया कि भगवान् ने मुझको अन्तिम निर्णय बता दिया। पर मैं अब उनके वचन किस प्रकार सुन सकूँगा ! उसे इस प्रकार चुप देखकर भगवान् बोले-हे अर्जुन ! तू बताये हुये ज्ञान की वंचना करने वाला नहीं है। पर तेरे इस प्रकार चुपचाप बैठे रहने से प्रकट होता है कि अभी तुझको और कुछ सुनने की इच्छा है। जो मनुष्य भूखे रहने पर भी परोसने वाले से यह कहता रहे-'बस हो गया-बस बहुत हो गया' वह वंचक कहलाता है। उसी प्रकार सर्वज्ञ श्रीगुरु की प्राप्ति होने पर भी मुमुक्षु संकोच वश उनसे आत्मस्वरूप को भली प्रकार नहीं समझ लेता, वह गुरु से वंचना करने का दोषी बनता है। अर्जुन बोला-'हे देव ! आपने मेरे मन की बात ठीक तरह समझली। आप ही समस्त जगत् को देखने वाले हो। इसलिये सूर्य को सूर्य कहकर स्तुति की जाय ?' अर्जुन की बात सुनकर भगवान् कहने लगे कि 'तेरा यह कथन क्या कुछ कम स्तुति है।'

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।६४

इसलिये मैं फिर एक बार तुझे समझाने के लिये अपने निर्मल वचन सुनाता हूँ। ये वचन केवल ब्रह्म स्वरूप हैं और तुझे सौभाग्य से ही सुनने

को मिले हैं। हे धनंजय ! बच्चों को देखते ही कछुई की दृष्टि से पोषक तत्व प्रवाहित होने लगता है, इसी प्रकार जब दैव अनुकूल होता है, तब कौन-सा लाभ अप्राप्त रहता है। रह रहस्य द्वैत भाव को त्याग करके ऐक्य-भाव के घर के ही तुल्य है। निष्काम प्रेम का विषय आत्मा ही हो सकता है। दर्पण को जो बार-बार पोंछकर स्वच्छ किया जाता है वह कुछ दर्पण के हित की दृष्टि से नहीं होता वरन् अपने स्वरूप को अच्छी तरह देखने के लिए किया जाता है। इसी प्रकार हे अर्जुन ! तुम्हारी मिस से मैं अपने ही लिये बोलता हूँ। तुझमें और मुझमें कोई द्वैतभाव नहीं है, इसीलिये मैं अपने अन्तःकरण का गुह्य भाव प्रकट कर रहा हूँ—जब तू मेरे साथ कोई भेदभाव नहीं रखता तो मैं कैसे रख सकता हूँ। इसलिये तू मेरे निर्मल वचनों को ध्यान से सुन। (१२५२)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।६५

हे वीर अर्जुन ! अपने मानसिक और शारीरिक सब व्यापारों का विषय मुझ सर्व व्यापक को ही बना। वायु जिस प्रकार सब दिशाओं में आकाश से मिला रहता है, उसी प्रकार तू जितने कर्म करे वह मेरे लिये ही कर, मेरे गुणों का श्रवण कर। जो सन्त मेरे स्वरूप को प्राप्त हो गये हैं, उन सन्तों के ही दर्शन कर, अपनी वाणी से मेरे निर्मल नामों का ही उच्चारण कर, तेरे हाथ जो काम करें और पैर जहाँ कहीं जायें वह सब मेरे ही लिए हो। तू अपने लिए अथवा दूसरों के लिए जो कुछ क्रिया करता है वह सब मुझको ही समर्पण करदे। मैं एक-एक बात कहाँ तक समझाऊँ ? तू अपने भीतर सेवक-भाव का उदय करके, संसार में जो दिखाई पड़े उसे मेरा स्वरूप ही समझ और यह विचार करके कि मैं ही सब में व्याप्त हूँ, उन सबकी वन्दना कर। इसके पश्चात् प्रत्येक अवस्था में मैं तुझको और तू मुझको उपभोग करेगा। हे अर्जुन ! जब बाधा स्वरूप तृतीय वस्तु (सांसारिक भाव) का लोप हो

जायगा, तो तू मुझे निश्चय ही प्राप्त कर लेगा। जल के सूख जाने पर उसमें दिखाई पड़ने वाले प्रतिबिम्ब को मूल वस्तु के साथ मिल जाने में क्या बाधा हो सकती है ? अर्थात् देह भेद के कारण ही तू और मैं ऐसा भेद जान पड़ता है, उस भेद के मिट जाने पर तू तद्रूप ही हो जायगा। इस कथन में लेशमात्र असत्य नहीं है, यह मैं शपथ खाकर कहता हूँ। यद्यपि मुझ सत्य संकल्प ईश्वर को शपथ खाने की आवश्यकता नहीं, परन्तु हे अर्जुन ! तेरे प्रेम के कारण मैंने ईश्वरीय चिह्नों को त्याग दिया है। तब अर्जुन ने कहा—'हे देव ! ऐसे वचन मत कहिये। केवल आपका नाम स्मरण करने से ही हमारे सब कार्य सिद्ध हो जाते है। फिर आप हमको ज्ञान प्रदान करते हुए शपथ भी खाते हैं, इस विनोद का कहीं ठिकाना है ! कमलों के वन को सूर्य की किरण विकसित कर सकती है, पर वह उनको सम्पूर्ण प्रकाश दे देता है। हे कृपानिधि ! आपकी उदारता की सीमा नहीं है, और आपने मुझे निमित्त बनाकर ही जगत् के उद्धार के लिये यह अपूर्व ज्ञान सुनाया है। (१२७८)

इस पर भगवान् कृष्ण ने कहा—अब तू अपनी स्तुति को रहने दे। पर मैंने तुझे ज्ञान सुनाया उससे तू तद्रूप अवश्य हो जायगा। मेरा भजन करने से जब तेरी बुद्धि में यह प्रतीत होने लगेगा कि सर्वत्र मैं ही व्याप्त हूँ, तो तेरे अहंकार का लोप होकर तू मुझे प्राप्त कर लेगा। इसका उपाय मैंने तुझको पूरी तरह समझा दिया है, प्रथम सब कर्मों को ईश्वरार्पण करना, जिसमें यह भावना होगी कि सर्वत्र ईश्वर का निवास है। फिर मेरी कृपा से ज्ञान की प्राप्ति होगी और उस ज्ञान से तू मेरे स्वरूप में अवश्य मिल जायगा। इसके पश्चात् संकल्प लय हो जाते हैं, तथा कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। तूने अपने सब कर्म सदा सदा मुझको अर्पण किये हैं, इसी से आज तुझे मेरी प्रसन्नता प्राप्त हुई है। जिस आत्मज्ञान को मैंने अनेक प्रकार से तुझको समझाया है उसके फल से तेरे पाप-पुण्यों का अन्त हो चुका। (१३८४)

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६

जिस प्रकार आशा से दुःख की, निन्दा से पाप की, दुर्दैव से दरिद्रता की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार धर्म और अधर्म से स्वर्ग और नरक की प्राप्ति होती है। यह धर्म-अधर्म अज्ञान से ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए तू इस अज्ञान का समूल नाश करदे। जिस रस्सी पर सर्प होने का भ्रम हुआ हो उसे हाथ में लेने पर वह भ्रम मिट जाता है, उसी प्रकार धर्म और अधर्म का आभास जिस अज्ञान से होता है उसका त्याग कर देने पर सब धर्म स्वयं ही चले जाते हैं और अकेला आत्मा ही शेष रह जाता है। अहंता का भेद न रख कर मेरे साथ ऐक्य करने को ही मेरी शरण में आना' कहा जा सकता है। इस प्रकार भेद त्यागने से तू जान जायगा कि भीष्म, द्रोण आदि मुझ परब्रह्म में से ही उत्पन्न हुये हैं और पुनः उसी परब्रह्म में लय हो जायेंगे। इनमें कर्त्तारूप कोई नहीं है। इस तथ्य को समझ जाने पर तू मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेगा। मेरी शरण आते हुए भी जो यह कहते हैं कि 'मैं जीव हूँ' उनको धिक्कार है? हे धनंजय! सामान्य राजा से सम्बन्ध रखने वाली दासी भी उसकी बराबरी करती है, फिर विश्व के ईश्वर से भेंट हो जाने पर भी जीव दशा का बन्धन बना रहा—तो ऐसी निन्दनीय वार्ता को कभी सुनना भी नहीं चाहिये। मन्थन करके निकाला हुआ मक्खन फिर छाछ के साथ नहीं मिल सकता, वैसे ही अद्वैत भाव से मेरी शरण आने पर धर्माधर्म तुमको स्पर्श भी नहीं कर सकते। लकड़ियों को घिस कर उत्पन्न किया हुआ अग्नि फिर उन लकड़ियों में समा नहीं सकता, उसी प्रकार मेरे साथ ऐक्य होने पर और कुछ शेष नहीं रह सकता। हे धनंजय! इस प्रकार तू स्वयं ही सब बन्धनों से मुक्त हो जायगा। (१४१६)

सब रूपों के रूप भगवान कृष्ण ने इस प्रकार कह कर अपना

दाहिना हाथ बढ़ाया और शरण में आये भक्तराज अर्जुन को हृदय से लगा लिया। जो वस्तु वाणी और बुद्धि से अगम्य है, उसे देने के लिये मानो भगवान ने आलिङ्गन करने का बहाना किया इस प्रकार एक हृदय की वस्तु दूसरे में प्रविष्ट हो गई। वह भेंट करना ऐसा था जैसे एक दीपक से दूसरे दीपक को प्रकाशित कर दिया जाय। इस घटना से अर्जुन को जो आनन्द की बाढ़ आई उसमें भगवान् कृष्ण भी निमग्न हो गये। अधिक क्या उस समय समस्त विश्व कृष्णमय हो गया। इस प्रकार यह 'गीता शास्त्र' जो वेदों का मूल सूत्र है और जिसे पढ़ने का सबको अधिकार है, भगवान् कृष्ण ने प्रकट किया। यह वेदों का मूल किस प्रकार है यह भी सुन लो। जिस ईश्वर के श्वासोच्छ्वास में से वेदों का प्राकट्य हुआ, उसी सत्य संकल्प ईश्वर के मुख से 'गीता शास्त्र' भी निकला है, इस कारण इसे वेदों का मूल कहना उचित ही है। दूसरी बात यह भी है कि 'गीता' में वेदों का त्रिकाण्ड (कर्म-उपासना-ज्ञान) गुप्त रूप से उपस्थित है और इस दृष्टि से इसे वेदों का बीज कहा जा सकता है। बाह्य रूप से भी यह बात दृष्टिगोचर होती है इसे आगे समझाते हैं। गीता का प्रथम अध्याय शास्त्र-निरूपण की प्रस्तावना है। यह ज्ञान प्रधान शास्त्र स्वतन्त्र रूप से मोक्ष दायक है यह दूसरे अध्याय में बताया है। तीसरे देहाभिमान के बन्धन में ग्रस्त लोगों के लिये मोक्षप्रद प्राप्त करने का साधन बतलाया गया है। कर्मयोगी ईश्वर का भजन किस प्रकार करे यह चौथे अध्याय के अन्तिम भाग से आरम्भ होकर ग्यारहवें अध्याय तक चला गया है। आठवें अध्याय में तो ऐसा लगता है कि गीता में देवता-काण्ड का ही प्रतिपादन किया गया है। उसी ईश्वर के प्रसाद से और श्रीगुरु सम्प्रदाय से जो कोमल और सत्य-ज्ञान उत्पन्न होता है वही बारहवें अध्याय के 'अद्वेष्टा सर्वभूताना' आदि श्लोकों में अथवा तेरहवें अध्याय के 'अमा नित्वमदम्भित्वं' आदि में विस्तार से समझाया है। इसलिए बारहवें अध्याय को ज्ञान-काण्ड ही कहा गया है। यह पन्द्रहवें अध्याय तक गया है। इस तरह यह

त्रिकाण्ड रूपिणी छोटी श्रुति है जिसको गीता के पद्मरूप रत्न-भण्डार ने जन्म दिया है। यह श्रुति गर्जना करके कहती है कि 'ठहरो-ठहरो, इस मोक्षरूपी फल को अवश्य लो। इस ज्ञान-साधन से जो शत्रुता का भाव रखते हैं उन अज्ञानियों का वर्णन सोलहवें अध्याय में है और शास्त्र की सहायता से शत्रु पर विजय प्राप्त करने का उपाय पन्द्रहवें अध्याय में वर्णित है। इस प्रकार भगवान् कृष्ण ने सत्रहवें अध्याय तक वेदों का तात्पर्य ही बतलाया है और अठारहवें अध्याय में सबका सिंहावलोकन मन्दिर के ऊपर कलश के समान है। वेद स्वयं भी सम्पन्न हैं पर वे बड़े कृपण भी हैं। स्त्री और शूद्र भी सांसारिक दुःखों से व्यथित रहते हैं पर उनको वेद सुनने का भी अधिकार नहीं है। भगवान् कृष्ण ने इस त्रुटि को दूर करने के लिये वेदों को ही गीतारूप में प्रकट किया है। यह गीता अर्थ रूप से मन में प्रवेश करती है, श्रवण के निमित्त कान में जाती है और जप के निमित्त मुख में रहती है। सारांश यह कि वेदों को सेवन करने का साधन ही यह गीता है, जिसे भगवान ने पाण्डुसुत अर्जुन को सुनाया। गौ को बछड़े से जो प्रेम होता है उसके कारण समस्त घर को दूध मिल जाता है, उसी प्रकार अर्जुन के निमित्त यह समस्त जगत् पर महान् उपकार किया गया। उस वंश को अत्यन्त पवित्र मानना चाहिये जिसमें अर्जुन जैसा ज्ञान पात्र उत्पन्न हुआ, जिसके कारण समस्त संसार को गीता रूपी उद्यान की प्राप्ति हुई।' इसके पश्चात् भगवान् फिर अर्जुन को द्वैत-भाव पर लाये और कहने लगे 'हे पाण्डव! जो गीताशास्त्र मैंने सुनाया, उसे तूने समझा या नहीं?' अर्जुन बोला 'हे प्रभो! आपकी कृपा से वह मेरी समझ में आ गया।' भगवान् ने कहा-हे धनंजय सद्भाग्य से धन-सम्पत्ति की प्राप्ति हो जानी सम्भव है, परन्तु उस धन का उपयोग उचित रीति से जिस प्रकार किया जाय उसे कोई बिरला ही जानता है। इसलिये हे अर्जुन! इस शास्त्र को जान कर अब तू इसका उत्तम रीति से

अनुष्ठान करना। इसके लिये शास्त्र में जो उपयुक्त सम्प्रदाय (मार्ग) बताया हैं अब उसको सुनो। (१४८५)

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽम्यसूयति ।।६७

हे पार्थ ! जिस गीताशास्त्र की तुझको आस्थापूर्वक प्राप्ति हुई, उसे किसी तपस्याहीन, गुरुभक्ति से शून्य से न कहना। अथवा जो शरीर से तप करके गुरु तथा देव की भक्ति करता हो परन्तु गीताश्रवण की इच्छा न रखता हो, उसको भी इसे सुनाना उचित नहीं। समुद्र गम्भीर हैं, इसे सभी जानते और मानते हैं, पर उसमें वर्षा का होना व्यर्थ है। फिर चाहें कोई तपस्वी, देव और गुरु का भक्त हो, सुनने की इच्छा भी रखता हो, पर मेरी और मेरे भक्तों की निन्दा करने वाला हो, तो वह भी गीताशास्त्र सुनने का पात्र नहीं है। उसकी योग्यता उसी प्रकार निरर्थक है जैसे तेल बत्ती युक्त दिये को रात के समय प्रकाशित न किया गया हो। जैसे मनुष्य युवा हो, गोरा रङ्ग हो शरीर पर आभूषण भी हों, परन्तु उसमें प्राण न हों, उसी प्रकार जो व्यक्ति मेरा और मेरे भक्तों का निन्दक हो उसका तप, शक्ति और बुद्धि सब कपटमय है, उसे गीता का स्पर्श भी नहीं होने देना चाहिये।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्ति मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ।६८

इसलिये हे धनुर्धर ! जो गुरुभक्ति रूपी मन्दिर तपस्या के आधार पर बना है और जिसका श्रवणेच्छा रूपी द्वार सदा खुला रहता है, उसी 'गीतारत्नेश्वर' की स्थापना की जानी चाहिये। तभी तुम मेरी समता पा सकोगे। क्योंकि जो अ-उ-म (ॐ) गर्भवास में पड़ा था, वह वेदों का बीज गीता रूपी टहनियों से विस्तृत हुआ, और गीता के श्लोक, उसके गायत्री रूपी फल और फूल बन गये। जो ऐसी मन्त्र स्वरूप गीता को मेरे भक्तों को प्राप्त करा देता है, जैसे बालक माता से मिल जाय उसी

प्रकार इस मन्त्र समान गीता की मेरे भक्तों से भेंट करा देता है, वह इस देह को त्यागने पर मुझको ही प्राप्त होता है। (१५१३)

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९

देह धारण करने पर भी जो देह भाव से अलिप्त होता है वह मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय लगता है। ज्ञानी, कर्मठ औ तपस्वी जनों में भी गीतार्थ को जानने वाला मुझे अत्यन्त प्रिय है। मेरी प्रीति के लिये जो स्थिर चित्त से मेरे भक्तों को गीताशास्त्र सुनाता हैं वह सन्तों का मुकुटमणि होता है। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि भक्तों के समुदाय रूपी बगीचे में वह मानो वसन्त बनकर ही आता है। इससे वृक्षों के नव-पल्लवों की भांति ही श्रोताओं के अङ्ग मे रोम खड़े हो जाते हैं और जिस प्रकार मन्द पवन से वृक्ष हिलता है वैसे ही उनकी देह भी डोलने लगती है। पुष्पों से होने वाले मधुस्राव के समान ही उनके आनन्दाश्रु गिरने लगते हैं और जैसे उद्यान में कोयल के मधुर गायन की पुकार सुनकर मेघ हुँकार देता हुआ पहुंचता है, वैसे ही जो सन्तजनों पर गीता के पद्य रूपी रत्नों की वर्षा करता है, वैसा भक्त न मुझे कभी मिला था न मिलेगा। हे अर्जुन! इस प्रकार सन्तजनों की गीता के अर्थ से पहुनई करता है, उसे मैं अपने हृदय में धारण करता हूँ। (१५२३)

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०

इस प्रकार मेरा और तुम्हारा जो संवाद हुआ है वह इस पृथिवी पर मोह पर विजय प्राप्त करने को ही आया है। जो इसके पदों का अर्थ न करके केवल उसका पाठ ही करेगा, वह भी ज्ञान रूपी अग्नि में अज्ञान की आहुति देकर मुझ परमात्मा को सतुष्ट कर सकेगा। गीतार्थ का अनुभव प्राप्त करके ज्ञानी जो ज्ञेय प्राप्त करता है वहीं गीता के पाठ

करने वाले को भी जाता है। उसे भी वैसा ही पुण्य फल मिल जाता है, क्योंकि गीता माता के सामने ज्ञानी और अज्ञानी बालकों में भेद नहीं होता। (१५१८)

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१

और जो सब प्रकार से निन्दा का त्याग करके शुद्ध आस्था से गीता को श्रवण करता है, उसके कान में गीता के अक्षर पड़ते ही उसके पाप भाग जाते हैं। जिस प्रकार जंगल में आग लगने पर पशु-पक्षी इधर-उधर भाग जाते हैं अथवा सूर्योदय होते ही अन्धकार दूर हो जाता है, उसी प्रकार कानों में गीता का महाघोष प्रविष्ट होते ही सृष्टि के आरम्भ तक के पाप लोप हो जाते हैं। इस प्रकार उसका समस्त कुल पवित्र होकर वह पुण्यरूप ही हो जाता है। उसे इससे भी बड़ा लाभ यह मिलता है कि उसके कानों में गीता के जितने अक्षर पड़ते हैं उतने ही अश्वमेध का फल उसे मिल गया। इस प्रकार गीता श्रवण से धर्म की वृद्धि होकर अन्त में स्वर्ग की सम्पत्ति मिलती है। यह स्वर्ग की प्राप्ति तो उसे गीता सुनने वाले के लिये पहली मञ्जिल की तरह है, वहां जब तक चाहे सुख भोगकर वह मेरे पास आ जाता है। हे धनंजय ! अधिक क्या कहूं, गीता का पाठ करने वाले और सुनने वाले को गीता परमानन्द रूप कर देती है। अब इसका विस्तार न करके मैं यह जानना चाहता हूं कि जिस कार्य के लिये गीता शास्त्र को आरम्भ किया था वह पूरा हुआ या नहीं ? (१५१९)

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥७२

हे पाण्डव ! अब बताओ कि गीतार्थ के सब सिद्धान्त तुम्हारे मन में अच्छी तरह जम गया या नहीं ? मैंने जिस प्रकार उन सिद्धान्तों को तुम्हारे कानों के हवाले किया, उन्होंने वैसे ही उनको चित्त तक पहुंचा दिया या बीच में ही बिखेर दिया ? मैंने जिस प्रकार उन सिद्धान्तों को

सुनाया अगर वे वैसे ही तेरे हृदय में प्रविष्ट हो गये तो जो मैं पूछता हूँ उसका उत्तर शीघ्र दो। 'तू पहले जिस अज्ञान जन्य मोह से ग्रसित हुआ था वह अभी शेष है या लोप हो गया ? तुमको तेरे पाप और पुण्य दृष्टिगोचर होते हैं या नहीं ?' भगवान् को सन्देह हुआ कि अजुन निजानन्द ऐक्य की स्थिति में निमग्न न हो जाय, इसलिये वे प्रश्न करके पुनः भेद-बुद्धि के धरातल पर ले आये। अगर अर्जुन पूर्ण ब्रह्म रूप हो जायगा तो भावी युद्ध विजय के कार्य को कैसे पूरा कर सकेगा, यह विचार कर भगवान् कृष्ण ने उसे भेद स्थिति की मर्यादा उलांघने नहीं दी। अन्यथा क्या भगवान् कृष्ण अपनी कृति के परिणाम को स्वयं नहीं समझते थे ? पर उपयुक्त उद्देश्य से उन्होंने ऐसा प्रश्न किया और नष्ट हुये 'अर्जुनत्व' को फिर वापस लाकर उसके मुख से ही कहलाया कि 'मैं पूर्ण हो गया।' इससे अर्जुन 'अहं ब्रह्म भाव' को ही नहीं, वरन् यह भी भूल गया कि यह समस्त जगत् ब्रह्म से भरपूर है। तब वह ब्रह्म रूपता से हट कर बड़े कष्ट से—'मैं अर्जुन हूँ' इस स्थिति में आया। तब उसने कांपते हुये हाथ-पैरों को स्थिर करके, रोमांचों को नीचा करके, पसीने को पोंछकर, गद्गद् कण्ठ से बोलने का प्रयत्न किया। उसके नेत्रों से प्रेमाश्रु बहते जाते थे और कण्ठ अवरुद्ध हो रहा था। उसने प्रयत्न पूर्वक अपनी उत्कण्ठा को दबाकर प्राणों को ठीक ठिकाने लाकर कहा—।'

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३

फिर अर्जुन ने कहा—हे देव ! आपने जो प्रश्न किया कि 'क्या अभी मोह शेष है' तो उसका उत्तर यह है कि वह तो अपने कुटुम्ब सहित डेरा डण्डा उठा कर कभी का चला गया। सूर्य के निकट आने पर क्या आँखों के सामने अँधेरा रह सकता है ? उसी प्रकार हे कृष्ण महाराज ! आपने मुझे जो प्रत्यक्ष दर्शन का सुयोग प्रदान किया

वह क्या मोह के नष्ट करने के लिये पर्याप्त नहीं है ? फिर आपने माता की अपेक्षा भी अधिक प्रेम से ऐसा ज्ञान मुझे सुनाया जो अन्य किसी उपाय से प्राप्त नहीं हो सकता । इसलिये अब मोह के शेष रहने का कोई सवाल ही नहीं उठता । आपकी कृपा से मैं तो कृतार्थ हो गया । अब मुझे कर्म करना अथवा नहीं करना, इसकी भी कोई द्विविधा नहीं रही, क्योंकि इसका कारण द्वैत-भाव था, पर अब यह समझ में आ गया कि आपके अतिरिक्त कहीं और कुछ नहीं है । इसलिये हे प्रभो ! अब आपकी आज्ञा पालन करने के सिवाय मेरे लिये अन्य कोई कर्तव्य शेष नहीं रह गया । क्योंकि जिस दृश्य के प्राप्त होने से अन्य सब दृश्य मिट जाते हैं, जो द्वैत गुरु-शिष्य भाव का लोप कर देता है, ऐसे आप सद्गुरु की मूर्ति मुझे प्राप्त हो गई । अब तक आप में और मुझमें जो भेद प्रतिबन्ध था, वह भी दूर हो गया जिससे आपकी सेवा का सुख मेरे लिये और भी मधुर हो जायगा । अर्जुन के ऐसे वचन सुनकर भगवान कृष्ण भी आनन्द से नाचने लगे । वे कहने लगे कि मैं जो 'विश्व' फल रूप हूँ उसमें से अर्जुन रूपी एक फल और उत्पन्न हुआ है । क्या क्षीरसागर अपने पुत्र चन्द्रमा को पूर्ण कलाओं से प्रकाशित देखकर अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ देता ?'

इस प्रकार इन दोनों का सम्मिलन देखकर संजय भी आनन्द में मग्न हो गया और धृतराष्ट्र से कहने लगा—भगवान् कृष्ण अत्यन्त कृपालु हैं, उन्होंने अर्जुन के समक्ष अपना हृदय प्रकट कर दिया । हे महाराज ! हम दोनों का भाग्य भी कैसा महान् है कि व्यासदेव की कृपा से भगवान कृष्ण और अर्जुन के सम्वाद को सुन सके । इस महा-युद्ध में किसकी हारजीत होगी, इसका तो अभी कोई निश्चय नहीं, पर ऐसे संकट के समय में भी भगवान् कृष्ण ने ब्रह्मानन्द का आस्वादन कराया, यह उनका कितना बड़ा अनुग्रह है । संजय ने इतना कहा पर जैसे पत्थर चन्द्रकिरणों से द्रवित नहीं होता, वैसे ही धृतराष्ट्र पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा । राजा की स्थिति देखकर संजय ने उस बात

को छोड़ दिया। पर वह आनन्द के आवेश में ऐसा मस्त हो रहा था कि फिर उसी सम्बन्ध में कुछ कहने लगा, यद्यपि वह जानता था कि राजा धृतराष्ट्र इन बातों को सुनने का पात्र नहीं है। (१५८६)

संजय उवाच—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४

संजय ने फिर कहा—हे महाराज धृतराष्ट्र! आपके भ्रातृपुत्र अर्जुन ने जब उपर्युक्त वचन कहे तो भगवान-कृष्ण को बड़ा आनन्द हुआ। पूर्व समुद्र और पश्चिम समुद्र— ये नाम के लिए ही पृथक् हैं, पर जल की दृष्टि से तो वे एक ही हैं। वैसे ही श्रीकृष्ण और अर्जुन शरीर से ही भिन्न जान पड़ते हैं, पर उनमें जो सम्बाद हुआ उससे तो कोई अन्तर प्रकट ही नहीं होता। जहाँ द्वैत-भाव है ही नहीं वहाँ वे दोनों एक बन गये। फिर भेद को बिल्कुल मिटा दिया जाय तो परस्पर प्रश्नोत्तर कैसे हो सकें? इस प्रकार वे द्वैत का नाश करते थे, पर सम्वाद सुख के अनुभव लेने के लिये द्वैत रूप में बोलते थे। मैंने दोनों का सम्भाषण सुना है। वह ऐसा है कि जिस प्रकार दो दीपक आमने-सामने रख दिये जायें तो यह कहना संभव नहीं होता कि कौन-सा प्रकाश किस दीपक का है? इसी प्रकार दोनों के संवाद ऐसे एक रूप बन गये कि उनके सम्बन्ध में निर्णय करने पर निर्णय को ही स्तब्ध रह जाना पड़े।

इस प्रकार कहते-कहते अष्ट सात्विक भावों से संजय का 'संजयपना' लुप्त हो गया। जैसे-जैसे उसे रोमांच होता, शरीर भी ढीला पड़ने लगा। फिर स्तब्धता और स्वेद को दबाकर कम्प ही अकेला प्रकट होने लगा। अद्वैतानन्द के स्पर्श से दृष्टि सरस बन गई और उनमें से आँसू नहीं, द्रव पदार्थ ही बहने लगा। कंठ भर गया और श्वासोच्छ्वास भी रुका हुआ जान पड़ने लगा। बस आठों सात्विक भावों से संजय क्षुब्ध हो उठा और उसकी घिग्घी बँध गई। इस प्रकार वह श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद सुख के चौराहे पर खड़ा हुआ। इस सुख का नियम ही यह है कि फिर अपने आप शक्ति प्राप्त हो जाती है, अतएव संजय को पुनः देह की स्मृति हो आई। (१६०७)

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ।।७५

फिर आनन्द का ज्वार उतरने पर वह कहने लगा कि जिस गुह्य तत्व की उपनिषदों को भी खबर नहीं है, वह व्यासजी के प्रभाव से मुझे सुनने को मिल गया। उस महान् ज्ञान के सुनते ही मुझे ब्रह्मभाव प्राप्त हो गया और 'मैं' तथा 'तुम' के सहित समस्त सृष्टि डूब गई। समस्त योग-मार्ग जहाँ आकर एकत्रित होते हैं, वह भगवान कृष्ण के वचन मैंने सहज में सुन लिए। अहा! अर्जुन के निमित्त भगवान ने स्वयम् ही अर्जुन बनकर संभाषण किया और उसे सुन सके यह गुरु महाराज की सामर्थ्य ही है। (१६१२)

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ।।७६

धृतराष्ट्र से इतना कहकर संजय पुनर्विस्मित हो गया, उसकी स्मृति चली गई। जिस प्रकार रत्न की चमक एक दिखलाई पड़ती है और दूसरे क्षण बन्द हो जाती है, वहीं दशा उसकी हो रही थी। हिमालय में स्थित सरोवर जैसे चन्द्रोदय होने से जमकर स्फटिक बन जाय और सूर्योदय से जल रूप हो जाय, उसी प्रकार कभी शरीर की याद करता और कभी संवाद में लीन हो जाता है। (१६१६)

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ।।७७

फिर संजय आनन्द के आवेश में खड़ा होकर कहने लगा 'हे राजन्! श्रीहरि का विश्वरूप देखने पर चुप कैसे बैठ सकते हैं। जो विश्वरूप न देखने पर भी दिखाई पड़ता है जिसे अस्वीकार करने पर भी जिसका अस्तित्व नष्ट नहीं हो सकता, उस विश्वरूप को हम कैसे टाल सकते है? इस समय तो आनन्द की ऐसी बाढ़ आ रही है जिसमें मैं भी बहा जा रहा हूँ। इस प्रकार कहते हुये वह गद्गद वाणी से 'श्रीकृष्ण' 'श्रीकृष्ण' उच्चारण करने लगा। पर धृतराष्ट्र को संजय की अवस्था देखकर भी उस भाव की गन्ध नहीं आई और वह कहने लगा—'हे संजय! मेरा समय ठीक तरह व्यतीत हो, व्यासजी ने तुमको मेरे पास इसीलिये बैठाया

था। पर तुम बीच में न जाने क्या अप्रासंगिक बात बोलने लगते हो। अब तुम यह बताओ कि यह जो युद्ध हो रहा है, इसके अन्त में विजय किसकी होगी ? सामान्य रूप से मेरे मन में यही आता है कि दुर्योधन की सेना पाण्डवों से ड्योढ़ी है, इससे जीत तो हमारी होगी। परन्तु तुम्हारे ज्योतिष में क्या आता है, वह कहो।' (१६३१)

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीविजयो भूतिध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८

राजा की बात सुनकर संजय ने कहा—'किसकी जीत और किसकी हार, यह कह सकना तो संभव नहीं, पर जब तक आयुष्य है तब तक जीवन भी स्थिर रहेगा। जहाँ चन्द्रमा होगा वहाँ चाँदनी भी रहेगी, जहाँ शंकर है वहाँ पार्वती, जहां संत वहां ज्ञान का निवास अवश्य होगा। जहाँ गुरु वहाँ ज्ञान जहां ज्ञान वहाँ आत्मानुभव, जहाँ आत्मानुभव वहाँ चित्त-शान्ति अवश्य पाई जायगी। हे राजन् ! जिनसे चारों पुरुषार्थ सनाथ होते हैं, वे भगवान कृष्ण जहाँ होंगे वहीं लक्ष्मी भी रहेगी और जहाँ भगवती लक्ष्मी पति सहित निवास करेंगी, वहां अणिमा आदि सिद्धियाँ दासी के रूप में क्यों न रहेंगी ? (१६४०)

अर्जुन का नाम 'विजय' प्रसिद्ध है और भगवान कृष्ण भी विजय स्वरूप हैं, इसलिये लक्ष्मी और विजय का वहाँ रहना निश्चित ही है। भगवान श्रीकृष्ण जिनके पिता और लक्ष्मी जिसकी माता है, उसको अमूल्य से अमूल्य वस्तु की कमी कैसे हो सकती है ? इसलिए लक्ष्मीकांत जिस पक्ष में खड़े होंगे उसमें समस्त सिद्धियाँ अपने आप पहुंच जायेंगी। इससे अधिक में कुछ नहीं जानता। मेघ समुद्र में से उत्पन्न होते हैं, पर उपयोग की दृष्टि से वह सागर की अपेक्षा श्रेष्ठ माने जाते हैं वही बात श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्बन्ध में भी चरितार्थ हो रही है। यद्यपि लोहे को सोना बनाने वाला पारस पत्थर ही होता है, पर संसार का व्यावहार तो सोने के द्वारा ही चलता है। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि गुरु का गुरुत्व कुछ न्यून होता है। पिता की तो सदैव यह इच्छा होती है कि मेरा पुत्र मेरी अपेक्षा अधिक गुण

सम्पन्न और सम्माननीय सिद्ध हो । भगवान् श्रीकृष्ण की भी यही इच्छा है । इसलिये हे राजन् ! अधिक क्या कहूँ, श्रीकृष्ण का कृपापात्र अर्जुन जिस पक्ष में खड़ा होगा उसकी विजय में तनिक भी संदेह नहीं किया जा सकता । जहाँ लक्ष्मी वहीं उसके पति भगवान् कृष्ण और जहाँ पाण्डुसुत अर्जुन, वहीं विजय और भाग्योदय भी है । यदि व्यासजी की बात पर आपको विश्वास है तो निश्चय समझलो कि जहाँ लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण हैं, वहीं उनका भक्त समुदाय रहता है और वहीं सुख तथा कल्याण का लाभ मिलता है । अगर मेरे ये वचन मिथ्या हों तो मुझे व्यासजी का शिष्य मत कहना ।' इस प्रकार संजय ने हाथ उठाकर गर्जना पूर्वक कहा ।

इस प्रकार संजय ने गीता के अठारहवें अध्याय के अठहत्तरवें श्लोक में समस्त महाभारत का सारांश राजा धृतराष्ट्र को सुना दिया । जिस प्रकार अग्नि का विस्तार न जाने कितना है पर सूर्य के अस्त हो जाने पर उसे दीपक की बत्ती के अग्रभाग पर लगा दिया जाता है और उसी से अन्धकार का नाश हो जाता है । उसी प्रकार वेद अनन्त हैं, उनका सार महाभारत के सवा लाख श्लोकों में निकाला गया और महाभारत का सारांश गीता के सातसौ श्लोकों में भर दिया गया, इन सात सौ श्लोकों का भी पूरा आशय अठारहवें अध्याय के इन अन्तिम श्लोकों में दिया गया है जो व्यास शिष्य संजय का हार्दिक उद्‌गार स्वरूप है । इस एक ही श्लोक ने अज्ञान की जड़ को पूरी तरह से काट दिया है । जो व्यक्ति इस श्लोक को समझ लेना वह सम्पूर्ण अविद्या को जीत सकेगा । यह गीता के सात सौ श्लोक उसके चरण ही हैं, अथवा वे गीता रूपी आकाश से गिरने वाली परमामृत की वर्षा ही है अथवा वे आत्मा रूपी राजा सभा मण्डप के सातसौ स्तम्भ ही हैं । अथवा इन सात सौ श्लोकों के रूप में सातसौ सूर्य ही प्रकाशित कर दिये हैं । अथवा यह गीतारूपी नगर को घेरने वाला सातसौ श्लोकों का एक दुर्ग है अथवा वे गीता रूपी कमल की सुगन्ध लेने वाले भ्रमर ही हैं । ऐसे ये सात सौ श्लोक एक दूसरे से बढ़कर हैं, इसलिये किसका विशेष वर्णन किया

जाय ? कामधेनुओं को देखकर यह कौन कहेगा कि यह बिना दूध की हैं और यह दूध देने वाली ? सूर्य छोटा है या बड़ा, अमृत का सागर गहरा है या छिछला, ऐसा कभी नहीं कहा जाता। जिस प्रकार पारिजात के पुष्पों में यह भेद नहीं किया जा सकता कि यह ताजा है और यह बासी है, उसी प्रकार गीता के श्लोकों में न्यूनाधिकता नहीं बतलाई जा सकती।

गीताशास्त्र के कहने वाले और सुनने वाले में भी कोई भेद नहीं किया जा सकता। क्योंकि गीता के कहने वाले भगवान् कृष्ण और सुनने वाले श्रीकृष्ण रूप अर्जुन दोनों में कोई अन्तर नहीं। यह सिद्ध करने की भी कोई आवश्यकता नहीं कि यह गीता श्रीकृष्ण की वाङ्मयी मूर्ति ही है। भगवान् ने अर्जुन को निमित्त बनाकर समग्र जगत के हितार्थ दुर्लभ ब्रह्मानन्द को गीता के रूप में सुलभ बना दिया है। जिस प्रकार पूर्ण कलाओं से युक्त चन्द्रमा चाहे चकोर के निमित्त ही उदय होता हो पर वह तीनों लोकों के ताप को दूर करता है, अथवा जैसे शंकरजी ने कलिकाल से पीड़ित लोगों के दोषों को दूर करने के लिये गौतम ऋषि के निमित्त गङ्गाजी को मृत्युलोक में भेज दिया उसी प्रकार श्रीकृष्ण रूपी गौ ने पार्थरूपी बत्स को निमित्त बनाकर गीतारूपी दूध का झरना प्रकट करके समस्त जगत् को सन्तुष्ट किया है। इस गीता शास्त्र में अगर जीव-भाव से डुबकी मारोगे तो अवश्य गीतारूप हो जाओगे और यदि जिह्वा से श्रम करके इसका पाठ करोगे तो भी वही फल प्राप्त कर सकोगे। पारस में ऐसी सामर्थ्य है कि वह लोहे के एक भाग को स्पर्श करे तो पूरा लोहा सोना बन जाता है, उसी प्रकार गीता के चाहे जिस पद का मुख से उच्चारण करो तत्कालीन ब्रह्मत्व की शक्ति तुमको अपने भीतर प्रतीत होने लगेगी। यह शास्त्र श्रवण, पाठ और ज्ञान द्वारा सदैव मोक्ष रूपी फल ही प्रदान करता है, इसलिये बुद्धिमान् लोगों को एक मात्र गीता का सेवन करना ही कल्याणकारी प्रतीत होता है। भगवान् कृष्ण ने तो अर्जुन से वार्तालाप ही किया था ? उसी को व्यासजी ने ऐसा सुलभ बना दिया कि सामान्यजन भी उससे लाभ उठा सकते हैं। जिस प्रकार माता छोटे बालक को खिलाने के लिये रोटी के

छोटे-छोटे टुकड़े करके उसके मुँह में देती है, उसी प्रकार व्यासजी ने वेदों के ज्ञान को अनुष्टुप् छन्द में रचकर स्त्री-शूद्रादि के लिये भी सुलभ कर दिया। स्वाति नक्षत्र के जल से अगर मोती न बनते तो महिलाओं का अङ्ग किस प्रकार अशोभित होता? नादब्रह्म अगर वाक्कला में निवास करता तो हमको उसका पता कैसे चलता? पुष्प उत्पन्न न होते तो हम सुगन्ध कहाँ से ले सकते? उसी प्रकार अनन्त विस्तार वाले वेदों को यदि सातसौ श्लोकों की गीता के रूप में प्रकट न किया गया होता तो उनका आशय कौन जान सकता था?' इसयिये भगवान् व्यास ने श्रीकृष्ण के सम्भाषण को गीता ग्रन्थ का रूप देकर संसार पर महान् उपकार किया है। उसी गीता के अर्थ को मैंने व्यासजी के पदों को देखकर देश-भाषा में श्रवण करने योग्य बनाया है। जिस गीता का अर्थ करने में व्यासजी आदि की बुद्धि भी शंकित रहती है उसी का आशय मैंनेअपनी तुच्छ वुद्धि से जैसे-तैसे प्रकट किया है।

पर गीतारूपी ईश्वर बहुत भोला है। जहाँ वह श्री व्यासजी की वाणी रूप अनुपम पुष्पमाला धारण करता है, वहां मेरे जैसों की बनाई दूब के अंकुरों की माला को भी अस्वीकार नहीं करता। यदि व्यासजी आदि महाकवियों ने बड़े विस्तार से वर्णन किया है, तो हम सामान्य लोग निष्क्रिय होजायें यह युक्तियुक्त नहीं। जिसप्रकार पिताके पीछे-पीछे चलकर बालक भी गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है, उसी प्रकार मैं भी व्यासजी के पीछे-पीछे चलकर और भाष्यकारों से पूछकर अयोग्य होने पर भी इष्ट स्थल पर पहुँच जाऊँगा। मेरे हृदय में सर्वोपकारी समर्थ सद्गुरु श्री निवृत्तिनाथ का निवास है, इसी से मैं देश-भाषा में गीता को कहने में समर्थ हुआ तो इसमें आश्चर्य क्या है? एकलव्य भील ने श्री गुरु के नाम पर मिट्टी की मूर्ति की स्थापना करके, उसकी सेवा के प्रताप से ही धनुत-बाण विद्या में पारङ्गतता प्राप्त करली थी। फिर मेरे सहायक तो मेरे श्रीगुरु हैं, जो अपनी कृपा दृष्टि से अन्य को अपने समान बना सकते हैं। मैंने इस कल्याणकारी **प्रबन्ध** को ओवी छन्द में इस प्रकार रचा है कि इसे गाने में भी आनन्द आता है और बिना गाये भी शोभा देता है।

क्षीर सागर के तट पर शंकर भगवान् ने पार्वतीजी के कान में गुह्य उपदेश किया था। उस समय वहीं पर एक मत्स्य के उदर में निवास करते हुये मत्स्येन्द्रनाथ ने उसे सुना। उनको सप्तश्रृङ्ग पर्वत पर हाथ-पैर से लूले चौरङ्गीनाथ मिले। मत्स्येन्द्रनाथ के दर्शन करते ही चौरङ्गीनाथ के हाथ-पैर ठीक हो गये। फिर मत्स्येन्द्रनाथ ने गोरखनाथ को इस ज्ञान का उपदेश किया और उनको 'योगेश्वर' के पद पर अभिषिक्त किया। तदन्तर शंकरजी से प्राप्त यह ज्ञान गोरखनाथ से श्री गैनीनाथ ने प्राप्त किया। श्रीगैनीनाथ ने जब प्राणियों को कलिकाल से ग्रस्त देखा तो श्री निवृत्तिनाथ को आज्ञा दी कि तुम इस समस्त ज्ञान को लेकर दुःखी जीवों को बन्धन मुक्त करो। श्री निवृत्तिनाथ ने पीड़ित जनों के उद्धार के लिए गीता के अर्थ के रूप में जो ब्रह्म रस की वर्षा की वही यह ग्रन्थ है। उन्होंने ही गुरु परम्परा से प्राप्त समाधिधन को मुझे दे दिया है। अन्यथा मैंने न कुछ सीखा है, न श्रवण किया है। मेरा ग्रन्थ आदि से अन्त तक श्री गुरु ने ही मुझसे कहलाया है। फिर सद्भाग्य से मैं आप सब सन्तों के चरणों में पहुँच गया। अब मुझे किस बात की कमी रही? आपके ही प्रसाद से मेरा ग्रन्थ रचना का मनोरथ सफल हुआ है। आपका यह उपकार किसी प्रकार कम नहीं है, क्योंकि इस ग्रन्थ को पूरा करा के आपने ही मेरे पूर्व जन्म का फल मुझे प्राप्त कराया है। आपकी कृपा से ही यह ग्रन्थ रूपी धर्म कीर्तन पूर्णाहुति तक पहुँच सका है। अब हे मेरे विश्वरूप गुरुदेव! इस वाग्यज्ञ से सन्तुष्ट होकर ऐसा आर्शीवाद दो कि दुष्टों की कुटिलता का अन्त होकर वे सत्कर्म प्रेमी बनें, जीवमात्र में पारस्परिक मैत्री-भाव बढ़े, विश्व में फैला पाप रूपी अन्धकार नष्ट होकर स्वधर्म रूपी सूर्यप्रकाश का विस्तार हो संसार के प्राणियों को मङ्गल की वृष्टि करने भगवत् भक्तों का सत्संग मिलता रहे। अधिक क्या माँगूँ समस्त त्रिलोकी सुखी होकर आद्य पुरुष का अखण्ड भजन किया करे। विशेषतः जो इस लोक में इस ग्रन्थ पर आधार रखे उनको दोनों लोकों का सुख प्राप्त हो।' यह सुनकर

श्री गुरु ने कहा—'ठीक है तेरी इच्छानुसार यह सब दान-प्रसाद तुझे प्राप्त होगा।' इससे ज्ञानदेव को परम हर्ष हुआ। इस प्रकार कलियुग में गोदावरी नदी के दक्षिण तट पर सेवा-सण गाँव में जहाँ श्री मोहिनीराज विराजमान हैं, वहाँ श्रीशंकरजी की परम्परा में उत्पन्न श्री निवृत्तिनाथ के शिष्य ज्ञानदेव ने 'गीता' की भाषा के अलंकार चढ़ाये हैं। महाभारत रूपी नगर में, भीष्म नामक प्रसिद्ध पर्व में श्रीकृष्ण और अर्जुन का जो समस्त शास्त्रों का जन्मस्थान है, परमहंस सन्तों की क्रीड़ा करने का सरोवर है उस श्री गीता का कलश रूप अठारहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ। इस ग्रन्थ की पुण्य सम्पत्ति द्वारा उत्तरोत्तर जीवमात्र को समस्त सुखों का लाभ हो। शाके १२१२ (बारह सौ बारह) में टीका यह ज्ञानेश्वर महाराज ने रची और सच्चिदानन्द बाबा ने अति आदर से लिखी। (१०९८)

इति श्री ज्ञानदेवविरचितायां भावार्थ दीपिकायां १८११
अष्टादशोऽध्याय: ॥१८॥

श्रीएकनाथ महाराज ने ज्ञानेश्वरी का संशोधन किया

शाक १५०६ में एकनाथ ने स्वामी 'ज्ञानेश्वरी' गीता की प्रति को शुद्ध किया। मूल ग्रन्थ बहुत शुद्ध था पर लोगों के पाठ भेद से कहीं-कहीं अशुद्ध हो गया था। उनकी खोज करके 'ज्ञानेश्वरी' को शुद्ध किया है। जिनकी गीता की टीका पढ़ने से भावुक पाठकों को इसका सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है उस ज्ञानेश्वर महाराज को नमस्कार हैं। षष्टी के दिन गोदावरी के तटवर्ती पैढ़ण नामक क्षेत्र में 'ज्ञानेश्वरी' की प्रति को शुद्ध करने का कार्य समाप्त हुआ। 'ज्ञानेश्वरी' के इस पाठ में जो अपनी रचना मिलायेगा उसका यह कार्य अमृत भरे पात्र में नरैली (नारियल का छिलका) रखने के समान ही हो।

श्रीज्ञानदेवविरचितायां भावार्थदीपिकायां गी.ता टीका समाप्त

'श्री कृष्णार्पणमस्तु'

